॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५५वें वर्ष (सन् १९८१) का विशेषाङ्क—'भगवत्तत्त्वाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री है और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि है तथा यथास्थान कई बहुरंगे चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन ग्राहक-महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरी एवं मार्चके अङ्कोंके साथ रजिस्ट्रीद्वारा तथा जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको वी० पी० द्वारा ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार भेजा जा सकेगा।

३—कल्याणका वार्षिक शुल्क २०.०० रु० मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है। मनीआर्डर-कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या कृपया स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें *'पुराना ग्राहक'* लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो *'नया ग्राहक'* लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक—'कल्याण'—कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर'के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—ग्राहक-संख्या या *'पुराना ग्राहक'* न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा; इससे आपकी सेवामें 'भगवत्तत्त्वाङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे इसकी वी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपापूर्वक प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बचेगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—विशेषाङ्क—'भगवत्तत्त्वाङ्क' फरवरी और मार्च १९८१ के साधारण अङ्कोंके साथ सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है। शीघ्रातिशीघ्र भेजनेकी चेष्टा करनेपर भी सभी ग्राहकोंको भेजनेमें लगभग ४-५ सप्ताह तो लग ही जाते हैं। ग्राहक-महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहक हमें क्षमा करेंगे। उनसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी प्रार्थना है।

६—आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफे-(या रैपर-) पर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेख-सहित पत्र-व्यवहार किया जा सके।

७—'कल्याण-व्यवस्था-विभाग'को अलग, तथा 'व्यवस्थापक-गीताप्रेस'को अलग पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८—'कल्याण-सम्पादन-विभाग,' 'साधक-सङ्घ' तथा 'नाम-जप-विभाग' को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)—इस प्रकार पूरा पता लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर [illegible] (उ०प्र०)

भ० त० अं० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। दोनों ही ऐसे प्रासादिक एवं आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक—दोनोंका आत्म-कल्याण कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था इत्यादिकी कोई बाधा नहीं है। आजके अनेकविधके भयसे आक्रान्त, भोगतमसाच्छन्न समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अतः धर्मप्राण जनताको इन मङ्गलमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंको—जिनकी संख्या इस समय लगभग पैंतालीस हजार है—श्रीगीताके छः प्रकारके, श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके एवं उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणीमें यथाक्रम रखा गया है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचयपुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होवें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम-(२४९३०४) ऋषिकेश, जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये सदाचार, सत्यता, सरलता, निष्कपटता, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३२ वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इनका सदस्य बनना चाहिये। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये। संघसे सम्बद्ध सब प्रकारका पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये।

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण'-सम्पादकीय विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय दिव्यतम जीवन-ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारसे लोकमानसको अधिकाधिक उदात्त करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग १५,००० परीक्षार्थियोंके लिये ४०० परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (२४९३०४) ऋषिकेश, जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

श्रीहरिः

'भगवत्तत्त्वाङ्क' की विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

रेखा चित्र

शेषशायी महाविष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
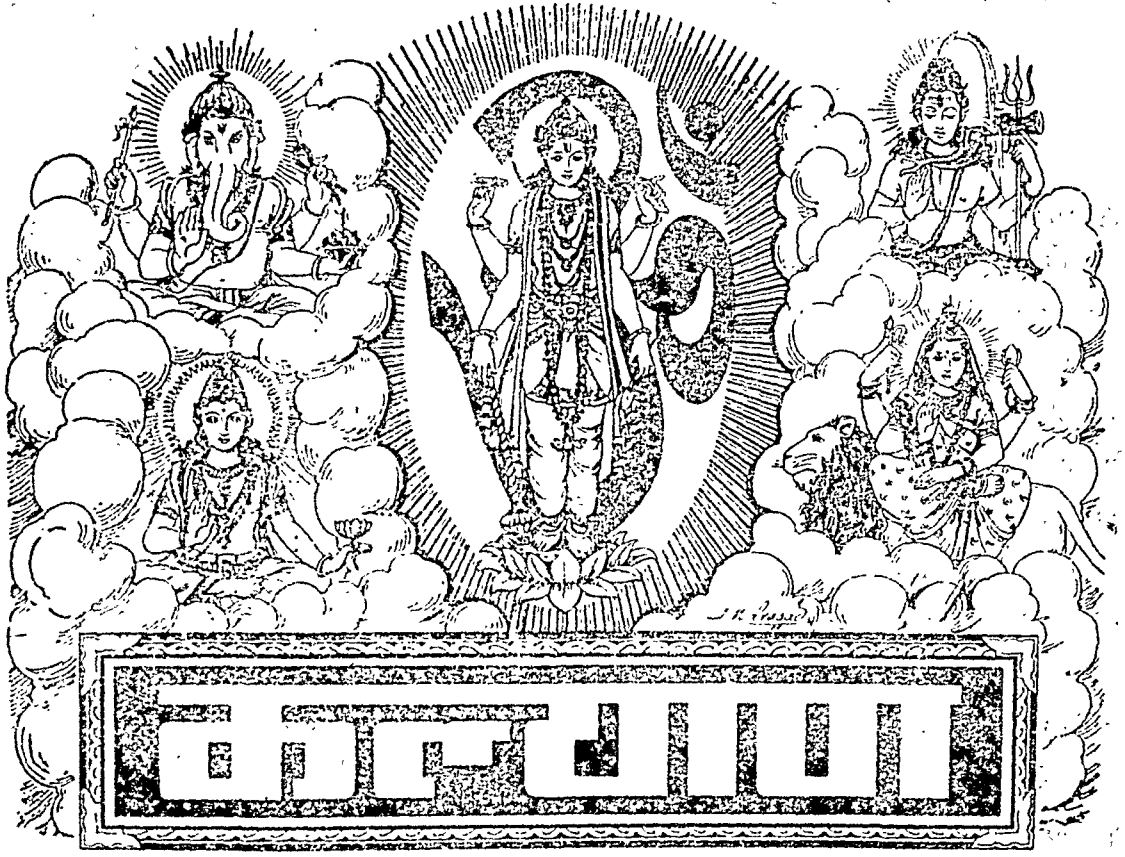
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ (श्रीमद्भा० १ । २ । ११)

वर्ष ५५ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, जनवरी १९८१ { संख्या १
पूर्ण संख्या ६५०

देवाय तस्मै नमः

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । १३ । १)

'ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तुतियोंके द्वारा जिनके गुणगानमें संलग्न रहते हैं, साम-संगीतके मर्मज्ञ ऋषि-मुनि अङ्ग, पद, क्रम एवं उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते रहते हैं, योगी लोग ध्यानके द्वारा निश्चय एवं तल्लीन मनसे जिनका भावमय दर्शन प्राप्त करते रहते हैं, किंतु यह सब करते रहनेपर भी देवता, दैत्य मनुष्य कोई भी जिनके वास्तविक स्वरूपको पूर्णतया न जान सका, उन स्वयम्प्रकाश (भगवत्तत्त्व) परमात्माको नमस्कार है ।'

परमपुरुष-(भगवत्-)स्तवन

(पुरुषसूक्त)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

उन परमपुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि-(पूरे स्थान-) को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं। (यह मन्त्र भगवान् विष्णुके देशगत विभुत्वका प्रतिपादक है।)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

यह जो इस समय वर्तमान (जगत्) है, जो बीत गया और जो आनेवाला है, ये सब वे परमपुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त वे देवताओंके तथा जो अन्नसे (भोजनद्वारा) जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर—शासक) हैं। (यह मन्त्र भगवान्के सर्वकालव्यापी रूपका वर्णन करता है।)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

यह भूत, भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परमपुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे भी महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद्विभूति (चतुर्थांश)-में ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शेष त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक आदि) हैं। (यह मन्त्र भगवान्के वैभवका वर्णन करता है और नित्य लोकोंके वर्णनद्वारा उनके त्रिपाद् विभूति वैष्णव पदको सूचित करता है।)

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

वे परमपुरुष स्वरूपतः इस मायिक जगत्से परे त्रिपाद्विभूतिमें प्रकाशमान हैं। (वहाँ मायाका प्रवेश न होनेसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान है।) इस विश्वके रूपमें उनका एकपाद ही प्रकट हुआ है, अर्थात् एकपादसे वे ही विश्वरूप भी हैं, इसलिये वे ही सम्पूर्ण जड एवं चेतनमय—उभयात्मक जगत्को परिव्याप्त किये हुए हैं। (इस मन्त्रमें भगवान्के चतुर्व्यूहरूपके अन्तिम अनिरुद्धरूपका वर्णन हुआ है। यही रूप एकपाद ब्रह्माण्ड-वैभवका अधिष्ठान है।)

तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परमपुरुष ही विराट्के अधिपुरुष—अधिदेवता (हिरण्यगर्भ)-रूपसे उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुए। पीछे उन्होंने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव, तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये। (इस मन्त्रमें श्रीनारायणसे माया एवं जीवोंकी उत्पत्तिका वर्णन है।)

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥

जिस समय पुरुष-रूप मानस हविसे देवताओंने मानसिक यज्ञ किया, उस समय यज्ञमें वसन्त-ऋतु ही घृत हुआ, ग्रीष्म-ऋतु काष्ठ हुआ और शरद्-ऋतु हव्य-रूपसे कल्पित हुआ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥

जो सबसे प्रथम उत्पन्न हुए, उन्हीं (यज्ञ-साधक पुरुष)को यज्ञीय-पशुरूपसे मानस-यज्ञमें दिया गया।

*

उन पुरुषके द्वारा देवों, साध्यों (प्रजापति आदि) और ऋषियोंने यज्ञ किया ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥

जिस यज्ञमें सर्वात्मक पुरुषका हवन हो रहा था, उस मानस-यज्ञसे दधिमिश्रित घृत आदि उत्पन्न हुए । उससे वायु-देवतावाले वन्य (हरिण आदि) और ग्राम्य (कुक्कुर आदि) पशु उत्पन्न हुए ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

सर्वात्मक पुरुषके होमसे युक्त उस यज्ञसे ऋक् और साम उत्पन्न हुए उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए और उसीसे यजुःकी भी उत्पत्ति हुई ।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥

उस यज्ञसे अश्व और अन्य नीचे-ऊपर दाँतोंवाले पशु उत्पन्न हुए । गौ, अज और मेष भी उत्पन्न हुए ।

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥

जो विराट् पुरुष उत्पन्न किये गये, वे कितने प्रकारोंसे उत्पन्न किये गये ? इनके मुख, दो हाथ, दो ऊरु और दो चरण कौन हुए ?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

ब्राह्मण इसका मुख था (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए) दोनों भुजाएँ क्षत्रिय बनीं (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए) । इस पुरुषकी जो दोनों जङ्घाएँ थीं, वे ही वैश्य हुईं, अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए और पैरोंसे शूद्रवर्ण प्रकट हुआ ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥

इस परमपुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोंसे सूर्य प्रकट हुए, मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुकी उत्पत्ति हुई ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥

उन्हीं परमपुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ, मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरोंसे पृथिवी, कानोंसे दिशाएँ हुईं । इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमें ही कल्पित हुए ।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥

देवताओंने जब यज्ञ करते समय (संकल्पसे पुरुषरूप) पशुका बन्धन किया, तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) बने । इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी (गायत्री, अतिजगती और कृतिमेंसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधाएँ बनीं । (इस मन्त्रमें सृष्टि-यज्ञकी समिधाका वर्णन है ।)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

देवताओंने (पूर्वोक्त रूपसे) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परमपुरुष भगवान्‌का यजन (आराधन) किया । इस यज्ञसे सर्वप्रथम सब धर्म उत्पन्न हुए । उन धर्मोंके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य-देवता निवास करते हैं । (ऋग्वेद १० । ९० । १-१६)

भगवत्स्तुति

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

हम उन प्रकाशस्वरूप, स्तुति करने योग्य, अखिललोकपति भगवान्‌को जान गये हैं, जो ईश्वरोंके भी परम महेश्वर हैं, जो देवताओंके भी परमाराध्य देव हैं, जो स्वामियोंके भी स्वामी हैं और जो महान्‌से भी अति महान् हैं ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

उन परमेश्वरका न तो कोई शरीर है, न उनकी इन्द्रियाँ ही हैं । न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर ही है । उनकी परमाशक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है; क्योंकि वे स्वाभाविक अर्थात् अनादिसिद्ध शक्तियुक्त हैं । उन परमेश्वरके ज्ञान और बलके अनुसार ही क्रिया होती है ।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

उन परमेश्वरका इस संसारमें न तो कोई पति है, न नियामक है और न कोई कारण अथवा अनुमापक ही है । वे स्वयं ही सबके कारण हैं, वे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके भी अधिष्ठाता हैं, उनका न तो कोई उत्पादक है और न स्वामी ही है ।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीरमेंसे निकले हुए तन्तुओंसे अपने आपको वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार इन अद्वितीय परमात्माने अपनी ही प्रकृतिसे इस सृष्टिको उत्पन्न-कर उसके द्वारा अपनेको आवृत कर लिया । वे परमेश्वर हमारा उस परब्रह्मके साथ एकीभाव प्रदान करें ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

जो सर्गारम्भमें पहले ब्रह्माकी रचना करते हैं; और फिर जो उन्हें वेदका ज्ञान कराते हैं, मैं मोक्षकी इच्छासे उन स्वप्रकाशस्वरूप परब्रह्मकी शरण ग्रहण करता हूँ ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । ७–१०, १८)

पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गो नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥
रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जौ यथाहिः स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ।
आप्तोक्त्याहिभ्रान्तिनाशे स रज्जुर्जीवो नाऽहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥
आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात् ।
निद्रामोहात् स्वप्नवत् तन्न सत्यं शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम् ॥
नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहंकारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥
मत्तो नान्यत् किंचिदत्रास्ति विश्वं सत्यं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम् ।
आदर्शान्तर्भासमानस्य तुल्यं मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम् ॥

'न मैं देह हूँ न इन्द्रिय हूँ, न अन्तःकरण, न अहङ्कार, न प्राणसमुदाय और न बुद्धि ही हूँ। स्त्री, संतान, खेत और धन आदिसे दूर, नित्यसाक्षी अन्तरात्मा एवं शिवस्वरूप ब्रह्म हूँ। जैसे रस्सीको न जाननेके कारण भ्रमवश उसमें सर्प भासित होने लगता है, उसी प्रकार अपने स्वरूपको न जाननेसे उसमें जीवभावकी प्रतीति होती है। किसी विश्वसनीय व्यक्तिके कहनेसे सर्पके भ्रमका निवारण हो जानेपर जैसे वह रस्सी स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी गुरुके उपदेशसे मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मैं जीव नहीं हूँ, शिवस्वरूप परमात्मा हूँ। आत्मा सत्य, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है, उसीमें मोहवश इस मिथ्या जगत्की प्रतीति हो रही है। निद्राजनित मोहसे दीखनेवाले स्वप्नकी भाँति वह सत्य नहीं है। अतः यही निश्चय करे कि मैं शुद्ध (मायालेशशून्य), पूर्ण (अखण्ड), नित्य (अविनाशी), एक (अद्वितीय) शिवस्वरूप परमात्मा हूँ। न मेरा जन्म हुआ है, न मैं बढ़ा हूँ और न मेरा नाश ही हुआ है। समस्त प्राकृत धर्म शरीरके ही कहे गये हैं। कर्तृत्वादि धर्म अहङ्कारके ही हैं, चिन्मय आत्माके नहीं। अतः मैं शिवस्वरूप परमात्मा हूँ। मुझसे भिन्न यहाँ जगत् नामकी कोई सत्य वस्तु नहीं है। वास्तवमें सारी बाह्य वस्तुएँ मायासे ही कल्पित हैं। दर्पणके भीतर भासित होनेवाले प्रतिबिम्बके समान यह सब कुछ मुझ अद्वैत परमात्मामें ही प्रतीत हो रहा है। अतः मैं शिव हूँ।'

(आचार्य शंकरकृत अद्वैतपञ्चरत्न १–५)

ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्ति

(दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—(तैत्तिरीयोप० २।१) ब्रह्मको जाननेवाला साधक परतत्त्वसे निर्देश्य सर्वोत्कृष्ट 'ब्रह्म'को प्राप्त करता है। ब्रह्मसे बढ़कर कोई दूसरा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ नहीं है। इससे पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यका निष्कृष्टार्थ हुआ कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। अब जिज्ञासा होती है कि यह ब्रह्मका ज्ञान कैसे प्राप्त हो ? श्रुतिने ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**—अर्थात् 'ब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।' सत्य वही हो सकता है, जो भूत, भवत् और भविष्यत्रूप तीनों कालोंमें जिसका अभाव न हो, सदा सत्ता बनी रहे। कालत्रयाबाधित पदार्थ ही सत्य कहा जाता है। ब्रह्मके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ तीनों कालोंमें नहीं रह सकता। सारे पदार्थ उत्पत्तिविनाशशील हैं। ये थोड़े समयतक टिकेंगे और नष्ट हो जायँगे। किंतु ब्रह्मकी न उत्पत्ति है, न विनाश। वह अनादि, अविनाशी और ध्रुव सत्य, स्वयम्प्रकाशरूप चैतन्य-स्वरूप है। इसीके द्वारा सारा संसार प्रकाशित होता है। ब्रह्म अनन्त है। ब्रह्ममें किसी भी पदार्थका परिच्छेद भेद नहीं है। ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ होता तो उसका भेद ब्रह्ममें आ सकता था। परिदृश्यमान जगत्का कारण भी ब्रह्म ही है। कारणकी सत्तासे अतिरिक्त सत्ता कार्यमें है ही नहीं, अतः कारण ही कार्यरूपसे दीखता है। ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न पदार्थ कोई भी नहीं हो सकता तो किसका भेद ब्रह्ममें आ सकता है। वह अनन्त अद्वय है। यहाँतक निर्दिष्ट ब्रह्मका लक्षण 'स्वरूप-लक्षण' कहा जाता है। जो सदा लक्ष्यमें स्थित रहे वह स्वरूप-लक्षण है।

जिससे लक्ष्यका परिचय हो और लक्ष्यमें सदा रहनेका नियम न हो, वह 'तटस्थ लक्षण' है। भगवान् व्यासने 'शारीरक-मीमांसा-दर्शनके'—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) इस द्वितीय-सूत्रसे ब्रह्मके तटस्थ लक्षणका निरूपण किया। जो संसार दीखता है, थोड़े समयतक टिकता है और अन्तमें नष्ट होता है, उसके ये जन्म-स्थिति-नाश जिससे हुआ करते हैं, वही ब्रह्म या परमात्मा है। जगज्जन्म-स्थिति-नाश-कर्तृत्व भी परमात्माका लक्षण है। यह तटस्थ लक्षण कहलाता है। परमात्मामें यह लक्षण तभी हो सकता है, जब जगत्के जन्म-स्थिति-नाश बनते हों। जब तीनों नहीं, तभी परमात्मा है। यह लक्षण परमात्माका परिचय कराता हुआ भी सार्वकालिक नहीं है। सत्य-ज्ञानानन्तरूप परमात्माको निर्गुण और जगज्जन्मादि-कारण परमात्माको सगुण कहते हैं। परंतु दोनों अद्वय परब्रह्म ही हैं। एक ही ब्रह्म दो रूपोंमें भासता है। सगुण ब्रह्मकी उपासनासे चित्त निर्मल होकर विक्षेप-रहित हो जाता है। निर्मल चित्त पुरुष ही वेदान्तशास्त्र-विचारका अधिकारी है। व्यासजीने—**'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्रसे ब्रह्म जाननेमें वेदान्त-शास्त्रको ही प्रमाण बतलाया। वेदान्त-विचारसे निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार होता है। साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्या-निवृत्तिसे जीव काम-कर्मादि सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वयं ब्रह्म बनेगा। यही **'ब्रह्म-विदाप्नोति परम्'**—(तै० उप० २।१)का अर्थ है।

भगवत्तत्त्व-चिन्तन

(पश्चिमाम्नाय द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

श्रीभगवान्‌के सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी भगवत्तत्त्व अबतक निगूढ़ ही रहा है। भगवान् तो—**'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'**—इस श्रीमद्भागवतके वचनानुसार सर्वेश्वर, सर्व-शास्ता, परात्पर, परब्रह्म, परमतत्त्व, पराशक्ति आदि नामसे प्रख्यात एवं पूजित हैं। योगियोंकी दृष्टिसे तथा भगवान्‌की गीता-वचनानुसार—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**—(गीता १८ । ६१)—सभीके हृदयमें निवास करते हैं। कृष्णयजुर्वेदीयोपनिषद् चतुर्वेदोपनिषद् मन्त्र—जिन्हें पण्डितगण मन्त्र-पुष्पाञ्जलिमें उच्चारण करते हैं—इसमें प्रमाण हैं—**पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकाशसंनिभम्। स तस्य शीकराभिश्च हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधोनिष्ट्याविवतस्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। ज्वालमालाकुलं भाति विश्वस्यायतनं महत्।......तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा। नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स शिवः साक्षात् स हरिः सोऽक्षरः स्वराड्॥**

(नारायणोपनिषद् ७ । ११ । १३)

—इत्यादिके मतानुसार हृदयाकाशान्तर्गत सूक्ष्मभागमें परमात्मा रहते हैं। भगवान् सर्वगुणसम्पन्न तथा निर्गुण-निराकार भी शास्त्रमें वर्णित हैं। **'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च।'** (मुण्डक) अतः सभीको भगवत्तत्त्वका चिन्तन-मनन सर्वदा करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही संसार-बन्धनसे छुटकारा मिलता है। अतः भगवत्तत्त्वका यथार्थ प्रचार-प्रसार पूर्वापेक्षया अधिक आवश्यक है; क्योंकि आज लोग विशेषतया भौतिकवादमें पड़कर दुःखित हो गये हैं। भगवान् सबको सद्बुद्धि-सत्प्रेरणा देकर विश्वकी रक्षा करें; यही हमारा शुभाशीष् है।

भगवत्तत्त्व-विमर्श

(धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

तत्त्ववेत्ता लोग सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वयज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। निरतिशय बृहत् होनेके कारण यही तत्त्व ब्रह्म, सर्वोत्कृष्ट एवं सबका अन्तरात्मा होनेसे परमात्मा और सर्वविध भजनीय गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण भगवान् कहा जाता है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १ । २ । ११)

'शिशुपालवध'के प्रारम्भमें उसके रचयिता महाकवि माघकी उक्ति है—'द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी सभामें श्रीनारदजी पधार रहे हैं। उस समय पहले यदुवंशियोंको आकाशमें एक तेजःपुञ्ज मात्र नीचे अवतीर्ण होता दृष्टिगोचर होता है। कुछ और संनिधान होनेपर उस तेजःपुञ्जमें हस्त-पादादि शरीरके अवयव भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उस तेजःपुञ्जके अत्यन्त समीप आनेपर श्रीभगवान् एवं यदुवंशी लोगोंको पता चलता है कि ये तो देवर्षि नारद हैं—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥*

(शिशुपालवध १ । ३)

*—(क) पूर्वं दीप्तिपुञ्जः, किंचित्सामीप्याल्लक्षिताकारम्, ततोऽपि सामीप्याद्विभक्तावयवं पुमान्, अतिनैकट्याद् नारद इति अबोधि। (वल्लभदेवः)

(ख) लोकहृदये मुक्तिम्, हरिस्तु सर्वं वेद एव इति तत्त्वम्। (मल्लिनाथ)

(ग) अत्र निपातेनापिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। (वामन)

इसी प्रकार तत्त्वसे अति दूर अधिकारी साधकको सर्वप्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका ही बोध होता है। कुछ और सामीप्य होनेपर कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्माका तथा अत्यन्त सामीप्य होनेपर अनन्त कल्याणगुणगण-विशिष्ट भगवान्‌के रूपमें उसी तत्त्वका उपलम्भ होता है। वैदिकोंकी दृष्टिमें वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है और वही सब प्रकारसे सर्वोत्कृष्ट है।

'बृह्' या बृंहि-वृद्धौ (धातुपाठ २८। ५७ माधवीया धातुवृत्ति ६। ५७) धातुसे उणादि मनिन् प्रत्यय होकर 'ब्रह्म' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—'बृहत्' (बड़ा)। इसके समवधान (समीप)में कोई संकोचक पद नहीं पढ़ा गया है तथा संकोचकका कोई कारण भी उपस्थित नहीं है, अतः ब्रह्मका अर्थ होगा—निरतिशय बृहत्, कल्पनातीत बृहत्। जो पदार्थ देशपरिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न और वस्तुपरिच्छिन्न होगा, वह परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही होगा, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि वह क्षुद्र जड़ द्रव्य होगा तो दृश्यादि होनेसे अल्प भी होगा और अल्प होनेसे मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश परमानन्द तत्त्व ही निरतिशय बृहत् होनेके कारण ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ या तात्पर्य हो सकता है और वही शुद्ध तत्त्व है। एक वाक्यमें यों भी कहा जा सकता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते जहाँ वाचस्पति एवं प्रजापतिकी मति भी विरत हो जाय, अर्थात् जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना ही न कर सके, उसी अनन्त अखण्ड स्वप्रकाशस्वरूप शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-परमानन्दघन भगवान्‌को वेदान्तीलोग ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। इसीका विचार **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**(ब्र० १। १। १)आदि वैयासिक-सूत्रोंद्वारा किया गया है। तत्त्वमात्र भी इसीको कहा गया है। इसका ही लक्षण ऊपर किया गया है—**'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्'**इस तत्त्वका ही नाम ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् है। ये शब्द एक ही पदार्थके वाचक हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थोंके नहीं। क्योंकि इन सभीका एक ही लक्षण है—**'यज्ज्ञानमद्वयम्'**।

लक्षणके भेदसे ही लक्ष्यमें भेद होता है, नामभेदसे नहीं। जैसे घटका लक्षण कम्बुग्रीवादिमत्व, पृथुबुध्नोदरत्व आदि किया गया है। यह लक्षण घट, कलश, कुम्भ सभीका है। अतः घट, कलश, कुम्भ आदि शब्द एक ही पदार्थके वाचक हैं। हाँ, व्यवस्थाको बुद्ध्यारूढ करनेके लिये कई प्रकारके ब्रह्म शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यथा (१) कार्यब्रह्म (२) कारणब्रह्म (३) कार्यकारणातीत ब्रह्म। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मको लेकर ऊपरवाली कल्पना कही जा सकती है, कार्यकारणातीत ब्रह्मको लेकर नहीं।

प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान्‌का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक है, यथा—**'स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः'** (श्रीमद्भागवत २। ४। १४) अपने स्वरूपभूत तेजमें जिसे ब्रह्म कहा जाता है, उस अपने धाममें रमण करनेवाले भगवान्‌को हमारा प्रणाम है।' **'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्'** (गीता १०। १२) भगवन्! आप परमात्मा हैं। आप परम प्रकाश, परम ज्योति और परम पवित्र हैं। किंतु कुछ दूसरे लोगोंकी यह अटल धारणा है कि धाम शब्दका अर्थ निवासस्थान ही होता है, अतः वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टिके जानेका प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि इस दृष्टिसे भी ब्रह्मको यदि धाम मान लें तो सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। यह भेद वेदान्तियोंको भी इष्ट ही है कि स्थूल कार्यब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यब्रह्म और उसके ऊपर कारण-ब्रह्म (अव्यक्त) और उसके ऊपर भी कार्यकारणातीत ब्रह्म स्थित है।*

* इसी प्रकार परब्रह्म, अवरब्रह्म, शाश्वतब्रह्म, शब्दब्रह्म, एकाक्षरब्रह्मादि ब्रह्मके अनेकों भेदोंको भी जिज्ञासु व्यक्तिको समझना चाहिये। सभीको जानकर 'कार्यकारणातीत ब्रह्म'को प्राप्त करनेसे पूर्ण कृतकृत्यता होती है—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' 'यत्। शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति', भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ (त्रिपु० ४। १७, मैत्रा० ६। २२, श्रीमद्भा० १। २। २१)

अस्तु ! यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्तशुद्धबोधरूप है । इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है । यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वधाम सर्वनिवासस्थान भी कहें तो कोई हानि नहीं । इसी भावका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥
(३ । ३२ । २८)

अर्थात्—'अद्वितीय एक नित्यबोध ही भ्रान्तिसे अविद्या प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियों तथा मन बुद्धि आदिके द्वारा विविध शब्द, रूप, रस, गन्धादि जागतिक धर्म—प्रपञ्चके रूपमें भासित एवं अनुभूत हो रहा है । यह भ्रान्ति यदि साधनोंसे दूर हो जाय तो पुनः विशुद्ध अद्वयतत्त्व ही सर्वत्र प्रतिभासित एवं उपलब्ध होता है ।'

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उपदिष्ट भगवत्तत्त्व

(जगद्गुरु शंकराचार्य तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका प्रसाद)

भारतमें श्रीमद्भगवद्गीताके अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों गीताएँ हैं, जैसे—रामगीता, गणेशगीता, देवीगीता, सूर्यगीता, अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, शिवगीता, उत्तरगीता, बोध्यगीता, उद्धवगीता, आदि । परंतु मात्र गीता शब्दसे सहसा कृष्णप्रोक्त भगवद्गीताका ही बोध होता है । इसमें भगवान् कृष्णने अर्जुनको उपदेश दिया है अथवा अर्जुनको निमित्त बनाकर सबके कल्याणके लिये उपदेश दिया है । तथापि इसमें 'कृष्ण उवाच' न होकर 'श्रीभगवानुवाच' ही आया है—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।'**

सामान्यतया उपदेश दो प्रकारके होते हैं । सांसारिक नीतियोंका उपदेश और आध्यात्मिक तत्त्वका उपदेश । लौकिक कल्याणार्थ आचार-विचार-व्यवहारादिका उपदेश नीतिका उपदेश है । मूर्ति उपासनासे इष्ट देवताओंकी उपासना-पद्धतिसे अध्यात्मतत्त्वकी जो शिक्षा दी जाती है—वह भक्तिका उपदेश—तत्त्वोपदेशकी भूमिका है । तत्त्वोंमें सृष्टि-संहार एवं संसार इन सबका विचार करके अजर, अमर परमात्म-तत्त्वका चिंतन मुख्य अध्यात्मतत्त्वोपदेश है ।

उपदेश एकान्तमें, शान्त स्थानमें करना—यह प्रायः विधान है । परंतु गीताका उपदेश कोटि-कोटि मनुष्योंके मध्य, अशान्त वातावरणमें हुआ है । प्रायः उपदेशके समय वक्ताके उच्च स्थानमें बैठने और श्रोताके नीचे स्थानमें बैठकर सुननेकी पद्धति है । पर गीतामें बोलनेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा सारथीके रूपमें नीचे बैठे हैं और सुननेवाले अर्जुन रथमें ऊपर बैठकर सुनते हैं । यह भी भगवद्गीताके उपदेशकी एक विचित्रता है । प्रायः उपदेश एक ही विषयपर, एक ही लक्ष्यपर होता है । किंतु भगवद्गीतामें कर्म-भक्ति, ज्ञान-ध्यान, संन्यास, विविध योग, भगवान्के सर्वव्यापक विश्वरूप आदि सभी विषयोंपर प्राप्त हैं । भोजन, दान, त्याग आदिके त्रिविध भेदोंपर भी तथा संन्यासके स्वरूपपर भी विचार किया गया है ।

साधारण पाठमात्रसे भगवद्गीताकी सारी विशेषता ज्ञात नहीं होती । गीताका मुख्य लक्ष्य है—ज्ञानप्राप्ति, यथा—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

यही भगवद्गीताका मुख्य एवं सर्वोपरि विषय है । योगादिके द्वारा आत्मज्ञान-प्राप्तिमें परमात्माके ज्ञान होनेपर मोह दूरकर दुःख दूर करना ही गीताका मुख्य लक्ष्य है ।

युद्ध स्थलमें आकर अर्जुन अपने चारों ओर अपने भाई, बन्धु, गुरु, दादाजी और अन्य सम्बन्धियोंको देखकर उनके प्रति प्रेमसे भर जाते हैं। प्रेमसे मोह हो गया और विचार आया कि लड़ाई करनेसे उनके वे सभी सम्बन्धी मर जायेंगे, इससे उन्हें बड़ा दुःख होता है। अतः प्रेमसे मोह—अज्ञान और उससे दुःख आया। अर्जुनने कहा—'हम लड़ाई न करेंगे।' इस अध्यायको 'अर्जुन-विषादयोग' कहा गया है। विषादका अर्थ है—दुःख। जगद्गुरु आदिशंकराचार्यजीने भगवद्गीताके गम्भीर दिव्य भाष्यकी रचनाकर तत्त्वजिज्ञासु मुमुक्षुओंका बड़ा उपकार किया है। परंतु प्रथम अध्यायकी व्याख्या उन्होंने नहीं लिखी। **'स्पष्टम्—स्पष्टोऽर्थः'** ऐसा लिखकर छोड़ दिया। दुःखमय संसारकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता उचित नहीं समझी। दूसरे अध्यायमें ११वें श्लोकसे श्रीकृष्णभगवान्का उपदेश तथा उनका भाष्य प्रारम्भ होता है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

'अर्जुन! तुम विद्वानोंकी तरह बातें करते हो, पर जो लोग शोक करनेयोग्य नहीं हैं, उनपर दुःख करके तुम रोते हो। जिन बन्धुओं, चाचा, मामा तथा अन्य सम्बन्धियोंके ऊपर प्रेम करते हो, उनके दो रूप हैं। एक शरीररूप और दूसरा आत्माका रूप। आत्मरूपमें विचार करनेसे तुमको दुःख कभी किसी प्रकारसे न होगा। अतः तुम्हें शोकाकुल होनेकी आवश्यकता नहीं। देहरूपमें देखनेसे देह-दुःख आ जायेगा। परंतु देह निश्चित नहीं। इसलिये इसपर भी दुःख करनेकी जरूरत नहीं, इनपर दुःख मत करो—**'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं।'** इस प्रकार अर्जुनको ज्ञान, भक्ति, योग, कर्मका उपदेश दिया। अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

अपने स्व-धर्म-कर्म एकमात्र भगवान्को समर्पण करो। उससे जो फल प्राप्त हो उस सबको भी भगवान्के चरणोंपर समर्पण करो। **'मा शुचः'**— तुम शोक मत करो। इन उपक्रमोपसंहारके दोनों स्थलोंको देखनेसे शोक-मोह-चिन्ता-का त्याग ही गीताका तात्पर्य दीखता है। अर्जुनने भी अन्तमें समाधान रूपमें उत्तर दिया—**'नष्टो मोहः।'** मेरा मोह—अज्ञान नष्ट हो गया। जिस लक्ष्यके लिये मैं आपकी शरण आया था, उसका ज्ञान हो गया। मोह हो जानेसे युद्ध न करनेको कहा था, पर अब मोह दूर हो गया। आप जो आज्ञा देंगे, वही करूँगा। स्पष्ट है कि गीतामें प्रारम्भ, मध्य तथा अंतमें देखनेसे दुःख दूर करनेका उपाय—ज्ञान ही प्रधान है। जैसे अर्जुनको पहले मोहके कारण दुःख हुआ। दुःख दूर होनेका उपदेश सुनकर उनका दुःख दूर हुआ और फिर उन्होंने उचित कार्य किया। इस ज्ञानप्रधान गीतामें उपदेश है। प्रत्येक आयु, योग्यता, कुल, अनुभव, मनके अधिकारके अनुकूल कई प्रकारके उपदेश हैं। गीतामें कहा है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** जिसका जो भी धर्म, कर्म निहित हैं, उसे ही ठीक रूपसे करनेसे भगवान्का प्रसाद मिलेगा। भगवत्-साक्षात्कारका यही मुख्य प्रारम्भिक साधन है। इसलिये यह उपदेश व्यक्तिगतरूपसे तत्त्व-उपदेशरूपमें होनेपर भी साधन-रूपमें है। गीताका उपदेश भगवान्ने संसारके सभी लोगोंके लिये दिया है। इसीलिये कृष्ण भगवान्को जगद्गुरु कहा गया है—**'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'।**

इस उपदेशमें एक और विशेष बात है कि इसे पढ़नेसे बड़ा पुण्य मिलता है। जैसे रामचरितमानसके पारायणसे पुण्य मिलता है, उसी प्रकार गीता पढ़नेसे भी पुण्य मिलेगा। मानस-पारायणद्वारा राम-भक्ति प्राप्तकर हमारा जीवन धन्य होता है। इसी प्रकार भगवद्गीताके केवल पाठ करनेमात्रसे भी लाभ है, पर पढ़कर उसके अनुसार आचरण करनेसे

भगवद्गीताके उपदेशसे भगवत्तत्त्वका ही साक्षात्कार हो जाता है। कुछ छिटफुट श्लोकोंको छोड़कर भगवद्गीताके केवल ११वें अध्यायमें ही भगवान्‌की स्तुति है। शेषमें भगवान्‌ने जनताको उपदेश दिया है। उसके पालन करनेसे, उसके अनुसार आचरण करनेसे भगवद्गीताके उपदेशका पूर्ण फल हमारे जीवनमें आ सकते हैं और शेष गीता भगवान्‌के स्तोत्ररूपमें है। भगवद्गीता भगवान्‌ने हमारे लिये कही है। उसके पढ़नेसे भी पुण्य प्राप्त होता है, पर पढ़कर उसके अनुसार आचरण भी करना चाहिये। इसी दृष्टि और भावनासे आदिगुरु शंकराचार्यजीने कहा है—**'भगवद्गीता किंचिदधीता'** इसको थोड़ा पढ़नेसे भी अपार पुण्य और पढ़नेके बाद इसके अनुसार आचार-विचार करनेसे मोक्ष मिलेगा। भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

'अर्जुन! मेरेमें मन लगाओ, भक्ति करो, पूजा करो। कम-से-कम नमस्कार करो—ऐसा करनेसे भी मेरा स्थान पा सकते हो, इसमें संदेह नहीं।' भगवान्‌के ऊपर विश्वास रखनेसे, पूजा-पाठ करनेसे पुण्य अवश्य मिलेगा। केवल कई बार बोलनेसे लाभ नहीं मिलता। केवल ऐसा उच्चारण करनेसे कि 'नमस्कार करना है—नमस्कार करना है' विशेष लाभ न होगा। नमस्कार करनेसे लाभ मिलेगा। इसी कारण भगवद्गीता एक आचरणीय ग्रन्थ है। हम लोगोंको चाहिये कि इसका अच्छी प्रकार अध्ययन कर तदनुसार आचरण भी करें।

अर्जुन अन्तमें उत्तर देते हैं—**'करिष्ये वचनं तव'**। हमलोगोंको भी चाहिये कि गीता-उपदेशमें जो भगवान् कहते हैं, उसीके अनुसार आचरण करें। किन्हीं तद्वचनोंको जीवनमें उतारें तो हमारा जीवन सुधरेगा, इसमें संदेह नहीं। इसी भावनासे गीताका उपदेश दिया है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो कुछ भी आप खायें, जो कुछ भी तपस्या, त्याग, व्रत आदि करें, वह सब मेरे ही निमित्त करें। जो भी हम करें भगवान्‌के ही निमित्त करें। हर समय उनका ही ध्यान करें। ऐसा करनेसे उनका आशीर्वाद सुलभ होगा—

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।'
'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'
'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'
'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥'

जगद्गुरु आदि शंकराचार्यजीने अपने भाष्यमें इस प्रकारका भाव प्रकट किया है—'प्रत्येक व्यक्तिको स्वधर्मके अनुसार ही कार्य करना चाहिये। पिता-माता, गुरु तथा शिष्य—सबको अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही प्रत्येकको अपने कर्मसे शान्ति मिलेगी और ऐसा न करनेसे मान्यताएँ भङ्ग होंगी और अशान्ति आयेगी। स्वधर्म-पालनसे ही हर एकको शान्ति मिल सकती है। स्वधर्म-पालनसे चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धिसे योगशुद्धि और फिर ज्ञान-सिद्धि होती है। कर्मसे मन पवित्र होता है, योगसे चित्त एकाग्र होता है और अन्तमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। भक्तिसे भगवान्‌का ज्ञान होता है और अन्तमें ज्ञानी भक्त ब्रह्मको प्राप्त करता है। इसलिये कहा है—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।'** अपने कर्मका पालन उचित रूपसे करनेपर भक्ति होती है। भक्तिसे ज्ञान होता है और पश्चात् भगवत्प्रवेशरूप जीवन्मुक्ति, सायुज्य या कैवल्यरूप परमात्म-लाभ।

मनुष्यको चाहिये कि प्रातःकाल उठकर, अपने नित्यकर्मसे निवृत्त होकर भगवान्‌का स्मरण करे, अपने इष्टदेवता, भगवान् राम-कृष्णका भजन करे,

पूजा-पाठ करे। उसीके साथ-साथ अपने स्वधर्मका पालन भी करे। भगवान्‌की पूजा तथा भजन करनेके साथ-साथ अपने निमित्त-कर्तव्योंका पालन करनेसे ही धर्म-पालन करनेकी उचित परिस्थिति होती है। ऐसा करनेसे प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण शान्ति तथा उपरिनिर्दिष्ट गति अवश्य मिलेगी।

भगवत्तत्त्वका स्वरूप

(ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराजका आशीर्वाद)

यह नाम-रूपात्मक समस्त विश्व कार्य है। इस कार्यका कोई उत्पादक-कर्ता भी होगा। किसी भी उत्तम भवनको देखकर उसके निर्माताको प्रत्यक्ष न देखकर भी अनुमान-प्रमाणके द्वारा उसके रचयिताका निश्चय होता है। इस अनुमानसे तथा **'जन्माद्यस्य यतः'**, इत्यादि सूत्र एवं **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** श्रुतियोंके द्वारा इस विचित्र-अद्भुत जगत्‌का रचयिता परमात्मा ही सिद्ध होता है। दार्शनिक पद्धतिके अनुसार कोई भी कार्य ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कर्त्ताके बिना नहीं होता। लोकमें घटरूपी कार्यका कर्त्ता ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कुम्भकार देखा जाता है। इसी प्रकार अखिल ब्रह्माण्डका कर्त्ता या निर्माता ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् सच्चिदानन्द-राशि भगवान् हैं। वे ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर, भगवान्, परमात्मा आदि शब्दाभिलप्य हैं। शास्त्रोंमें भगवान्-शब्द-वाच्यका लक्षण इस प्रकार अङ्कित है—

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

अर्थात् भूतोंकी (चराचरात्मक प्राणियोंकी) उत्पत्ति, विनाश, विद्या-अविद्या, गमनागमनको जो जानता है, वही भगवान् हैं। वह एक है, सर्वव्यापक, सर्वात्मक एवं सर्वशक्तिमान् है। संसारका कोई भी देश शासन या शासकके बिना नहीं देखा जाता। कोई भी राज्य व्यवस्था या नियम (कानून)के बिना नहीं चल सकता। नियम या कानून व्यवस्थापक—शासकके बिना नहीं चल सकता। हम देखते हैं कि इस जगत्‌की व्यवस्था भी नियमानुसार ही चलती है। रात्रिके अनन्तर दिवस, दिनके पश्चात् रात्रि, ग्रीष्मके अनन्तर वर्षा, वर्षाके अनन्तर शरद् आदि ऋतुओंका परिवर्तन भी नियमबद्ध ही होता है। इसी प्रकार कृष्ण पक्षके बाद शुक्ल पक्ष एवं शुक्ल पक्षके अनन्तर कृष्ण पक्ष, अमावस्याके पश्चात् पूर्णिमा, पूर्णिमाके अनन्तर अमावस्या। सूर्यग्रहण अमावस्याको और चन्द्रग्रहण पूर्णिमाको ही लगता है। तारे आकाशमें टिमटिमाते हैं, पृथ्वीपर उनका पतन नहीं होता। मानव-से-मानव ही उत्पन्न होता है, व्याघ्रादि नहीं। सिंहसे सिंहकी ही उत्पत्ति होती है, शृगालकी नहीं। जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है— **'मरणान्तं च जीवितम्'**। इस प्रकार इस विचित्र विश्वकी (संसारचक्रकी) सुव्यवस्थाका संचालक ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् ही भगवान् है, जगदीश है, विश्व-नियन्ता परमेश्वर है, भगवत्तत्त्व है।

भगवान्‌के विभिन्न स्वरूप

अधिकारी-भेदसे उपासनाकी दृढ़ताके लिये भगवान् या भगवत्तत्त्वको हम चार स्वरूपोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्गुण-निराकार—सच्चिदानन्दस्वरूप, सगुण-निराकार, सगुण-साकार, सगुण-साकार—लीलाविग्रहावतार। माया-कलङ्कशून्य स्वप्रकाश अद्वैत अभेद्य परब्रह्मस्वरूप

प्रथम है। वही ब्रह्म जीवोंके अदृष्टानुसार भोग-सम्पादनार्थ, मोक्ष-प्रदानार्थ, संसार-निर्माणार्थ अपनी अघटितघटनापटीयसी माया-शक्तिके द्वारा सगुण-निराकार, कारण ब्रह्म या ईश्वर-नामसे अभिहित होता है। अखिल ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारादि कार्य इसी द्वितीय स्वरूपसे सम्पादित होते हैं। ब्रह्माण्डान्तर्गत सूक्ष्म प्रपञ्च या देवादि लोकोंकी मर्यादाको अव्यवस्थासे बचाकर सुव्यवस्थित रखनेवाला सगुण-साकार चतुर्भुजादि स्वरूप भगवान्का तृतीय स्वरूप है। मर्त्यलोकमें अधर्मको हटाकर धर्मव्यवस्थापनार्थ सगुण-साकार लीलाविग्रह राम-कृष्णादिस्वरूप भगवान्के चतुर्थ स्वरूप हैं। इस प्रकार हमारी संस्कृतिमें भगवान्के चार स्वरूप पाये जाते हैं। यद्यपि भगवत्तत्त्व असीम एवं अनन्त है, तथापि अचिन्त्य अप्रमेय निर्गुण-निराकार परमात्माके विभिन्न स्वरूपोंके आधारपर उपासकोंकी उपासनासे दृढ़ताके लिये उपर्युक्त स्वरूपोंकी कल्पना शास्त्र-सम्मत है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेदसंहिता)

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(रामपूर्वतापिन्युपनिषद्—७)

इस प्रकार भगवत्तत्त्वको हम चार स्वरूपोंमें विभक्त करते हैं। उपासक स्वमत्यनुसार किसी रूपको उपास्य बनाकर अपने लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं।

गोपालमन्त्रोपदिष्ट भगवत्तत्त्व

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर श्री'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥
(गोपालता० उप० १)

अथर्ववेदीय गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् पाँच अध्यायोंमें निबद्ध है। इसकी पञ्चपदी ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमन्त्र उपदिष्ट है। यहाँ भगवत्तत्त्वका विस्तृतरूपसे प्रतिपादन हुआ है। श्रीगोपालमन्त्रराज पाँच पदों एवं अष्टादशाक्षरोंके रूपमें साक्षात् भगवत्तत्त्व (श्रीकृष्ण)का ही स्वरूप है। पाँच पद होनेके कारण ही इसे 'पञ्चपदी ब्रह्मविद्या' कहा गया है। इसके आराधन (सेवन)से अर्थात् जप-अनुष्ठानादिके करनेसे भगवत्तत्त्व (श्रीकृष्ण)की समुपलब्धि होती है। यह विषय श्रीसनकादि मुनियोंके प्रश्न और जगत्पिता श्रीब्रह्माके उत्तर-रूपमें बड़े सुन्दर ढंगसे वर्णित हुआ है।

श्रीसनकादि मुनिजनोंने सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्मदेवसे प्रश्न किया—'ब्रह्मन्! परम (सर्वोत्कृष्ट) देव कौन है? मृत्यु किस तत्त्वसे भयभीत है? और किसकी सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित है? इस स्थावर-जङ्गम समस्त (चराचर) विश्वका प्रेरक कौन है?' **'कः परमो देवः, कुतो मृत्युर्बिभेति, कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भाति, केनेदं विश्वं संसरतीति।'** इसपर श्रीब्रह्मदेवने कहा—'शरणागत भक्तजनोंके पाप-हरण करनेवाले कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही सर्वोत्कृष्ट देवता हैं। इनके नामस्मरणसे ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं'—**'तदु होवाच ब्राह्मणः—कृष्णो वै परमं दैवतम्, गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति गोपीजनवल्लभज्ञानेन तज्ज्ञातं भवति, स्वाहयेदं संसरतीति।'**

यत्र यत्र स्थितो वापि कृष्ण कृष्णेति कीर्तनात्।
सर्वपापविशुद्धात्मा स याति परमां गतिम्॥
(पद्मपुराण)

गोपालके प्रथमाक्षर 'गो' शब्दके अनेक अर्थ हैं, जिनमें गौ, भूमि, सूर्यकी किरणें और इन्द्रियाँ—ये मुख्य हैं। इन सबमें अन्तर्यामी रूपमें विराजमान होकर समस्त चराचरका प्रतिपालन करनेवाले सर्वेश्वर श्रीहरि

गोविन्द नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रसङ्गमें—'य आदित्ये तिष्ठन् यः पृथिव्यां तिष्ठन्'। (बृहदा० उप) **'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्', 'गामाविश्य च भूतानि, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता) आदि वचन प्रमाण हैं। इन्द्रयागके अवसरपर इन्द्रके साथ स्वर्गसे आयी हुई कामधेनुने भी भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहा था—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः॥
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम्।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये॥
(श्रीमद्भा० १०। २७। १९-२१)

'श्रीकृष्ण! आप महायोगेश्वर हैं। आप स्वयं विश्व और विश्वके परम कारण तथा अच्युत हैं। समस्त चराचरके स्वामी! आपको हम अपने रक्षकके रूपमें प्राप्तकर आज सनाथ हो गयी हैं। आप जगत्के स्वामी हैं, हमारे भी परमाराध्य हैं।' प्रभो! इन्द्र देवताओंके राजा हैं तो भले ही हुआ करें, पर हमारे इन्द्र तो आप ही हैं—अतएव आप ही गो-ब्राह्मण, देवता और सन्तजनोंकी रक्षा-हेतु हमारे इन्द्र बन जाइये। हम गायें ब्रह्माजीकी प्रेरणासे आपको अपना इन्द्र मानकर आपका अभिषेक करेंगी। विश्वात्मन्! आपने भूभार हरण करनेके लिये ही अवतार धारण किया है।' अन्तमें सुरभीके दुग्धद्वारा श्रीकृष्णका अभिषेक हुआ और—**'गवानां इन्द्रः गोविन्दः'** गायोंके इन्द्र (स्वामी-प्रतिपालक) होनेसे श्रीकृष्णका नाम 'गोविन्द' पड़ा। आज भी गिरिराज श्रीगोवर्धनकी परिक्रमामें वह स्थान—जहाँ श्रीकृष्णका अभिषेक हुआ था, 'गोविन्दकुण्ड'के नामसे प्रसिद्ध है। गोविन्द नामसे मृत्यु भी भयभीत रहता है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥
(कठोपनिषद् १। २। २५)

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ४२)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ७)

'जिस परब्रह्मके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय मानो दोनों ही ओदन (भात)के समान हैं और मृत्यु भातके ऊपर दी जानेवाली कढ़ी या घृतधाराके समान है, उस ब्रह्मकी महिमा जाननेमें कौन समर्थ है? भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कह रहे हैं—'मेरे भयसे ही वायु चलता है, सूर्य तपते हैं, इन्द्र वर्षा करते हैं, अग्नि प्रज्वलित होती है और मृत्यु सभी लोकमें विचरण करता है।' भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'एकमात्र मुझमें ही चित्त लगानेवाले उन भक्तोंका मृत्युरूप संसार-सागरसे मैं शीघ्र ही उद्धार करता हूँ।' इसमें उपनिषद्, भागवत और भगवद्मुख वाक्य प्रमाण है। इसी प्रकार इस पञ्चपदी ब्रह्मविद्या (श्रीगोपालमन्त्र)का तीसरा और चौथा पद **'गोपीजनवल्लभ'** और पाँचवाँ **'स्वाहा'** ये सब भी शब्द वाङ्मयरूपमें भगवत्तत्त्वके प्रतीक ही हैं। इनकी आराधनाका फल वर्णन करते हुए बताया है—**'यो ध्यायति, रसयति, भजति सोऽमृतो भवति सोऽमृतो भवति॥'** (गो० ता० १। ६)

'जो उक्त मन्त्रके प्रतिपाद्य भगवत्तत्त्व (श्रीकृष्ण)का ध्यान, जप, भजन तथा—पूजन आदि करता है, वह अमृतत्व अर्थात् भगवद्भावापत्तिरूप मुक्तिको प्राप्त करता है।' श्रीगोपालतापिनी पूर्वार्द्ध अध्याय २के मन्त्र ४में तो स्पष्टरूपसे बता दिया गया है कि उक्त मन्त्रराजके पाँचों पदोंमें भगवत्तत्त्व किस प्रकार विद्यमान है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
जन्ये जन्ये पञ्चरूपो बभूव ।
कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं
शब्देनासौ पञ्चपदो विभाति ॥

'जिस प्रकार लोकमें सर्वव्यापक एक ही वायु प्रति शरीरोंमें पाँच (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) रूपोंमें विभक्त हो गया है, ठीक उसी प्रकार वह एक ही भगवत्तत्त्व (परब्रह्म श्रीकृष्ण) भी लोक-हितार्थ इस गोपालमन्त्रके पाँचों पदोंमें सुशोभित हो रहा है।' श्रीगोपालतापिनी उपनिषत्में कहा गया है— **'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति। तं पीठस्थं तेऽनुयजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्।'** (३ । १)

एक (अद्वितीय—समानातिशयशून्य) श्रीकृष्ण जिनके ब्रह्मादि सब देव अधीन हैं, ऐसे सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही सर्वाराध्य हैं। वे एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकाशित हैं। योग-पीठपर विराजमान उन श्रीकृष्णका जो भजन करते हैं, उनको वास्तविक सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। श्रीगोपालमन्त्रके पाँचों पदोंद्वारा भगवत्तत्त्वका वैशिष्ट्य बताते हुए ब्रह्माजीने सनकादिकोंसे कहा—

**'यस्य पूर्वपदाद् भूमिर्द्वितीयात् सजलोद्भवः।
तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद् गन्धवाहनः॥
पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत्।'**

'भगवत्स्वरूप उक्त श्रीगोपालमन्त्रके पाँचों पदोंमें प्रथम पदसे भूमि, दूसरेसे जल, तीसरेसे तेज, चतुर्थसे गन्धवाहन (वायु) और पाँचवेंसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, अतः इस मन्त्रके अधिष्ठातृदेव सृष्टिकर्ता एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना ही श्रेयस्कर है।' अन्तमें ब्रह्माजी महाराज अपना अनुभव बतलाते हैं— 'मैं भी उन एक अद्वितीय पञ्चपदमन्त्राभिन्न, सच्चिदानन्दविग्रह, गोविन्द श्रीवृन्दावनधामकी दिव्य धरापर सुशोभित कल्पवृक्षके नीचे सिंहासनारूढ भगवान् श्रीकृष्णकी निरन्तर मरुद्गणोंसहित महान् स्तुतिद्वारा उन्हें प्रसन्न करता हूँ—**'तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोषयामि।'** वह स्तुति इस प्रकार है—

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥
नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥
वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने।
कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे॥
वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः॥
(गोपालताप० पूर्वार्द्ध २ । १-७)

अथ हैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यः॥ १७॥

इस प्रकार उपर्युक्त ग्यारह वाक्योंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी अपनेद्वारा की जानेवाली स्तुतिका वर्णन करते हुए श्रीब्रह्माजीने सनकादिकोंसे कहा—'मैं भी यह आराधना करता हूँ, तुम भी इस पञ्चपदीका जप करते हुए भगवान् श्रीकृष्णका नित्य ध्यान करोगे तो संसृति (संसार)से पार हो जाओगे। श्रीचक्रसुदर्शनावतार आद्याचार्य जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्रने भी स्वनिर्मित 'वेदान्त-दशश्लोकी'के चौथे-पाँचवें श्लोक—**'ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्'** तथा **'स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्'** कहकर अपने आराध्य भगवत्तत्त्व श्रीराधाकृष्णकी अनन्यरूपसे वन्दना की है— **'नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्।'**

'श्रीकृष्णपदारविन्दके अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई गति—आश्रय नहीं दीखता।

आपने एक 'मन्त्ररहस्यषोडशी' नामक ग्रन्थकी भी रचना की थी। इसमें १६ श्लोकोंद्वारा इसी भगवत्तत्त्वस्वरूप पञ्चपदी श्रीगोपाल-मन्त्रकी महिमाका दिग्दर्शन कराया है। इसी मन्त्ररहस्यषोडशी ग्रन्थपर श्रीनिम्बार्कसे १४वीं पीठिकामें विराजमान आचार्यप्रवर श्रीसुन्दर भट्टाचार्यजी महाराजने 'श्रीमन्त्रार्थरहस्य' नामक संस्कृत टीका लिखी। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजीके ही ३०वीं पीठिकामें आचार्यपदासीन दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी महाराजने स्वनिर्मित 'क्रमदीपिका'-नामक ग्रन्थमें भी भगवत्तत्त्वपरक इस श्रीगोपालमन्त्र-राजका विशद् रूपमें वर्णन किया है। इसकी महिमाका दिग्दर्शन कराते हुए बताया गया है—

अष्टादशाक्षरो मन्त्रोऽव्यापको लोकपावनः।
सप्तकोटिमहामन्त्रशेखरो देवशेखरः॥

(सम्मोहनतन्त्र)

भगवत्तत्त्व अनन्त है। अनन्तकी महिमा भी अनन्त ही है, अतः मानवकी वाणी अथवा लेखनीद्वारा उसका भी जितना वर्णन किया जाय, सब कम ही है।

भगवत्तत्त्व क्या है ?

(लेखक—अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीधराचार्यजी महाराज)

संक्षिप्त परिचय

विद्वानोंने ब्रह्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व एवं भगवत्तत्त्व—इन तीनोंको अभिन्न माना है। आगम ग्रन्थोंमें अवस्थाभेदसे उसके दो रूप माने गये हैं—निर्विशेषतत्त्व और सविशेषतत्त्व। ऐसे तो वह तत्त्व एकरस होनेसे सब अवस्थाओंसे अतीत है तो भी अपनी शक्तियोंका निमेष-उन्मेष करना उसका स्वयम्भू स्वभाव है; अर्थात् शक्तिमानमें सोना-जागना आदि उसकी शक्तिका सनातन स्वभाव है। निर्विशेष ब्रह्म निर्गुण निराकार है। जब वह शक्ति विद्युत्के समान उसमें उद्बुद्ध हो जाती है, तब वही निर्विशेष तत्त्व, सगुण भगवत्तत्त्व कहलाने लगता है। जिस-जिस भग (शक्ति)के प्रबुद्ध होनेपर तत्त्व भगवान् कहलाता है, उसके ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज—ये छः अंश (पर्व) हैं। इन छः अंशोंका समष्टि भग है। इनसे युक्त होनेसे ही परमात्माका नाम भगवान् है। इसका विश्लेषण विष्णुपुराण इस प्रकार कर रहा है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

(६।५।७९)

उपनिषदोंमें 'भगवान्' शब्दके अक्षर, ईश्वर, अन्तर्यामी, सत्य, वैश्वानर, अव्यय आदि नाम मिलते हैं।

भगवान्‌का रूप

अब यहाँ भगवत्तत्त्वके स्वरूपका कुछ वर्णन प्रस्तुत है। समस्त विश्वके कार्य ऐसे नियमोंसे संचालित हैं, जिनमें कदाचित् किसी प्रकारका भी अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ जो ग्रह चलते हैं, वे नियमबद्ध होकर चलते ही रहते हैं और जो ग्रह जिस नियमसे अचल हैं, वे सदा-सर्वदा अचल ही रहते हैं। वे नियम भङ्ग नहीं करते। माताके गर्भमें प्रत्येक जीवके अङ्ग—हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान इत्यादि नियमानुसार सदा बनते रहते हैं। पानी सदा नीचेकी ओर और अग्निकी ज्वाला ऊपरकी ओर चलती है। ये नियम सदा अचल, अमिट, सर्वत्र व्यापक एक ही रूपको धारण करते हुए संसारको चलाते रहते हैं। इन नियमोंकी अचूक और निरन्तर दृढ़तासे इनका सत्यस्वरूप प्रकट होता है। इन नियमोंकी सत्यता ही ईश्वर (भगवान्)का साक्ष्य प्रकट करता है। ये विश्व-व्यापक नियम सर्वव्यापी सत्यस्वरूप ईश्वरतत्त्व (भगवत्तत्त्व)-को प्रकट कर रहे हैं।

सत्तत्त्वकी व्याख्या

भगवत्तत्त्व और सत्तत्त्व दोनों अभिन्न ही हैं। सत्की व्याख्या इस प्रकार है। जो प्रत्येक वस्तुका वास्तविक तत्त्व है, वही सत्तत्त्व है। इस सनातन सत्यके अनन्तानन्त उदाहरण हैं। यह सत्य प्रत्येक वस्तुमें बैठा हुआ उस वस्तुका नियमन करता है—**'अन्तः सन् यमयति इति अन्तर्यामी।'** इस निर्वचनसे उस सत्यतत्त्वका नाम अन्तर्यामी हो गया। इस सत्यको हम ईश्वर, वैश्वानर, अन्तर्यामी एवं अव्यय आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। यह अक्षररूप सत्यात्मा सत्ता, शक्ति और अर्थके रूपोंमें तीन प्रकारसे जगत्‌में व्याप्त होता है। इनमें शक्ति ही एक मुख्य धर्म है। ये शक्तियाँ अनन्त हैं। इन (अनन्त) शक्तियोंके परस्पर सम्मिश्रणको सत्ता नाम दिया गया है। इन्हीं सत्तारूपी अनन्त शक्तियोंके घनमेंसे कितनी ही शक्तियोंके उद्वाप और आवापसे जो भिन्न-भिन्न एक वस्तु उत्पन्न होती है, उसीको आश्रय, आधार, अर्थ या द्रव्य कहते हैं। अर्थरूपसे मूर्च्छित एवं क्रियारूपसे जाग्रत् ये दोनों शक्तियाँ उस सत्तासे सम्बद्ध ही हैं।

वैश्वानर

भगवत्तत्त्व, ईश्वरतत्त्व एवं सत्तत्त्वके समान वेदान्तोक्त 'वैश्वानर' आदि अनेक तत्त्व भी आत्माके वाचक हैं। वेदोंमें वैश्वानरको ब्रह्माण्डकी आत्मा माना गया है। वेदान्तके सूत्र **'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्'** (१।२।२४)में ब्रह्माण्डात्मारूप वैश्वानरका वर्णन है। 'शतपथ ब्राह्मण'के आधारसे वैश्वानर शब्दका यह निर्वचन फलित होता है—**'त्रिभ्यो विश्वानरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानरः'** अर्थात् तीन वैश्वानरोंसे उत्पन्न चौथा अग्नि 'वैश्वानर' कहलाता है। वेदमें तीन विश्व माने गये हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक। इन तीनोंके संचालक इन तीनोंमें पृथक्-पृथक् तीन नर (नेता) हैं। अग्नि, वायु एवं सूर्य—ये तीनों नर (नेता) हैं। अग्नि, वायु एवं सूर्य—ये तीनों एक शब्दमें वैश्वानर कहे जाते हैं। उस एक ही वैश्वानरके लोक-भेदसे ये वैदिक नाम हैं। पुराणोंमें विराट्को विष्णु, हिरण्यगर्भको ब्रह्मा, एवं सर्वज्ञको शिव कहा गया है। वस्तुतः ये पृथक्-पृथक् न होकर एक ही परमात्माके विभिन्न नामरूप हैं। किसी भी लोकसे अनवच्छिन्न वैश्वानरको पुरुष कहते हैं। इन विराट्का सम्बन्ध अग्निदेवतासे है। हिरण्यगर्भका सम्बन्ध वायु देवतासे है, सर्वज्ञशिवका सम्बन्ध इन्द्र देवतासे है। इन तीनोंमेंसे विराट् ब्रह्माण्डका संरक्षक, पालक है। अर्थात् प्रकृति नियमके अनुसार प्रतिक्षण इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ क्षीण होता रहता है, उसकी पूर्ति करता हुआ इस ब्रह्माण्डकी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनाये रखता है। हिरण्यगर्भ इस ब्रह्माण्डमें उत्पन्न होते हुए भिन्न-भिन्न पदार्थोंको आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे भिन्न-भिन्न स्थानपर बाँटकर संचालन करता हुआ ब्रह्माण्डके स्वरूपको क्रमशः सम्पन्न करता है। इस ब्रह्माण्डका समस्त परिवर्तन इसके अधीन है। तीसरा प्राज्ञ सर्वज्ञ है। इसे ही अन्तर्यामी भी कहते हैं। इसीके द्वारा ब्रह्माण्डकी समस्त चेष्टाओंके कारणरूप-महाप्राण (महा-काल)का उत्थान अथवा संचालन होता रहता है।

कोई भी क्रिया बिना ज्ञानके प्रवृत्त नहीं होती। क्रियाका उद्गम स्थान ज्ञान ही है। जिस प्रकार हमारे ज्ञानका संचालन हमारे प्राज्ञ आत्माके अधीन है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें होनेवाली समस्त चेष्टाएँ सर्वत्र (परमात्मा)के अधीन हैं। वही ज्ञानघन सर्वत्र ब्रह्माण्डकी आत्मा है, जिसका दूसरा नाम अन्तर्यामी है। उपनिषदोंमें उसके ही वैश्वानर, अक्षर, सत्य, सर्वत्र, ईश्वर, शिव, प्रणव, भगवान् आदि नामान्तर हैं। इनमें प्रणव ('ओम्') भी उसका प्रथम और मुख्य नाम है।

भगवत्तत्त्व और भगवद्रामानुजाचार्य

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित अयोध्या-कोसलेशसदन-पीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड यतीन्द्र श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज)

वेदवेद्य परब्रह्म नारायणको ही भगवद्रामानुजाचार्यने वेद और पुराणोंके वचनोंके आधारपर भगवत्तत्त्व बताया है। इसका उल्लेख आपने ब्रह्मसूत्रके अपने श्रीभाष्यमें प्रायः सर्वत्र किया है। वेदोंमें आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तत्त्वोंका विशद वर्णन होनेपर भी ध्येयके रूपमें—**'कारणं तु ध्येयम्'** कारणत्वका ही महत्त्व दिया जाता है। वेदकी विभिन्न शाखाओंमें उसका इस प्रकारसे निरूपण है—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** (छा० उ० ६। २। १) 'सोम्य! यह जड़-चेतनात्मक जगत् सृष्टिके आरम्भमें सत् ही था।' **'ब्रह्म वा इदमेक एवाग्र आसीत्'**—यह पहले अपने अभिन्न निमित्तोपादानकारण ब्रह्मरूपमें था, **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'** (ऐ० १। १। १)—'यह समस्त विश्व अपने कारण आत्माके रूपमें ही अवस्थित था।' **'एको ह वै नारायण आसीत्'** (महोपनिषद्) 'महाप्रलयमें एक नारायण ही थे।' **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'** (तै० उ०) 'जिससे ये चेतनाचेतनवर्ग उत्पन्न होकर जीवित रहते, प्रलयकालमें जिसमें लीन हो और जिससे मोक्ष प्राप्त किया करते हैं वही ब्रह्म है। उसकी उपासना करो'। इन वाक्योंमें निर्दिष्ट सत्, ब्रह्म, आत्मा ये पद ब्रह्म, प्रकृति और जीवके लिये हुए हैं। यहाँ 'छाग—पशु-अधिकरणन्याय'से सद्ब्रह्म आत्माको विशेष कारण नारायणमें पर्यवसान मानना चाहिये।

नारायण शब्द भगवान् विष्णुके लिये ही रूढ है। आचार्यने ब्रह्मसूत्रके **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस सूत्रके 'ब्रह्म' पदका अर्थ भगवान् विष्णु किया है—**'ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषो नवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते।'** सभी जगह स्वरूप और गुणोंसे बृहत्वगुणका योग होनेके ही कारण पुरुषोत्तम भगवान्के लिये ब्रह्म शब्दका प्रयोग होता है। जिसमें सीमातीत और उत्तरावधिरहित सभी प्रकारसे बृहत्व पाया जाय, वही ब्रह्मशब्दका वाच्य है। आचार्यने फिर भगवत्-शब्दका निदर्शन किया है—**'अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः, तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशादौपचारिकः, अनेकार्थकल्पनायोगात्, भगवच्छब्दवत्,'** अर्थात् बृह (बृहि)—वृद्धौ धातुसे निष्पन्न तथा **'बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म'** इस निरुक्तिसे सर्वत्र व्याप्त तत्त्वका वाचक ब्रह्म 'पद'की पुरुषोत्तममें ही रूढ़ता मानी गयी है, अतः वे ही ब्रह्मशब्दके मुख्य वाच्य हैं। भगवत्-शब्दका दृष्टान्त देकर आचार्यने निम्नलिखित प्रमाणोंके बलपर यह सिद्ध किया है—ब्रह्मशब्द और भगवत्-शब्द दोनों भगवान् विष्णुमें योगरूढ हैं—

तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः।
शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७७)

परब्रह्म परमात्मा विष्णु प्राकृत दोषोंसे रहित एवं ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-वीर्य और तेज—इन षडैश्वर्योंसे सदा एवं सर्वात्मना परिपूर्ण हैं। वे ही पूज्य भगवत्-शब्दवाच्य हैं। पङ्कज शब्द जैसे कमलमें योगरूढ है, वैसे ही भगवत्-शब्द भी मुख्यतया परमात्मामें ही योगरूढ है। भगवान् वसिष्ठ, भगवान् वाल्मीकि आदिमें जो इसका प्रयोग होता है, उसे औपचारिक (गौण) समझना चाहिये। महर्षि बादरायणने भी ब्रह्मपदवाच्य विष्णुको ही माना है—

वेदे भूरिप्रयोगाच्च गुणयोगाच्च शार्ङ्गिणि।
तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तो महामुने॥
(गरुडपुराण)

'महामुने ! शार्ङ्गपाणि विष्णुके लिये ब्रह्मशब्दका वेदमें अधिक प्रयोग होने तथा बृहत्त्वगुणका योग होनेके कारण भी ब्रह्मशब्द उन्हीं (विष्णु) का मुख्य वाचक है।' ब्रह्मसूत्रके जिज्ञासाधिकरणस्थ स्मृतिपुराणघटक— संदर्भमें वसिष्ठ और पुलस्त्यके अमोघ वरदानसे विष्णु-पुराणकी रचना एवं देवताके पारमार्थिक तत्त्वज्ञाता महर्षि पराशरके उन वचनोंको आचार्यने उद्धृत किया है, जिनमें ब्रह्मतत्त्व-विष्णुतत्त्व एवं भगवत्तत्त्वकी एकताके साथ 'भगवत्' शब्दकी समष्टि एवं व्यष्टिकी व्याख्या है—

> शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते।
> मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥
> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
> वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
> स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥
> ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
> भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
>
> (विष्णुपुराण ६ । ५ । ७२, ७४–५, ७९)

मैत्रेय ! 'भगवत्' यह शब्द सभी कारणोंके परम कारण, लीला-विभूति एवं त्रिपादविभूतिके नियन्ता होनेके कारण इस उभयविभूतिसे परे महाविभूति-शब्दवाच्य, प्राकृतविकाररहित, परब्रह्मनारायणके लिये कहा जाता है। इस 'भगवत्' शब्दके एक-एक अक्षरका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—भकार उपरिनिर्दिष्ट परमकारण ब्रह्मके लिये समस्त कार्य वस्तुको कारणसामग्रीसे सम्पन्न करनेवाला होनेसे संभर्ता तथा समस्त कार्यवर्गको अपने संकल्परूप शक्तिसे भरण (पोषण) करनेके कारण भर्ता इन दो अर्थोंको कहा। गकारसे नेता, गमयिता और स्रष्टा-तीन अर्थ कहे गये। भग—निःसीम, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः गुणों-का वाचक है। वकारार्थ जहाँ सभी जड़-चेतन भूतवर्ग निवास करता है और जो सभी भूतोंके अंदर अन्तर्यामी आत्माके रूपमें निरन्तर आसीन है। उसकी स्थिति सबमें संकल्पाधीन होनेसे वह निर्विकार है। वही वकारका अर्थ है। सम्पूर्ण भगवान् शब्दका अर्थ—सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, धर्म और तेज जिसमें सर्वदा बने रहते हैं वही भगवत्शब्द-वाच्य है। उपर्युक्त गुणोंसे युक्त एवं हेयगुणोंसे रहित भगवान् हैं। सारांश यह कि भगवान् शब्द मुख्यतया परब्रह्म वासुदेव (नारायण) का ही वाचक है और अन्यत्र इसका प्रयोग गौण ही है।

'शान्तं शिवं अद्वैतम्'

हे परमात्मन् ! मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओंके भीतर एक ही अत्यन्त गम्भीरतम प्रार्थना (आकाङ्क्षा) है, उसे हम अपनी बुद्धिसे स्पष्ट जानें वा न जानें, उसे हम मुँहसे बोलें अथवा न बोलें, हमारे भ्रममें भी, हमारे दुःखमें भी, हमारी अन्तरात्मासे वह प्रार्थना (आकाङ्क्षा) सदा-सर्वदा तुम्हारे अभिमुख मार्ग खोजती रहती है। वह प्रार्थना यही है कि हम अपने समस्त ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मोंके द्वारा शिवका दर्शन कर सकें, अपने समस्त प्रेमके द्वारा अद्वैतको प्राप्त कर सकें। फलके लाभकी आशाको हम तुमसे निवेदन करनेका साहस नहीं कर सकते, किंतु हमारी आकाङ्क्षा यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिके मध्यमें भी इस प्रार्थनाको हम समस्त शक्तिके साथ सत्यरूपसे तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकें। हमारी समस्त अन्य वासनाओंको व्यर्थ करके हे अन्तर्यामिन् ! केवल इसी प्रार्थनाको स्वीकार करो कि हम कभी-न-कभी ज्ञानमें, कर्ममें और प्रेममें यह उपलब्धि कर सकें कि तुम्हीं 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' हो !

—श्रीकवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ईश्वर-तत्त्व अथवा भगवत्तत्त्वकी मान्यता

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत वचन)

ईश्वरका विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। इसीका फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें संदेह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा वचनमात्रसे ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझते हुए भी कहना पड़ता है कि वैसे अश्रद्धालु मनुष्य ही अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है; क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है, उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाणभूत और आदरणीय होते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि—

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसीके अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं (३। २१)।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं।

१—(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य-पालन करना ही मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको बिना माने उसके तत्त्वकी खोज नहीं हो सकती और उसकी खोज हुए बिना उसके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता तथा ईश्वर-ज्ञानके बिना कल्याण होना सम्भव नहीं।

(ग) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(घ) अच्छी तरहसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको नहीं मानते, झूठे ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(ङ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेक ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(च) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है; क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(श्रीहरिवंश)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे अनन्त लाभ और न माननेसे अनन्त हानियाँ हैं।

२—(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा इत्यादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह और अधिक दुःखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना आत्माका कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है; क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वे यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको न मानें तो क्या आश्चर्य है ? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है।

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

३—ईश्वरके अस्तित्वमें विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सबका प्रमाण सिद्ध होता है, उसके विषयमें प्रमाण पूछना बालकपन है—जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शङ्का करना कि 'मैं हूँ या नहीं,' व्यर्थ है। यदि कहें कि मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है, तो उत्तर यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर है, प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे ?' तो जो सूक्ष्मदर्शी हैं, वे सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो, वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका संचालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका संचालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है; उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं, इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे—वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी ? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया ? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई ? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है, वही परमात्मा है। ऐसा नहीं माननेपर विश्वव्यवस्थाकी विधि नहीं बैठती है।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड है या चेतन ? यदि जड़ कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और संचालन होना सम्भव नहीं; और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं; क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिसके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका संचालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी संचालन होता नहीं दिखायी देता। ऐसे ही जिससे इस संसारका नियमानुसार संचालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी,

सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है; यदि कहो कि कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि कर्मोंके जड होनेके कारण उनमें क्रियाओंके अनुसार फलविभाग करनेकी शक्ति नहीं है। फिर चेतन जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। ऐसी दशामें कर्मविपाक-व्यवस्था नहीं बन सकती, अतः परमेश्वरद्वारा कर्मोंके अनुरूप उनके कर्त्ताओंको नियत भोग भोगना पड़ता है—यह मानना आवश्यक होता है। इसी प्रकार अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्त्ताके नहीं हो सकती। इससे भी परमेश्वरकी सत्ताका बोध होता है।

ऊपरके विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न संचालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन-सृष्टि हो सकती है।

उपर्युक्त प्रमाण तो तर्कमूलक दिये गये हैं, वास्तवमें ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' सिद्ध है; क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं। सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं। यजुर्वेदकी उपनिषद् ईशावास्यके पहले मन्त्रमें कहा गया है कि—

'इस जगत्‌में जो कुछ भी है, वह सब-का-सब ईश्वरसे ही व्याप्त है'—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

उपनिषदोंके सारभूत ब्रह्मसूत्रों—

'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्।' इत्यादिमें स्पष्ट कहा है कि 'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा मिलता है, वह ईश्वर है।'

गीतामें (१५। १५) भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामिरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ एवं वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

वे यह भी कहते हैं कि 'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सबके हृदयमें स्थित है'—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८। ६१)

उस ईश्वर-तत्त्वका स्वरूप गीताके (१३। १७) निम्नाङ्कित श्लोकमें बताते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

अर्थात्—'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे परे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।' गीता (१५। १७में) और कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा ऐसे कहा गया है।' योगदर्शन (समाधिपाद २४—२६ में कहता है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञता है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है तथा कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।' उसीके सम्बन्धमें तैत्तिरीयोपनिषद् (३ । १ में) कहती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म ।

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं, नाश होकर जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।' श्वेताश्वतर उपनिषद्-(६ । ११) का कथन है कि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थात्—'एक ही देव (वह परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंकी अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।'

श्रीमद्भागवत-(४ । ७ । ५०-५१) में श्रीभगवान् कहते हैं कि—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

'हे ब्राह्मण! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं द्रष्टा हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।'

महाभारत—अनुशासनपर्वके १४९ वें अध्यायके छठेसे दसवें श्लोकोंमें कहा गया है कि—

'उन अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं—जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और आश्रयके परमधाम हैं; जो पवित्र हैं, जो मङ्गलोंके मङ्गलरूप हैं, जो देवताओंके परम देवता हैं और जो प्राणिमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

वाल्मीकीय रामायण-(युद्धकाण्ड ११७ । ६—१५) में आया है कि—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
अक्षयं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥

(ब्रह्मा कहते हैं—)'हे देव! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परमधर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है, जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो।

ईसाने कहा है—'जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्‌की शक्तिके आश्रित हैं, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।'

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परम दयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। सर्वशक्तिमान विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उसके फलस्वरूप होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है। प्राचीन और अर्वाचीन महात्माओंकी जीवन-घटनाओंसे भी उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट और पुष्ट होते हैं।

भगवत्तत्त्वसाधिका कृपैव केवलम्

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

ईश्वरवादी मानव-समाजमें यह सिद्धान्त सर्वसम्मतिसे मान्य है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, परम-प्रेमास्पद एवं परम कृपालु है। किसी-किसी सम्प्रदायमें ऐसा स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र होनेपर भी प्रेमके परतन्त्र है। इसमें यह प्रश्न है कि ईश्वर जीवके हृदयमें रहनेवाले प्रेमके परतन्त्र है अथवा अपने हृदयमें रहनेवाले प्रेमके? जीव तो भगवान्‌के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य, माधुर्य आदि सद्गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध हो जाता है, यह ईश्वर जीवके किन गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध होता है? वस्तुतः ईश्वर किसी अन्यके गुणोंको देखकर मुग्ध नहीं होता, उसमें ही उसका स्वरूपसिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है; जिससे वह स्वयं अपनी कृपा बरसाने लगता है। मेघ जलमय, प्रभु कृपामय; **'कृपैव प्रभुतां गता'**—प्रभु-मूरति कृपामयी है। प्राचीन ग्रन्थोंमें कारुण्य, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह, पुष्टि, दया आदिके नामसे एक ही वस्तु प्रसिद्ध है और वह है भगवान्‌का सहज स्वभाव। वह नैमित्तिक नहीं है, प्रत्युत भागवत आनन्दका सरल-सरल, तरल-तरल पावन प्रवाह है।

भगवत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों और समस्याओंका समाधान उनकी कृपामें ही निहित है, जैसे निराकार साकार क्यों होता है? अव्यक्त व्यक्तिके रूपमें क्यों प्रकट होता है? पूर्ण परिच्छिन्न कैसे होता है? अकाल कालकी धारामें कैसे आ जाता है? कारण कार्यके रूपमें कैसे परिणत होता है? वह मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके रूपमें क्यों अवतीर्ण होता है? असम्बन्ध होनेपर भी सम्बन्धी क्यों बनता है? इन सबका और ऐसी अनेक मानसिक विकल्प-ग्रन्थियोंका, बौद्धिक उलझनोंका एक ही समाधान है—दृश्यके अनेक नामरूपोंमें अजस्र प्रवहमान एवं तरंगायमान कृपा स्रोतस्विनीकी अखण्ड धारा। सत् पुरुष अपनी अन्तर्दर्शिनी, तत्त्वावगाहिनी दृष्टिसे इसका सतत दर्शन करते रहते हैं। कृपा एक दर्शन है, भाव नहीं। श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पासे समीक्षणका वर्णन है, प्रतीक्षणका नहीं। समीक्षण प्राप्तका होता है और प्रतीक्षण अप्राप्तका। सम्पूर्ण जीव-जगत्‌का कृपामय परमेश्वरमें ही उन्मज्जन-निमज्जन हो रहा है। कृपा-प्राप्तिकी लालसा मत करो, उसको पहचानो।

श्रीमद्भागवतके व्याख्याकार महापुरुषोंने कहा है कि जब श्रीयशोदा माताने बालकृष्णको बाँधनेके लिये हाथमें रस्सी उठायी तो भगवान्‌की स्वतःसिद्ध अनेक शक्तियाँ उसमें बाधा डालनेके लिये उद्यत हो गयीं। व्यापकता कहती थी कि जिसका ओर-छोर नहीं, वह रस्सीकी लपेटमें कैसे आयगा? पूर्णता कहती थी कि जिसमें

बाहर-भीतर नहीं, वह रस्सीके भीतर कैसे अँटेगा ? असंगता घोषणा कर रही थी कि प्रभुके शरीरके साथ रस्सीका संग असम्भव है। अद्वितीयताने स्पष्ट मना कर दिया कि स्वमें स्वका क्या बन्धन ? बन्धन तो परके साथ होता है। इस आपाधापीके समय श्रीमती भगवती भास्वती कृपादेवी मन-ही-मन मुस्करा रही थीं। उन्होंने एक बार अपनी तिरछी चितवनसे देखा और सब शक्तियाँ निष्प्राण-सी धरी-की-धरी रह गयीं ! बालकृष्ण प्रभु बन्धनमें आ गये ! दामोदर नामरूप प्रकट हो गया। भक्त केवल प्रेमकी रस्सीसे ही नहीं, पशु-बाँधनेकी रस्सीसे भी प्रभुको बाँध लेते हैं। भक्तमें इतनी सामर्थ्य कहाँसे आती है ? इस प्रश्नका उत्तर है—'**कृपयासीत् स्वबन्धने।**' ठीक ही है, भगवतीकृपा ही शक्ति-चक्रवर्तिनी है, भगवान्की प्रेयसी पटरानी।

जब घर-बाहर सर्वत्र प्रलयाग्निकी ज्वाला धधकने लगती है, अपने पापतापकी मायासे सम्पूर्ण विश्व झुलसने लगता है, उस समय एक सच्ची माँ जैसे अपने शिशुको गोदमें उठा लेती है, वक्षःस्थलसे चिपका लेती है, उसको बाहरकी ताती वायु भी नहीं लगने देती है, उसकी शय्या बन जाती है, अपने छातीके दूधसे ही उसका पालन-पोषण करती है, वैसे ही महा-प्रलयके समय भगवान् सब जीवोंको अपनी ही सत्ता, भजन और आनन्दमें लीन कर लेते हैं। उनके संस्कार-शेष बीजके सिवाय अर्थात् उनके जीवत्वके सिवाय और कुछ भी शेष नहीं छोड़ते। जैसे माँके गर्भमें शिशु समग्र पोषण और संवर्द्धन प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह जीव ईश्वरके गर्भमें विश्राम, शान्ति और पुष्टि प्राप्त करता है। महाप्रलयके समय भी इस प्रकार जीवकी शय्या बनकर उसे आराम देना और प्रलय-कालानलके तापसे बचा लेना यह भगवान्की कृपाका ही एक स्वरूप है। यह जननीकृपा है और जीवके जीवमें भी सर्वदा ही अनुगत रहती है। जब-जब जीवका पौधा मुरझाने लगता है तब-तब उसकी वृद्धि, समृद्धि एवं पुष्टितुष्टिके लिये वह जननी ही उज्जीवनी बनकर आती है। आप किसी भी जीवके जीवनमें इस माँका दर्शन कर सकते हैं। यह उपवास और भोजन, शोषण और पोषण, प्रक्षालन और स्नेहन—सभी प्रक्रियाओंसे जीवका हित करती रहती है। इसको पहचाननेमें देर-सबेर हो सकती है, परंतु इसके क्रियान्वयमें कभी कोई रुकावट नहीं पड़ती।

प्रलयके समय जीव शयनमें होता है। विस्मृति और अज्ञानका गहरा पर्दा इसको चारों ओरसे आच्छादित करके रखता है। उसे कोई दुःख, चिन्ता नहीं है—यह तो ठीक है, परंतु इस शयन-दशामें कुछ धर्म, अर्थ, भोग, मोक्ष भी तो नहीं है। कोई शिशु सोता ही रहे, निद्रा-तन्द्रामें अलसाया हुआ निकम्मा पड़ा रहे—यह बात किसी भी वात्सल्यमयी जननीको कैसे रुचिकर हो सकती है ? वह चाहती है कि हमारा बेटा उठे, भलेबुरेको पहचाने, कुछ करे, कुछ कमाये, अपने पौरुषसे कुछ भोगे। भला कौन ऐसी माँ होगी, जो यह न चाहे। वही माँ अपने बालकको जगाती है। एक-एकको अलग-अलग जगाती है। एक साथ जगाती है। सबके आलस्य भगाती है। स्नानमार्जन कराती है। हाँ, वही माँ जो जननी थी, प्रबोधिनी हो जाती है। वह प्रबोधिनी कौन है ? वह प्रभुकी कृपा है। यदि यह जीव प्रलयकी प्रगाढ़ निन्द्रामें सोता ही रहता तो क्या इसको किसी पुरुषार्थकी प्राप्ति होती ? सोते हुए जीवोंको जागरण-दशामें लाना यह प्रबोधिनी कृपा है।

श्रीमद्भागवतमें, सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगानेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण शृङ्गध्वनि करते हुए आते हैं—'**प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा।**' जागरणके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ ही वे भव-वनमें प्रवेश करती हैं। अनेक

रूपप्रपञ्चका दर्शन होता है, यदि ईश्वर, चैतन्य साथ न हो तो न प्रपञ्चका दर्शन हो और न उसकी क्रीडा हो; इसलिये यहाँ आकर कृपा ही प्रपञ्चिनी हो जाती है, अर्थात् अनेक प्रकारके दृश्योंका सर्जन-विसर्जन करने लगती हैं। जो कुछ कारणशरीरमें लुप्त, गुप्त या सुप्त था, उसको वह विस्तारके साथ फैलाती है। अन्तःकरण, बहिष्करण, विषय, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मूढ़क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयोंका विस्तार-प्रचार प्रपञ्चिनी कृपा ही करती है। अविद्या-निद्रामें सुपुप्त जीवको जहाँ कुछ भी प्रतिभास नहीं होता था, वहाँ अब सब कुछ प्रतीत होने लगा। शिशुके नेत्र खुल गये, मन काम करने लगा। यह जो दृश्य-दर्शनकी सामान्य शक्ति है, वह प्रबोधिनी है और जो दृश्यकी अभिव्यक्ति है वह प्रपञ्चिनी है।

अब कृपाका एक नया विलास प्रकाशमें आता है। बिना इस कृपाकी अभिव्यक्तिके कोई भी प्राणी अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलताको, सुपथ्य और कुपथ्यको नहीं जान सकता। वृक्ष अपनी वृद्धिके लिये कहाँसे मुड़े? चींटी शक्करके साथ कैसे जुड़े। पक्षी कौन-सा चारा खाये? पशु कौन-सी घास चरे? यह भोजन जीवनका साधन है और मरणका—यह कैसे जान पड़े? करना न करना, खाना न खाना, छिपना, प्रकट होना बोलना-न-बोलना—ये सब प्राणियोंको कैसे ज्ञात हो? सचमुच वही वात्सल्यमयी जननी कृपा प्रशिक्षणी-रूप धारण करके जीवमें विशेष ज्ञानकी एक धारा प्रवाहित करती है। अग्निका स्पर्श दाहक है। माताका वक्षःस्थल वाहक है। पाँवसे चलना, हाथसे खाना, प्यास लगनेपर जल पीना, इष्ट अम्बिकी पहचान कराना—यह सब भगवान्की प्रशिक्षणी कृपाके विलास हैं।

इसी प्रशिक्षणसे जीवनमें प्रणयन अर्थात् निर्माणका अवतरण होता है। जीवनके प्रणयनका मूल प्रशिक्षण ही है। इसके बिना जीवजगत् सब अन्धे हो रहे हैं। अन्तरमें बैठकर प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिये उन्मुख कौन करता है? वह अन्तःप्रविष्ट शास्ताकी प्रशासन-शक्ति ही है। वह सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और भावोंका परस्पर विलक्षण विशेष रूप, आकृति, गुण, धर्म, स्वभावकी रचनासे भिन्न-भिन्न प्रकारका उत्पादन, स्मरण और संहरण क्यों करती है? वह किसीके पूर्व-संस्कारोंका अनुगमन अथवा नवीनीकरण ही क्यों करती है? विचारदृष्टिसे देखनेपर वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजनसे प्रेरित नहीं जान पड़ती। जब शक्ति अहैतुक ही कार्य करती है तो प्रणयिनी कृपाके सिवाय उसके लिये दूसरा नाम नहीं हो सकता।

इसी प्रणयनके अनन्तर इष्ट-अनिष्टका भाव परिपक्व हो जाता है तब इष्टकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और अनिष्टकी परिजिहीर्षा। यह इच्छा ही अभिलाषिणी कृपाका रूप है। जो अभिलाष देता है, वही प्राप्त भी कराता है और प्राप्तिके साधन भी देता है। धर्म, अर्थ, काम—कुछ पाना है? उसके लिये लौकिक, वैदिक कर्म चाहिये। कर्मके करण-उपकरण चाहिये। कर्मका अधिकारी कर्ता चाहिये। उपयुक्त स्थान और समय चाहिये। सहायक और सामग्री चाहिये। फलकी प्राप्तिके साथ-साथ उसमें रुचि चाहिये। उसके भोगके योग्य शरीर चाहिये। निर्विघ्न निर्वाह चाहिये। विशेष ज्ञान चाहिये। यह सब लेकर कौन आता है? प्रभुकी प्रापणी कृपाके ही ये भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह है सर्वदा, सर्वत्र, सबपर परंतु पहचानता है कोई-कोई।

अनुकूल अथवा प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दातापर दृष्टि जानी चाहिये, परंतु कुछ ऐसी मोहमयी लीला चल रही है कि अनुकूलमें राग हो जाता है,

प्रतिकूलमें द्वेष और दातापर दृष्टि नहीं जाती। तमसे पक्षपात और द्वेषसे क्रूरताका जन्म होता है। रागमें स्वाद और द्वेषमें कटुता परंतु ऐसा क्यों होता है? ऐसी दशामें प्रभुकी कृपा कहाँ प्रसुत हो जाती है? गम्भीरतासे देखें तो वह कहीं जाती नहीं है। हमारी स्वतन्त्र विवेकशक्तिको जाग्रत् करती रहती है। क्या कल्पित गणित ठीक-ठीक सीख लेनेपर वास्तविक गणितका साधन नहीं बनता? बिना सुख-दुःखके झकोरे सहन किये किसके जीवनमें स्फूर्तिका उदय हुआ है? फिर भी हम मान लेते हैं कि राग-द्वेष विवेककी ओर नहीं, मूर्च्छा और मोहकी ओर ढकेलते हैं। एक ऐसी मोहिनी माया छा जाती है कि उससे देवता-दैत्य ही नहीं, शिव भी मोहित हो जाते हैं। यह मोहिनी आत्माकी अक्षुण्ण प्रकाश-शक्तिपर ही आधारित है। जो मोहिनी देवता-दैत्य—दोनोंके लिये लोभनी है, वही फलकी प्राप्ति और अप्राप्ति—दोनों ही दशामें क्षोभणी हो जाती है। परिणामतः देवासुर-संग्राम होता है। इस संग्राममें कृपा भक्तके प्रति उत्कर्षणी और अभक्तके प्रति अपकर्षणी होकर प्रकट होती है। यही दैत्यराज बलिके भी सर्वस्वात्म-समर्पण और भगवद्वशीकरणमें हेतु बनती है। प्रह्लाद इसको पहचानते हैं, बलिकी धर्मपत्नी भी। यह मोहिनी कृपा किसीको जहाँ-का-तहाँ जड़ बना देती है। और, रोधनी-संज्ञा धारण करती है। किसीके मनमें विरोध उत्पन्न करके विरोधिनी बन जाती है और उसके स्मरणोद्दीप्त वैभवको देखकर जो मुग्ध होने लगते हैं, उन्हें वह प्रभुके सम्मुख कर देती है और अनुरोधिनी बन जाती है।

यह मोहिनी न जाने किस-किस विलक्षण और विचक्षण-रीतिसे विभिन्न-लक्षण जीवोंको संसारकी विविध प्रवृत्तियोंमें लगाकर प्रवर्तनीका काम करती है और भिन्न-भिन्न योनियोंमें डालकर परिवर्तनीका रूप धारण करती है। किसी-किसीको पूर्वावस्थामें लौटाकर अपने परावर्तनी बना लेती है। यह पृथक्-पृथक् निरूपण करना शक्य नहीं है। संसारमें जितनी क्रियाएँ हैं, भाव हैं, संज्ञा हैं—सभी इस मोहिनीके नवनवायमान अभिव्यञ्जनाके ही रूपान्तरण हैं। जो इनके बाह्य स्वाँगके रंगमें ही अपने अन्तरंगको रंग लेता है, वह क्षण-क्षण उनका दर्शन करके आनन्दमग्न रहता है।

प्रभुकी कृपाका एक रूप है—आकर्षण-रूप। परन्तु वह प्रारम्भमें विकर्षणीका रूप ग्रहण करके आता है। विकर्षणी भी अपना सहज सौरभ तब प्रकट करती है जब वह तापनी होकर हृदयमें प्रपञ्च-संवेदनके प्रति तापनी बन चुकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमें ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभि वस्तुमें भी दुरभिसन्धिकी शंका होती है, तब रसमें भी विष घोला हुआ जान पड़ता है, सुरूपतामें कुरूपता दीखने लगती है। सुकुमार मारकका दूत लगने लगता है। मधुर स्वर सुख-विछुरताके कर्णभेदी ध्वनिसदृश प्रतीत होने लगते हैं और प्रिय सम्बन्ध बन्धन लगने लगते हैं, तब यह तापनी संसारकी ओरसे विकर्षण करके प्रभुकी आकर्षण धारामें डाल देती है। अब ऐसा लगने लगता है कि कोई मेरा प्रेमी है। वह मुझे अपनी ओर खींच रहा है—बलात्। मेरा वास्तविक प्रियतम वही है। मेरा निवासस्थान उसीके पास है। इतने दिनोंतक मैंने घोर अन्धकारमें, पराये घरमें जीवन व्यतीत किया है। मैंने भ्रमवश सुखको दुःख माना है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ शान्ति नहीं है, प्रकाश नहीं है, सुख नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय, मधुमय प्रदेशमें चलना चाहिये, जहाँ बस, वही वह विहार करता है।

जब इस प्रकारके संकल्प उठने लगते हैं, तब इनके प्रवाहमें वासनाके मल धुलने लगते हैं। कृपा क्षालनी होकर आ जाती है और धीरे-धीरे अन्तर्देश पवित्र होने लगता है। वह कृपा द्रावणी और स्नेहनी भी बनती है। प्रभुके लिये तीव्र व्याकुलताकी ज्वालासे वह अन्तःकरणको द्रुत करती है और उसमें परमानन्दमय प्रभुके लिये एक प्रकारकी स्निग्धता उत्पन्न करती है। इस क्षालक, द्रवण और स्नेहनकी प्रक्रियाके बिना हृदयमें रासायनिक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता और उसमें भगवदाकार होनेकी योग्यता नहीं होती। वासनाएँ दूसरा आकार बना देती हैं। ममता कठोर बनाती है और अन्योन्मुखता रूक्ष करती है। इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिये कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और क्षालित, द्रवित एवं स्निग्ध हृदयमें भगवान्के प्रासादिक रूपका अनुभव कराती है। यहीं उसका एक नाम प्रसादनी भी हो जाता है।

इस अवस्थामें ईश्वरके जिस स्वरूपका अनुभव होता है, वह अत्यन्त विविक्त एवं स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि वासनाओंके शान्त हो जानेपर भी अविद्याके संस्कार बने रहते हैं। परंतु हृदयके शुद्ध होनेके कारण ईश्वरको सम्पूर्णरूपसे अपना विषय बनानेके लिये एक दिव्य वृत्तिका उदय होता है। इसमें व्याकुलता नहीं है। दाह और ताप भी नहीं है, परंतु एक सम्पूर्ण अनुभूतिके लिये आन्तरिक प्रयत्न होता रहता है। इस प्रयत्नको अन्वेषणी, विवेचनी अथवा जिज्ञासनी कृपाका नाम दिया जा सकता है। इसमें अपने अन्वेष्य अथवा अनुमेय वस्तुके अतिरिक्त किसी और विषयकी ओर चिन्तनकी धारा नहीं गिरती। परिणामतः प्रकाशिनी कृपा अभिव्यक्त हो जाती है। उस समय अपने अन्तःकरणके ही सूक्ष्मतम आधार-प्रदेशमें भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है। वह स्वरूप न घटादिके समान प्रत्यक्ष होता है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वस्तुतः वह अवेद्य, अपरोक्ष ही होता है, परंतु अन्वेषणीसे पृथक्, विवेचनीसे स्वरूप और जिज्ञासनीसे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें अनुभव होता है। इस अनुभूतिको मेलनीकी संज्ञा दी जा सकती है; क्योंकि जिसका अनुसन्धान कर रहे थे वह अब मिल गया है। यह मेलनी ऐसी है कि फिर वियोजनी अथवा संयोजनी वृत्तिका संस्पर्श नहीं होता; क्योंकि वियोग-संयोगकी कल्पनाके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। कर्मके नष्ट होनेपर फलका नाश अथवा ह्रास होता है; किंतु प्रमाण-वृत्तिके रहने न रहनेका प्रमेय वस्तुपर प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुके लिये स्मरणी-विस्मरणी भी अकिञ्चित्कर है। भक्तिमार्गसे भी मेलनी केवल नित्य सम्बन्धकी अभिव्यञ्जनी होती है, उत्पादनी नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि यह सर्वविध बन्धनसे मुक्त कर देती है, चाहे इसका रूप कुछ भी क्यों न हो। इसलिये मेलनीका ही एक नाम मोचनी हो जाता है। यह अनात्मासे, अनिष्टसे, द्वैतभ्रमसे सर्वथा मुक्त करनेमें समर्थ है। इसके बाद तीन रूप प्रकट होते हैं—शमिनीमें सम्पूर्ण वृत्तियोंकी उपशान्ति होकर प्रपञ्चका अभाव हो जाता है, स्वच्छन्दीमें वृत्तियोंकी प्रतीतिमात्र उपस्थिति-अनुपस्थितिका कोई महत्त्व नहीं रहता और ह्लादिनी रसिक, रस्य और रसनको एकरस परमानन्द कर देती है। तब भूमि, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी-सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समीर, आकाश, मन, भोक्ता, भोग्य, कर्म, कर्ता कहाँतक गिनायें—सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। धाम, नाम, रूप, लीला, गुण, स्वभाव, दुर्जन, सज्जन—सब कुछ रस-स्वरूप परमात्माकी निर्माण लीलामात्र होते हैं। यह ह्लादिनी कभी प्रसादनी, कभी अभिसारणी और कभी मानवी होकर आती है। सुखकी व्यञ्जनाके लिये मनाती है। मिलनेके लिये नदीकी तरह बहती है। आनन्दधारामें हिमशिलाके समान मान

करके बैठ जाती है। यह चाहे जो रूप धारण करे, रहती है—भावनी, रञ्जनी, तर्पणी और नन्दनी ही। चाहे आँख-भौं चढ़ी हो, चाहे प्रसन्न, हो, वह प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रियताकी अभिव्यक्ति ही होती है; क्योंकि अब आनन्दरसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे यह कभी मिलकर मोदनी दिखाती है तो कभी मोदनी दीखती है। संयोग और वियोग घुल-मिलकर एक हो चुके होते हैं और उनकी आकृति-विशेष होनेपर भी तत्त्वविशेष नहीं होता। वह रसविशेषका उल्लास है, प्रेमका प्रकाश है, प्रीति-महार्णवकी तरंग है, कभी दो है, कभी एक है। वहाँ 'कभी' है परंतु काल नहीं। 'वहाँ' है परंतु देश नहीं। दो है परंतु द्वित्व नहीं। वह सरूपणी कृपा अभेदस्वरूपा ही है।

इस कृपाका स्वरूप देश-काल-वस्तु-व्यक्तिसे परे भी है और उनमें अनुस्यूत भी है। वस्तुतः कृपाके अतिरिक्त और कोई महत्ता, सत्ता नहीं है। वह अरूपिणी रहकर सर्वरूपमें प्रकाशित होती है। कृपा और कृपालुता दो तत्त्व नहीं हैं। जब, जहाँ जो कृपालुका स्वभाव है तब तहाँ, वही कृपाका स्वरूप है। आत्मा-परमात्माका भेद और अभेद—दोनों ही कृपा हैं। जब सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च अन्ध-तमसाच्छन्न होता है, तब क्या हमारे नेत्रोंके भीतरसे सूर्यज्योति बेरोक-टोक झाँकती हुई नहीं ज्ञात होती? अन्धकारके पीछे क्या सूर्यमण्डल जगमगाता हुआ नहीं होता? अन्धकार, दुःख, मृत्युके आगे-पीछे सर्वत्र वही मङ्गलज्योति झिलमिला रही है। इस अरूपिणी कृपाको केवल पहचानना पड़ता है, पाना नहीं। तत्त्वज्ञानका अर्थ भी इसे पहचानना ही है। इसको चाहे ब्रह्म कह लो या आत्मा, सगुण-निर्गुणका भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

सरूपिणीकृपा तब समझमें आती है जब वह हमारे इच्छे स्मरणमें हेतु बनती है, जैसे सत्संग मिले, भगवद्धाम मिले, कुछ कालतक भगवान्‌की आराधना मिले। भक्तकी दृष्टिसे यह सरूपिणीकृपा होगी; क्योंकि यह साधनका रूप धारण करके आयी है। यह कृपा अपने-अपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिमें अनुकूलता उत्पन्न करनेपर पहचानी जाती है। जिज्ञासु-को सन्त मिले, अर्थीको सेठ मिले, कामीको कामिनी मिले और धर्मात्माको सत्पात्र, तो इसे भगवान्‌की सरूपिणीकृपा समझेगा। परंतु यह दृष्टि पुरुषार्थकी उपाधिसे है। इसमें कृपाकी सच्ची पहचान नहीं है। सच्ची कृपामें अपनी इच्छा या आवश्यकतापर दृष्टि नहीं जाती, उसमें तो प्रत्येक परिस्थितिमें ही उसका समीक्षण होता है, प्रतीक्षण नहीं। प्रार्थना भी नहीं। जो है, उसके लिये क्या प्रतीक्षा और क्या प्रार्थना! उसकी अनेकरूपता वैसी ही है, जैसी रासलीलाके समय श्रीकृष्णकी अनेकरूपता या ब्रह्माके प्रति अनन्तरूपताका दर्शन। कृपाकी पहचान हो जानेपर उसके स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठाकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ है, नहीं है; भासता है, नहीं भासता है; प्रिय है, अप्रिय है; भेद है, अभेद है—कृपाका ही विलास है। कृपाही—केवल कृपाही भगवत्तत्त्वकी दर्शिका और संलापिका है। इसकी प्राप्तिका यत्न मानवका साधन है।

रामकृपाकी महिमा

केवट निसिचर बिहग मृग किए साधु सनमानि।
तुलसी रघुबर की कृपा सकल सुमंगल खानि॥ (दोहावली २२८)

तुलसीदासजी कहते हैं—'भगवान् श्रीरामजीकी कृपा सब सुमङ्गलोंकी खान है। उस रामकृपाने केवट, राक्षस (विभीषण), पक्षी (जटायु) और पशुओं (बंदर-भालु आदि)को भी सम्मान देकर साधु बना दिया।'

भगवती-तत्त्व

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका शक्तितत्त्व-चिन्तन)

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्त गुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरञ्जन, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। हम अपने समझनेके लिये मोटेरूपसे उनके आठ रूपोंका भेद कर सकते हैं—

१—नित्य, विज्ञानानन्दघन, निर्गुण, निराकार, मायारहित, एकरस ब्रह्म, २—सगुण, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त निराकार परमात्मा, ३—सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा, ४—पालनकर्ता भगवान् विष्णु, ५—संहारकर्ता भगवान् रुद्र, ६—श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, काली आदि साकाररूपोंमें अवतरित रूप, ७—असंख्य जीवात्मारूपसे विभिन्न जीवशरीरमें व्याप्त और ८—विश्वब्रह्माण्डरूप विराट्—ये आठों रूप एक ही परमात्माके हैं। इन्हीं समग्ररूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, सदाशिव, महाविष्णु, ब्रह्मा, महाशक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड, प्रकृति इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। वे सच्चिदानन्दघन अनिर्वचनीय प्रभु एक ही हैं, लीलाभेदसे उनके नामरूपोंमें भेद है और इसी भेदभावके कारण उपासनामें भेद है। यद्यपि उपासकको अपने इष्टदेवके नाम-रूपमें ही अनन्यता रखनी चाहिये तथा उसीकी पूजा शास्त्रोक्त पूजन-पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये, परंतु इतना निरन्तर स्मरण रखना चाहिये कि शेष सभी रूप और नाम भी उसी इष्टदेवके हैं। वे ही प्रभु इतने विभिन्न नाम-रूपोंमें समस्त विश्वके द्वारा पूजित होते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। पूरे जगत्‌में वस्तुतः एक वे ही फैले हुए हैं। जो विष्णुको पूजता है, वह अपने-आप ही शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदिको पूजता है, और जो राम, कृष्णको पूजता है वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको। एककी पूजासे सुतराम् सभीकी पूजा हो जाती है; क्योंकि एक ही सब बने हुए हैं। परंतु जो किसी एक रूपसे अन्य समस्त रूपोंको अलग मानकर औरोंकी अवज्ञा करके केवल अपने इष्ट एक ही रूपको अपनी ही सीमामें आबद्ध रखकर पूजता है, वह अपने परमेश्वरको छोटा बना लेता है, उनको सर्वेश्वरत्वके आसनसे नीचे उतारता है। इसलिये उसकी पूजा सर्वोपरि सर्वमय भगवान्‌की न होकर एक देशनिवासी स्वल्प देवविशेषकी होती है और उसे वैसा ही उसका अल्प फल भी मिलता है। अतएव पूजो एक ही रूपको, परंतु शेष रूपोंको समझो उसी एकके वैसे ही शक्ति-सम्पन्न अनेक रूप।

महाशक्तिका परिणाम

वस्तुतः वह एक महाशक्ति परमात्मा ही हैं, जो विभिन्न रूपोंमें विविध लीलाएँ करते हैं। परमात्माके पुरुषवाचक सभी स्वरूप इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया, सर्वशक्तिमयी परमेश्वरी आद्या महाशक्तिके हैं। ये ही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने भीतर छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करतीं, तब निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म कहलाती हैं। ये ही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे अनेक होनेका संकल्प करती हैं, तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो अपनी ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करके सगुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं। इन्हींकी अपनी शक्तिसे गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकार-की भाँति उस प्रकृतिमें क्रमशः सात विकृतियाँ होतीं

हैं। (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार और सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको भी विकृति कहते हैं।) फिर अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृति-विकृति है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकार-रूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं। यों वे महाशक्ति ही अपनी प्रकृति-सहित चौबीस तत्त्वोंके रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वयं पचीसवें तत्त्वरूपमें प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं। चेतन परमात्म-रूपिणी महाशक्तिके बिना जड़ प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् पुरुष बनती हैं और इस सृष्टिके निर्माणमें स्थूल निर्माता प्रजापतिके रूपमें आप ही अंशावतारके भावसे ब्रह्मा और पालनकर्ताके रूपमें विष्णु और संहारकर्ताके रूपमें रुद्र बन जाती हैं तथा ये ब्रह्मा, विष्णु, शिवप्रभृति अंशावतार भी किसी कल्पमें दुर्गारूपसे होते हैं, किसीमें महाविष्णु रूपसे, किसीमें महाशिवरूपसे, किसीमें श्रीरामरूपसे और किसीमें श्रीकृष्णरूपसे। एक ही शक्ति विभिन्न नाम-रूपोंसे सृष्टि-रचना करती हैं। इस विभिन्नताका कारण और रहस्य भी उन्हींको ज्ञात है। यों अनन्त ब्रह्माण्डोंमें महाशक्ति असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनी हुई हैं और अपनी योगमायासे अपनेको आवृतकर आप ही जीव-संज्ञाको प्राप्त हैं। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों आप ही हैं। भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों आप ही हैं। इन तीनोंको अपनेसेही निर्माण करनेवाली, तीनोंमें व्याप्त रहनेवाली भी आप ही हैं।

परमात्मरूपा ये महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी हैं; परंतु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं।' यह स्वभावसे ही सत्ता देकर अपनी मायाशक्तिको क्रीडाशीला अर्थात् क्रियाशीला बनाती हैं, इसलिये इनके शुद्ध विज्ञानानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मरूपमें कदापि कोई परिवर्तन न होनेपर भी इनमें परिणाम दीखता है; क्योंकि इनकी अपनी शक्तिका—मायाका—विकसित स्वरूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा बदलता ही रहता है और वह मायाशक्ति सदा इन महाशक्तिसे अभिन्न रहती है। वह महाशक्तिकी ही स्वशक्ति है और शक्तिमान्से शक्ति कभी पृथक् नहीं हो सकती, चाहे वह पृथक् भले ही दीखे, अतएव शक्तिका परिणाम स्वयमेव ही शक्तिमान्पर आरोपित हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म या महाशक्तिमें परिणामवाद सिद्ध होता है।

मायावाद

और चूँकि संसाररूपसे व्यक्त होनेवाली यह समस्त क्रीडा महाशक्तिकी अपनी शक्ति—मायाका ही खेल है और मायाशक्ति उनसे अलग नहीं है, इसलिये यह सारा ऐश्वर्य उन्हींका है। उनको छोड़कर जगत्में और कोई वस्तु ही नहीं, दृश्य, द्रष्टा और दर्शन—तीनों वे आप ही हैं, अतएव जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी इस दृष्टिसे ठीक ही है।

आभासवाद

इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध शृङ्गारों और भावोंको देखकर जीवरूपसे आप ही मोहित होती हैं। इससे आभासवाद भी सत्य है।

माया अनादि और सान्त है

परमात्मरूप महाशक्तिकी उपर्युक्त मायाशक्तिको अनादि और सान्त कहते हैं। सो उसका अनादि होना तो ठीक ही है; क्योंकि वह शक्तिमयी महाशक्तिकी

उनकी शक्ति होनेसे उन्हींकी भाँति अनादि है; परंतु शक्तिमयी महाशक्ति तो नित्य अविनाशिनी है, फिर उसकी शक्ति माया अन्तवाली कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह अन्तवाली नहीं है । अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी परमात्मरूपा महाशक्तिकी भाँति उसकी शक्तिका भी कभी विनाश नहीं हो सकता; परंतु जिस समय वह कार्य-करण-विस्ताररूप समस्त संसारसहित महाशक्तिके सनातन अव्यक्त परमात्मरूपमें लीन रहती है, क्रियाहीना रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या सान्त हो जाती है और इसीसे उसे सान्त कहते हैं । इसी दृष्टिसे उसको सान्त कहना सत्य है ।

मायाशक्ति अनिर्वचनीय है

कोई-कोई परमात्मरूपा महाशक्तिकी इस माया-शक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं, सो भी ठीक है; क्योंकि यह शक्ति उस सर्वशक्तिमती महाशक्तिकी अपनी ही शक्ति है । जब वह अनिर्वचनीय है तब उसकी अपनी शक्ति अनिर्वचनीय क्यों न होगी ?

मायाशक्ति और महाशक्ति

कोई-कोई कहते हैं कि इस मायाशक्तिका ही नाम महाशक्ति, प्रकृति, विद्या, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान आदि है, महाशक्ति पृथक् वस्तु नहीं है । सो उनका यह कथन भी एक दृष्टिसे सत्य ही है; क्योंकि मायाशक्ति परमात्मरूपा महाशक्तिकी ही शक्ति है और वह जीवोंको बाँधनेके लिये अज्ञान या अविद्यारूपसे और उनकी बन्धन-मुक्तिके लिये ज्ञान या विद्यारूपसे अपना स्वरूप प्रकट करती है, तब इनसे भिन्न कैसे रही ? हाँ, जो मायाशक्तिको ही शक्ति मानते हैं और महाशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं मानते वे तो मायाके अधिष्ठान ब्रह्मको ही अस्वीकार करते हैं, इसलिये वे अवश्य ही मायाके चक्रमें पड़े हुए हैं ।

निर्गुण और सगुण

कोई इस परमात्मरूपा महाशक्तिको निर्गुण कहते हैं और कोई सगुण । ये दोनों बातें भी ठीक हैं; क्योंकि उस एकके ही ये दो नाम हैं । जब मायाशक्ति क्रियाशीला रहती है, तब उसका अधिष्ठान महाशक्ति सगुण कहलाती है, और जब वह महाशक्तिमें छिपी रहती है तब महाशक्ति निर्गुण है । इन अनिर्वचनीया परमात्मरूपा महाशक्तिमें परस्पर विरोधी गुणोंका नित्य सामञ्जस्य है । वे जिस समय निर्गुण हैं उस समय भी उनमें गुणमयी मायाशक्ति छिपी हुई मौजूद है और जब वे सगुण कहलाती हैं तब भी वे गुणमयी मायाशक्तिकी अधीश्वरी और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होनेसे वस्तुतः निर्गुण ही हैं अथवा स्व-स्वरूपमय अचिन्त्य अनन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित होनेसे वे सगुण हैं और वे दिव्य गुण उनके स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण वे ही वस्तुतः निर्गुण भी हैं; तात्पर्य कि उनमें निर्गुण और सगुण दोनों लक्षण सभी समय वर्तमान हैं । जो जिस भावसे उन्हें देखता है, उसको उनका वैसा ही रूप भासित होता है । असलमें वे कैसी हैं, क्या हैं, इस बातको वे ही जानती हैं ।

शक्ति और शक्तिमान

कोई-कोई कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्ममें मायाशक्ति नहीं रह सकती, माया रही तो वह शुद्ध कैसे ? बात समझनेकी है । शक्ति कभी शक्तिमान्‌से पृथक् नहीं रह सकती । यदि शक्ति नहीं है तो उसका शक्तिमान नाम नहीं हो सकता और शक्तिमान् न हो तो शक्ति रहे कहाँ ? अतएव शक्ति सदा ही शक्तिमान्‌में रहती है । शक्ति नहीं होती तो सृष्टिके समय शुद्ध ब्रह्ममें एकसे अनेक होनेका संकल्प कहाँसे और कैसे होता ? इसपर [illegible] कहे कि, ऐसा सत्य संकल्प हुआ, उस [illegible] हुआ नहीं, यदि नहीं थी [illegible]

शंकाका उत्तर यह है कि बताओ वह शक्ति कहाँसे आ गयी? ब्रह्मके सिवा कहाँ जगह थी जहाँ वह अबतक छिपी बैठी थी? इसका क्या उत्तर है?' अजी, ब्रह्ममें कभी संकल्प ही नहीं हुआ, यह सब असत् कल्पनाएँ हैं, मिथ्या स्वप्नकी-सी बातें हैं। अच्छी बात है, पर यह मिथ्या कल्पनाएँ किसने किस शक्तिसे की और मिथ्या स्वप्नको किसने किस सामर्थ्यसे देखा? और मान भी लिया जाय कि यह सब मिथ्या है तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध ब्रह्मका अस्तित्व किससे है? जिससे उसका अस्तित्व है वही उसकी शक्ति है। क्या जीवनीशक्ति बिना भी कोई जीवित रह सकता है? अवश्य ही ब्रह्मकी वह जीवनीशक्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। वही जीवनीशक्ति अन्यान्य समस्त शक्तियोंकी जननी है, वही परमात्मरूपा महाशक्ति है। अन्यान्य सारी शक्तियाँ अव्यक्तरूपसे उन्हीं महाशक्तिमें छिपी रहती हैं—और जब वे चाहती हैं तब उनको प्रकट करके काम लेती हैं। हनूमान्में समुद्र लाँघनेकी शक्ति थी, पर वह अव्यक्त थी; जाम्बवान्के याद दिलाते ही हनुमान्ने उसे व्यक्त रूप दे दिया। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा या परमाशक्ति भी नित्य शक्तिमान् हैं; हाँ, कभी वह शक्ति उनमें अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त। अवश्य ही भगवान्की शक्तिको व्यक्त रूप भगवान् स्वयं ही देते हैं, यहाँ किसी जाम्बवान्की आवश्यकता नहीं होती; पर शक्ति नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे ऋषि-मुनियोंने इस शक्तिमान् परमात्माको महाशक्तिके रूपमें देखा।

शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नता

इन्हीं सगुण-निर्गुणरूप भगवान् या भगवतीसे उपर्युक्त प्रकारसे कभी महादेवीरूपके द्वारा, कभी महाशिवरूपके द्वारा, कभी महाविष्णुरूपके द्वारा, कभी श्रीकृष्णरूपके द्वारा, कभी श्रीरामरूपके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और ये ही परमात्मरूपा महाशक्ति पुरुष और नारीरूपमें विविध अवतारोंमें प्रकट होती हैं। वस्तुतः ये नारी हैं न पुरुष, और दूसरी दृष्टिसे दोनों ही हैं। अपने पुरुषरूप अवतारोंमें स्वयं महाशक्ति ही लीलाके लिये उन्हींके अनुसार रूपोंमें उनकी पत्नी बन जाती हैं। ऐसे बहुत-से इतिहास मिलते हैं, जिनमें महाविष्णुने लक्ष्मीसे, श्रीकृष्णने राधासे, श्रीसदाशिवने उमासे और श्रीरामने सीतासे एवं इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, राधा, उमा और सीताने महाविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीसदाशिव और श्रीरामसे कहा है कि हम दोनों सर्वथा अभिन्न हैं—एकके ही दो रूप हैं; केवल लीलाके लिये एकके दो रूप बन गये हैं; वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भी अन्तर नहीं है।

शक्तिकी महिमा

यही आदिके तीन युगल उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी हैं, इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मादि देवता बनते हैं, जिनसे विश्वकी उत्पत्ति आदि स्थितियाँ होती हैं। इन्हींकी शक्तिसे विष्णु और शिव प्रकट होकर विश्वका पालन और संहार करते हैं। दया, क्षमा, निद्रा, स्मृति, क्षुधा, तृष्णा, तृप्ति, श्रद्धा, भक्ति, धृति, मति, तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, कान्ति, लज्जा इत्यादि इन्हीं महाशक्तिकी शक्तियाँ हैं। ये ही गोलोकमें श्रीराधा, साकेतमें श्रीसीता, क्षीरसागरमें लक्ष्मी, दक्षकन्या सती, दुर्गतिनाशिनी मेनकापुरी दुर्गा हैं। ये ही वाणी, विद्या, सरस्वती, सावित्री और गायत्री हैं। ये ही सूर्यकी प्रभाशक्ति, पूर्णचन्द्रकी सुधावर्षिणी शोभाशक्ति, अग्निकी दाहिका-शक्ति, वायुकी वहनशक्ति, जलकी शीतलताशक्ति, धराकी धारणाशक्ति और शस्यकी प्रसूतिशक्ति हैं। ये ही तपस्वियोंका तप, ब्रह्मचारियोंका ब्रह्मतेज, गृहस्थोंकी सर्वाश्रम-आश्रयता, वानप्रस्थोंकी संयम-शीलता, संन्यासियोंका त्याग, महापुरुषोंकी महत्ता और मुक्त पुरुषोंकी मुक्ति हैं। ये ही शूरोंका बल, दानियोंकी उदारता, माता-पिताकी वत्सलता, गुरुकी गुरुता, पुत्र और शिष्यकी गुरुजन-भक्ति,

देवताओंद्वारा महाशक्तिका स्तवन

साधुओंकी साधुता, चतुरोंकी चातुरी और मायावियोंकी माया हैं। ये ही लेखकोंकी लेखनशक्ति, वाग्मियोंकी वक्तृत्वशक्ति, न्यायी नरेशोंकी प्रजापालन-शक्ति और प्रजाकी राजभक्ति हैं। ये ही सदाचारियोंकी दैवीसम्पत्ति, मुमुक्षुओंकी षट्सम्पत्ति, धनवानोंकी अर्थसम्पत्ति और विद्वानोंकी विद्या सम्पत्ति हैं। ये ही ज्ञानियोंकी ज्ञानशक्ति, प्रेमियोंकी प्रेमशक्ति, वैराग्यवानोंकी विरागशक्ति और भक्तोंकी भक्तिशक्ति हैं। ये ही राजाओंकी राजलक्ष्मी, वणिकोंकी सौभाग्यलक्ष्मी, सज्जनोंकी शोभालक्ष्मी और श्रेयोऽर्थियोंकी श्री हैं। ये ही पतिकी पत्नीप्रीति और पत्नीकी पतिव्रताशक्ति हैं। सारांश यह कि जगत्में सर्वत्र परमात्म-रूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें खेल रही हैं। सभी जगह स्वाभाविक ही शक्तिकी पूजा हो रही है। जहाँ शक्ति नहीं है, वहाँ शून्यता है। शक्तिहीनकी कहीं कोई पूछ नहीं। प्रह्लाद-ध्रुव भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपी प्रेमशक्तिके कारण जगत्पूज्य हैं। भीष्म-हनुमान्की ब्रह्मचर्य-शक्ति, व्यास-वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति, भीम-अर्जुनकी शौर्यशक्ति, युधिष्ठिर-हरिश्चन्द्रकी सत्यशक्ति, शङ्कर-रामानुजकी विज्ञानशक्ति, शिवाजी-प्रतापकी वीरशक्ति, इस प्रकार जहाँ देखो वहीं शक्तिके कारण ही सबकी शोभा और पूजा है। सर्वत्र शक्तिका ही समादर और बोलबाला है। शक्तिहीन वस्तु जगत्में टिक ही नहीं सकती। सारा जगत् अनादिकालसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे निरन्तर केवल शक्तिकी ही उपासनामें लग रहा है और सदा लगा रहेगा।

शक्तिकी शरण

ये महाशक्ति ही सर्वकारणरूप प्रकृतिकी आधारभूता होनेसे महाकारण हैं, ये ही मायाधीश्वरी हैं, यही सृजन-पालन-संहार-कारिणी आद्या नारायणी शक्ति हैं और ये ही प्रकृतिके विस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर होती हैं। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इन्हींकी हैं अथवा ये ही दो प्रकृतियोंके रूपमें प्रकाशित होती हैं। इनमें द्वैत और अद्वैत—दोनोंका समावेश है। ये ही वैष्णवोंकी श्रीनारायणके साथ महालक्ष्मी, श्रीरामके साथ सीता, श्रीकृष्णके साथ राधा, शैवोंकी श्रीशङ्करके साथ उमा, गाणपत्योंकी श्रीगणेशके साथ ऋद्धि-सिद्धि, सौरोंकी सूर्यके साथ उषा, ब्रह्मवादियोंकी शुद्ध ब्रह्मके साथ ब्रह्मविद्या हैं और शाक्तोंकी महादेवी हैं। ये ही पञ्च महाशक्ति, दस महाविद्या, नव दुर्गा हैं। ये ही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी, ललिताम्बा हैं। ये ही शक्तिमान् हैं, ये ही शक्ति हैं, ये ही नर हैं, ये ही नारी हैं, ये ही माता, धाता, पितामह हैं; सब कुछ ये ही हैं। जो श्रीकृष्ण-रूपकी उपासना करते हैं वे भी इन्हींकी उपासना करते हैं। जो श्रीराम, शिव या गणेशरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रूपोंकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी उपासना करते हैं। श्रीकृष्ण ही काली हैं, माँ काली ही श्रीकृष्ण हैं। इसलिये जो जिस रूपकी उपासना करते हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान् या भगवतीस्वरूपकी उपासना कर रहा हूँ, वे ही सर्वदेवमय और सर्वरूपमय हैं, सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं।

सच तो यह है कि परब्रह्म-रूपिणी माँकी उपासना करके उनसे कुछ भी मत माँगो। ऐसी दयामयी [illegible]श्वरी जननीसे जो कुछ भी तुम माँगोगे, उसीमें ठगे जाओगे। तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इस बातको तुम नहीं समझते, माँ समझती हैं। तुम्हारी दृष्टि बहुत ही छोटी सीमामें आबद्ध है। माँकी दूरदृष्टि ही नहीं है, प्रत्युत वे ईश्वरी माता, वे श्रीकृष्ण और श्रीरामरूपा माता हैं, वे दुर्गा, सीता, उमा, राधा, काली,

तारा सर्वज्ञ हैं। तुम्हारे लिये जो भविष्य है, उनके लिये वही वर्तमान है। फिर उनका हृदय दयाका अनन्त समुद्र है। वह दयामयी माता तुम्हारे लिये, जो कुछ मङ्गलमय होगा—कल्याणकारी होगा, उसीका विधान करेंगी, स्वयं सोचेंगी और करेंगी; तुम तो बस, निश्चिन्त और निर्भय होकर अबोध शिशुकी भाँति उनका पवित्र आँचल पकड़े उनके वात्सल्यभरे मुखकी ओर ताकते रहो। डरना नहीं, काली, तारा तुम्हारे लिये भयावनी नहीं हैं। वे राक्षसोंके लिये भयदायिनी हैं। भगवान् नृसिंहदेव सबके लिये भयानक थे, परंतु प्रह्लादके लिये भयानक नहीं थे। फिर मातृरूप तो कैसा भी हो, अपने बच्चेके लिये कभी भयावना होता ही नहीं, सिंहनीका बच्चा अपनी माँसे कभी नहीं डरता। अतः उनकी गोदसे कभी न हटो, उनका आश्रय पकड़े रहो। माँ अपना काम आप करेंगी।

(यही शक्ति-तत्त्वके विज्ञानका चरम परिणाम है।)

स्वसंवेद्य परमतत्त्व

(लेखक—गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

अपने सिद्धामृत-मार्गमें भगवान् शिवस्वरूप गोरक्षने परमात्मतत्त्वको पिण्डमें ब्रह्माण्डकी समरसताके धरातलपर स्वसंवेद्य स्वीकार किया है। नाथयोगमें केवलानुभवानन्दस्वरूप अलख निरञ्जनके ही साक्षात्कारका आस्वादन विहित और ध्येय तथा ज्ञेय प्रतिपादित किया गया है। भगवत्स्वरूपमें सम्पूर्ण एकरसता है। कहीं भी विभिन्नता अथवा विजातीयताकी लेशमात्र भी गन्ध परिलक्षित नहीं है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, सब-के-सब योगमें ही अन्तर्लीन हैं और उपासनाके धरातलपर, नाम, रूप और लीलाके स्तरपर भगवत्तत्त्वके चिन्तन, ध्यान और परिशीलनमें, पूर्ण सामञ्जस्य योग-साधनामें निर्विवाद अनुस्यूत है। यह निरापद विवेचन है कि उपासना योगसाधनाका अङ्ग है। इसके द्वारा यद्यपि अखण्ड, अनन्त, एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्ति सहज सिद्ध है, तथापि परमात्माके स्वरूप साकारता, सगुणता, सम्पूर्ण लीलावैचित्र्यके अनुशीलनका माधुर्य योगसाधनामें ही अन्तर्हित है। परमात्मा अपने अलख निरञ्जन-स्वरूपमें वेदानुमोदित होकर भी वेदातीत और स्वसंवेद्य—सम्पूर्ण निराकार है। गोरक्षनाथ-सिद्धमतमें भगवत्तत्त्वकी यही विशेषता है।

महायोगी गोरखनाथजीके महायोग ज्ञानका चरम प्रतिपाद्य साक्षात् अलख निरञ्जन है। उन्होंने निश्चित मत अभिव्यक्त किया कि सत्यसे परे न तो कोई शास्त्र है, नारायणसे परे न कोई इष्ट है और न निरञ्जनसे परे अथवा अतीत कोई ध्यान है। उनकी सारगर्भित वाणी है—

सच उपरांति सास्त्र नाहीं। नारायण उपरांति इष्ट नाहीं।
निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं॥ (गोरखबानी सिष्टपुराण)

गोरखनाथजीने स्वसंवेद्य निरञ्जन तत्त्वके साक्षात्कारपर प्रकाश डालते हुए कहा है कि परब्रह्म, परमात्मा अमायिक, निराकार, निष्कल एवं निरञ्जन है। वह अञ्जन (माया) में अथवा दृश्य-प्रपञ्चमें उसी तरह अप्रकट है, जिस तरह तिलमें तेल अप्रकट रहता है। जिस तरह तिल पेरनेसे तेलकी प्राप्ति हो जाती है, उसी तरह अञ्जन—मायामें योगज्ञानके प्रकाशमें मैंने निरञ्जन ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है। मैंने साकारमें निराकारका, मूर्तमें अमूर्त परमात्माका स्पर्श (अनुभव) कर लिया है। यह निगूढ़ (निरन्तरि-मायाव्यतिरिक्त) लीला सनातन है, सच्चिदानन्दघन अलख ब्रह्म ही सर्वत्र अभिव्यक्त है। मैंने शून्यमें जिसे नहीं कहा गया है, अखिलब्रह्माण्डनायक अलख निरञ्जनका दर्शन किया है, वह स्वसंवेद्य परमतत्त्व है। वह निरालम्ब, निराधार और शून्यस्थ है। उसका

तादात्म्य-लाभ कर मेरा द्वैतभाव मिट गया है । गोरखनाथजीके वचन हैं—

अंजन माहि निरंजन भेट्या, तिल मुष भेट्या तेलं ।
मूरति माहिं अमूरति परस्यां, भया निरंतरि षेलं ॥
जहाँ नहीं, तवाँ सब कुछ देष्या, कह्यांनं को पतिआई ।
दुबिधा भाव तवै ही गया, बिरला पदां समाई ॥
(गोरखबानी ग्यानतिलक ४१–४२)

भगवान् शिव गोरक्षने अम्लान, निर्विवाद, संशुद्ध, योगप्रतिपाद्य, अद्वय, परमतत्त्वका प्रकाशन किया । यह मुक्तिमार्गका सोपान है, गुह्यतम तत्त्व है । उनकी सहज-स्वाभाविक स्वीकृति है—

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम् ।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमकरन्दमहोत्पलम् ॥
भवभयहारकं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥
(महार्थमञ्जरी ८८, ८९)

'नाथमतमें अन्तःसाधनाके द्वारा स्वसंवेद्यतत्त्वके अनुभवपर बल दिया गया है । यह अलख निरञ्जन, परमात्मदेव अपने ही भीतर हैं । आकार-प्रकारसे परे परब्रह्म परमेश्वर ही सत्यस्वरूप है—

बदंत गोरख सति सरूप । तत विचारै ते रेप न रूप ।
(गोरखबानी सबदी १५३)

यह परमतत्त्व, अलख निरञ्जन, अनाम और अरूप है । यह अव्यक्त शून्यस्थ परमशिवस्वरूप है । परम-कारुणिक महायोगी गोरखनाथजीने अपनी रचना 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति'में कहा है—

अव्यक्तं च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा । (१ । ४)

अलख निरञ्जन तत्त्वमें परम विश्रान्ति—सहजस्थिति ही योगसाधनाकी सम्पूर्ण सिद्धि है । समाधिका पुण्यफल यह विश्रान्ति ही है । यही स्वरूपप्राप्ति अथवा परमकैवल्य है । जीवात्माका परमात्म-साक्षात्कार ही परमार्थ है । स्वरूपज्ञानके द्वारा जीवात्माको पाप-पुण्य, विधि-निषेधसे परे स्वसंवेद्य ॐकारस्वरूप निरञ्जन परब्रह्म परमेश्वरमें तल्लीन होकर रात-दिन, सब समय समाधिस्थ होकर ध्यानस्थ रहना चाहिये । घट-घटमें रमण करनेवाले आत्माराममें ही रमण करना चाहिये, इस साधनासे सच्चिदानन्दस्वरूपकी प्राप्ति होती है—

अहो निसि समो ध्यानं । निरंतर रमेबा राम ।
कथै गोरखनाथ ग्यानं । पाईला परमनिधानं ॥
(गोरखबानी पद ३३ । ४)

निःसंदेह पाप-पुण्य, दोनों प्रकारके कर्म बन्धनकारक हैं, स्वरूपस्थितिमें चित्तके लयसे कर्म बन्धनकारक नहीं होते । परब्रह्म परमेश्वर हरिका ही चिन्तन करते रहना चाहिये—

मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।
(गोरखबानी प्राणसंकली २)

प्रत्येक स्थितिमें जगदीशका ही ध्यान करते रहना योग है । गोरखनाथजीने इस ध्यानको बड़ी महत्ता दी है । उन्होंने कहा है—'सकल विधि ध्यावो जगदीश' (नरवैबोध ६) योग-मार्गमें ध्यान और चिन्तन अखण्ड निरञ्जन जगदीश्वरका भजन है । यही नाथ-तेजका साक्षात्कार है । नाथ ही परमस्वसंवेद्य परमेश्वर है । यह नाथतत्त्व अथवा परमपद अव्यक्त है, अचिन्त्य है, इसका चिन्तन नहीं, अनुभव होता है । यह जैसा भी है, हमारे लिये प्रणम्य है—

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तत्-
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये ।
अतोऽपदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोऽस्तु कस्मै वत नाथतेजसे ॥
(गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

जीवात्मा निर्विकार निरञ्जन भगवत्तत्त्वका चिन्तन करते-करते निर्विकार निरञ्जन हो जाता है, यही स्वसंवेद्यता है ।

गीतामें भगवत्तत्त्व एवं उसकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

गीतामें जिस भगवत्तत्त्वको अक्षर, अव्यक्त, परमगति, परमधाम[1], परमात्मा, ईश्वर[2], पुरुषोत्तम[3], परम पुरुष[4], परपुरुष[5], अपुनरावृत्ति[6], ब्रह्मनिर्वाण[7], ब्रह्म[8], शाश्वतपद[9] इत्यादि नामोंसे कहा गया है, उसीको भागवतमें प्रायः उन्हीं नामोंसे कहते हैं; यथा—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

'तत्त्वज्ञ पुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं ।'

परमात्म-तत्त्व अथवा भगवत्-तत्त्व वह तत्त्व है, जिसमें कभी किंचित् भी विकार या परिवर्तन नहीं होता—जो सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण है और जो सबका वास्तविक मूलस्वरूप है । वही एक तत्त्व संसारमें अनेक रूपोंसे भास रहा है । जिस प्रकार स्वर्णसे बने गहनोंमें नाम, आकृति, उपयोग, तौल और मूल्य अलग-अलग होते हैं एवं ऊपरसे मीना आदि होनेसे रंग भी अलग-अलग होते हैं, परंतु इतना होनेपर भी स्वर्णतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता, वह वैसा-का-वैसा ही रहता है; इसी प्रकार जो कुछ भी देखने, सुनने, जाननेमें आता है, उन सबके मूलमें एक ही परमात्मतत्त्व विद्यमान है; इसीको गीता-(७ । १९)में—'वासुदेवः सर्वमिति' कहा है ।

प्रस्तुत लेखमें अब इस तत्त्वकी प्राप्तिके विषयमें विचार किया जा रहा है ।

इस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये संसारमें तीन योग मुख्य माने जाते हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग ।[10] कर्मयोगका साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर भगवत्तत्त्वको प्राप्त हो जाता है—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
(गीता ४ । २३)

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ५ । ६)

ज्ञानयोगमें साधक परमात्माको तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट हो जाता है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।
(गीता १८ । ५५)

भक्तियोगका साधक अनन्यभक्तिसे भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है, एवं उनमें प्रविष्ट हो जाता है और उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी कर लेता है । गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

साधक अपनी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार चाहे योगमार्गसे, चाहे ज्ञानमार्गसे, चाहे भक्तिमार्गसे चाहे ध्यानमार्गसे चले, अन्तमें इन सभी मार्गोंके साधकोंको

१–(८ । २१), २–(१५ । १७) ३–(१५ । १८), ४–(८ । ८), ५–(८ । २२), ६–(५ । १७), ७–(५ । २५), ८–(१८ । १३), ९–(१८ । ५६) ।

१०–गीताका संकेत है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ (१३ । २४)

'परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं, अर्थात् परमात्माको प्राप्त करते हैं ॥'

एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है । वही एक अद्वय तत्त्व शास्त्रोंमें अनेक नामोंसे वर्णित हुआ है ।* उस तत्त्वका अनुभव होनेके बाद फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता ।

यदि साधकको समझमें यह बात आ जाय, तो उपर्युक्त किसी भी मार्गसे भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है †। कारण यह है कि परमात्मा सब प्राणियोंमें, सब देशोंमें और सब कालोंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं, उनका कभी कहीं अभाव नहीं है । इसलिये स्वतःसिद्ध, नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनताका प्रश्न ही नहीं है । नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनाई प्रतीत होनेका प्रधान कारण है—सांसारिक सुखकी इच्छा । इसी कारण साधक संसारसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है और परमात्मासे विमुख हो जाता है । संसारसे माने हुए सम्बन्धोंके कारण ही साधक नित्यप्राप्त भगवत्तत्त्वको अप्राप्त मानकर उसकी प्राप्तिको परिश्रम-साध्य एवं कठिन मान लेता है । अतएव भगवत्तत्त्वका सुगमतासे अनुभव करनेके लिये संसारसे माने हुए संयोगका वर्तमानमें ही वियोग अनुभव करना अत्यावश्यक है, जो तभी सम्भव है जब संयोगजन्य सुखकी इच्छाका परित्याग कर दिया जाय ।

तत्त्व-दृष्टिसे एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं—ऐसा ज्ञान हो जानेपर मनुष्य फिर जन्म-मरणके चक्रमें नहीं पड़ता । भगवान् स्वयं कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(गीता ४।३५)

(अर्थात्—)'जिसे जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

वह तत्त्व ही संसाररूपसे भास रहा है; परंतु जब-तक उधर दृष्टि नहीं जाती, तबतक संसार-ही-संसार दीखता है, तत्त्व नहीं । वह परमात्मतत्त्व तत्त्वदृष्टिसे ही देखा जा सकता है ।

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता १४ । २७)
'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ ।'

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (गीता ८ । २१)
'जो अव्यक्त अक्षर नामसे कहा गया है, उसीको परमगति कहते हैं, तथा जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है ।'

† कर्मयोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्तिका प्रमाण—
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ (गीता ५ । ३)
'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित वह संसार-बन्धनसे सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है ।'

ज्ञानयोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्तिका प्रमाण—
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ (गीता ६ । २८)
'वह पापरहित योगी निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्म-प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है ।' × × × भक्तियोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्तिका प्रमाण—
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (गीता ८ । १४)
'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

तीन प्रकारकी दृष्टियाँ

मनुष्यकी दृष्टियाँ तीन प्रकारकी हैं—(१) इन्द्रिय-दृष्टि (बहिःकरण) (गीता १८।२२), (२) विवेकवती बुद्धिदृष्टि (अन्तःकरण) (गीता १८।२०) और (३) तत्त्वदृष्टि (स्वयंकी स्वरूप दृष्टि) (गीता ७।१९)। ये तीनों दृष्टियाँ क्रमशः एक-एकसे सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ हैं।

संसार असत् और अस्थिर होते हुए भी इन्द्रिय-दृष्टिसे देखनेपर सत्, स्थिर एवं सुखदायी प्रतीत होता है, जिससे संसारमें राग हो जाता है। बुद्धिदृष्टिमें वस्तुतः विवेक* ही प्रधान है। जब बुद्धिमें भोगों-(इन्द्रियों तथा उनके विषयों-)की प्रधानता नहीं होती, अपितु विवेककी प्रधानता होती है, तब बुद्धिदृष्टिसे संसार परिवर्तनशील और उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला तथा दुःखदायी दीखता है, जिससे संसारसे वैराग्य हो जाता है। अतः यह दृष्टि श्रेष्ठ है।

जिस प्रकार प्रकाश बल्बमें नहीं होता, अपितु बल्बमें आता है, उसी प्रकार यह अनादिसिद्ध विवेक भी बुद्धिमें पैदा नहीं होता, अपितु बुद्धिमें आता है। इन्द्रियदृष्टिकी अपेक्षा बुद्धि-दृष्टिकी प्रधानता होनेसे विवेक विशेष स्फुरित होता है, जिससे सत्‌की सत्ता और असत्‌के अभावका अलग-अलग ज्ञान हो जाता है। विवेक-पूर्वक असत्‌का त्याग कर देने पर जो शेष रहता है, वही तत्त्व है। तत्त्वदृष्टि-(स्वरूपबोध-)से देखनेपर एक भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वके सिवा संसार, शरीर, अन्तःकरण, बहिःकरण आदि किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता सत्यत्वेन किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहती। तब एकमात्र **'वासुदेवः सर्वम्'**—'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसका बोध हो जाता है, जो वास्तविक तत्त्वबोध है।

इस प्रकार यह संसार बहिःकरण-(इन्द्रियों-)से देखनेपर नित्य, सुखदायी एवं आकर्षक, अन्तःकरण (बुद्धि)से देखनेपर दुःखदायी एवं अनित्य तथा तत्त्वसे देखनेपर असत् अर्थात् अभावरूपसे दिखाई देता है।

साधककी विवेकदृष्टि और सिद्धकी तत्त्वदृष्टिमें अन्तर यह है कि विवेकदृष्टिसे सत् और असत्—दोनों अलग-अलग दीखते हैं और सत्‌का अभाव नहीं एवं असत्‌का भाव नहीं—ऐसा बोध होता है; इस प्रकार विवेकदृष्टिका परिणाम होता है—असत्‌के त्यागके साथ-साथ सत्‌की प्राप्ति। और, जहाँ सत्‌की प्राप्ति होती है वहाँ फिर तत्त्वदृष्टि रहती है। तत्त्वदृष्टिसे संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है।

विवेकको महत्त्व देनेसे इन्द्रियोंका ज्ञान महत्त्व-हीन हो जाता है। उस विवेकसे परे जो वास्तविक तत्त्व है, वहाँ विवेक भी तत्त्वरूप हो जाता है।

वास्तविक दृष्टि—वस्तुतः तत्त्व दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। इन्द्रियदृष्टि और बुद्धिदृष्टि वास्तविक नहीं हैं; क्योंकि जिस धातुका संसार है, उसी धातुकी ये दृष्टियाँ हैं। अतः ये दृष्टियाँ सांसारिक अथवा पारमार्थिक विषयमें पूर्ण निर्णय नहीं कर सकतीं। तत्त्वदृष्टिमें ये सब दृष्टियाँ लीन हो जाती हैं। जैसे रात्रिमें बल्ब जलानेसे प्रकाश होता है; परंतु वही बल्ब यदि

* जड़-चेतन, नित्य-अनित्य, सत्-असत् इत्यादि मिश्रित दो वस्तुओंके अलग-अलग ज्ञानको 'विवेक' कहते हैं। यह विवेक प्राणिमात्रमें स्वतः विद्यमान है। पशुपक्षियोंमें शरीर-निर्वाहके योग्य ही विवेक रहता है; परंतु मनुष्यमें यह विवेक विशेषरूपसे जाग्रत् होता है। विवेक अनादि है—यह आगेके श्लोकार्द्धसे स्पष्ट है। गीता १३। १९में भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। ×××'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान।'

इस श्लोकार्द्धमें आये 'उभौ' (दोनों अर्थवाले) पदसे यह सिद्ध होता है कि जैसे प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) दोनों अनादि हैं, वैसे ही इन दोनोंका भेद ज्ञानरूप विवेक भी अनादि है।

मध्याह्नकालमें (दिनके प्रकाशमें) जलाया जाता है तो उसके प्रकाशका भान तो होता है, पर उस प्रकाशका (सूर्यके प्रकाशके सामने) कोई महत्त्व नहीं रहता; वैसे ही इन्द्रियदृष्टि और बुद्धिदृष्टि अज्ञान (अविद्या) अथवा संसारमें केवल व्यवहारके लिये तो काम करती हैं; पर तत्त्वदृष्टि हो जानेपर इन दृष्टियोंका उसके (तत्त्व-दृष्टिके) सामने कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ये दृष्टियाँ नष्ट तो नहीं होतीं, पर प्रभावहीन हो जाती हैं। केवल सच्चिदानन्द-रूपसे एक ज्ञान शेष रह जाता है; उसीको भगवत्तत्त्व या परमात्मतत्त्व कहते हैं। वही वास्तविक तत्त्व है। शेष सब अतत्त्व हैं—तत्त्व नहीं, वस्तु या पदार्थ हैं।

साध्यतत्त्वकी एकरूपता

जैसे नेत्र तथा नेत्रोंसे दीखनेवाला दृश्य—दोनों सूर्यसे प्रकाशित होते हैं, वैसे ही बहिःकरण, अन्तःकरण, विवेक आदि सब उसी परम प्रकाशक तत्त्वसे प्रकाशित होते हैं—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (श्वेताश्वतर उ० ६। १४)। यह जो वास्तविक प्रकाश अथवा तत्त्व है, वही सम्पूर्ण दर्शनोंका (वर्ण्य या विवेच्य) आधार है। जितने भी दार्शनिक हैं, प्रायः उन सबका तात्पर्य उसी तत्त्वको प्राप्त करनेमें है—दार्शनिकोंकी वर्णन-शैलियाँ तथा साधन-पद्धतियाँ तो अलग-अलग हैं, पर उनका तात्पर्य (लक्ष्यार्थ) एक ही है। साधकोंमें रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण उनके साधनोंमें तो भेद हो जाते हैं, पर उनका साध्यतत्त्व वस्तुतः एक ही होता है। इसीलिये संतोंने कहा है—

> पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
> संतदास घड़ी अरठकी, ढुरे एक ही ठौर॥

प्रत्येक मनुष्यकी भोजनकी रुचिमें दूसरेसे भिन्नता रहती है; परंतु 'भूख' और 'तृप्ति' सबकी समान ही होती है अर्थात् अभाव और भाव सबके समान ही होते हैं। ऐसे ही मनुष्योंकी वेश-भूषा, रहन-सहन, भाषा इत्यादिमें बहुत भेद रहते हैं; परंतु 'रोना' और 'हँसना' सबके समान ही होते हैं अर्थात् दुःख और सुख सबको समान रूपसे ही अनुभूत होते हैं। इसी प्रकार साधन-पद्धतियोंमें भिन्नता रहनेपर भी साध्यकी 'अप्राप्तिकी व्याकुलता' और 'प्राप्तिकी तृप्ति' सब साधकोंको समान रूपसे ही होती है। साधनोंकी भिन्नताके कारण ही दार्शनिकों-द्वारा वह तत्त्व निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार, सगुण-साकार इत्यादि विभिन्न रूपोंमें वर्णित है। अतएव वह गीतामें भी १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकमें निर्गुण-निराकार, १३वें १४ वें एवं १५वें श्लोकोंमें सगुण-निराकार, १६वेंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादिके रूपमें प्रतिपादित है। यह वर्णन तो साधकोंकी रुचि एवं साधनोंकी भिन्नताके कारण किया गया है। वस्तुतः इस तत्त्वके बारेमें जैसा वर्णन किया गया है वैसा तो है ही किंतु उससे भी विलक्षण है; कारण कि वर्णन तो बुद्धि आदि प्राकृत तत्त्वोंसे ही किया जाता है जब कि वह तत्त्व अप्राकृत है। फिर भी वह वर्णन उस तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक अवश्य है। यथार्थ बोध तो उस तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर ही सम्भव है।

सहज-निवृत्तिरूप वास्तविक तत्त्व

संसारमें एक तो प्रवृत्ति (कर्म करना) होती है और एक निवृत्ति (काम न करना) होती है। जिसका आदि और अन्त हो, वह क्रिया अथवा अवस्था कहलाती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही क्रियाएँ अथवा अवस्थाएँ हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रवृत्ति क्रिया है, वैसे ही निवृत्ति भी क्रिया है। प्रवृत्ति निवृत्तिको और निवृत्ति प्रवृत्तिको जन्म देती है। क्रिया और अवस्था मात्र प्रकृतिकी ही होती है तत्त्वकी नहीं। इस दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। निर्विकल्प समाधितक प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी 'व्युत्थान' होता है। अतएव जागने, चलने, बोलने, देखने, सुनने इत्यादिके

समान सोना, बैठना, मौन होना, मूर्छित होना, समाधिस्थ होना आदि भी क्रियाएँ अथवा अवस्थाएँ ही हैं।

अवस्थासे अतीत जो अक्रिय परमात्मतत्त्व है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही नहीं हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं, पर वह तत्त्व नहीं बदलता। वह वास्तविक तत्त्व स्वभावतः (सहज-) निवृत्तिरूप निरपेक्ष तत्त्व है। उस तत्त्वमें मनुष्यमात्रकी (स्वरूपसे) स्वाभाविक स्थिति है। वह परमतत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें स्वाभाविकरूपसे ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। अतएव उस सहज-निवृत्तिरूप परमतत्त्वको जो चाहे, जब चाहे, जहाँ चाहे प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता केवल प्राकृत-दृष्टियोंके प्रभावसे मुक्त होनेकी है।

'स्वयम्'का प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है। साधक प्रमादवश अपनी वास्तविक सत्ताको (जहाँसे 'अहम्' उठता है अथवा जो 'अहम्'का आधार है) भूलकर माने हुए 'अहम्'को ही (जो उत्पन्न होनेपर सत्तावान् है) अपनी सत्ता या अपना स्वरूप मान लेता है। माना हुआ 'अहम्' बदलता रहता है, पर वास्तविक तत्त्व (स्वरूप) कभी नहीं बदलता। जबतक यह (माना हुआ) 'अहम्' रहता है, तबतक साधकका प्रकृति-(प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप अवस्था-) से सम्बन्ध बना रहता है, और उसमें साधक निवृत्तिको अधिक महत्त्व देता रहता है। यह 'अहम्' प्रवृत्तिमें 'कार्य'-रूपसे और निवृत्तिमें 'कारण'-रूपसे रहता है। 'अहम्'का नाश होते ही प्रवृत्ति और निवृत्तिसे परे जो वास्तविक तत्त्व है, उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर तत्त्वज्ञपुरुषका प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही उसका सहज निवृत्ति स्वरूप है। पर ऐसा होनेपर भी प्रवृत्ति और निवृत्तिका नाश नहीं होता, अपितु उनका बाह्य चित्रमात्र बना रहता है। इसे ही दार्शनिकोंने सहज-निवृत्ति, सहजावस्था, सहज-समाधि इत्यादि नामोंसे कहा है।

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे माने हुए प्रत्येक संयोग-का प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। कारण यह है कि संसारसे माना हुआ संयोग अस्वाभाविक और उसका वियोग स्वाभाविक है। विचारपूर्वक देखा जाय तो संयोगकालमें भी वियोग ही है अर्थात् संयोग है ही नहीं। परंतु संसारसे माने हुए संयोगमें सद्भाव (सत्ता-भाव) कर लेनेसे वियोगका अनुभव नहीं हो पाता। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो जिसका वियोग होता है, उस प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। जैसे, बाल्यावस्थासे वियोग हो गया, तो अब उसकी सत्ता कहाँ है? जैसे वर्तमानमें भूतकाल-की सत्ता नहीं है, वैसे ही वर्तमान और भविष्यत्कालकी भी सत्ता नहीं है। जहाँ भूतकाल चला गया, वहीं वर्तमान और भविष्यत्काल भी चले जायँगे। इसीलिये भगवान्‌ने गीता- (२। १६)में कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—'असत्‌की तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा देखा गया है।'

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे वियोगका अनुभव होनेपर सहजनिवृत्तिरूप वास्तविक तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और वियुक्त होनेवाले संसारकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करनेसे वह तत्त्वज्ञान दृढ़ हो जाता है।

तत्त्वप्राप्तिका उपाय—तत्त्वको प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है—एकमात्र तत्त्वप्राप्तिका ही उद्देश्य बनाना। वास्तवमें उद्देश्य पहले बना है और उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर पीछे मिला है। परंतु मनुष्य स्वभाववश अथवा भ्रमवश भोगोंमें आसक्त होकर अपने

उस (तत्त्व-प्राप्तिके) उद्देश्यको भूल जाता है। इसलिये उस उद्देश्यको पहचानकर उसकी सिद्धिका दृढ़ निश्चय करना है। उद्देश्यपूर्तिका निश्चय जितना दृढ़ होता है, उतनी ही तेजीसे साधक तत्त्वप्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है। उद्देश्यकी दृढ़ताके लिये सबसे पहले साधक बहिः-करण-(इन्द्रिय-दृष्टि-)को महत्त्व न देकर अन्तःकरण-(बुद्धि अथवा विचारदृष्टि-)को महत्त्व दे। तब विचार-दृष्टिसे दिखायी देगा कि जितने भी शरीरादि सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब-के-सब उत्पत्तिसे पहले नहीं थे और विनाशके बाद भी नहीं रहेंगे एवं वर्तमानमें भी वे निरन्तर बदल रहे हैं। तात्पर्य यह कि सब पदार्थ आदि और अन्तवाले हैं। जो पदार्थ आदि और अन्तवाला होता है, वह वास्तवमें होता ही नहीं; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो पदार्थ आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—**'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** (माण्डूक्यकारिका)। इस प्रकार विचारदृष्टि-को महत्त्व देनेसे सत् और असत्, प्रकृति और पुरुषके अलग-अलग ज्ञान-(विवेक-) का अनुभव हो जाता है और साधकमें वास्तविक तत्त्व-(सत्-) को प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है; तदनन्तर संसारके सुखको तो क्या, साधनजन्य सात्त्विक सुखका भी आश्रय न लेनेसे उसके लिये परम व्याकुलता जाग्रत् हो जाती है। फलतः साधक संसार-(असत्-)से सर्वथा विमुख हो जाता है और उसे तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेसे एकमात्र सत्तत्त्व—भगवत्तत्त्वकी सत्ताका अनुभव हो जाता है।

व्यवहारके विविध रूप

साधारण (विषयी) पुरुष, विवेकी (साधक) पुरुष और तत्त्वज्ञ (सिद्ध) पुरुष—तीनोंके भाव अलग-अलग होते हैं। साधारण पुरुष संसारको सत् मानकर राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति-रूप व्यवहार करते हैं। इसके आगे विचारदृष्टिकी प्रधानतावाले विवेकी पुरुषका व्यवहार रागद्वेषरहित एवं शास्त्रविधिके अनुसार होता है*। विवेकदृष्टिकी प्रधानता रहनेके कारण—किञ्चित् रागद्वेष रहनेपर भी उसका (विवेकदृष्टि-प्रधान साधकका) व्यवहार रागद्वेष-पूर्वक नहीं होता अर्थात् वह रागद्वेषके वशीभूत होकर व्यवहार नहीं करता†। उसमें रागद्वेष बहुत कम—नहींके बराबर—रहते हैं। जितने अंशमें अविवेक रहता है, उतने ही अंशमें रागद्वेष रहते हैं। जैसे-जैसे विवेक जाग्रत् होता जाता है, वैसे-वैसे रागद्वेष कम होते चले जाते हैं और वैराग्य बढ़ता चला जाता है। वैराग्य बढ़नेसे बहुत सुख मिलता है; क्योंकि दुःख तो रागमें ही होता है‡। पूर्ण विवेक जाग्रत् होनेपर रागद्वेष पूर्णतः मिट

---

* इस प्रसङ्गका उपदेश गीता (१६।२४ में) यों करती है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

—'तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्र-विधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

† ऐसा ही गीता-(३। ३४) का निर्देश है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

—'इन्द्रिय, इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

‡ साधकको चाहिये कि वह इस साधनजन्य सुखमें सन्तोष अथवा सुखका भोग भी न करे, क्योंकि भगवान् (गीता १४।६ में) कहते हैं कि—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

'हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकार-रहित है। वह सुखके सम्बन्ध (भोग-)से और ज्ञानके सम्बन्ध-(अभिमान-)से साधकको बाँधता है।'

जाते हैं। विवेकी पुरुष संसारकी सत्ता दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान असत् रूपमें देखता है। इसके आगे तत्त्वदृष्टि प्राप्त होनेपर तत्त्वज्ञ पुरुष स्वप्नसे जागरित होनेके बाद स्वप्नकी स्मृतिके समान वर्तमानमें संसारको देखता है। इसलिये बाहरसे व्यवहार समान होनेपर भी विवेकी और तत्त्वज्ञ पुरुषके भावोंमें अन्तर रहता है।

साधारण पुरुषमें इन्द्रियोंकी, साधक पुरुषमें विवेक-विचारकी और सिद्ध पुरुषमें स्वरूपकी प्रधानता रहती है। साधारण पुरुषके रागद्वेष पत्थरपर पड़ी लकीरके समान (दृढ़) होते हैं। विवेकी पुरुषके रागद्वेष आरम्भमें बालूपर पड़ी लकीरके समान एवं विवेककी पूर्णता होनेपर जलपर पड़ी लकीरके समान होते हैं। तत्त्वज्ञ पुरुषके राग-द्वेष आकाशमें पड़ी लकीरके समान (जिसमें लकीर खिंचती ही नहीं, केवल अँगुली दीखती है) होते हैं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।

ज्ञानीके व्यवहारकी विशेषता

तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्वतक साधक (अन्तःकरणको अपना माननेके कारण) तत्त्वमें अन्तःकरणसहित अपनी स्थिति मानता है। ऐसी स्थितिमें उसकी वृत्तियाँ व्यवहारसे हटकर तत्त्वोन्मुखी हो जाती हैं, अतः उसके द्वारा संसारके व्यवहारमें भूलें भी हो सकती हैं। अन्तःकरण-(जड़ता-)से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर जड़चेतनके सम्बन्धसे होनेवाला सूक्ष्म 'अहं' पूर्णतः नष्ट हो जाता है। फिर तत्त्वज्ञ पुरुषकी स्वरूपमें नित्य-निरन्तर स्वाभाविक स्थिति रहती है। इसलिये साधनावस्थामें अन्तःकरणको लेकर तत्त्वमें तल्लीन होनेके कारण जो व्यवहारमें भूलें हो सकती हैं, वे भूलें सिद्धावस्थाको प्राप्त तत्त्वज्ञ पुरुषके द्वारा नहीं होतीं, अपितु उसका व्यवहार स्वतः स्वाभाविक सुचारुरूपसे होता है और दूसरोंके लिये आदर्श होता है*। इसका कारण यह है कि अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर तत्त्वज्ञ पुरुषकी स्थिति तो अपने स्वाभाविक स्वरूप अर्थात् तत्त्वमें हो जाती है और अन्तःकरणकी स्थिति अपने स्वाभाविक स्थान—शरीर-(जड़ता-)में हो जाती है। ऐसी स्थितिमें तत्त्व तो रहता है, पर तत्त्वज्ञ (तत्त्वका ज्ञाता) नहीं रहता अर्थात् व्यक्तित्व (अहं) पूर्णतः मिट जाता है। व्यक्तित्वके मिटनेपर राग-द्वेष कौन करे? और किससे करे? उसके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्मतत्त्वकी सत्ताका भाव नित्य निरन्तर जाग्रत् रहता है। अन्तःकरणसे अपना कोई सम्बन्ध न रहनेपर उसका अन्तःकरण मानो जल जाता है। जैसे गैसकी जली हुई बत्तीसे विशेष प्रकाश होता है, वैसे ही उस जले हुए अन्तःकरणसे विशेष ज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

जिस प्रकार परमात्माकी सत्ता-स्फूर्तिसे संसारमात्रका व्यवहार चलते रहनेपर भी परमात्मतत्त्व-(ब्रह्म-)में किञ्चित् भी अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुषके स्वभाव (गीता ३।३३), जिज्ञासुओंकी जाननेकी अभिलाषा (गीता ४।३४) और भगवत्प्रेरणा (गीता १८।६१)—इनके द्वारा तत्त्वज्ञ पुरुषके शरीरसे सुचारुरूपसे व्यवहार होते रहनेपर भी उसके स्वरूपमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं आता। उसमें स्वतः-

* गीता-(३।२१)का साक्ष्य है—
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वह-वह ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ (वचनोंसे) प्रमाण कर देता है, मनुष्य-समुदाय उसीका अनुसरण करने लग जाता है।'

सिद्ध निर्लिप्तता रहती है* । जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक उसके अन्तःकरण और बहिःकरणसे आदर्श व्यवहार होता रहता है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे अतीत एवं प्राकृत दृष्टियोंसे अगोचर जो सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व है, वही सम्पूर्ण दर्शनोंका लक्ष्य एवं सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम साध्य है। उसका अनुभव करके कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जानेके लिये ही मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। मनुष्य यदि चाहे तो कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग—किसी भी एक योगमार्गका अनुसरण करके उस तत्त्वको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। उसे चाहिये कि वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको महत्त्व न देकर विवेक-विचारको ही महत्त्व दे और 'असत्' से माने हुए सम्बन्धमें सद्भावका त्याग करके वास्तव 'सत्' का अनुभव कर ले।

सत्‌की अनुभव-प्रक्रियामें सत्ताको समझना प्रसंग-प्राप्त है। सत्ता दो प्रकारकी होती है—पारमार्थिक और सांसारिक। पारमार्थिक सत्ता तो स्वतःसिद्ध (अविकारी) है, पर सांसारिक सत्ता उत्पन्न होकर होनेवाली (विकारी) है। साधकसे भूल यह होती है कि वह विकारी सत्ताको स्वतःसिद्ध सत्तामें मिला लेता है, जिससे उसे संसार सत्य प्रतीत होने लगता है, अर्थात् वह संसारको सत्य मानने लगता है† । इस कारण वह राग-द्वेषके वशीभूत हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह विवेक-दृष्टिको महत्त्व देकर पारमार्थिक सत्ताकी सत्यता एवं सांसारिक सत्ताकी असत्यताको अलग-अलग पहचान ले। इससे उसके रागद्वेष बहुत कम हो जाते हैं। विवेकदृष्टिकी पूर्णता होनेपर साधकको तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिससे उसमें रागद्वेष सर्वथा मिट जाते हैं और उसे भगवत्तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

भगवत्तत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें परिपूर्ण है। अतः उसकी प्राप्ति किसी क्रिया बल, योग्यता,

---

* गीता-(१३ । ३१) का वचन है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

'हे अर्जुन ! अनादि होनेसे तथा निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। और,

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ (गीता १४ । २२)

'हे अर्जुन ! गुणातीत पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है।'

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ (गीता १४ । २३)

'जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ, गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता।'

† अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥ (दृग्दृश्यविवेक २०)

'अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम—इन पाँचोंमें प्रथम तीन ब्रह्मके रूप हैं और अन्तिम दो जगत्‌के।'

—इस श्लोकमें आया 'अस्ति' पद परमात्माके स्वतःसिद्ध (अविकारी) स्वरूपका वाचक है और निरुक्त (१ । १ । २)के अनुसार—

'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति।'

'उत्पन्न होकर सत्तावान् होना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट होना—ये छः विकार कहे गये हैं।'

यहाँ आया हुआ 'अस्ति' पद संसारके विकारी स्वरूपका वाचक है। तात्पर्य यह है कि इस विकाररूप 'अस्ति' में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है; यह एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता।

अधिकार, परिस्थिति, सामर्थ्य, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय इत्यादिके आश्रित नहीं है; क्योंकि चेतन-(सत्य-) की प्राप्ति जड़ता-(असत्य-) के द्वारा नहीं, अपितु जड़ताके त्यागसे होती है ।

मनुष्य यदि अपने ही अनुभवका आदर करे तो उसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्ति हो सकती है । यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिकी अवस्थाएँ तो परिवर्तनशील तथा अनेक होती हैं, पर इन अवस्थाओंको जाननेवाला अपरिवर्तनशील तथा एक रहता है । यदि अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अतीत न होता, तो अवस्थाओंकी भिन्नता, उनकी गणना, उनके परिवर्तन (आने-जाने), उनकी सन्धि और उनके अभावका ज्ञाता (जाननेवाला) कौन होता ? ये अवस्थाएँ 'अहं'-(जड़से माने हुए सम्बन्ध-) पर टिकी हुई हैं और 'अहं' सत्यतत्त्वपर टिका हुआ है । तात्पर्य यह है कि एक सत्यतत्त्वके सिवा अन्य किसी भी अवस्था आदिकी और माने हुए 'अहं' की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । इस प्रकार अवस्थाओंसे तथा 'अहं'से अपने-आप-(स्वरूप-) को अलग अनुभव करनेपर तत्त्वज्ञान हो जाता है । तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर 'अहं' और 'अहं'-की अवस्थाओंकी स्वतन्त्र सत्ता सत्यत्वेन किञ्चित् भी नहीं रहती । जिस प्रकार समुद्र और लहरोंमें सत्ता जलकी ही है, समुद्र और लहरोंकी किसी भी कालमें कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; अपितु जल ही जल शेष रहता है उसी प्रकार अहं और अवस्थाओंमें एक भगवत्तत्त्वकी सत्ता है अर्थात् सर्वत्र एक भगवत्तत्त्व ही शेष रह जाता है; इसीको 'वासुदेवः सर्वम्' कहा है ।

योगेश्वर पिप्पलायन-द्वारा भगवत्तत्त्वका वर्णन

(लेखक—पूज्यपाद संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीजी महाराज)

श्रीभगवान् निर्गुण एवं कारणरहित हैं, सबके कारण हैं । श्रीभगवान् प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणोंद्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते । तथापि इन सबके द्वारा सिद्ध न होनेपर भी उनका बोध तो होता ही है । एक बार नौ योगीश्वर महाराज निमिकी सभामें गये । वहाँ महामुनि पिप्पलायनने निमिके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
स जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३५)

'राजन् ! श्रीमन्नारायण सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयके कारण हैं ।' भगवान् कारणरहित हैं, उनका कोई कारण नहीं । वे ही कार्य हैं, वे ही कारण हैं और वे ही करण हैं । वे ही निमित्त कारण हैं, वे ही उपादान कारण हैं । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्था कही गयी हैं । जाग्रत्में वे ही विश्वरूपसे नेत्रोंमें रहते हैं । स्वप्नमें वही तैजस-रूपसे आत्मामें रहते हैं, सुषुप्तिमें वे ही प्राज्ञरूपसे आत्मामें रहते हैं । वे अवस्थाओंके साक्षीरूपसे भीतर-बाहर सर्वत्र हैं । वे ही देखते, सुनते सब कुछ करते हैं, पर कहीं लिप्त नहीं होते । जड़ तत्त्वोंमें जो जीवन प्रदानकर इन सबको व्यापारमें प्रवृत्त करता है, उसे तुम परात्पर नारायणतत्त्व समझो ।'

अग्निके विस्फुल्लिङ्ग जैसे अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकते, इसी प्रकार मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ उन प्रभुकी सिद्धि करनेमें असमर्थ हैं । राजन् ! ये सब तो जड हैं, इन सबमें तो चैतन्यता वे ही प्रदान करते हैं । शास्त्र भी उन्हें प्रत्यक्ष नहीं निषेध वृत्तिसे बताते हैं । जैसे किसी स्त्रीका पति दस आदमियोंके बीचमें बैठा

है, उसकी सहेली पूछती है तेरे पति वे हैं? तो वह नकारात्मक सिर हिलाती है। फिर पूछती है, वे हैं? फिर सिर हिला देती है। जब पतिकी ओर संकेत करती है तो लजाकर चुप हो जाती है। वह सहेली इस संकेतसे समझ जाती है कि अमुक वे हैं। इसी प्रकार देह ब्रह्म नहीं, इन्द्रिय ब्रह्म नहीं, उसके विषय ब्रह्म नहीं, मन ब्रह्म नहीं, बुद्धि ब्रह्म नहीं, चित्त ब्रह्म नहीं, अहङ्कार ब्रह्म नहीं। इसी प्रकार नहीं-नहीं करते-करते, जो शेष रह जाय, वही ब्रह्म है। अनात्म पदार्थोंका निषेध करते-करते जहाँ निषेधकी अवधि हो जाय, वही ब्रह्म है, वही नारायण है।

स्पष्ट है कि मन, वाणी, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ ब्रह्म नहीं हैं, किंतु इनसे विलक्षण कोई ब्रह्म अवश्य है, यह अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होता है। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, जो वस्तु दीखती तो नहीं है, किंतु उसका अनुमान लगाते हैं। जैसे 'शशक'के शृङ्ग नहीं होते—इस कथनसे इतना ही सिद्ध है कि शशक नामक जीवके सिरपर सींग दिखायी नहीं देते। सींग नामक वस्तु संसारमें अवश्य है और वह चार पैरवाले पशुओंके सिरपर उत्पन्न होते हैं। यदि 'सींग' नामक वस्तुका अभाव ही होता, तो यह कहना असंगत था, व्यर्थ था कि शशकके सींग नहीं। सींगोंकी प्राप्ति ही नहीं थी तो निषेध क्यों किया जाय? निषेध किया, इससे यह सिद्ध हो गया कि सींगोंका अस्तित्व है। वेदोंमें नेति-नेति शब्द है, इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि ये मायिक पदार्थ नारायण नहीं; इनसे विलक्षण एक नारायण है, जब यह संसार नहीं था, ब्रह्म तब भी था, अब यह जगत् दीखता है तब भी है, जब जगत् न रहेगा, ब्रह्म तब भी रहेगा।'

आमके पेड़के पूर्व जैं गुठली एक ही थी, जब भूमिमें गाड़ दी गयी, तो उस गुठलीसे अंकुर हो गया, उसीमेंसे पत्ते निकल आये। फिर शाखाए निकलीं, शाखाओंमेंसे प्रशाखाएँ हुईं, उनमें फूल निकल आये, फल लग गये। फलोंमें गुठली लग गयीं, उस गुठलीसे ही इतनी वस्तुएँ हो गयीं। अन्तमें फिर गुठलीकी गुठली हो गयी। एक गुठलीसे अनेक हो गयीं। उन सबमें बीज रूपसे तो एक ही शक्ति विद्यमान है। सब बीजसे अनेक वस्तुएँ हुईं, फिर अन्तमें बीजका बीज ही। वृक्षसे पहिले भी बीज था। सम्पूर्ण वृक्षमें भी बीज व्याप्त था। फिर बीज होनेपर उसमें वृक्ष बनानेकी पूर्ण शक्ति है। अनेकत्वमें बीज शक्तिरूपसे एकत्व छिपा है। इसी प्रकार सृष्टिके आदिमें एक ब्रह्म ही ब्रह्म था। वही ब्रह्म सत्त्व, रज और तम इस प्रकार त्रिवृत् प्रधानरूपमें परिणत हो गया।

जबतक नख-बाल चैतन्यके साथ सम्बन्ध है, जबतक जड़ होते हुए भी बढ़ते हैं। उन्हें काटकर देहसे पृथक् कर दो या शरीरसे प्राणोंको पृथक् कर दो, उनमें वृद्धि न होगी। इसी प्रकार देह, मन, प्राणादि जड़ होनेपर भी चैतन्यके संसर्गसे सब कार्य करते हैं। सत्त्वगुणका कार्य है ज्ञान, रजोगुणका कार्य है क्रिया और तमोगुणका कार्य है दाप लेना, इसीलिये वही प्रधान तत्त्व ज्ञानमय होनेसे महत्तत्त्व कहलाता है, क्रियात्मक होनेसे उसीका नाम सूत्रात्मा है और जीवकी उपाधि होनेसे उसीकी अहंकार संज्ञा हो जाती है। फिर वही अहंकाररूप ब्रह्म सत्त्व, रज और तम तीन गुणोंके कारण दसों इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवरूपमें, दस इन्द्रियोंके रूपमें, पाँच भूतोंके रूपमें, पाँच तन्मात्राओंके रूपमें भासने लगता है। यह सब होनेपर भी उसमें वृद्धि नहीं, ह्रास नहीं। जैसे सुवर्ण जब खानमें था तब भी सुवर्ण ही था, कनक-कुण्डल कहलानेपर भी चारों ओरसे सुवर्ण-ही-सुवर्ण है, कनककुण्डलकी उपाधिको त्याग देनेपर भी सुवर्ण है। वह नाम, रूप उपाधिसे रहित है, सदा रहनेवाला है, एकरस है। नामरूप उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

इसी प्रकार सत्-असत्, दृश्य-अदृश्य तथा इसके परे भी जो कुछ है, वह ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं है। कुछ भी किंचित् भी नानात्व नहीं है। उन परमात्मा भगवान् नारायण ब्रह्मका न कभी जन्म होता है न मरण। न वे घटते हैं, न बढ़ते हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ ब्रह्म प्रविष्ट न हो। एक कटोरेमें जब मुखतक दूध भरा है तो उसमें दूसरी वस्तुके लिये स्थान ही कहाँ है। इसी प्रकार ऐसा कहीं, कोई तनिक भी स्थान खाली नहीं, जहाँ ब्रह्म परिपूर्ण-रूपसे व्याप्त न हो। वे तो सर्वव्यापक हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं, अच्युत हैं तथा ज्ञानरूप हैं।

चैतन्यके अधिष्ठानसे देहमें ये सब अवस्थाएँ होती हैं। ब्रह्म तो साक्षी रूपसे देखता रहता है। जैसे भवनमें दीपक जल रहा है, वह सब वस्तुओंको प्रकाशित कर रहा है, प्रकाशमें आप पुस्तक लिखें, निषिद्ध काम करें, जो भी चाहें करें, दीपक तटस्थभावसे प्रकाश प्रदान करता रहेगा। अच्छे-बुरे किसी कर्ममें वह लिप्त नहीं होगा, सबको देखता रहेगा। जब दीपकका अदर्शन हो गया, तब वस्तुएँ भी प्रकाशित न होंगी। कार्य भी न हो सकेगा। ब्रह्म ही अनेक रूपोंमें अनेक नामोंसे प्रतीत हो रहा है। जैसे एक व्यक्ति है, जब वह यात्रा करता है तो लोग उसे यात्री कहते हैं, पढ़ने जाता है तो उसकी विद्यार्थी संज्ञा हो जाती है, जब वह मौर बाँधकर विवाह करने चलता है तो दूल्हा कहलाता है, पढ़ाने जाता है तो अध्यापक कहलाता है; स्थान और कार्यभेदसे उसकी संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं; जैसे एक ही प्राणके स्थानभेदसे अपान, समान और व्यान आदि नाम हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मकी विविध रूपोंमें प्रतीति हो रही है। अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज—इन सभी प्रकारके प्राणियोंमें प्राण हैं। जीव जिस योनिमें जाता है, प्राण उनका वैसे ही रूपसे अनुसरण करते हैं।

सभी प्राणियोंको नित्य आत्माका अनुभव होता है, आत्मानुभव न हो तो यह प्राणी जीवित ही न रहे। देखिये, गाढ़ निद्राके समय ये बाह्य विषय नहीं रहते। इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहङ्कार भी लीन हो जाता है। उस समय जीवात्मा परमात्मासे मिलकर सुखका अनुभव करता है; क्योंकि सुखस्वरूप तो भगवान् ही हैं। सोकर उठनेपर हम कहते हैं कि आज तो बड़ी ही मीठी-मीठी नींद आयी, सुखपूर्वक सोये। अब सोचिये जब इन्द्रियाँ, मन, अहंकार—सभी जहाँ नहीं थे, वहाँ सुखका अनुभव किसने किया? कहना न होगा, कूटस्थ आत्मा ही उस अवस्थामें भी जागता हुआ उस सुखका अनुभव करता है।

बढ़ी हुई तीव्र भगवद् भक्तिरूप अग्नि जीवके चित्तपर जमी हुई काई या जालको जला देती है। विशुद्ध चित्त हो जानेपर ब्रह्मका प्रकाश स्वयं ही दिखायी देने लगता है। अशुद्ध चित्त ही संसारको प्राप्त करता है, वही विशुद्ध बन जानेपर ब्रह्म साक्षात्कारमें कारण बन जाता है, अतः आप निरन्तर भगवान्‌की भक्ति करें। चित्तके शुद्ध होनेका भगवान्‌की भक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई भी सरल, सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं। जो भी कर्म करें, भगवान्‌के निमित्त करें, यज्ञरूप श्रीमन्नारायणको प्रसन्न करनेके निमित्त कर्म करें। यज्ञके अतिरिक्त, भगवत् परिचर्याके अतिरिक्त जो भी कर्म हैं सब बन्धनके हेतु हैं—पुनः-पुनः संसारकी प्राप्ति करनेमें कारण हैं। कर्म तो बन्धनके कारण हैं, किंतु वे ही कर्म यदि कुशलतापूर्वक किये जायँ तो मुक्तिके हेतु हो जाते हैं। अतः कर्म न करके कर्मयोग कीजिये। कर्मोंको अनासक्त होकर करनेसे वे बन्धनमें नहीं डालते, यही कर्मयोगकी विशेषता है। एकमात्र 'बुद्धियोग'के सहारे ही कर्ता कर्मबन्धनसे बचता है अतः योग ही उनसे बचनेका कौशल है—**'योगः कर्मसु कौशलम्।'**

सगुण-निर्गुण ब्रह्म

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वती)

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निः पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं यथा देहे तथाऽऽत्मास्ति शरीरिणाम्॥
(योगवासिष्ठ, चाणक्यनीति ७ । २१)

'जैसे फूलमें गन्ध, तिलमें तैल, काष्ठमें अग्नि और दूधमें घृत दिखायी न पड़नेपर निराकार रूपसे उनमें इनकी व्याप्ति या स्थितिका अनुमान होता है, उसी प्रकार सगुण शरीरमें आत्मा व्याप्त है। उसे विवेक और विचारके द्वारा देखा या साक्षात्कार किया जा सकता है'—

'मुदिता मथै बिचार मथानी।'

परमात्मा निर्गुण-निराकार होते हुए सगुणरूपका भी धारयिता है। उसीकी सत्तासे सगुणका महत्त्व रहता है। जिस समय सगुण पुष्पसे निराकार सुगन्ध और प्रत्यक्ष तिलसे उसमें व्याप्त तेल निकाल लिया जाता है, तब पुष्प और तिल प्रायः निःसार व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीरमें व्याप्त चैतन्यके निकलते ही शरीर मिट्टीके समान हो जाता है। सगुण-निर्गुण तत्त्वतः एक ही हैं, ब्रह्म व्यापक होते हुए भी सगुणके बिना व्यक्त नहीं हो सकता और निर्गुण सत्ताकी अभिव्यक्ति बिना कोई विशेष अर्थ नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद्का मन्त्र है—**'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'** (३ । ७ । ३) 'जो पृथ्वीमें रहता हुआ पृथ्वीका नियमन करता है, पृथ्वी जिसको नहीं जानती, पर पृथ्वी जिसका शरीर है, वह अन्तर्यामी अमृतरूप आत्मा है।' मृत्तिकासे निर्मित घट-सुराही, सकोरा, कुल्हड़ आदि विभिन्न नामोंके आकार भिन्न-भिन्न होते हैं, किंतु उनमें मृत्तिका सर्वत्र समान है। मृत्तिका हटा देनेपर घट-सुराही आदिका कोई अस्तित्व नहीं—**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'** (छान्दो० उप०) वाणी इनमें नाममात्रका भेद है, वस्तुतः सब मृत्तिका ही हैं। स्वर्णसे बने आभूषण चाहे कितने ही नाम-रूपोंमें हों, किंतु स्वर्णसे पृथक् कुछ नहीं है—

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत्॥
(योगवासिष्ठ)

सुवर्णसे बने आभूषण सुवर्ण ही होते हैं, वैसे ही ब्रह्मसे उत्पन्न संसारकी ब्रह्मसे पृथक् कोई सत्ता नहीं होती है। ब्रह्मरूप होते हुए भी प्राकृत जन संसारको एवं सगुण परमात्माको पृथक् ही देखते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—'अर्जुन! अज्ञानी जन मेरे दिव्य अप्राकृत निर्गुण रूपको न जानकर साधारण पञ्चभूतोंवाला समझते हैं'—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
(गीता ९ । ११)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७ । २५)

'अर्जुन! मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सभीका स्वामी होता हुआ प्रकृतिके सहारे संकल्पके द्वारा अवतार धारण करता हूँ'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४ । ६)

तत्त्वतः सगुण-निर्गुणमें भेद नहीं है जैसे जल और हिममें।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जिमि हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

माता पार्वतीको जब रामके ब्रह्म होनेमें संदेह हुआ और जिज्ञासापूर्वक पूछती हैं—'जौं नृप तनय तौ ब्रह्म किमि।', तब चन्द्रमौलि भगवान् शिव कहते हैं—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

पुत्र-लालसासे जब मनु-शतरूपाने तप किया, तब वरदान देते हुए कहते हैं—

इच्छा मय नर बेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।

वेद जिसे नेति-नेति कहकर मौन हो जाते हैं, वही व्यापक ब्रह्मतत्त्व सगुण रूप धारण करके भक्तोंकी इच्छा पूरी करता है—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा।'

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥
ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद॥

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

रूपके ज्ञानके बिना भी नामके प्रभावसे रूप सामने प्रकट हो जाता है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

भक्तोंके लिये सगुण तथा ज्ञानियोंके लिये निर्गुण रूपकी व्याख्या महापुरुषोंने ही की है। यथार्थमें परमात्मा ही सगुण-निर्गुण सब हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।

सगुण-निर्गुणका समन्वय

ज्ञान और अज्ञान, अन्धकार और प्रकाशकी भाँति निर्गुण भी सगुण सापेक्ष है और निर्गुणकी उपासना बिना सगुणाराधनाके सम्यक्तया संभव नहीं है। महात्मा तुलसीदासका विश्वास है कि—

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास। निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

(दो० २५१)

'जो अज्ञान कहनेके बिना ज्ञानका वर्णन कर दे, तमका वर्णन किये बिना प्रकाशका (महत्त्व) कह दे और सगुणका वर्णन किये बिना निर्गुणका वर्णन कर दे, वह गुरु और (मैं) तुलसीदास उसका दास (चेला) है अर्थात् ऐसा कोई कह नहीं सकता; क्योंकि ये सापेक्ष सम्बन्धी हैं, एकके बिना दूसरेकी स्थिति नहीं हो सकती। अतः उभयको मानकर चलना चाहिये। जीवनके लिये समन्वयात्मक साधना अपनाना ही उत्तम है। महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं कि—

हिय निरगुन नयननि्ह सगुन रसना राम सुनाम। मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।

(दोहावली ७)

'हृदयमें निर्गुण ब्रह्मका विचार करते और नेत्रोंसे सगुण ब्रह्मकी लीला एवं उनके अर्चावतारको देखते हुए रसना (जिह्वा) से श्रीरामजीके सुन्दर नामका रसास्वादन करना—ऐसा है, मानो सोनेके सम्पुट-(डब्बे-)में मनोहर रत्न सुशोभित हो।'

---

*

परमात्मा और उनके अवतारोंका रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज, फ्लारिडा, अमेरिका)

वस्तुतः सभी नाम एवं रूपोंके अन्तर्गत एकमात्र ईश्वर ही परमतत्त्व है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह सगुण भी है और निर्गुण भी। निर्गुणरूपमें वह निराकार, अनन्त और शरीर, मन आदिसे रहित है। सगुणरूपमें उसके सत्य-ज्ञान अनन्त सच्चिदानन्दघन आदि रूप हैं। ईश्वर संसारका उपादान एवं निमित्त-कारण भी है। **'जन्माद्यस्य यतः'** ब्रह्मसूत्र (१।१।२) आदिमें इसका विस्तारसे निरूपण है। टामस ऐक्यूनसने ईश्वरके अस्तित्वमें पाँच प्रमाण बतलाये हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—सभी गतिशील वस्तुएँ किसी स्थान अचल वस्तुके सूचक हैं। ईश्वर ही स्वयं अचल होकर सबोंको संचालित कर रहा है।

२—संसारकी सभी वस्तुएँ अपनी कारण-परम्परामें निबद्ध हैं। इनमें परमात्मा ही सबका मूलकारण, मूलाधार तथा स्वयं निर्मूल निराधार एवं निष्कारण है—**'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'** (सांख्यदर्शन १।६७)।

३—संसारकी सभी वस्तुएँ अपूर्ण हैं, जो किसी पूर्ण पदार्थतत्त्वकी सूचना देती हैं। वे पूर्णतत्त्व परमात्मा ही हैं।

४—सभी वस्तुओंका मूल्य सीमित है। परमात्मा ही सबसे मूल्यवान् तत्त्व है, जिसकी सीमा नहीं।

५—सबमें कुछ समझदारी और एक दूसरेसे अधिक ज्ञानकी परम्परा दीखती है। परमात्मा ही सर्वाधिक ज्ञानी एवं बुद्धिमान् है। वेदोंके पुरुषसूक्तमें भगवान्के द्वारा संसारकी उत्पत्तिका विस्तारसे निरूपण है। गीताके दूसरे अध्यायमें भी परमात्मतत्त्वका १४ से ३२ श्लोकोंतक यथार्थ वर्णन है। यह विश्वसाहित्यमें अद्भुत एवं बेजोड़ है।

परमात्माकी अन्य किसीसे तुलना नहीं है। पर परमात्मा—उसका ध्यान छोटे रूपसे ही प्रारम्भ किया जा सकता है। मूर्तिपूजाके पीछे भी यही रहस्य है। जैसे अमृतसमुद्रकी सभी बूँदें अमरत्वके गुणसे संयुक्त होती हैं, वैसे ईश्वरका अंश जीवात्मा भी ईश्वरके सभी गुणोंसे संयुक्त होता है और फिर राम-कृष्ण आदि अवतारोंकी बात ही क्या? उनका उस रूपमें ध्यान करना उपासनाकी बड़ी सुगम पद्धति है। विश्वब्रह्माण्डके रूपमें व्याप्त विराट्-रूपकी उपासना बड़ी कठिन है। यही कारण है कि वेदके जिन ऋषियोंने ईश्वरके विराट्-रूपकी बात कही, उन्होंने भगवान्का 'इन्द्रगोप'*के रूपमें वर्णन किया, अर्थात् परमात्मा इन्द्रगोप-कीटकी उपमावाला है। यथा—**'अयं इन्द्रगोपः।'** (ऋक् ८।४६।३२)

ईश्वर एक है, पर उसकी पूजाकी पद्धतियाँ अनेक हैं। प्रत्येक मस्तिष्कमें उसकी भिन्न-भिन्न रूपरेखा दीखती है; क्योंकि प्राणियोंकी रुचि भिन्न प्रकारकी होती है। इसका मुख्य कारण है—सत्त्वादि गुणोंकी न्यूनाधिकता। इसके अतिरिक्त एक व्यक्तिके ही आगे-पीछेसे तथा अलग-अलग अलंकरण-उपकरण आदिसे लिये गये चित्र भिन्न-भिन्न—अलग-अलग ढंगके होते हैं। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें भी है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, दुर्गा सब उसीके भिन्न-भिन्न रूप हैं।

प्रत्येक हिन्दू व्यक्तिका एक अलग इष्ट देवता होता है। वह उसके चयनमें स्वतन्त्र है। तथापि प्रकारान्तरसे ये सभी आराधनाएँ उस एक परमात्माकी हैं। हिन्दू-देवता-देवियोंके कुछ अद्भुत रहस्य हैं। मनकी बातें भाषाओंसे व्यक्त होती हैं, पर हृदयकी बात मुद्राओंसे व्यक्त होती है। हर मुद्रा एवं मन्त्रका प्रभाव होता है। भक्त अपने इष्ट देवताका सभी देवताओंमें दर्शन करता है।

दस अवतारोंका रहस्य

साधन-मार्गमें मनुष्यका धीरे-धीरे उत्थान होता है। वह बाह्य जगत्से इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शुद्ध चित्त, सत्तत्त्व या पूर्ण तत्त्वकी ओर चलता रहता है, पर साधनाका

* इन्द्रगोप एक ऐसा कीट होता है, जो—रेशमके कीड़ेके समान सुकुमार एवं बैगनी रंगका होता है। गणेशजीकी शरीर-कान्ति भी इन्द्रगोप-जैसी कही गयी है—'इन्द्रगोपसमानश्रीः' (गणेशसहस्रनाम ७२)।

स्वरूप अध्यात्मतत्त्वके समझे बिना पूरा नहीं होता । यह आध्यात्मिक ज्योति ही है, जो मनुष्यकी सभी प्रकारकी प्रगतियोंमें सहायिका होती है । साधक इस परमात्मतत्त्वकी साधनामें एक सीढ़ीसे दूसरी सीढ़ीपर चढ़नेकी तरह ऊपर बढ़ता है । परमात्मयोगसे मनुष्य शीघ्र प्रगति करता है, क्योंकि उधरसे भगवान्‌का साधकमें भी अवतरण होता जाता है ।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि योगका आश्रय लेकर मैं धर्मकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर अवतार लेता हूँ । साधुओंकी रक्षा एवं दुष्टोंका दमन करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ (गीता ४ । ७, ८) । इसी प्रकार दिव्य शक्तियाँ भी समय-समयपर पृथ्वीपर अवतरित होती हैं । उनके चरित्र भी साधकोंके लिये लाभकर होते हैं । भगवान्‌के असंख्य अवतार हैं । इनमें चौबीस प्रसिद्ध हैं । उनमें भी मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण और बुद्ध ये दस अवतार विशेष प्रसिद्ध हैं ।

मत्स्यावतार—यह सृष्टिके प्रारम्भमें हुआ था । जब समस्त विश्व जलसे घिरा हुआ था, उस समय एक मन्वन्तरकी समाप्ति हो रही थी । भगवान्‌ने वैवस्वत मनु सत्यव्रतकी रक्षाकर अग्रिम नवीन सृष्टिके बीजोंका आरम्भ किया था । यह कथा बाइबिलमें नोवाकी तरह है ।

कच्छप-अवतार—इसके द्वारा भगवान्‌ने समुद्र-मन्थन और अमृत-उत्पादनमें सहायता की थी । पुराणोंमें इसका विस्तृत वर्णन है । आध्यात्मिक दृष्टिसे मनुष्यका मस्तिष्क ही समुद्र है और कच्छप उसमें दैवी हलचल है । उसमें ध्यान, समाधि एवं संयमके द्वारा अनन्त शक्तिरूप अमृतकी उत्पत्ति होती है ।

वराहावतार—इसके द्वारा भगवान्‌ने वेदोंका उद्धार कर हिरण्याक्षका दमन किया । वराह तामसी प्रकृतिके भी उद्धारणके उपलक्ष्यमें है । यह तामसी प्रकृति कभी-कभी काली और दुर्गाके रूपमें भी अवतरित होती है ।

वामनावतार—इसमें भगवान्‌ने बलिपर विजय प्राप्त की थी । उन्होंने बलिके पास जाकर तीन डग भूमि माँगी । अहंकारी राजाने दानकी स्वीकृति दे दी । उसी समय भगवान्‌ने विराट्‌रूप धारणकर दो डगोंमें पृथ्वी और स्वर्गको नाप लिया । राजाने तृतीय डगमें अपने शरीरको दिया । बलिको बन्धनमें डालकर पाताल भेज दिया । इससे आत्मनियन्त्रणकी शिक्षा मिलती है ।

नृसिंहावतार—इसमें भगवान्‌ने आधा मनुष्य, आधा सिंहका रूप धारणकर हिरण्यकशिपुका वध किया एवं प्रह्लादकी रक्षा की । प्रह्लाद बड़े भक्त थे । उनके कथनानुसार भगवान् एक पत्थरके खम्भेसे नृसिंहरूपमें प्रकट हुए थे । इसका रहस्य सत्त्वसिद्धिमें है ।

परशुरामावतार—इसमें भगवान् इसलिये अवतरित हुए कि उन्होंने अपने पिता जमदग्निके वधके बदले सम्पूर्ण क्षत्रिय-कुलका इक्कीस बार संहार किया । इसमें अहंकार, पाप, काम, क्रोध, लोभ तथा अन्य आसुरी वृत्तियोंके दमनका तत्त्व निहित है । ये अशुभ संस्कार समाधिमें बाधक होते हैं । भगवान् अपने फरसेसे संसार-वृक्षको काट देते हैं । यह वृक्ष अविद्या या अज्ञानमें बद्धमूल है ।

रामावतार—इसमें भगवान्‌ने रावणादि असुरोंका वध किया था । यहाँ भगवान् विशुद्ध मनुष्यरूपमें अवतरित हुए हैं । वे लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इन चार रूपोंमें विभक्त हुए हैं । प्रारम्भमें कैकयीके वरदानसे वन गये । वहाँ उनकी स्त्री सीताको रावणने चुरा लिया, फिर हनुमान् आदि बंदर-भालुओंके सहारे समुद्रपर पुल बाँधकर वे लङ्का पहुँचे और युद्धमें उन्होंने रावण, कुम्भकर्णादिका संहार कर डाला और विभीषणको लङ्काका राज्य दिया । भगवान् राम समस्त दैवी गुणोंके आश्रय कहे गये हैं । वे अनन्त गुणगणनिलय हैं । भालू और बंदर मन इन्द्रियोंके संयमका प्रतिनिधित्व करते हैं । हनुमान् आत्मशक्तिके द्योतक हैं, जिन्होंने समुद्रको पारकर सीताका पता लगाया । रावण अज्ञानका द्योतक है ।

वह दशों इन्द्रियोंका दास है। कुम्भकर्ण तमःशक्तिका द्योतक है। विभीषण शुद्ध सत्त्वका परिचायक है। भगवान् राम चारों पुरुषार्थके द्योतक हैं, जिनमें राम साक्षात् मोक्ष-स्वरूप हैं।

बलराम—भगवान् विष्णु आध्यात्मिक बलसे युक्त होकर बलरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। ये कृष्णके बड़े भाई थे। उनकी कथाएँ कृष्णके साथ मिली हुई हैं। ये दोनों भाई नन्दके यहाँ पले थे। बलरामजीके कन्धेपर हल नामका आयुध रहता है। बलरामका आध्यात्मिक अर्थ मनोबलसे है। जैसे पृथ्वी हलसे जोती जाती है, वैसे दैवी शक्ति चित्तमें मनोबलके रूपमें अवतीर्ण होती है।

कृष्णावतार—यह भगवान्का पूर्णावतार कहा गया। वैसे मर्यादापुरुषोत्तमकी दृष्टिसे राम भी पूर्ण ब्रह्म हैं। कृष्णके चरित्रोंमें उनकी दिव्यता प्रतिपद प्रकट होती रहती है। वे बंदीगृहमें जनमे, किंतु आकाशवाणीने पहले ही कंसको सूचित कर दिया था कि कृष्णसे उसको प्राणोंका भय है। प्रारम्भिक दिनोंमें कृष्णसे बचनेके लिये उसने अनेक बालकोंको मार डाला था। वह वस्तुतः कृष्णको ही नष्ट करना चाहता था पर, उसमें सफल नहीं हुआ। इधर कृष्णके बालकालमें उसके द्वारा भेजे गये अनेक असुर प्रतिदिन नष्ट होते रहे। उधर व्रजके जनमानसमें उनका मधुर आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। गोपियाँ उनके प्रेममें पागल हो गयी थीं। उन्हें देखकर गोपियोंको अद्भुत आनन्द होता था—**'गोपीनां परमानन्दमासीत् श्रीकृष्णदर्शने'** आध्यात्मिक व्याख्यामें गोपियोंका दैवी तत्त्व वेदोंकी सृतियाँ अथवा हृदयमें स्थित विभिन्न वृत्तियोंको रोकनेमें व्याख्यात हुई हैं। जब कृष्ण कुछ बड़े हुए तो उन्होंने कंसको मार डाला, जैसा कि पहले आकाशवाणीद्वारा घोषणा हुई थी। उन्होंने बंदीगृहसे अपने माता-पिताको मुक्त किया। वे गीताके वक्ता महाभारतके महानायक और भागवत आदि पुराणोंके सर्वस्व कहे गये हैं। इनमें उनकी मुक्तिका अनेक रूपोंमें गान किया गया है। जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ विजय, विभूति और नीति-धर्म तथा सभी प्रकारके श्रेय निश्चित-रूपसे उपस्थित रहते हैं। कृष्ण और अर्जुन आध्यात्मिक व्याख्यामें बुद्धि और क्रियाके प्रतीक हैं।

भगवान् बुद्ध—सिद्धार्थ बुद्ध भी विष्णुके अवतार कहे गये हैं। इन्होंने अहिंसाका प्रचार किया। बुद्धकी जीवनी विभिन्न साधनोंके द्वारा निर्वाणके प्राप्त करनेकी शिक्षा देती है। सिद्धार्थ बुद्ध नेपालराजके कपिलवस्तु-स्थित शुद्धोदनके परिवारमें पैदा हुए थे। पहले यह भारतमें था। ज्योतिषियोंने बुद्धके भिक्षुक होनेकी भविष्यवाणी पहलेसे ही कर रखी थी। इसलिये उन्हें भिक्षुओंसे सदा दूर रखा जाता था। पर किन्हीं दिनों रोगी, वृद्ध और मृत व्यक्तिको देख विरक्त होकर वे घर छोड़कर बाहर निकल गये। इसके पूर्व उन्हें राहुल नामका एक पुत्र हुआ था। बुद्धगयामें तपस्या कर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। उनकी जीवनी एक प्रकारसे साधनाओंकी एक लम्बी सूची है।

इस प्रकार मत्स्य आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिकी, कच्छप इन्द्रियोंको अन्तर्मुख रखकर संयम-समाधिकी ओर प्रवृत्त होनेकी, वराह दृढ़ विश्वासकी—चेतना और विनयके विकासकी, नृसिंह—भक्तिके विकासकी, परशुराम अनासक्तिकी, राम अज्ञानके ध्वंसकी, बलराम शुभ वासनाओंके वृद्धिकी, कृष्ण कृत्याकी, बुद्ध अहिंसा आदि साधनाकी और कल्कि दोषोंके अपाचरणकी शिक्षा देते हैं।

साधकको इन अवतारोंसे इस प्रकार शिक्षा ग्रहणकर भगवान्को अपने हृदयदेशमें, फिर आत्मामें अवतीर्ण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् हम लोगोंको साधनाओंमें सफल करें। (मूल अंग्रेजीसे अनूदित)

[अनुवादक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा]

तत्त्व एक दृष्टियाँ अनेक

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज)

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सत्य वास्तवमें एक है, एक ही है। अनेक सत्योंका होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि सत्य अनेक होंगे तो वे सीमित होंगे। देश-कालसे उनका परिच्छेद न भी हो तो भी वस्तुपरिच्छेद तो होगा ही। और, जो सीमित होंगे वे उत्पत्ति-नाशवान् भी होंगे। फिर उन्हें सत्य कैसे कहा जायगा? सत्य तो वही कहा जा सकता है जो त्रिकालाबाधित हो; तीनों कालों—भूत, वर्तमान, भविष्यत कालोंमें एक-सा बना रहनेवाला हो। सच पूछा जाय तो सत्यका यह लक्षण भी अधूरा है। सत्यमें ही तो देश, काल और वस्तु भी कल्पित हैं। अतः उसे त्रिकालाबाधित कहनेकी अपेक्षा कालातीत (कालसे परे) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

परंतु एक होनेपर भी सत्यकी अनुभूति विभिन्न व्यक्तियोंको एक रूपमें नहीं हो सकती। आप संसारकी ही किसी वस्तुको लें। वह एक ही कालमें विभिन्न व्यक्तियोंको एक रूपमें दिखायी नहीं दे सकती। कोई पूर्वमें है कोई पश्चिममें, कोई उत्तरमें है कोई दक्षिणमें; अपनी-अपनी दिशासे देखनेके कारण वे उसे एक रूपमें कैसे देख सकते हैं? इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति किसी भी वस्तुको पूरा नहीं देख सकता। उसे उसका एक ओरका भाग दिखायी देगा, दूसरी ओरका नहीं। और, वह उसके आन्तरिक भागको भी नहीं देख सकेगा। ऐसा कोई उपाय भी नहीं है कि एक व्यक्ति किसी भी वस्तुको एक कालमें पूरा जान सके। यह तो उसके सतही ज्ञानकी बात है। उसमें कितनी शक्ति है और उसके क्या-क्या उपयोग हो सकते हैं—यह सब जानना तो और भी कठिन है—कठिन क्या असम्भव है; क्योंकि अनन्तकी शक्ति भी अनन्त है और प्रत्येक वस्तु उस अनन्तकी ही अभिव्यक्ति है। फिर उसे जीवकी सीमित शक्ति कैसे हृदयङ्गम कर सकती है? उदाहरणके लिये आप एक सोनेका टुकड़ा लें, जिसका वजन एक तोला हो। क्या संसारका कोई भी वैज्ञानिक यह बता सकता है कि इसे केवल इतने आकारोंमें ही परिणत किया जा सकता है? उस सीमित सुवर्ण-खण्डमें भी अनन्त आकार धारण करनेकी शक्ति है।

जब संसारकी छोटी-छोटी नगण्य वस्तुओंके विषयमें हमारा ज्ञान इतना सीमित है तो जो इन सबका अधिष्ठान, सबका रचयिता और सर्वस्व है, उसके विषयमें किसी एक मतका आग्रह होना कहाँकी बुद्धिमानी है? परंतु मनुष्यकी यह कैसी विडम्बना है कि वह अपने मतका कितना आग्रह रखता है और दूसरोंके मतोंको कितनी तत्परतासे झुठलानेका साहस करता है। इस अभिमानने संसारमें कितने संघर्षोंको जन्म दिया है और इसके कारण कितनी खून-खराबियाँ होती आयी हैं। यह सत्य है कि परमार्थको खोजनेके लिये हमें कोई साधनपद्धति स्वीकार करनी होती है अथवा यदि हम विशेष बुद्धिमान् हुए तो किसी नवीन साधनपद्धतिका आविष्कार भी कर सकते हैं। परन्तु यह कहनेका हमें क्या अधिकार है कि जो कुछ हम कहते हैं वही ठीक है और सब भ्रममें हैं। व्यक्ति एक होता है, पर पुत्र उसे पिता कहता है, पत्नी पति कहती है, पिता पुत्र कहता है और बहन भाई कहती है। अपने-अपने सम्बन्धोंकी दृष्टिसे वे सभी ठीक कहते हैं, परंतु उस व्यक्तिकी अपनी दृष्टिमें तो वे सब सम्बन्ध कल्पित ही हैं। निरपेक्ष दृष्टिसे तो वह न पुत्र है, न पिता है, न पति है, न भाई है। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायोंने सत्यके विषयमें जो कुछ कहा

है वह उनकी अपनी दृष्टि और योग्यताके अनुसार सत्य है। परन्तु वे सभी मत परमार्थका केवल स्पर्श ही करते हैं; परमार्थ वास्तवमें क्या है, यह तो परमार्थ स्वयं भी नहीं कह सकता; क्योंकि कहना-सुनना सापेक्ष-दृष्टिसे ही होता है; निरपेक्ष-दृष्टिसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कोई भी वस्तु किसीकी अपेक्षासे बड़ी होती है और किसीकी अपेक्षासे छोटी। वह स्वयं न बड़ी कही जा सकती है न छोटी। यही न्याय सुन्दर-असुन्दर, प्रिय-अप्रिय, ऊपर-नीचे, इधर-उधर इत्यादि सभी द्वन्द्वात्मक उल्लेखोंपर लागू होता है।

इस प्रकार विचार करनेसे निश्चय होता है कि परमार्थके विषयमें विभिन्न सम्प्रदायोंमें जो कुछ कहा गया है वह उनकी अपनी-अपनी दृष्टि और अनुभूतिके अनुसार तो ठीक है, किंतु किसीको भी दूसरे सम्प्रदायकी दृष्टियोंका अपलाप करनेका अधिकार नहीं है। सत्यका साक्षात्कार करनेके लिये किसी साधन-पद्धतिकी आवश्यकता होती है और सब साधकोंकी योग्यता समान अथवा एक ही नहीं होती। अतः विभिन्न योग्यताके साधकोंके लिये आचार्योंने जो साधन-पद्धतियाँ आविष्कृत की हैं वे ही विभिन्न सम्प्रदाय हैं। अतः जिसका कोई सम्प्रदाय नहीं है वह साधक नहीं और जिसे किसी सम्प्रदाय-विशेषका आग्रह है वह सिद्ध नहीं। नदीको पार करनेके लिये नौकाकी आवश्यकता होती है, परंतु नौकाको छोड़े बिना कोई दूसरे तटपर नहीं पहुँच सकता। छतपर चढ़नेके लिये सीढ़ियोंकी आवश्यकता है, परंतु उन्हें छोड़े बिना कोई छतपर नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार संसारको पार करनेके लिये किसी सम्प्रदाय या साधन-पद्धतिका अनुसरण अनिवार्य है, किंतु उसीका आग्रह रहे तो कोई भी संसारातीत परमार्थका साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतः सम्प्रदाय तो साधनरूप हैं, परंतु साम्प्रदायिकता अभिशाप है। इसके कारण पारस्परिक संघर्ष तो होता ही है, लक्ष्यकी उपलब्धि भी नहीं होती।

परमार्थ या सत्यका विचार प्रधानतया तीन दृष्टियोंसे होता है। निजरूपसे, पररूपसे और अन्यरूपसे अथवा यों कहिये कि 'मैं' रूपसे, 'यह' रूपसे और 'वह' रूपसे। ये ही क्रमशः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव दृष्टियाँ कही जाती हैं। जिज्ञासु उसका अध्यात्म-दृष्टिसे विचार करते हैं; भौतिकवादी अधिभूत-दृष्टिसे और भक्तलोग अधिदैव-दृष्टिसे। जिन्हें दृश्यसे वैराग्य है और द्रष्टाकी खोज है वे अध्यात्मवादी हैं। उनकी दृष्टिमें दृश्य स्वप्नके समान केवल द्रष्टाका विलासमात्र है। इनका स्वभावसे ही दृश्यमें वैराग्य होता है। जिनका दृश्यमें राग है और प्रयोगशालाका निर्णय ही जिनका परम प्रमाण है, वे भौतिकवादी हैं। उनकी दृष्टिमें किसी जगत्कर्ताकी सिद्धि नहीं होती और चेतन आत्मा भी प्रकृतिका ही परिणाम है। और, जिनका दृश्यमें न विशेष राग है और न वैराग्य है, किंतु जो किसी अलौकिक प्रेमास्पदको आत्मसमर्पण करनेके लिये उत्सुक हैं, वे अधिदैववादी हैं। ये ही क्रमशः ज्ञानी, कर्मी और भक्त कहे जाते हैं। परंतु कोई ऐसा भी तो है जिसमें ये तीनों दृष्टियाँ स्फुरित हैं। वह इनमेंसे किसी दृष्टिका विषय नहीं होता, अथवा यों कहिये कि ये तीनों दृष्टियाँ अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उसीकी खोज करती हैं। ये भले ही उसे विभिन्न रूपमें देखती हों, परंतु देखती तो उसीको हैं; अतः अपनी-अपनी दृष्टिसे ये सभी ठीक हैं। परंतु उसकी दृष्टिसे तो ये केवल उसके एक-एक पक्षका ही अनुभव करती हैं। ज्ञानी बुद्धिदृष्टिसे देखते हैं, कर्मी इन्द्रियदृष्टिसे देखते हैं और भक्त भावदृष्टिसे देखते हैं। मनुष्यको ये तीनों दृष्टियाँ प्राप्त हैं; तथापि एक-एक दृष्टिकी प्रधानता होनेके कारण उनकी अनुभूतियाँ एकाङ्गी या अपूर्ण हैं। पूर्ण दृष्टि तो तीनोंसे विलक्षण ही है।

अध्यात्मवादी सबका अत्यन्ताभाव* देखता है अथवा सबको अपनी दृष्टिका ही विलास समझता है। जब सब उसीकी दृष्टिका विलास है तो किसीसे विरोध क्यों? भौतिकवादी सबको प्रकृतिका विकार मानता है। जड-चेतन सब प्रकृतिमात्र हैं; अतः उसकी दृष्टिमें भी सम्पूर्ण भेदकी सत्ता एकमात्र प्रकृति ही है। जब प्रकृतिसे भिन्न कुछ है ही नहीं तो अपना-पराया या हानिलाभका भी कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि व्यक्तिगत तो उसका कुछ है नहीं। अधिदैववादीकी दृष्टिमें सब भगवान्‌की लीला है। फिर वह क्यों किसीसे राग करे और क्यों किसीसे द्वेष। इस प्रकार इन तीनों निष्ठाओंके साधकोंसे किसीको किसीसे राग या द्वेष करनेका कोई कारण नहीं है। किंतु लोग तो द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार एवं साकारके भी विभिन्न रूपोंमें इतने उलझ जाते हैं कि इन भावोंको लेकर ही उनमें घोर संघर्ष एवं विवाद छिड़ जाता है। ये सभी सन्निवेश अपनी संकुचित दृष्टिके परिणाम हैं, तत्त्वमें इनमेंसे किसीका भी स्पर्श नहीं है। किन्हीं अनुभवी संतने कहा है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥†

इस बातका जरा व्यावहारिक दृष्टिसे विचार कीजिये। आप घटके लिये एक या दो तो कह सकते हैं, परंतु क्या मिट्टीके लिये भी एक मिट्टी या दो मिट्टी—ऐसा कहा जा सकता है? आभूषण एक, दो या दस हो सकते हैं, किंतु क्या सुवर्ण भी एक, दो या दस हो सकता है? गणना परिच्छिन्न वस्तुकी होती है, तत्त्व या अपरिच्छिन्न वस्तुकी नहीं। उसे न एक कह सकते हैं न अनेक। 'एक' शब्द भी वस्तुको सीमित कर देता है। ऐसी ही स्थिति साकार-निराकारकी भी है। भाप निराकार होती है तथा जल और बर्फ साकार होते हैं। परंतु उनके नाम और रूपमें अन्तर होनेपर भी वे तत्त्वतः एक ही हैं। किंतु जिस तत्त्वके कारण उनकी एकता कही जाती है, जिसकी ये तीनों अवस्थाएँ हैं वह क्या है? क्या उसे कभी किसीने देखा है? यदि उसका भी कोई नाम या रूप रखेंगे तो वह भी एक अवस्था हो जायगी, वह तत्त्व नहीं रहेगा। ये तीनों नाम-रूपात्मक हैं और परिवर्तनशील हैं; और वह अनाम, अरूप और अखण्ड है। यद्यपि उसका किसी शब्दसे निर्देश नहीं होता और न किसी इन्द्रियसे ग्रहण ही होता है, तथापि वह है अवश्य। और, यतः वही इन तीन रूपोंमें उपलब्ध होता है, अतः जो इनमेंसे ही किसी एकको तत्त्व मानकर अन्यको उसके विकार बताता है, वह भी व्यावहारिक दृष्टिसे ठीक ही कहता है। इसीसे कुछ लोग परमतत्त्वको निर्गुण-निराकार तथा अन्यको उसमें आरोपित मानते हैं। कोई सगुण-साकार और अन्यको उसकी प्रभा या अंश मानते हैं तथा कोई सगुण निराकार एवं अन्यको उसकी निष्क्रिय अवस्था (सुषुप्ति) एवं अवतार मानते हैं। किन्तु किसी भी रूपमें मानें वे मानते तो उसीको हैं। वह तो सर्वरूप है और सबसे विलक्षण है।

इसी बातको कुछ अन्य प्रकारसे स्पष्ट करनेकी चेष्टा की जाती है। आप सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें तो मालूम होगा कि हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंके सिवा और किसी वस्तुका अनुभव नहीं करते। सुख-दुःख तो हमारी अनुभूतियाँ हैं। उन्हें विषय नहीं कह सकते; और, ये पाँचों गुण ही हैं; इनमें द्रव्य एक भी नहीं है। गुण स्वतः सिद्ध नहीं होता, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती; वह सर्वदा

* अनादिरनन्तोऽभावः अत्यन्ताभावः।

† 'कुछ लोग अद्वैत मानते हैं और कोई दूसरे द्वैत स्वीकार करते हैं। किंतु वे उस सम तत्त्वको नहीं जानते जो द्वैत और अद्वैत दोनोंसे रहित है।' (वस्तुतः वास्तविक तत्त्व वही है।)

किसी द्रव्यके आश्रित होता है। व्यवहारमें मिथ्या उसीको कहते हैं जिसकी प्रतीति तो हो परंतु सत्ता न हो। इस नियमके अनुसार ये पाँचों गुण मिथ्या सिद्ध होते हैं। परंतु इनकी प्रतीति होती है, इसलिये इनका कोई आश्रय या अधिष्ठान अवश्य होना चाहिये। फिर भी इन गुणोंसे रहित इनका आश्रय क्या कभी किसीने देखा है? इस प्रकार प्रतीत होनेवाले गुण तो मिथ्या सिद्ध होते हैं और प्रतीत न होनेवाला इनका अधिष्ठान, जो सत्तामात्र है, सत्य सिद्ध होता है। इस दृष्टिसे तत्त्व निर्गुण-निराकार सिद्ध हुआ और उसमें आरोपित गुण, जो प्रपञ्चरूप हैं, मिथ्या सिद्ध हुए। किंतु जो प्रतीतको सत्य और तत्त्वके अधीन मानते हैं, उनकी दृष्टिमें तत्त्व सगुण-निराकार सिद्ध होता है और जो गुणोंको गुणोंसे अभिन्न मानते हैं उनके लिये तत्त्व सगुण-साकार सिद्ध होता है। उनकी दृष्टिमें गुण प्रकृतिके विकार नहीं चिन्मय हैं। वह चिन्मय सगुण-साकार तत्त्व ही भगवान् शब्दसे कहा जाता है और वही विश्वकल्याण अथवा भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये स्वेच्छासे अवतार लेता है। इस प्रकार अवतारवाद भी युक्तियुक्त ही है। निराकार तो जीव भी है, परंतु अपने कर्मफल-भोगके लिये वह तरह-तरहके शरीर धारण कर लेता है। फिर सर्वसमर्थ ईश्वर विश्वकल्याणके लिये स्वेच्छासे शरीर धारण क्यों नहीं कर सकता? जीवके शरीर कर्म-फलभोगके लिये होते हैं तथा वे पञ्चभूतोंके विकार हैं, इसलिये वे भोग समाप्त होनेपर नष्ट हो जाते हैं; किंतु ईश्वरके शरीर स्वेच्छासे धारण किये जाते हैं और चिन्मय होते हैं, इसलिये वे नष्ट नहीं होते, उनका केवल आविर्भाव-तिरोभाव होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टियोंसे सभी सिद्धान्त साधनमें उपयोगी हैं। सभीके द्वारा परमतत्त्वका स्पर्श प्राप्त होता है। परंतु ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जिसमें परमतत्त्व बँधा हुआ हो। परमतत्त्व किसीकी पकड़में नहीं आता। हाँ, वे उससे बाहर नहीं हैं। इसीसे भगवान् कहते हैं—**'न त्वहं तेषु ते मयि'** (गी० ७। १२)। इसे समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है। हमारे सामने सुवर्णका एक आभूषण है। जिनकी दृष्टिमें सुवर्ण ही आभूषणके रूपमें परिणत हुआ है, वे शुद्धाद्वैती हैं। जो उसे आकारविशिष्ट सुवर्णका परिणाम मानते हैं, वे विशिष्टाद्वैती हैं। जो उसे केवल आकारका परिणाम मानते हैं, वे प्रकृतिपरिणामवादी सांख्यवादी हैं। जो सुवर्ण और आभूषणका भेद मानते हैं, वे द्वैतवादी हैं। जो तत्त्वतः (मुक्तावस्थामें) सुवर्ण और आभूषणका अभेद और व्यवहार-(बद्धावस्था-)में दोनोंका भेद मानते हैं, वे द्वैताद्वैतवादी हैं। किंतु जिनकी दृष्टि तत्त्वप्रधान है, अतः जो सुवर्णको ही सत्य मानते हैं और आभूषणको उसमें कल्पित स्वीकार करते हैं, वे विवर्त्तवादी अद्वैती हैं। उनकी दृष्टिमें सुवर्णरूप तत्त्व परमार्थ है और आभूषणरूप प्रतीति व्यवहार। उनकी दृष्टि तत्त्वप्रधान है। किंतु इन सबसे विलक्षण तत्त्वकी अपनी दृष्टि है। उसमें प्रतीतिका अत्यन्ताभाव है। सुवर्ण किसी भी रूपमें प्रतीत हो वह सुवर्ण ही है। उसकी दृष्टिमें उससे भिन्न आभूषणादि कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार मृत्तिकाकारकी दृष्टिमें घट, जलकी दृष्टिमें तरंग और लोहकी दृष्टिमें कुदालादिका अत्यन्ताभाव है। यही अजातिवाद है। ये सब विभिन्न दृष्टियाँ हैं। अपने-अपने दृष्टिकोणसे सभी ठीक हैं और सभी परमसत्यका ही स्पर्श करती हैं। परंतु इनमें किसीके द्वारा परमार्थका सर्वांशमें यथावत् निरूपण नहीं होता। वह तो अनिर्वचनीय ही है। सारे सिद्धान्त उसीका निरूपण करने चलते हैं, परंतु उस अशब्द पदमें शब्दकी पहुँच

ही नहीं है तो वे किस प्रकार निरूपण करें ? यद्यपि किंवदन्ती ऐसी है कि **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'** (गुरुका मौन रह जाना ही (उसकी) व्याख्या हो गयी और शिष्य संशयसे रहित हो गये), किंतु इसमें भी गुरुदेवकी महिमा और शिष्योंके विशेष अधिकारका ही प्रदर्शन है। जिनमें उत्कट जिज्ञासा नहीं है, वे शिष्य श्रीगुरुदेवके मौनसे क्या ग्रहण करेंगे ? श्रुतिने भी सबका निषेध करके ही तत्त्वका निरूपण किया है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

इस प्रकार जिसमें किसी भी दृष्टिका प्रवेश नहीं है और जिसको सभी दृष्टियाँ स्पर्श करती हैं वही सत्य है, वही परमार्थ है। उसके निर्विशेष होनेपर भी उसकी उपलब्धि सविशेषरूपमें ही होती है। भले ही उसे निर्गुण-निराकारका निर्धर्म कहें, पर इन शब्दोंसे उसकी विशेषता ही सूचित होती है। सुवर्णका अपना कोई आकार नहीं कहा जा सकता, फिर भी क्या बिना आकारका सुवर्ण कभी किसीने देखा है ? आकाश नीरूप है, उसमें न उजाला है, न अँधेरा, तथापि ऐसा आकाश किसीने देखा है, जिसमें न प्रकाश हो और न अन्धकार ? हाँ, इस रूपमें भी हम आकाशको ही देखते हैं। वस्तुका जो निजरूप है वही परमात्मा है और जैसी वह दिखायी देती है वह व्यवहार है। ये दोनों दृष्टियाँ ही हैं, वस्तु तो एक ही है। अतः जो परमार्थदर्शी हैं उसका किसीसे विरोध नहीं होता। उसमें सभी दृष्टियोंका समन्वय हो जाता है। (निष्कर्ष यह कि परमतत्त्व—भगवत्तत्त्व—एक है और उसके दर्शन करनेवाली शास्त्र-दृष्टियाँ अनेक हैं। हमें किसी भी दृष्टिसे उसी एक परम तत्त्वको समझकर आत्मकल्याण साधना है।)

भगवत्तत्त्वकी चर्चा

(लेखक—आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

नानारूपोंसे प्रवहमान ब्रह्माण्ड जिसकी अनुकम्पासे अभिव्यक्ति पाता है, अपनी स्थिति बनाये रहता है और अन्तमें जिस तत्त्वमें वह विलीन होकर अन्तर्हित होता है वही सबसे आदिम तथा सबसे महत्तम तत्त्व होनेके कारण ब्रह्म तथा ईश्वर आदि अनेक अभिधानोंके द्वारा अभिहित किया जाता है। सांख्यदर्शनके अनुसार प्रकृति तथा पुरुष दो मूलतत्त्व माने जाते हैं, परंतु इन दोनोंका भी अन्तर्भाव उसी महनीय तत्त्वमें हो जाता है। प्रकृति व्यक्ताव्यक्त-स्वरूपिणी होती है। फलतः वह सर्वमयी है। व्यक्तरूप अव्यक्तरूपमें लीन हो जाता है। इससे पृथक् जो एक, शुद्ध, अक्षर, नित्य तथा सर्वव्यापक पुरुष है, वह भी सर्वभूत परमात्माका ही अंश है। इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुषके आश्रयभूत परमतत्त्वके नाम, जाति इत्यादिकी कल्पना नहीं होती। वह नामभिन्न तथा जात्यादिभिन्न एक व्यापक सर्वेश्वरस्वरूप सबका परम आश्रय परब्रह्म परमात्मा है और वही ईश्वरके नामसे भी अभिहित किया जाता है। वही इस अखिल विश्वके रूपमें अवस्थित रहता है। सर्वत्र व्यापक होनेके कारण वही परमात्मा वेद तथा वेदान्तमें 'विष्णु' की संज्ञासे सर्वत्र प्रसिद्धि पाता है। योगबलसे योगी लोग उसे प्राप्त कर लेनेपर फिर इस संसारमें नहीं लौटते। फलतः उस परमतत्त्वकी प्राप्ति ही मानव-जीवनके कर्म तथा ज्ञानद्वारा जायमान महती उपलब्धि है। भगवान्की प्राप्तिके स्वरूपका वर्णनपरक यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है—

निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता॥

(विष्णुपुराण ६।५।५९)

'वह भगवत्प्राप्ति संसारमें होनेवाले जन्म-मरण आदि दुःखोंको दूर करनेवाली अचूक ओषधि है। उस ओषधिके सेवनसे जीवको निश्चयेन रोगमुक्ति होती है और सदा-सर्वदाके लिये वह मुक्ति हो जाती है। वह अवस्था नितान्त आह्लाद एवं सुखरूपा है—यह दशा इतनी आह्लादमयी है कि उससे अधिक आह्लादकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।' इस मुक्तिके आह्लादमयत्वकी कल्पनाके लिये न्यायवैशेषिकोंकी मुक्तिसे उसकी तुलना कीजिये।

न्यायवैशेषिकोंकी मुक्ति दुःखहानरूपा है—अर्थात् उसमें दुःखोंका सर्वथा राहित्य (अभाव) रहता है। वह सुखके लेशमात्रसे भी विवर्जित रहती है। दोनोंमें महान् अन्तर होता है। 'नैषधचरित'के कर्ता वेदान्ती श्रीहर्षने इसीलिये न्यायदर्शनके रचयिता 'गौतम'को **'अतिशयेन गौः इति गोतमः'** यह अर्थ स्वीकारकर 'पक्का बैल' बतलाया है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
(नैषधचरित १७। ७५)

'मुक्तावस्थामें आनन्दधाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावनमें सरस विहार करनेकी व्यवस्था बतलानेवाले वैष्णवजन इस नीरस भक्तिकी कल्पनासे घबरा उठते हैं और वे पुकार उठते हैं कि 'वृन्दावनके सरस कुञ्जोंमें शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें स्वीकार है, परंतु हम वैशेषिकोंके द्वारा प्रतिपादित मुक्तिको पानेके लिये कथमपि इच्छुक नहीं हैं'*—

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥
(सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ० २८)

भगवान्के धामकी प्राप्ति होनेपर ही उक्त निरतिशय आनन्दरूपा मुक्तिकी उपलब्धि किस प्रकार होती है—इसी तथ्यका संक्षिप्त विवेचन हम यहाँ कर रहे हैं।

ज्ञान दो प्रकारका माना गया है—१—शास्त्रजन्य तथा २—विवेकजन्य। शास्त्रोंके अध्ययन एवं मननसे जो ज्ञान होता है वह प्रथम प्रकारके अन्तर्गत आता है। वह परोक्ष ज्ञान ही होता है। शास्त्रजन्य ज्ञानके द्वारा जिसकी अवगति होती है वह होता है शब्दब्रह्म। साधकके हृदयमें शास्त्रचिन्तन आदिके द्वारा जब 'विवेक'-ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह सत्य-असत्यका, ऋत-अनृतका, सत्य-मिथ्याका वास्तविक भेद जान लेता है और उससे जो अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उसके द्वारा जिसकी उपलब्धि होती है वह होता है परब्रह्म। इन द्विविध ज्ञानोंके तारतम्यको जाननेके लिये पुराण एककी उपमा 'दीपक'से तो दूसरेकी तुलना 'सूर्य'से करता है। शास्त्रजन्य ज्ञान घोर अन्धकाररूपी अज्ञानको दूर करनेके निमित्त दीपकके समान है तो विवेकजन्य ज्ञान सूर्यके समान देदीप्यमान होता है। इस दृष्टान्तसे हम दोनों ज्ञानोंकी आपेक्षिक दीप्तिमत्ताका तथ्य समझ सकते हैं। विवेकज्ञानसे प्राप्य परब्रह्मके लिये ही 'भगवान्' संज्ञा भी प्रयुक्त की जाती है।

अब 'भगवान्' शब्दके अर्थपर विचार करें। पुराणकी दृष्टिमें भ, ग, व, ये तीन अक्षर—मिलकर इस शब्दके स्वरूपकी निष्पत्ति करते हैं और ये तीनों ही भिन्न-भिन्न धातुओंके आद्य अक्षर होनेसे तत्तत् धातुओंके मुख्य अर्थका प्रातिनिध्य करते हैं। 'भगवत्' शब्दका आद्य अक्षर भकार धारण-पोषणार्थक 'भृ' धातुसे सम्बद्ध होनेके कारण धारण तथा पोषण अर्थका द्योतक माना गया है। द्वितीय अक्षर 'ग' गत्यर्थक 'गम्' धातुसे निष्पन्न होनेसे तीन अर्थोंका द्योतक है—१—कर्मफलकी प्राप्ति करनेवाला (नेता), २—लय करनेवाला (गमयिता) तथा ३—स्रष्टा (उत्पन्न करनेवाला)। प्रथम दोनों अक्षरजन्य 'भग' शब्द विष्णुपुराण-(६।

* किंतु आचार्य सायणने तैत्तिरीयारण्यकभाष्य-(पृ० ४७२ आनन्दाश्रम०सं०)में इस भावुकताका बड़ा उपहास किया है।

५ । ७४) की दृष्टिमें एक विशिष्ट तात्पर्यका बोधक माना गया है; देखिये—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान तथा समग्र वैराग्य—इन छः पदार्थोंका समूहावलम्बनात्मक पद 'भग' निर्दिष्ट किया जाता है। अन्तिम अक्षर 'व' 'वस्' निवासे (निवासार्थक वस् धातु-)से सम्बद्ध होनेसे ऐसे अव्यय परमात्माका सूचक है, जिस अखिल भूताधारमें समस्त प्राणी निवास करते हैं और जो स्वयं अशेष प्राणियोंमें वास करता है।

वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥
(वही, श्लोक ७५)

ऊपर प्रतिपादित समस्त तात्पर्योंको एकत्र समेट-कर हम कह सकते हैं कि भगवान् सबका स्रष्टा, पालयिता, कर्मफलका प्रापक, अन्तमें अपनेमें लीन करनेवाला, सब प्राणियोंमें निवासकर्ता तथा सब प्राणियोंके निवासका आधारभूत अव्यय परमतत्त्व हैं। और, उन्हींकी प्राप्ति मानवजीवनका चरम लक्ष्य है—परमपुरुषार्थ है।

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज आदि सद्गुण 'भगवत्' शब्दके द्वारा वाच्य होते हैं। ऊपर निर्दिष्ट वकारार्थसे सम्पन्न होनेके हेतु उसीका 'वासुदेव' नाम है—

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥
(वही, श्लोक ८०)

सब प्राणियोंका आधार-स्थल तथा सब प्राणियोंमें निवासकर्ता होनेके कारण वही भगवान् 'वासुदेव' शब्दसे भी लक्षित किये जाते हैं। इसीलिये वैष्णव-द्वादशाक्षर मन्त्र-('ॐ नमो भगवते वासुदेवाय')में दोनों शब्दोंका एकत्र साहचर्य उपलब्ध होता है। विष्णुपुराणके आधारपर किये गये विश्लेषणसे यही तथ्य सामने आता है कि ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर एवं भगवान्में किसी प्रकारका अन्तर या तारतम्य नहीं है; परंतु श्रीमद्भागवतके द्वारा निर्दिष्ट श्लोक १ । २ । ११ की व्याख्यामें भागवतके महनीय टीकाकार दोनोंमें अन्तर बतलाते हैं। उनकी व्याख्याकी ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। परमतत्त्वका प्रतिपादक वह गम्भीरार्थक श्लोक इस प्रकार है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस पद्यकी व्याख्याके अवसरपर रूपगोस्वामी अपने 'लघुभागवतामृत'में स्कन्दपुराणका एक महत्त्वपूर्ण पद्य उद्धृत करते हैं—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

'भगवान् अष्टाङ्गयोगके आराधक योगियोंद्वारा परमात्मा, उपनिषदोंमें निष्ठावान् व्यक्तियोंद्वारा 'ब्रह्म' तथा ज्ञानयोगियोंके द्वारा ज्ञान कहे जाते हैं।' इस पद्यको आधार मानकर श्रीजीवगोस्वामीने अपने 'भागवतसंदर्भ'में इन तीनोंसे, विशेषतः ब्रह्मसे भगवान्की विशिष्टताका बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है। उनके विश्लेषणका तात्पर्य है—'मूलतत्त्व एक ही अखण्डानन्द-स्वरूप तत्त्व है। परमहंस लोग अपने अनेक साधनोंके द्वारा उससे तादात्म्यापन्न तो हो जाते हैं, परंतु उसकी स्वरूप-शक्तिकी विचित्रताको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होते। वह वस्तु सामान्यरूपसे जैसी लक्षित होती है, वैसी ही स्फुरित होती है। उसमें शक्ति तथा शक्तिमान्के परस्पर विभेदका ग्रहण न होकर वह अभेदरूपसे ही गृहीत होती है; वही है ब्रह्म। वही तत्त्व स्वरूपशक्तिके द्वारा एक अनिर्वचनीय 'विशेष' भावको ग्रहण करता है, तब वह अन्य शक्तियोंका—जीवशक्ति तथा माया-शक्तिका आश्रय होता है। भागवत परमहंस लोगोंके

द्वारा वह ब्रह्मानन्दको तिरस्कृत करनेवाले 'अनुभवानन्द'के द्वारा अनुभूत होता है। वह अन्तरिन्द्रिय एवं बहिरिन्द्रियमें स्फुरित होता है, तब वह शक्ति तथा शक्तिमान्के भेदरूपसे गृहीत किया जाता है। वही 'भगवान्' कहलाता है।

फलतः 'अविविक्त शक्ति-शक्तिमद्भेद'में (अपृथग्भावमें) प्रतिपाद्यमान तत्त्व 'ब्रह्म' होता है तथा 'विविक्त-शक्ति शक्तिमद्भेद'में (पृथग्भावमें) प्रतिपाद्यमान तत्त्व 'भगवान्' होता है[1]। इसलिये दोनोंमें अन्तर है।

एक अन्तर और भी है। बहुगुणाश्रय पदार्थका ग्रहण विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा नानारूपोंसे होता है। दुग्धके माधुर्यका ज्ञान हमें जिह्वा कराती है, परंतु उसकी श्वेतताका ज्ञान वह नहीं करा सकती। वह तो कराती है हमारी नेत्रेन्द्रिय ही। पदार्थका पूरा परिचय चित्तके द्वारा ही तो होता है। इस प्रकार अन्य उपासना बहिरिन्द्रिय-स्थानीया है, भक्ति चित्तस्थानीया है; क्योंकि वह भगवान्का पूर्ण परिचय कराती है। निर्विशेष ब्रह्मका प्रकाश ज्ञानयोगके द्वारा गृहीत होता है, परंतु स्वरूपशक्ति-विशिष्ट भगवान्का प्रकाश भक्तिके द्वारा ही गृहीत किया जा सकता है। फलतः स्वरूपशक्तिकी विशिष्टताके कारण ही ब्रह्मकी अपेक्षा भगवान्का उत्कर्ष गौडीय वैष्णवसम्प्रदायमें स्वीकृत किया गया है। भगवान्की प्राप्ति निर्मल अहैतुकी भक्तिके द्वारा ही साध्य होती है। शास्त्रका वचन है—

कल्याणनगरं मोक्षदेवस्य प्रविविक्षताम्।
अकपाटार्गलाद्वाःस्थं गोपुरं भगवद्रतिः॥

'मोक्ष महाराजके कल्याणनगरमें प्रवेश चाहनेवाले व्यक्तियोंके लिये भगवान्का प्रेम ही पुरद्वार है जिसमें न कोई किवाड़ है, न अर्गला और न पहरेदार।' कहीं रुकावट नहीं—**'येनेष्टं तेन गम्यताम्।'**

किसी गोपीके हृदयका भावुकतापूर्ण यह उद्गार कितना मीठा और सुहावना है कि—

घर तजौं बन तजौं नागर नगर तजौं,
बंसीवट तट तजौं काहू पै न लजिहौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहो कैसे तजौं,
आज राज काज सब ऐसे साज सजिहौं॥
बावरी भयौ है लोक बावरी कहत मों कौ,
बावरी कहैं ते मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया औ सुनैया तजौं बाप और मैया तजौं,
दैया तजौं भैया पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

माधुर्य रसोपासनाकी यही दिव्य भावविभूति है।

सो भगवत असरन-सरन

सब कालन कौ काल, लोकपालन को पालै।
आपुन सदा स्वतंत्र नियन्ता बुद्धि बिसालै॥
उपजावै सब बिस्व रमै, पुनि तामैं नाहीं।
देखत भूली* करै, परै भूलन मैं नाहीं॥
षट्-ऐश्वर्य समर्थ हरि, सो भगवत असरन-सरन।
तन-मन-जनकी बेदना, हरहु मोद-मंगल-करन॥

—भगवतरसिक

१–द्रष्टव्य–जीवगोस्वामी—भागवतसंदर्भ पृ० ४९-५० ('षट्संदर्भ' नामक ग्रन्थके अन्तर्गत)।

* भ्रमात्मकज्ञान अर्थात् अविद्या या माया।

तत्त्व क्या है ?

(लेखक— श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

तत्त्व, तथ्य तथा तद् शब्दमें वैयाकरणविद्वान् ही अन्तर निकाल सकते हैं। 'साहित्यदर्पण', 'भाषापरिच्छेद', 'मानवगृह्यसूत्र', 'सांख्यकारिका' तथा 'शाकुन्तल' आदिमें इस शब्दका प्रयोग मिलता है। मेरी दृष्टिमें 'तत्त्व'का अर्थ है 'उसका भाव'। यदि 'तत्त्व'के साथ 'सारतत्त्व' जोड़ दें तो अर्थमें कोई अन्तर नहीं होगा। जो तत्त्व है, वही सारतत्त्व है। तत्त्वका विभाजन नहीं हो सकता। कुछ लोग 'तत्त्व'का अर्थ 'निचोड़'के रूपमें करते हैं। किंतु आम फलका तत्त्व निचोड़ा जाय या न निचोड़ा जाय, यह एक ही बात है। उसे निचोड़नेवाला कोई नयी वस्तु नहीं प्राप्त कर रहा है।

तब भगवत्तत्त्व क्या होगा ? श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार वह उत्तम पुरुष सबसे भिन्न है—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (१५। १७)। तैत्तिरीय उपनिषद्के अनुसार उसने अपनेको स्वयं उत्पन्न किया। ब्रह्मसूत्रके ५५४ सूत्रोंमें परमपुरुषके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है, जिसे साधारण व्यक्तिके लिये समझना कठिन है। उसके ३। २। २७-२८ सूत्रोंसे स्पष्ट है कि ब्रह्मका प्रकाश तथा उसका स्रोत दोनों एक ही हैं। तब ऐसे परम पुरुष भगवान्का तत्त्व उससे भिन्न नहीं हो सकता। तत्त्व तभी ज्ञात होगा, जब तत्त्वका स्रोत भी बुद्धिमें आ जाय। आद्य शंकराचार्यने इस सूक्ष्म रहस्यको बहुत कुछ समझाया है। पर ऐसे रहस्यको समझ सकनेवाले कितने हैं और वे लोग कितना नीचे उतरकर समझते हैं, इसका उदाहरण एक हिन्दू प्रकाशकद्वारा हिन्दूकी लिखित अंग्रेजी पुस्तकसे जो अभी हालमें नयी दिल्लीमें प्रकाशित हुई है, मिलता है। इस अज्ञानी लेखकने उपनिषद्, सांख्य, शांकरभाष्य आदिके ब्रह्मके विवेचनको स्वयं बिना समझे उसे 'शाब्दिक वमन'की संज्ञा दे दी है। गर्गसंहितामें भगवान् शंकरने भी कहा है कि सत्यका भेद जान लेनेपर यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं आपका हूँ—आपमें हूँ। आप मुझमें नहीं आये, मैं आपमें हूँ। समुद्रमें तरंग होती है, तरंगमें समुद्र नहीं होता।'

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
समुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

(गर्गसं० अश्वमे० ३९। ४)

'शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म' शिव और शक्ति यही ब्रह्म है। तब इसका तत्त्व क्या होगा। न मैं रूप हूँ, न कर्म हूँ, न मोटा हूँ, न पतला हूँ। मैं केवल उसके रूपका लक्षण हूँ—

न रूपोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो न द्विजाद्विजः।
स्थूलोऽहं न कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः॥

जब इतना ज्ञान हो जाय, तभी कैवल्यपदकी प्राप्ति होगी—**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**—(शंकराचार्य)

पाणिनिने **'श्वयुवमघोना मतद्धिते'** सूत्रमें कुत्ता, युवा तथा इन्द्र इन तीनोंको एक साथ ही जोड़ दिया है। एक लड़की माला गूँथ रही थी। उससे किसीने प्रश्न किया—'तू कांच, मणि और सुवर्ण सब एक साथ क्यों गूँथ रही है ?' उसने उत्तर दिया—'जिस प्रकार पाणिनिने कुत्ता, युवा तथा इन्द्रको एक साथ रखा, वैसे ही मैं भी कर रही हूँ—

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे
ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्।
अशेषवित् पाणिनिरेकसूत्रे
श्वानं युवानं मघवानमाह॥

इसी श्लोकको जरा दूसरी दृष्टिसे देखिये तो सब तत्त्व बराबर हैं—एक ही सूत्रमें हैं। और वह हैं भगवान्। वहाँ क्या अन्तर हो सकता है ? तत्त्व एक

है । भिन्न हो नहीं सकता । नरहरिस्वामीने अपने बोधसारमें लिख दिया—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम् ।
विहरति विदितार्थे निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद् द्वयं स्यात् ॥
(३१ । ४७)

पतिके हृदयपर प्रेमसे अभिभूत (महाकाली) होकर खेल रही हो या (लक्ष्मी) रूपसे उनके पदकी सेवा कर रही हो, समान है । इसी प्रकार साधक निर्विकल्प समाधिमें विहार कर रहा हो या केवल भजन कर रहा हो—सब बराबर है । तब इनमें कौन-सा तत्त्व रहा जो स्वयं एक भिन्न सार या तथ्य कहा जाय । बंगालीमें कविता है—

जीवने मरणे निखिलभुवने ये खाने ये खानि लबे ।
चिर जनमेर परिचित ओहे तुमहि चिनाइदे सबे ॥

'जीवन, मरण, समग्र विश्वमें, यहाँ, वहाँ, सर्वत्र सभी लोग तुम्हींको बतलाते हैं, जो चिरजन्मसे हमें परिचित है । तब उसके अलावा और तत्त्व क्या होगा ?'

पुरुष

भगवान् ही पुरुष हैं । हम सब तो छाया हैं । शिवः आत्मा पुरुषः । साक्षी, चैतन्य पुरुष हैं । पुरुषका अर्थ है—**पुरीषु शेते यः स पुरुषः । प्रत्येकसत्तासु साक्षीरूपेण यः सुप्तोऽस्ति स एव पुरुष उच्यते ।** जो प्रत्येक सत्ताका साक्षी—जानकार होते हुए भी सो रहा है, वही पुरुष है । उस पुरुषने जो मौलिक नियम बनाये हैं, उसीसे हम सब चल रहे हैं । इन नियमोंके प्रति आदरका नाम है—'भय' । इसी नियमके भयसे अग्नि जलती है, सूर्य तपता है, चन्द्रमा, वायु, मृत्यु सभी इसीके द्वारा चल रहे हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयाच्चन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

कठोपनिषद् (२ । ३ । ३)का यह कथन बड़े महत्त्वका है । पुरुषके इसी भय अथवा केन्द्रीय नियमके प्रति आदिसे सब कुछ हो रहा है । यदि पुरुष कहलानेवाले हमलोग परम पुरुषके नियमोंका पालन नहीं कर रहे हैं तो हम अपनेको पुरुष कैसे कह सकते हैं । शकुन्तलाने दुष्यन्तसे कहा था—'मनुष्यके हरेक कर्मको गुप्तरूपसे देखनेवाले बारह गुप्तचर हैं—सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात्रि, प्रातः तथा सायंकाल'—

आदित्यचन्द्रावनलानिलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥
(महा० आदि० सम्भव० ७४ । ३०)

किंतु किसीको इन गुप्तचरोंकी चिन्ता नहीं है । कोई पुलिस अधिकारी तो है नहीं, जो जेलमें डाल देगा । मरनेके बादकी किसे चिन्ता है ? यह गुप्तचर भगवान्के साक्षी या तत्त्व तथ्य भी कहे जा सकते हैं, किंतु जब भगवान्की सत्तामें ही विश्वास न हो तो उसका तत्त्व और साक्षी भी निरर्थक वस्तु होगी ।

जिस प्रकार 'पुरुष'में वे सभी गुप्तचर निहित हैं, जिनका ऊपर उल्लेख है, उसी प्रकार हम मनुष्योंमें भी वह सब वर्तमान है । वेदान्तसूत्रके अपने 'गोविन्द भाष्य'में बलदेव विद्याभूषणने ब्रह्मको 'हरि' तथा भागवत-गणको 'हरिदास' कहा है । ब्रह्मको ही वे इस सृष्टिका कर्ता कहते हैं । ब्रह्म और पुरुष (मनुष्य)में भेदको वे बड़े अच्छे ढंगसे समझाते हुए कहते हैं—'यह अन्तर वैसा ही है, जैसे दण्ड (छड़ी) लेकर चलनेवाले (दण्डी) पुरुषमें ।' छड़ी—दण्ड और पुरुष मिलाकर वह 'दण्डिन्' कहलाता है । यह ब्रह्म ही शरीरधारी होकर जीव प्रपञ्चविशिष्ट हो जाता है । यह संसार ही प्रपञ्च है । जो असत्य नहीं, वह सत्य है । भगवद्रचित कोई वस्तु असत्य नहीं हो सकती । रामानुज, निम्बार्काचार्य—ये सभी इस

प्रपञ्चकी सत्ताको तथ्यरूपमें स्वीकार करते हैं। अद्वैत-मतके प्रवर्तक शंकराचार्यके अनुसार प्रपञ्च अवास्तविक है, असत्य है। इन दोनों कथनोंमें कौन सही है, इस विवादमें पड़नेकी हमारी क्षमता नहीं है। पर इसमें किसीका मतभेद नहीं है कि प्रपञ्च सत्य हो या असत्य, वह है—उस परम पुरुषका ही तत्त्व। यदि उसका तत्त्व है तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संसारमें ऐसा क्या हो सकता है जो उसके 'भय' की परिधिके बाहर है—भयका अर्थ हम ऊपर दे आये हैं—

मौलिक नियम

रामानुजने 'तत्त्वत्रय' अर्थात् चित् (आत्मा), अचित् (भौतिक पदार्थ) तथा ईश्वरके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था। बलदेवने इसमें काल और कर्मको जोड़ दिया है। यानी तत्त्वत्रय न होकर तत्त्वपञ्चक हो गया; पर तत्त्व पाँच-सात या फिर तीन ही क्यों न हों, हैं ये पुरुषके तत्त्व और यदि उसके तत्त्व हैं तो चिद्रूप हैं और 'धर्मभूत ज्ञानाश्रय' भी होंगे ही।

ब्रह्म चित्-अचित्-शक्तिका 'उपादान कारण' है। यही सूक्ष्म 'निमित्त-कारण' हैं। बलदेवके अनुसार जीव मुक्त होनेपर भी हरिदास बना रहता है। ब्रह्मसे पृथक् रहेगा तो यह भेद बना रहेगा। रामानुज तथा निम्बार्क या शंकराचार्य भी ऐसा नहीं मानते। निम्बार्क कहते हैं कि जीवकी 'भक्ति'से ब्रह्म मुक्ति प्रदान करता है। किंतु उनके अनुसार मुक्त जीव ब्रह्मके साथ साधर्म्य प्राप्त करता है, ब्रह्म नहीं हो जाता। भास्कराचार्य कहते हैं कि मुक्तिके बाद जीवका ब्रह्मसे 'स्वाभाविक भेद' बना रहता है, किंतु निम्बार्क और रामानुज निर्गुण ब्रह्म मानते ही नहीं। वे उसे सगुण कहते हैं। किंतु 'न निर्गुण है, न सगुण' ऐसा कहकर अद्वैतमत एक गूढ़ विचारधारा पैदा कर देता है।

मैं यह सब इसलिये नहीं लिख रहा हूँ कि पुरुष सगुण है अथवा निर्गुण है, इस तत्त्वका विवेचन कर सकूँ। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' जब हुई तो जीव अणु होते हुए भी उसमें विभुत्व वर्तमान होनेके कारण यदि विभुत्व-शक्ति ब्रह्मसे उपलब्ध है तो वह ब्रह्मसे अभिन्न होगा ही। तब उसके पास ब्रह्मतत्त्व तो रहेगा ही, अतएव पुरुष अथवा भगवान्‌के तत्त्वसे रहित क्या हो सकता है? उसके तत्त्वसे विहीन कुछ हो भी नहीं सकता। इसीलिये हमारा शास्त्रीय महावाक्य है—'तत्त्वमसि' 'वही तत्त्व तुम हो।' तो हम स्वयं भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त और हो भी क्या सकते हैं।

भक्ति

जब 'पुरुष'को हम मनुष्य अपनेसे पृथक् नहीं कर सकते तो उसका तत्त्व तथा तथ्य दोनों हम पुरुषोंमें वर्तमान है। पर अज्ञानवश अगणित लोग ऐसे भी मिलेंगे, जो भगवान् या ईश्वर नामकी वस्तुको मानते ही नहीं। किंतु यह हो नहीं सकता कि ईश्वरको न माननेवाला अपने मनमें एक रिक्तता, एक खालीपनका अनुभव न करता हो। जैनी या बौद्ध ईश्वरको नहीं मानते, किंतु घूम-फिरकर वे भी महावीर, बुद्धादिको ईश्वर मानते हैं। जैन आचार्य कुन्दकुन्दने 'भाव पाहुड़' में लिखा है कि 'मेरा आत्मा एक है, वह ज्ञानदर्शन-समन्वित है। शेष सब बाह्य पदार्थ है।' हाथी-गुम्फा-लेखमें जैन-उक्ति है—**'नमो अरहन्तारं नमो सव्व सिद्धानम्'** सिद्ध ही तो भगवत् तथ्य है, तत्त्वसे भी ऊपरकी वस्तु है। ईश्वरको जीवकी संज्ञा देकर बौद्ध या जैन संतुष्ट हो जाता है, पर उससे असली प्यास बुझती नहीं। श्रीमद्भागवतने ठीक ही कह दिया कि सूखा ज्ञान उसी प्रकार निरर्थक है, जिस प्रकार अनाजके भूसेको पछोरना। बिना प्रेमके ज्ञानका मूल्य क्या होगा। परमात्मा और आत्माका सम्बन्ध ऐसा है कि दोनों एक-दूसरेके लिये तड़पा करते हैं। एकमें मिल जानेके लिये मनके भीतर सदैव उथल-पुथल मची रहती है।

भगवान्‌के प्रति प्रेम जब पराकाष्ठाको पहुँच जाता है तो ज्ञान और कर्म धूमिल हो जाते हैं। मनुष्य केवल निर्गुण, ऐकान्तिक, अहैतुकी, आत्यन्तिकी भक्तिकी परिधिमें आ जाता है। श्रीमद्भागवत इसीको भगवद्भाव, ब्रह्मपद, भागवत भक्ततम, सत्तम, परमभक्त अथवा मानवोत्तम कहता है। श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका प्रेम अथवा उद्धवका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इसी श्रेणीका था। प्रेमकी यह परिधि ही या शुद्ध प्रेम भी भगवत्तत्त्व है। ऋग्वेदने जिस 'पुरुष'को हमारे सम्मुख उपस्थित किया है, वही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। ब्रह्मका तथ्य उनमें पूर्णतया विद्यमान है। वे उसके तत्त्व हैं, अतएव ब्रह्म तथ्य है। अद्वैतमतके समर्थक अप्पय दीक्षितके 'वेदान्तकल्पतरु-परिमल' आदि ग्रन्थ बहुत उच्चकोटिकी रचनाएँ हैं। १६ वीं सदीके इस पण्डितने शिवको ही ब्रह्मका रूप माना था। शिव ही ब्रह्मके तत्त्व हैं। शिव या श्रीकृष्णमें कोई अन्तर नहीं है। उसी समयके मधुसूदन सरस्वतीका 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ भी ब्रह्मके सांसारिक तत्त्वको स्वीकारकर हमें इसी तथ्यकी ओर ले जाता है कि 'पुरुष'के चिद्रूप तत्त्वके परे और कहीं कुछ नहीं है।

मृत्यु

अस्तु! यहाँ एक ही तत्त्व तथा तथ्यकी ओर ध्यान देना—दिलाना आवश्यक दीखता है। सब कुछ अस्वीकार किया जा सकता है, पर मृत्युकी सत्ता सर्वोपरि सिद्ध है। जब ऐसी स्थिति है तो फिर सावधान होकर ही जीवन चलाना होगा। केवल मनको तर्क करनेके लिये छोड़ देनेसे काम न चलेगा—

मन लोभी, चित लालची, मन चेला, चित चोर।
मनके मते न चालिये, पलक पलक कछु और॥

इसीलिये सन्त एकनाथने कहा है—

जेवि हिरेनि हीरा चिरिजे, तेवि मनेंचि मन धारिजे॥

जिस तरह हीरासे हीरा चिरता है, उसी तरह मनसे ही मन वशमें होता है। संतवाणीसंग्रह (भाग १)में लिखा है—

आदि नाम पारस अहै, मन है मैलो लोह।
परसत ही कंचन भया, टूटा बंधन मोह॥

मन उसीका शुद्ध होगा जिसने कर्मका रहस्य समझ लिया। ईश्वरकी सृष्टिमें अपनेको उसका अङ्ग मानकर जो—**'आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति'** या जैनियोंके अनुसार **'अतानं उपमं कत्वा न हन्येन, न घातयेत'**—अपनी मिसाल लेकर न किसीका हनन करे, न घात करे—और लोग संत रामदासके—

मना सज्जना भक्ति पन्येचि जावे।

'रे सज्जन मन! भक्ति-पथपर विचर' इस कथनको मानते हैं, वे ही **'जो कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'** होते हैं। जो कर्ममें वीर है, वह धममें भी वीर है। जीवनका अन्त मृत्यु है। यही जीवन-तत्त्व है। बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद'में लिखा है—

यथा दण्डेन गोपालो गावो पचति गोचरे।
एवं जरा च मच्चु च आयुं पाचन्ति पाणिन॥

'जैसे गोचरमें दण्डेसे ग्वाला गायको चराता है, वैसे ही जरा और मृत्यु प्राणीमात्रको चरा रही है।' पर हम इसे भूल गये हैं। हमलोग तृष्णामें मरे जा रहे हैं—

सेठजीको फिक्र थी, एक-एकके दस कीजिये।
मौत आ पहुँची कि हजरत जान वापस कीजिये॥

दूसरोंका अन्धानुकरण करनेसे काम न चलेगा। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'शेष प्रश्न'में शरद बाबूने लिखा है—'अनुकरणसे मुक्ति नहीं, मुक्ति मिलती है—ज्ञानसे।' ज्ञानी जानता है—

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यूँ कब ही इस जीवका, साथी सगा न कोय॥
दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीवका, कोइ न राखनहार॥

किंतु भगवत्तत्त्वमें विश्वास करनेवाला मरता नहीं है, वह तो अपने इष्टके पास जा रहा है।

आदमी सोया जमी पर लोग कहते मर गया।
वह बेचारा था सफरमें, आज अपने घर गया॥

एक विचारवान्ने मानव-शरीरके लिये लिखा है—

यह है एक पालना डोरी, हिलाती है रगें जिसकी।
यह वह झूला है, जिसमें, जिन्दगीको नींद आती है॥

भगवत्तत्त्वका ज्ञान उसीको है, जो मृत्युको पहचानता है—

घट बिच जल है, जल बिच घट है, बाहर भीतर पानी।
घट फूटा जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यौ ज्ञानी॥

भगवत्तत्त्व उस तिरोधानमें है, जो हमें भगवान्के पास ले जाती है।

भगवत्तत्त्वका लौकिक स्वरूप

(लेखक—श्रीगोपालदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए०, एल्० टी०, व्याकरणाचार्य)

लौकिकरूपमें 'भगवत्तत्त्व' शब्द भगवान्के स्वरूपका बोधक है। 'भगवान्' शब्दका उच्चारण आस्तिक-जगत् किसी-न-किसी रूपमें करता ही रहता है। सामान्यतया अलौकिक ऐश्वर्यसम्पन्न होते हुए भी वे अनन्त ऐश्वर्योंसे युक्त हैं, जिनके चमत्कारमात्रसे प्रभावित होकर आस्तिक-जन भगवान्की महत्ताके समक्ष नतमस्तक होकर उनके स्वरूपके जिज्ञासु होते हैं। वह भी ऐसा स्वरूप जिसका साक्षात्कार नेत्रेन्द्रियसे सम्भव नहीं। बाह्य-जगत्में रूपका साक्षात्कार नयन-गोचर भले ही हो, फिर भी अनादि-कालसे 'भगवत्तत्त्व'को जाननेकी प्रक्रिया किसी-न-किसी रूपमें अद्यावधि चली आ रही है।

सर्वप्रथम 'भगवत्तत्त्व' शब्दके यौगिक अर्थपर विचार करना आवश्यक है। तदनुसार (१) 'भगवत्' तथा (२) 'तत्त्व' इन दो शब्दोंके अर्थसे 'भगवत्तत्त्व' का माहात्म्य विदित हो सकेगा। प्रकृत सन्दर्भमें 'भग' शब्द छः प्रकारके महनीय गुणोंका बोधक है, जिसमें अगणित ऐश्वर्य, पराक्रम, यश, समृद्धि, ज्ञान और वैराग्य समाकलित किये गये हैं[1]। व्याकरणके अनुसार इन छह महनीय गुणोंका नित्ययोग जिसमें हो वह 'भगवान्' हैं (भग+मतुप्—भगवत्)। किंतु पुराणोंमें 'व' शब्द निवासार्थकका प्रतीक भी माना गया है जिसके अनुसार परमात्मामें सब प्राणियोंकी स्थिति परिकल्पित की जाती है। जगद्रूपमें वे ही प्राणियोंके आधार हैं[2]। अतः अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक प्रभु भगवत्पदवाच्य हैं। वे ही जगत्के स्रष्टा, पालक तथा हर्ता भी हैं[3]। इसी कारण वे सर्वशक्तिमान् माने गये हैं। केवल शक्तिमान् ही नहीं, अपितु शक्तिके प्रतीक ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज—ये सभी अशेषतः भगवत्पदवाच्य हैं[4]। इन छः महनीय गुणोंसे 'भगवान्'की महनीयता (माहात्म्य) प्रकट की गयी है।

'तत्त्व' शब्दका यौगिक अर्थ अनेकात्मक होते हुए भी मुख्यतः स्वरूपावस्थाका परिचायक है (तत्+त्व= तत्त्व)। किसीके स्वरूपको जानना बड़ा कठिन है। उसमें भी भगवान्के स्वरूपको, जो प्रत्यक्षगम्य नहीं है, जानना तो अत्यन्त दुस्तर कार्य है। विरले ही उसके स्वरूपको जाननेमें सफल हो सके हैं। जो सफल हुए हैं, वे भी उसके स्वरूपका निर्वचन नहीं कर सके। केवल अनुपयुक्तका निषेध करते हुए—'अभाव'से 'भाव'-

१–ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ (वि० पु० ६।५।७४)
२–वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥ (वही ७५)
३–उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥ (वही ७८)
४–ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥ (वही ७९)

※

की ओर संकेत करनेमें ही वे साधक कृतकृत्य हो सकें[5]; तभी तो ऋषियोंने 'भगवत्तत्त्व'को भावनागम्य बताकर भवबन्धनसे छुटकारा पानेका आदेश दिया है[6]।

'भगवान्'के अनेक नाम हैं[7]। उनमेंसे परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर इत्यादि शब्दोंका लोकमें अधिक व्यवहार होता है। इनमें भी 'ईश्वर' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। उसके स्वरूपका निर्वचन करनेके लिये दर्शनशास्त्रका आविर्भाव हुआ; तथापि इस सम्बन्धमें अधिकतर दर्शन उपनिषदोंको आधार मानकर ही आगे बढ़े हैं। इसका कारण यह है कि वेदोंकी प्रामाणिकता अपौरुषेय होनेके कारण सर्वोपरि मानी जाती है। अतः श्रौत-दार्शनिक श्रुतिकी प्रामाणिकतापर अवलम्बित हैं। भगवान्के स्वरूपका निर्वचन करनेकी सरलतासे प्रत्येक वर्गने अपने इष्टदेवको भगवान् बतलाकर वाञ्छित फल प्राप्त करनेमें ही सुखका अनुभव किया है। तदनुसार शैवोंने शिवको ही एकमात्र ईश्वर समझा, वेदान्तियोंने ब्रह्मको, बौद्धोंने बुद्धको, नैयायिकोंने जगत्के कर्ताको, जैनियोंने अर्हन्को तथा मीमांसकोंने अदृष्ट-(कर्म-) को ईश्वरका रूप देकर सन्तोष किया—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

समन्वयवादीने भी सबके मूल भगवत्तत्त्वको अपने वाञ्छित फलकी प्राप्तिहेतु उपादेय समझा।

यह तो ईश्वरके स्थूल स्वरूपकी चर्चा हुई। पृथक्-पृथक् दर्शनोंमें ईश्वरके पृथक्-पृथक् स्वरूप बतलाये गये हैं। आस्तिक छहों दर्शनोंमें भी 'सांख्य'में ईश्वर-नामसे कोई सत्ता नहीं मानी गयी है। 'पुरुष', को आत्माका रूप दिया गया है। वह भी सर्वप्रधान नहीं है; प्रकृतितत्त्व ही उनके यहाँ सर्वप्रधान है। सांख्यने अव्यक्त प्रकृतिसे अङ्कुरित और पल्लवित संसारके अव्यक्त प्रकृतिमें ही लीन होनेकी बातको प्रकृतिके स्वभावपर डालकर ईश्वरकी अपेक्षा नहीं समझी। योगदर्शन ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करता है। उसके मतमें वह सर्वथा निर्लेप और निर्गुण, किंतु सत्त्वस्वरूप है। मीमांसक वेदोंपर आधारित कर्मकाण्डका आश्रय लेनेपर भी ईश्वरकी चर्चा नहीं करते। उन्होंने मनुष्यके कर्मोंका शुभाशुभ फल देनेके लिये अदृष्ट नामकी एक शक्ति स्वीकार की है। मीमांसकोंके अनुसार सृष्टि नित्य है, उसका प्रलय या नाश होता ही नहीं। जब सृष्टिरूप कार्य ही नहीं है तो उसके कर्ताके रूपमें उन्हें ईश्वरकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। रहा अदृष्टका आधार, तो यह अदृष्ट जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका संचयमात्र है। मीमांसामें यह अदृष्ट 'अपूर्व' है। यागादिक अनुष्ठान कर्मसे 'अपूर्व' स्वभावतः उत्पन्न होता है और अपूर्व ही कर्मानुसार फलके रूपमें फलता है। अतः उनके मतमें किसी नियन्ता अथवा दाताकी आवश्यकता नहीं। इसीलिये मीमांसामें ईश्वरकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। इतना होनेपर भी कर्मके स्वरूपकी निष्पत्तिके लिये मीमांसाने भिन्न-भिन्न देवताओंकी चर्चा अवश्य की है; परंतु ये देवता शरीररूपधारी नहीं हैं; अन्यथा विविध यागादि अनुष्ठानोंमें उनकी युगपद् उपस्थिति असम्भव

५—स एष नेति नेति आत्मा। अर्थात् आदेशो भवति नेति नेति, नह्येतस्मात् अन्यत् परमस्ति। (बृह० ४।४।२२)

६—भजस्व भावेन विभुं भगवन्तं व्रजेश्वरम्। ततो भागवतो भूत्वा भवबन्धात् प्रमोक्ष्यसि॥ (वह्निपुराण, वैष्णवक्रियायोग, यमानुशासननामाध्याय)

७—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

हो जाती । इन देवताओंकी निराकारिता ही इनके स्वरूपमें प्रतिष्ठित हुई है। अतः मीमांसाशास्त्र निरीश्वरवादी नहीं है । न्यायदर्शनमें ईश्वर द्रष्टा, बोद्धा एवं सर्वज्ञके रूपमें स्वीकृत है । वेदको भी ईश्वरकी कृति मानकर नैयायिकोंने उसे स्वीकार किया है। उदयनाचार्यने 'न्याय-कुसुमाञ्जलि'में ईश्वरको निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द, दयालु, न्यायकारी, सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारका हेतु माना है ।[८] वह सदा तृप्त है तथा किसीके आश्रयमें नहीं रहता । इस प्रकार ईश्वरको सृष्टिका रचयिता मानकर उसे सर्वशक्तिमान् सिद्ध किया है; क्योंकि इतनी बड़ी सृष्टिके लिये अल्प-शक्तिमान् एवं अल्पज्ञ कर्ता समर्थ नहीं हो सकता । ईश्वरकी सिद्धि न्यायदर्शनमें अनुमानपर आधारित है । नियमतः अनुमानको प्रत्यक्ष और आगमपर आश्रित होना चाहिये । ईश्वर सिद्धिका अनुमान—'यह सृष्टि किसीके द्वारा रचित है, जैसे कि घड़ेको बनानेवाला कुम्हार होता है—प्रत्यक्षाश्रित तो है; क्योंकि संसारमें प्रत्येक कार्यको कर्तृसापेक्ष पाते हैं, परन्तु उसके आगमाश्रित होनेमें जो सन्देह था उसे **'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः'**—(द्युलोक और पृथ्वीको उत्पन्न करनेवाला एक ईश्वर ही है—) इस श्रुतिने दूर कर दिया । वैशेषिक मतमें ईश्वर जीवोंके भोगके लिये सृष्टिरचनाकी इच्छा करता है । सृष्टिरचनामें न्यायदर्शनके समान वैशेषिक दर्शनमें भी चार भूतों—(पृथ्वी, जल, तेज और वायु-)के परमाणु ही आधार माने गये हैं; अतः वे ही उसके उपादान हैं । ईश्वरेच्छासे परमाणुओंमें स्पन्दन होता है, जिससे वे मिलकर द्व्यणुक, त्र्यणुक और चतुरणुकके रूपमें संगृहीत होते चलते हैं । इन परमाणुओंके भौतिक-संघटनकी पृष्ठभूमिमें ईश्वरकी इच्छा' और अदृष्ट भी इसलिये रखे गये हैं कि संघटन व्यवस्थित एवं निर्दिष्ट आधारपर ही घटित हो सके । केवल जड़ परमाणु और उनके यादृच्छिक संयोगमें कर्मफल-भोगकी व्यवस्था संभव नहीं हो सकती । अतः उसके नियन्त्रणके लिये चेतन-सत्ता ईश्वरके रूपमें मानी गयी है । वेदान्तदर्शनने ब्रह्म-(परमात्मा-)के स्वरूपके सम्बन्धमें उपनिषदोंका अनुसरण किया है । स्वरूपतः ब्रह्म उपाधि विनिर्मुक्त, विज्ञानमय, अनन्त एवं नित्य हैं[९] । वह सच्चिदानन्दस्वरूप है । वही निर्गुण ब्रह्म कहलाता है । उसकी दूसरी स्थिति सगुणके रूपमें बतलायी गयी है । उपाधि-विशिष्ट (माया-सहित) होकर वही निर्गुण ब्रह्म 'ईश्वर' पदवाच्य है । सोपाधिक ईश्वरमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकाम और सर्वसंकल्पादि सगुण कल्पनाएँ सार्थक होती हैं । अतः वही सृष्टिका निमित्तकारण है । परमार्थतः उपाधि या मायाके मिथ्या होनेसे सगुण ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म—ये दोनों अभिन्न हैं ।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें निरूपित भगवान्‌के स्वरूपपर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि जब नित्यप्रति व्यवहारमें आनेवाली वस्तुओंको भी परिभाषाबद्ध करना कठिन होता है तो परोक्षसत्ताको शब्दोंके भीतर समेटना तो और कठिन है । वस्तुतः भगवत्तत्त्व अध्यात्मका विषय है । अध्यात्म-जगत्‌की बात इस जगत्‌की बातोंसे नितान्त भिन्न हैं । इस (दृश्य) जगत्‌के सम्बन्धको चलानेके लिये प्रत्यक्षादि प्रमाण मुख्य साधन हैं और अध्यात्म-जगत्‌का सम्बन्ध हमारे हृदयकी अनुभूतिसे है; जब अनुभूति जागरूक रहती है, तब तर्क

८-ईश्वरोऽयं निराधारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् । अनादिरविकारी चानन्तः सर्वगतो विभुः ॥
सच्चिदानन्दरूपोऽपि दयालुर्न्यायतत्परः । सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
(-न्यायकुसुमाञ्जलि)

९-'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'(—बृहदारण्यक ३ । ९।२८ ।) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (—तैत्ति० २ । १ । १ ।)

मौन होकर बैठ जाता है। उसकी गम्भीरतामें तर्क विलीन हो जाता है। इसलिये मनीषियोंने यह सलाह दी है कि अचिन्तनीय तत्त्वोंके लिये तर्कका आश्रय लेना व्यर्थ है।[10] यदि अनुभूति अपनी महनीयता एवं गम्भीरताके कारण लौकिक अर्थमें परिभाषाके बन्धनमें नहीं समाती तो इसमें उसका क्या दोष है? पर तत्त्वज्ञानमें अनुभूति ही सर्वश्रेष्ठ और समर्थ स्वीकृत है।

भगवान्‌के स्वरूप-(तत्त्व-)का ज्ञान भी अनुभूतिका विषय है। मनुष्यमात्रकी सामान्य अनुभूतियाँ अनुकूल अवसर पाकर प्रकट होती हैं। इसी अनुभूतिके मूलमें जो परम तत्त्व है, वह अवाङ्मनसगोचर है, अतः अनुभूतिकी अनिर्वचनीयता उस परोक्षसत्ताकी ही देन है। व्यावहारिक जगत्‌के जीवके लिये व्यावहारिक सत्यके अनुकूल 'भगवत्तत्त्व'का रहस्य उपनिषदोंमें वर्णित सगुण ब्रह्मके स्वरूप-लक्षणमें पर्यवसित होता है। तदनुसार ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्त है। उसमें स्वाभाविक तीन शक्तियाँ पायी जाती हैं। वे हैं—ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति।[11] यह जगत् उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है तथा उसीके कारण स्थितिकालमें प्राणधारण करता है। तैत्तिरीयउपनिषद्‌में इस सिद्धान्तका प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दोंमें किया गया है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म'** (३।१)। अर्थात् इस विश्वके समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं, तथा (अन्तमें इस लोकसे) प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको तत्त्वतः जाननेकी इच्छा करो; वही ब्रह्म है। वही समस्त शक्तियोंका आधार है। मुण्डकोपनिषद्‌के अनुसार जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीरसे जाल तनता है तथा उसे अपने शरीरमें फिर समेट लेता है एवं जिस प्रकार पृथ्वीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार उस परब्रह्मसे यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[12] इस परमतत्त्वकी व्यापकताको औपनिषद 'भूमा' शब्दद्वारा छान्दोग्योपनिषद्‌में बड़ी सुन्दरताके साथ समझाया गया है। उसीकी उपलब्धिमें वास्तविक सुखका निर्वचन किया गया है। 'वह (भूमा—आत्मा) सर्वत्र विद्यमान है; ऊपर है तथा नीचे है; आगे है तथा पीछे है; दाहिनी तथा बाईं ओर है। परमतत्त्वकी ही संज्ञा भूमा है। भूमा ही अमृत है[13]।' इस सिद्धान्तके अनुसार उपनिषदोंने 'आत्माकी अपरोक्षानुभूति'की मौलिकतापर प्रकाश डाला है। परोक्ष अनुभूतिसे अपरोक्षानुभूतिकी महत्ता अधिक है। जबतक जीव अपने प्रयत्नसे अपनेको तात्त्विकरूपसे न जान ले, तबतक शास्त्रका अभ्यास निरर्थक है। आत्मसाक्षात्कार ही शास्त्रज्ञानका चरम लक्ष्य है। यह स्थिति स्वानुभूत्यैकगम्य है—अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है। इसी कारण उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्मतत्त्वको समझानेके लिये साधककी वाणीका व्यापार बन्द हो जाता है। वह मूक बन जाता है। समझनेवाले उस मौन व्याख्यानको जान लेते हैं। बाध्वने वाष्कलिको इसी प्रकारसे ब्रह्मका उपदेश किया था।[14]

१०-'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।' ११-'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वेता० ६।८) १२-यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ (मुण्डक १।१।७) १३—'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै भूमा तदमृतम्।' (छा० उ० ८।२२) १४—ब्र० शां० भा० ३।२।१७में उद्धृत "वाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—स होवाच अधीहि भगवो ब्रह्मेति स तूष्णीं बभूव, तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच—ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा।"

लौकिकरूपमें जगत्की वास्तविकताको स्वीकार करते हुए गीतामें भी भगवान्को जगत्का उत्पत्तिकर्ता, प्रलयकर्ता बतलाकर उन्हें समस्त प्राणियोंमें निवास करनेवाला कहा गया है।[१५] जिस तरह डोरेमें मणियोंका समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह भगवान्में समग्र जगत् ओत-प्रोत है, अनुस्यूत है, गुँथा हुआ है। वेही इस पूरे विश्वको आवृत्त कर स्थित रहते हैं। गीताकी यह कल्पना वैदिक पुरुषसूक्तपर आधारित है, जिसके अनुसार यह जगत् 'पुरुष'का केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाशमें स्थित हैं।[१६] इस प्रकार भगवान्के इस विराट् रूपकी कल्पनासे जहाँ नारायणके नररूपका आभास मिलता है, वहाँ नरमें नारायणत्व भी स्वतः अभिव्यक्त होता है। इस भावनासे भगवान्की प्रतिष्ठा विश्वात्माके रूपमें की गयी है। उसकी सत्यताके सम्बन्धमें ही **'अणोरणीयान्'** एवं **'महतो महीयान्'** आदि उपनिषद्-वाक्य चरितार्थ होते हैं।

संक्षेपमें जीवन एवं सृष्टिके संचालन करनेवाले सभी मूलाधार तत्त्वोंको अन्न, प्राण, मन, पृथ्वी, जल, तेज इत्यादि भूतोंमेंसे ब्रह्म और जीवके लिये प्रतीकात्मक रूपकी प्रतिष्ठा की गयी। विशेषतया स्थूलजगत्में मूलाधारकता देखकर ही सबके मूलाधार भगवान्की कल्पना विश्वात्माके रूपमें प्रतिष्ठित हुई है। इसके द्वारा एक ही चेतनतत्त्वकी सत्ताका सांसारिक स्थितिके अनुसार ईश्वर और जीवरूपमें भिन्न-भिन्न दशाओं-का वर्णन किया जाता है और उनको परिवेष्टित करनेवाले उपकरणोंसे साम्य दिखाकर नरमें नारायणके दर्शन करनेकी क्षमता सिद्ध की गयी है। अतः जीव भगवान्का सनातन अंश है; अर्थात् भगवान् अंशी हैं तथा जीव अंश है[१७]। इस सिद्धान्तको स्वीकारकर जीवोंकी अनेकता एकतामें परिणत हो जाती है। इस उपमाकी अवतारणा भी गीतामें बड़ी सुन्दरताके साथ की गयी है। तदनुसार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए यह कहा है कि जैसे एक सूर्य समस्त संसारको प्रकाशित करता है, वैसे ही परमेश्वर (क्षेत्रज्ञ) सब जीवोंको (क्षेत्रको) प्रकाशित करता है[१८]। प्रकृत संदर्भद्वारा क्षेत्रीकी उपमा सूर्यसे देकर उसकी विश्वात्मत्व-सत्ताकी अभिव्यञ्जना की गयी है। यही 'भगवत्तत्त्व'-का लौकिक स्वरूप है। यही भगवान्का स्वरूप जगत्को अभिव्याप्त करता है। अतः सारे संसारके नेत्र उसके ही नेत्र हैं, वही संसारके प्राणियोंका मुखरूप है, उसीकी भुजाएँ जीवोंकी भुजाओंके रूपमें दृष्टिगोचर होती हैं, उसीके चरण समग्र संसारको गतिशील बनाये हुए हैं तथा उसीके द्वारा यह संसार उत्पन्न हुआ है[१९]। वही विश्वद्रष्टा एवं अनन्य शक्तिमान् है।

उसकी शक्तिके समक्ष मानवशक्ति अकिंचित्कर है। वही विश्वको व्याप्त करता हुआ सर्वसाधारणकी दृष्टिमें उससे पृथक् भी है। अतः उस स्वरूपको जाननेके लिये साधक सतत साधनामें रत रहते हैं। साधकोंकी साधनाके अनुसार उसके विभिन्नरूप हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान् अचिन्त्यशक्ति-समन्वित हैं। यही कारण है कि श्रीमद्भागवतके अनुसार नारदजीने द्वारकापुरीमें एक समयमें ही श्रीकृष्णको समस्त रानियोंके महलोंमें विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्योंमें संलग्न देखा था[२०]। यही उनकी अचिन्त्यनीय महिमाका लौकिक विलास है।

१५—गीता ९। १८। १६—गीता ७। ७। १७—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

१८—यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (गीता १३। ३३)

१९—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ (यजु० १७। १९)

२०—इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्। तमेव सर्वगेहेषु संतमेकं ददर्श ह॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम्। मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः॥
(श्रीमद्भा० १०। ६९। ४१-४२)

भगवत्तत्त्वका अन्वेषण—भगवत्तत्त्व क्या है ?

'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्' ।[1]

(लेखक—आचार्य पण्डित श्रीराजवलिजी त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, शास्त्राचार्य)

जो हमारे सामने दृश्यमान है, जिसे हम देख रहे हैं, जो दिखलायी पड़ रहा है, वह जगत् है। उसे 'जगत्' इसलिये कहते हैं कि वह चल रहा है, गमनशील है—**'गच्छतीति जगत्।'** क्रियाशीलता अथवा संसरणता (एक रूपसे दूसरे रूपमें सरकते जाना) इसका 'स्वभाव' है और इसीलिये इसे 'संसार' कहते हैं। इस प्रकार संसार परिवर्तन-शील होनेसे अनित्य है और चेतन न होनेसे जड़ है; पर है यह नित्यसापेक्ष और चेतनाश्रित। यदि ऐसा न होता तो इसकी क्रियाशील्ता, संसृति या गमनशीलता सम्भव नहीं होती; क्योंकि क्रिया सदा पराश्रित (कर्तृनिष्ठ) होती है। फलतः जड़ और चेतन—उभयका समन्वित रूप विश्व ठहरता है; इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासने भी मानसमें कहा है—**'जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार[2]।'**

क्रान्तदर्शी तत्त्व-विवेचकोंने विश्वका विश्लेषण कर जिन पाँच तत्त्वांशोंका अनुसंधान किया है, उनमें प्रथम तीनको नित्य तथा चेतन और अगले दोको अनित्य अथच जड़ बतलाया है।[3] वे तीन हैं—**'अस्ति, भाति, प्रियम्'** के प्रतिनिधि सत्, चित्, आनन्द, जिनका समुदित रूप है—'सच्चिदानन्द।' 'सच्चिदानन्दघन' नित्यतत्त्व है—जिसकी विश्वव्यापकताके कारण उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[4]'**, **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म[5]'** सर्वत्र व्याप्त है—बाहर-भीतर सब जगह। वह सूक्ष्मतम और व्यापक है—वह ब्रह्म आकाशके भीतर और बाहर भी विद्यमान है और आकाशमें विद्यमान सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तत्त्वोंसे भी अति सूक्ष्म, सूक्ष्मतम है जिसकी प्रतीतिमात्र हो सकती है; उपलब्धि दुःसाध्य है। कठोपनिषद्की श्रुति है कि—**'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः[6]'**—'वह है ही' ऐसी प्रतीति करनी चाहिये। वह कैसा है, क्या है—इसको बताना कठिन है। अस्तु! अगले दो तत्त्व हैं—'नाम' और 'रूप'। नाम-रूपात्मक दृश्यको 'जगत्' कहते हैं—**'नामरूपात्मकं जगत्।'** जगत् अनित्य और जड़ है। उसकी सारी सजीवता जगत्प्रविष्ट चेतन एवं नित्यतत्त्वके कारण है जिसे साधारण भाषामें हम आत्मा या 'जीव' कहते हैं, पर जो वास्तवमें ब्रह्मका ही क्रियाश्रयी अंश है—**ईस्वर अंस जीव अबिनासी।[7]** ध्यातव्य है कि जीव आत्मा है और 'ईश्वर' 'परम आत्मा' है[8]। वह परमात्मा सांख्यवादियोंके मूलतत्त्व पुरुष और प्रकृति—इन दोनोंसे भिन्न ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण किंवा उच्च होनेसे 'उत्तमपुरुष' भी है। वह अव्यय है, व्ययरहित है; उसमें कमी होनेका प्रसङ्ग ही नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् है। वही ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उन्हें धारित-पोषित करता है।[8] यतः वह पुरुष 'क्षर' और 'अक्षर' अर्थात् व्यक्त और अव्यक्तसे भी उत्तम है,

१–गीता १५ । ४; २–मानस, बालकाण्ड दोहा–६;

३–अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ (दृग्दृश्यविवेक २०)

४–तैत्ति० २ । १ ५–बृह० उ० ३ । ९ । २८ ६–कठोप० ३ । १३

७–इसका अनुमोदक वाक्य है—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५ । १७)

८–उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५।१७)

इसलिये वह लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' कहा गया है।[9] नाम और रूप उसी परमात्मतत्त्वकी उपाधियाँ हैं और उनके आश्रित हैं। यद्यपि 'उस परमात्मतत्त्वका रूप यहाँ उपलब्ध नहीं होता'—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' तथापि सगुण स्वरूपमें नाम-रूपके लोक-व्यवहार परम प्रसिद्ध हैं। इसीलिये मानसकारने 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' कहा है। तात्पर्य यह कि विश्वमें व्याप्त 'सत्' (सत्ता या अस्तित्व—जिसे हम 'है', 'था' और 'होगा'—जैसे क्रिया-पदोंसे समझ सकते हैं), चित् (चेतना या ज्ञान) और आनन्द या शाश्वत सुखानुभूति—इन तीन तत्त्वरूपोंका साकल्येन (सम्पूर्णतः) समुदित स्वरूप 'सच्चिदानन्द' ही ब्रह्म है जिसे ही सृष्टि-पालन-संहारात्मक क्रियात्रयी होनेसे 'परमेश्वर' या 'परमात्मा' कहा गया है; और, वे ही परमात्मा ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न होकर 'भगवान्' बन जाते हैं[10]। फिर वे ही भगवान् जब नाम-रूपका परिधान पहन लेते हैं तो सृष्टिक्रियाश्रयीके रूपमें चतुर्मुखी 'ब्रह्मा', पालन-क्रियाश्रयीके रूपमें चतुर्भुज 'विष्णु' और संहरण-क्रियाश्रयीके रूपमें पञ्चमुख परमेश्वर 'महेश' या 'शिव' कहलाते हैं। इन सबोंमें नाम, रूप—इन दोनों उपाधियाँ जुड़ी रहती हैं। विष्णुपुराण-(१।२।६६) का तात्त्विक साक्ष्य है कि—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

सृष्टि, स्थिति और संहृतिकी विश्वक्रिया उस भगवान्‌की लीला है अथवा उसकी माया-(निजी शक्ति या प्रकृति नटी-)का खेल है जो शाश्वत है; ऐसा ही तत्त्वदर्शी ऋषिमुनियोंने अनुभव किया और कहा है। वस्तुतः ऐसा क्यों होता है? कहाँसे होता है? कैसे होता है? इनका सम्यक् समाधान प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेदके सर्वोत्कृष्ट एकत्व-सम्बन्धी चरम चिन्तनवाले नासदीय सूक्तमें भी जिज्ञास्य ही है। उदाहरणार्थ एक मन्त्र देखिये—

इयं विसृष्टिः यत आ बभूव
यदि वा दधे यदि वा न दधे।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(१०।१२९।७)

(सत्का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव—ब्रह्माण्ड या संसार जहाँसे हुआ अथवा निर्मित किया गया या नहीं किया गया—इसे परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका जो अध्यक्ष है अर्थात् हिरण्यगर्भ है (जिसके सबसे पहले विद्यमान होने और भूतोंके एकमात्र पति होनेकी बात कही गयी है)[11], वही जानता होगा; या वह भी न जानता हो (कौन कह सके!)।

ऐसी स्थितिमें 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र० सू० २।१।३३) के अनुसार उपर्युक्त तथ्यको ही मानते हुए भगवत्तत्त्वकी अन्वेषण-प्रक्रिया समीचीन जँचती है।[12] मूलतः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही उस तत्त्वके अभिधान हैं जो जगत्का—सारी सृष्टिका—रचयिता, पालयिता और संहर्ता है। वह तत्त्व जब शक्तिरूपमें समझा जाता है तो उस त्रिशक्तिस्वरूपिणी जगज्जननीके ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री (शैवी) रूप दर्शनीय होते हैं। जब वह तत्त्व अपने 'स्व'रूपमें रहता है तो निष्क्रिय और विभुमात्र रहकर अन्तर्गत और ऋत-

९—भगवद्वचन है—यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५।१८)

१०—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ (वि० पु० ६।५।७४)

११—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।' (ऋ० १०, १२१, १, अथर्व० ४, २, ७, ता० ब्रा० ९, ९, १२; नि० १०, २३, यजुर्वेद वा० १३ ४; २३, १; २५, १०; तै० सं० ४, १, ८, ३; २, ८, २;)

१२—मानसका भावसाम्य देखिये—'जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥

भरा प्रज्ञासे मात्र अनुभवनीय होता है—केवल प्रतीतिका विषय होता है। और, जब अपनी शक्तिसे (माया या प्रकृतिसे) विलसित होता है तो यह विसृष्टि भी विलस उठती है। फिर भी वह इसके भीतर-बाहर-सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ इसे अनुप्राणित करता रहता है। उसके बिना न तो एक पत्ता हिल सकता है और न एक फूल खिल सकता है। किसीका यह कथन सर्वथा ठीक और सटीक है कि—

तेरी सत्ताके बिना, हे प्रभु जगके मूल।
पत्ते भी हिलते नहीं, खिले न एको फूल॥

'जगके मूल'की जिज्ञासामें प्राच्य प्राचीन तत्त्वदर्शी ऋषियोंने तत्त्वान्वेषणसे जो अनुभव किया उसको गीतामें भगवदुपदेशके रूपमें हम ऐसा पाते हैं कि 'जिससे उत्पन्न होकर यह पुरानी सृष्टि फैली—विकसित हुई (**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**) उसी आद्यपुरुषको प्रपन्न होकर (**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**) हमें उसकी खोज करनी चाहिये—तदर्थ मनन और निदिध्यासन करना चाहिये'।[13] तैत्तिरीयोपनिषद्के ऋषिने उस आदिपुरुषको अव्यक्तरूपमें अनुभव किया और अव्यक्त अथवा अदृश्यके लिये 'असत्' का प्रयोग कर कहा कि **'असद् वा इदमग्र आसीत्'** (२। ७)।[14] ऋग्वेदसे उसकी मान्यताकी पुष्टिके साथ यह भी विदित होता है कि उसी 'असत्'-(अव्यक्त तत्त्व-) से सत् या दृश्यमान जगत्—अभिव्यक्त विश्व—उत्पन्न हुआ।[15] किंतु जो 'असत्' का अर्थ 'असत्य' या विनाशी और 'सत्' का सत्य अथवा अविनाशी (नित्य) समझते थे, उन्हें समझा देनेके लिये छान्दोग्यमें औपनिषद ऋषिने **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्-कथमसतः सज्जायेत ?'**[16] कहकर वस्तुतः उसी तत्त्वको समर्थित किया। यहाँ यह कह देना सुशोभन होगा कि मूलका 'सत्' या 'असत्' तत्त्व 'सच्चिदानन्द'का उपलक्षक (बोधक) है और 'सत्' तथा 'असत्' स्वरूपतः विपरीत दीखनेपर भी एक हैं। यही कारण है कि गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे स्वयंको **'सदसच्चाहमर्जुन'**[17] कहकर भगवत्तत्त्वकी विभुताको सुस्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः भूतमात्रमें जो सत्ताकी प्रतीति होती है, वही जीवमात्रमें चिदंश-विशिष्ट और विकसित जीवोंमें आनन्दांशविशिष्ट होकर सच्चिदानन्दरूप हो जाती है। प्रतीति घटाकाश, महाकाशादिके समान उपाधि-सापेक्ष है। वस्तुतः **'तत्त्व-मेकमेवाद्वितीयम्'** है। और, वह है 'सच्चिदानन्द'-रूप; वही भगवत्तत्त्व है। अस्तु।

पाश्चात्त्य मनीषी हेकल महोदयका यह कथन कि 'मूल प्रकृतिकी वृद्धि होते-होते उसी प्रकृतिमें अपने आपको देखनेकी और स्वयं अपने विषयमें विचार करनेकी चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है', प्राच्य दृष्टिसे ठीक नहीं है; क्योंकि 'असत्'से 'सत्'की उत्पत्ति या विकास होना सिद्धान्तविरुद्ध है। यही कारण है कि सांख्य-सिद्धान्तमें जड़ और चेतन या प्रकृति और पुरुष—इस प्रकार दोकी मान्यता प्रसिद्ध है। फिर भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व तो उन दोनोंसे ही उच्च या उत्तम है—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।'**[18] कम-से-कम भगवान्‌की दिव्य वाणी गीताकी मान्यता तो यही है।

१३—ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ (गीता १५। ४)

१४—छान्दोग्यने भी ३। १०। १ में अव्यक्त अर्थमें 'असत्'का प्रयोग किया है; अतः दोनों ऋचाओंमें तात्पर्यार्थकी भिन्नताकी कल्पना नहीं की जानी चाहिये।

१५—द्रष्टव्य, ऋ० वे० १०। १२९। ४ १६—छा० ६। २। १। २ १७—गीता ९। १९ १८—गीता १५। १७

परमात्मा शब्द आत्मसापेक्ष है, अतः परमात्माका सम्बन्ध-विवेचन संक्षेपतः प्रासङ्गिक है। आत्मा जीव है जो नित्य और विभु होते हुए भी प्रतिपिण्डमें होनेसे विभक्त दीखता है। पर वह है अविभक्त ही—**'अविभक्तं विभक्तेषु ।'** वही परमात्मरूपमें ब्रह्माण्डव्यापी होनेसे अद्वय एवम् अदृश्य है। आत्मा या जीव मायावश हो करके बन्धनमें पड़ा हुआ है—'बँधेउ कीर मरकट की नाईं।' हाँ, यह सत्य है कि ज्ञानसे कर्मबन्धन तोड़कर विशुद्ध आत्मा यानी जीव ही परमात्मा हो जाता है—वह **'सोऽहम्'** से **'शिवोऽहम्'** की अनुभूतिमें प्रतिष्ठित हो जाता है। ज्ञानार्णवमें कहा गया है कि 'विशुद्ध ज्ञानसे कर्मबन्धनको तोड़कर विशुद्ध हुआ यह जीव (आत्मा) ही स्वयं साक्षात् परमात्मा है—यह निश्चय है'।[१९] व्यष्टि रूपमें जो आत्मा **'अणोरणीयान्'**—अणुसे भी अणु (छोटा) है वही समष्टिरूपमें परमात्मा **'महतो महीयान्—'** महान्से भी महान् है। आत्मामें परमात्माका यह सन्निवेश 'बूँदमें सिंधुके समा जाने-जैसा आश्चर्यजनक है जिसे कहते ही नहीं बनता; क्योंकि खोजनेवाला अपने आपमें भूला हुआ है—भटक रहा है'।[२०] संत-नानकको तो ऐसा लगता है कि 'पानीमें मछली प्यासी मर रही है, अतः उन्हें लोगोंकी इस अबोधतापर हँसी आ जाती है'—

'पानीमें मीन पियासी रे, मोहि सुनि सुनि आवत हाँसी।'

महात्मा तुलसीदास भी उस सुधासमुद्र परमात्माको छोड़कर विषयरूपी मृगजलके पीछे दौड़कर मरनेवालोंको समझाते हुए मानसमें कहते हैं कि—

'सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृग जल पेखि मरहु कत धाई।'

निचोड़ यह कि वह मूल 'सत्' (अथवा अव्यक्त अर्थमें असत्) तत्त्व (परमात्मा) अन्ततः ज्ञान-निर्धूत, कर्मबन्धनसे निर्मुक्त आत्मा ही ठहरता है जो अवतारोंमें अधिक स्पष्टतासे भलीभाँति समझा जा सकता है।

सत्तत्त्व परमात्माके रूपमें जब अपनी अचिन्त्य चिन्मय शक्तिसे[२१] नामरूपकी उपाधि धारण कर अनन्त शील-शक्ति-सौन्दर्य-गुणोंसे विमण्डित हो जाता है तो हम उसे 'अवतार' कहते हैं। अनन्त शक्तिमान् शीलनिधान लोकाभिराम श्रीराम और शील-शक्ति-सौन्दर्यके समुद्र साक्षात् मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्ण ऐसे ही अवतार हैं। अतः भगवत्तत्त्व या ब्रह्मसे श्रीरामकी तत्त्वतः अभिन्नता सूचित करनेके लिये ही मानसकार महात्मा तुलसीदासने अपने 'मानस'में **'सोइ सच्चिदानंदघन रामा'** और विश्वके मूलतत्त्वसे ऐक्य स्थापित करनेके लिये ही **'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि'** कहा है तथा उनसे बहुत पहले विशाल बुद्धि व्यासदेवने भागवतमें **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**का उद्घोष कर दिया था। महात्मा तुलसीदासके समकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक एवं भावुक भक्त मधुसूदन सरस्वतीने तो अपने मतकी वैजयन्ती इस श्रेष्ठ सूक्त सूक्तिके रूपमें फहरायी कि—**'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।'** परवर्ती आचार्यों और भक्तोंने सूक्ष्म विवेचनसे भगवत्तत्त्वका प्रकाश-प्रकर्ष और बढ़ा दिया और अवतार तथा अवतारीमें अभेद प्रतिपादित होने लग गया। वस्तुतः रूपभेद होनेपर भी स्वरूपमें अभेदता ही है।

अतः निष्कर्षरूपमें कहना चाहिये कि सृष्टिके मूलका सूक्ष्मतम सत्य तत्त्व जो आकाशसे भी सूक्ष्म और व्यापक है तथा जिसकी प्रतीति 'है'-जैसे शब्दोंसे

१९–अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः। विशुद्धज्ञाननिर्धूतकर्मबन्धनसमुत्करः ॥ (ज्ञानार्णव २१। ७। २३१)

२०–बूँदहि सिंधु समान यह अचरज कासों कहौं। हेरनहार हेरान रहिमन आपुहि आपुमें ॥

२१–प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।

होती है वह 'सत्' ही (जिसे अव्यक्त अर्थमें वेदोपनिषदोंमें 'असत्' भी कहा गया है और गीतामें जिसे समेटते हुए भगवान्‌ने अपने स्वरूप-कथनमें सदसच्चाहम्[22] बतलाकर एवं महात्मा तुलसीने 'ईस्वर सर्बभूतमय अहई'[23] कहकर और अधिक स्पष्ट कर दिया है,) भगवत्तत्त्व है। वह भूतमात्रमें तो सत्—सत्तारूपमें तथा जीवमात्रमें सत-चित्-आत्मक—सच्चिदात्मकरूपमें और विकसित मनुष्यादि प्राणियोंमें सच्चिदानन्दात्मक-रूपमें[24] अनुभवनीय है। अवताररूपोंमें—विशेषत: श्रीराम-कृष्णमें उस तत्त्वका प्रत्यक्षीकरण और अधिक स्पष्ट हो जाता है। वह मूलतत्त्व व्यापकदृष्ट्या ब्रह्म, व्यष्टिरूपमें सर्वान्तर्यामी आत्मा और समष्टिरूपमें कर्म-बन्धन-निर्मुक्त 'परमात्मा' कहा जाता है। महाभारतमें भृगुने भरद्वाजसे परमात्मा शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—'जब आत्मा प्रकृतिमें या शरीरमें बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं, और वही प्राकृत गुणोंसे मुक्त यानी प्रकृति या शरीरके गुणोंसे मुक्त होनेपर परमात्मा कहलाता है'—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥
(शा० ८७। २४)

वही परमात्मतत्त्व जब शील-शक्ति-सौन्दर्य-विमण्डित हो जाता है—ऐश्वर्यादि षड्गुणविशिष्ट होकर नाम-रूपकी उपाधि धारण कर लेता है—तब 'भगवान्' बन जाता है।[25] फिर तो भगवान् श्रीरामकी पूर्वकथित 'सोइ सच्चिदानंदघन रामा' और श्रीकृष्णकी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्'**[26] से भगवत्तत्त्वकी अभिन्नता सहज ही बोधित होने लग जाती है। गीतामें अर्जुनने भी वास्तविक बोध हो जानेपर उस तत्त्वसे अभिन्न श्रीकृष्णके लिये कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

भागवतकारने प्रथम स्कन्धमें ही स्पष्ट कर दिया है कि 'तत्त्व' (अर्थात् ज्ञान) 'ब्रह्म', परमात्मा और 'भगवान्'—ये पर्याय हैं।[27] इनके विशेषणांशमें किंचिद् भेद रहनेपर भी विशेष्यांशमें वास्तविकरूपमें अभेद है। उसी भगवत्तत्त्व-(अद्वयसच्चिदानन्द-) के सर्जन-संरक्षण-संहरण क्रिया-सापेक्ष भगवद्रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र या महेश; और, भगवतीरूपमें हैं—महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। उस तत्त्वकी अनुभूति सत्तात्मक रूपमें जड़मात्रमें, सत्-चिदात्मककी जीवमात्रमें और विकसित जीवों-(उन्नत प्राणियों-) में सत्ता-चेतनाके साथ आनन्द-रूपमें सन्तों, महात्माओं और भक्तोंने सदैव की है और आगेकी पीढ़ियोंके लिये **'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'** 'घट-घट ब्यापक राम' और 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' कहकर मार्ग-दर्शन करा दिया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों और दर्शनोंका सामान्य निष्कर्ष यही है और इसी तत्त्वका अनुसन्धान, अन्वेषण हमारा कर्तव्य है—**'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्।'**

२२–सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्यसृष्टि दोनों मैं ही हूँ। (गीता ९। १९)
२३–रा० च० मा० (७। ११०। ८)
२४–मन्तव्य०–मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान्। (मानस ६। १५ क)
२५–विष्णुपुराण ६। ५। ७४। २६–श्रीमद्भागवत १०। २८। १५ २७–द्र० श्रीमद्भा० १। २। ११

श्रद्धा और प्रेमके क्षेत्रमें भगवत्तत्त्व—भागवतधर्म (१)

भगवत्तत्त्व दर्शनके क्षेत्रमें विचार और चिन्तनका तथा धर्मके क्षेत्रमें श्रद्धा और प्रेमका विषय है। श्रद्धा और प्रेम भगवत्तत्त्व-प्राप्तिकी साधनाके उपजीव्य उपकरण हैं। इन्हींसे भक्ति पुष्ट होती है—भक्तिमें श्रद्धा और प्रेम दोनोंका योग होता है। इन दोनोंके तारतम्यसे भक्तिके कई भेद हो जाते हैं। जीव, जगत् और ईश्वर-को विशेषरूपसे लेकर चलनेवाली भावनामें श्रद्धाकी मात्रा अधिक दीखती है, पर केवल भगवन्निष्ठ भावनामें प्रेमाधिक्य दीखता है; क्योंकि प्रेम ऐकान्तिक और श्रद्धा अनैकान्तिक होती है। पर भागवतधर्मकी व्यापकतामें श्रद्धाकी साधना और प्रेमकी निष्ठा—दोनों परिष्कृत होकर प्रतिफलित हुई हैं। यही कारण है कि भागवतधर्म अपनी परिनिष्ठित अवस्थामें निष्कामकर्मयोगसे मिश्रित होकर भक्तिके रूपमें उभरा, जो आज कालक्रमसे वैष्णवधर्मके रूपमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति एवं पूजा-अर्चाकी विशिष्ट पद्धतिके रूपमें विकसित है।

भागवतधर्मके प्रथम उन्नायक स्वयं नारायण हैं। इसकी परम्परा अत्यन्त पुरानी है, पर इसका इतिहास समानमतोंका समन्वित विकास है। महाभारतकालमें भागवतधर्मकी परिष्कृति हुई है। सात्वतोंमें यह धर्म परममान्य हुआ था, इसीलिये इसे 'सात्वतधर्म' भी कहा गया है। श्रीकृष्णावतारके समय पाञ्चरात्रमत भागवत-धर्ममें परिणत हो गया और सात्वतोंमें बहुमान्य होनेसे 'सात्वतधर्म' भी कहा गया। वस्तुतः महाभारतीय नारायणीयोपाख्यान भागवतधर्मकी ही व्याख्या करता है जिसे गीताके चौथे अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्ने 'योग' कहकर सर्वप्रथम 'विवस्वान्' को बतानेकी बात कही है। इसकी जिस परम्पराका निर्देश वहाँ किया है, वह नारायणीय धर्मकी द्वापरयुगीन अन्तिम परम्परासे भिन्न नहीं है। हाँ, वही धर्म जब अर्जुनको उपदिष्ट हुआ तो उसमें भगवत्समर्पणकी बात लोकसंग्रही आधारपर निष्कामकर्म-योगसे अभिनिविष्ट हो गयी। निदान, भागवतधर्म भक्तिके प्रशस्त क्षेत्रमें ज्ञानकर्मके समुच्चयके साथ आ तो गया, पर उसमें भक्तिका पुष्टरूप प्रतिफलित नहीं हुआ। हाँ, आगे चलकर श्रीमद्भागवतसे उसमें भक्तिकी विशिष्ट प्रधानता हो गयी; और, अब इसका विशिष्टरूप एक सम्प्रदाय-(वैष्णव-सम्प्रदाय-) के रूपमें प्रतिष्ठित है। किंतु इसके प्रारम्भिक रूपका रक्षात्मक प्रचलन आज भी दक्षिणमें है, जहाँ यह स्मार्तमतकी भाँति असाम्प्रदायिक रूपमें मान्य है। द्रविड़, तेलंग, कर्णाटक और महाराष्ट्रमें बीचमें गोपीचन्दनकी रेखावाले ऊर्ध्वपुण्ड्रको धारण किये हुए वैष्णव अब भी पर्याप्त संख्यामें विद्यमान हैं। ये नारद-भक्तिसूत्र और शाण्डिल्यभक्तिसूत्रोंके अनुयायी हैं। इनकी उपनिषदें 'वासुदेव' और 'गोपीचन्दन' हैं। इनका पुराण श्रीमद्भागवत है। यही क्यों, प्रत्युत यही ग्रन्थ इनके मत या धर्मका प्रमुखतम ग्रन्थ है। अन्तःसाक्ष्य है कि भागवतकार महाभारतका ज्ञानसागर प्रस्तुत कर जब विश्राम न पा सके तब उन्होंने 'अच्युतभावपूर्ण' भागवत-धर्मीय श्रीमद्भागवतपुराणकी रचना की।' यद्यपि भागवतधर्मके मुख्य प्रतिपादक पाञ्चरात्रग्रन्थ, नारायणी-योपाख्यान, गीता, नारदभक्ति-सूत्र और शाण्डिल्यभक्तिसूत्र हैं तथापि उसकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवतमें ही हो पायी है। यही कारण है कि कुछ लोग भागवतधर्मका मूल श्रीमद्भागवतको मान लेते हैं और उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थोंको आँखोंसे ओझल कर देते हैं। परन्तु, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, भागवतधर्मकी प्राचीनता श्रीमद्भागवतके निर्माणके बहुत पहलेकी है।

—रा० व० त्रिपाठी

आचार्य शंकर-प्रदर्शित ब्रह्मोपलब्धिके सहज साधन

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी, देवशर्मा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०, विद्यार्णव)

बादरायणरचित 'ब्रह्मसूत्र'में ब्रह्मका स्वरूप निरूपित है। आचार्य शंकर भगवत्पादने 'शारीरक' भाष्यमें जो उसकी व्याख्या की है, प्रायः स्वल्पान्तरसे वही बात निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, चैतन्य प्रभृतिके सम्प्रदायोंमें कहीं किंचित् अन्तरित होकर द्वैत, द्वैताद्वैत, विशुद्धाद्वैत, अचिन्त्य-भेदाभेद-प्रभृति मतोंके भी निर्माणमें हेतु बनी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्त'सूत्र सनातनधर्मका प्रधान उपजीव्य दर्शन-शास्त्र है।

आचार्य शंकर शुष्क वेदान्ती मात्र न थे

साधारण धारणानुसार भगवान् शंकराचार्य एक कठोर ज्ञानमार्गी संन्यासी थे। उनको किसीने 'मायावादी', किसीने जातपात-छूआ-छूत माननेवाला ब्राह्मण पण्डित, किसीने समाज-सुधारक और किसीने 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया। पर जिन भगवत्कल्प महापुरुषने मात्र ३२ वर्षकी स्वल्पायुके भीतर अलौकिक प्रतिभा एवं अमानुषिक परिश्रमकर नास्तिक बौद्धमतको निरस्त कर दिया और भारतमें सनातन वैदिक धर्मको पुनरुज्जीवित किया, जिनका उपनिषद्भाष्य आज यदि न होता तो ब्रह्मज्ञानका पथ ही चिरकालके लिये अवरुद्ध हो जाता। जिनके द्वारा प्रतिष्ठित दसनामी संन्यासी सम्प्रदाय चार धामके मठोंसे आजतक ज्ञान-योग, राजयोग तथा भक्तिके अविरत स्रोत प्रवाहितकर आदर्श त्यागके जीवन भारतवासियोंके समक्ष रखकर मोक्षके उपाय प्रदर्शित करते आ रहे हैं, उन शंकरके साक्षात् अवतार-स्वरूप आचार्यदेवके प्रति इस प्रकारकी धारणा तथा आचरण मात्र नास्तिकोंकी हीन आत्मघाती भावनाका ही परिचायक है—

महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति
स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः।
स नूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते

(संक्षेप शारीरक १। १३)

विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम्।'

मध्याह्न-सूर्यके ऊपर फेंका हुआ थूत्कार अपने ही मुँहपर गिरता है—

शंकराचार्य वैष्णव प्रधान श्रीकृष्णके परम भक्त थे

सच तो यह है कि भगवान् शंकराचार्य केवल अद्वैत मार्गके पथिक या प्रतिष्ठातामात्र न थे, वस्तुतः आप बहुत कुछ थे। आप वेदान्तनिष्ठ योगेश्वरेश्वर थे, यह तो चिरप्रसिद्ध है ही, परंतु आप एक श्रेष्ठ वैष्णव, भक्तराज, कीर्तन और भगवन्नाम प्रेमी भी थे। श्रीकृष्ण भी उनके परमोपास्य इष्ट थे। वे कहते हैं—

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि।

(गङ्गाष्टक ७)

'देवि ! मैं आपके तटपर जलमात्र पानकर विषय-वासनासे वितृष्ण होकर केवल श्रीकृष्णकी आराधनामें रहूँ।' पुनः 'प्रबोधसुधाकर'में वे कहते हैं—

प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥२४३॥

'त्रिभुवनका आधिपत्य जिनका दानमात्र है, सो प्रभु एवं आदिकारण हमारे कुलदेवता यदुपतिकी जय हो।' इन श्लोकोंसे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण आचार्य शंकरके इष्ट तथा कुलदेवता थे। इसके पूर्व आपने 'प्रबोध-सुधाकर'में कहा है—**'तस्मादवताराणामन्तर्यामी प्रवर्तकः कृष्णः।'** (२४१)

यहाँ 'भागवत'का **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**के भाव हैं। वे मात्र अवतार नहीं हैं, परंतु आचार्यचरणोंके मतमें वे सभी अवतारोंके अवतारी हैं। फिर—

अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥
(प्रबोधसु० श्लोक २५०)

'श्रीकृष्णके चरणकमलध्यानमें एकाग्रताके प्रार्थी हमें लौकिक लाभ, राजदण्ड, स्वर्ग और मोक्षसे क्या करना है?' यह तो सिद्धाभक्तिके फलस्वरूप सालोक्य, सार्ष्टि (सारूप्य), सामीप्य तथा सायुज्य केवल इन पञ्चप्रकारमुक्तिके भी परे पर निर्वाण अर्थात् स्वरूप ब्रह्मस्वरूपका वर्णन है। इसमें द्वैतसम्पर्क नहीं। न तो यहाँ कोई दाता है, न ग्रहीता।

व्रजलीला और गोपीप्रेमकी कथा

आचार्यपादने 'प्रबोधसुधाकर'में श्रीकृष्णके सभी व्रज तथा माथुर लीलाओंका वर्णन किया है। आप श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी तरह ही गोपी-प्रेमके सर्वोच्चभावसे भी सुपरिचित थे और उसकी उपयुक्त मर्यादा भी बाँधी थी। 'श्रीमद्भागवत' रासपञ्चाध्यायी'से आपने उद्धरण किया—

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह॥
(प्र० सु० २२२)

'किसी गोपीने कृष्णवत् होकर पूतनानुकारिणी किसी अपर गोपीका स्तनपान किया। साक्षात् नारायण व्यासजीने कहा है।' लक्ष्यका विषय यह है कि 'भागवत'के आर्षप्रयोगको आचार्यपादने ज्यों-का-त्यों रखा है। यहाँ गोपीगणकी श्रीकृष्ण तन्मयत्व साधनाकी विवृति है। इसका फल है—कृष्णरतिभोग, जो ग्राम्य-सुख नहीं, योगानन्दका लाभ है।

तस्मान्निजनिजदयितान् कृष्णाकारान् व्रजस्त्रियो पश्यन् स्वपरनृपतिपत्नीरन्तर्यामी हरिः साक्षात्।
(प्रबोधसु० २२३)

उक्त प्रमाणसे सिद्ध होगा कि व्रजरमणीगण श्रीकृष्णमें तन्मयता भाववश निज-निज पतिको कृष्णाकारमें दर्शन कर रही थीं और श्रीकृष्ण तो स्वजन-परजन, पति एवं पत्नी सभीके साक्षात् अन्तर्यामी ही थे। जब श्रीकृष्ण अन्तर्यामी हैं, तो कौन उनका पर था कि परस्त्रीहरण घट पाता?

श्रीराधाके उल्लेख

आचार्यपादने कई स्तोत्रोंमें राधिकाका भी उल्लेख किया है। स्थानाभावसे यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१)

परो बर्हापीडः कुवलयदलोत्फुल्लनयनो
निवासो नीलाद्रौ निहितचरणानन्तशिरसि।
रसानन्दो राधा सरसवपुरालिङ्गनसुखे
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥
(जगन्नाथाष्टक ६)

'जो परात्पर मयूरपिच्छशेखर हैं, जिनके आनन्दोत्फुल्ल नयन पद्मपलास-सदृश हैं, जिनका निवास नीलाचल एवं चरणयुगल अनन्तदेवके मस्तकपर स्थापित हैं, जो रस तथा आनन्दस्वरूप हैं, श्रीराधिकाके सरस देह-आलिङ्गनमें ही जिनका सुख है, वह जगन्नाथस्वामी मेरे नयनपथके पथिक हों—

देवकीतनय दुःखदवाग्ने राधिकारमण रम्य सुमूर्ते॥
(अच्युताष्टक ४)

१—कुछ लोग 'भागवत'को अर्वाचीन, ईसाकी १४वीं शतीमें बोपदेवद्वारा प्रणीत कहकर दुराग्रहपूर्ण सर्वथा मिथ्या कुतर्क उठाते हैं। यह निश्चित है कि स्वयं शंकराचार्यने इसे 'रासपञ्चाध्यायी'से उद्धृत किया है, साथ ही इसके अन्य वचन ईसापूर्व ५ वीं शतीतकके अनेक ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं, अतः 'भागवत' कदापि आधुनिक एवं जाली (जैसा दयानन्दजीका मत है) नहीं है। निःसंदेह यह ज्ञान-वैराग्य एवं अद्भुत दिव्य पाण्डित्यपूर्ण महान् ग्रन्थ साक्षात् परमहंस शुक-प्रोक्त परमहंससंहिता एवं महर्षि कृष्णद्वैपायनद्वारा ही प्रणीत है। (लेखक)

'आप देवकी-पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए। आप मानवगणके दुःख-काननके दावानल-स्वरूप हैं। हे राधिकारमण! आपकी मूर्ति अतीव मनोहर है।'

'माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।' (अन्य अच्युताष्टक २)

'माधव, श्रीधर—जिनकी श्रीराधिकाने आराधना की—

'राधाधरमधुरसिका रजनीकरकुलतिलकाः ॥
(नारायणगीति १०)

'वारिजभूषाभरण राधारुक्मिणीरमणः।'
(ऐ० १२)

'हे श्रीराधाधरमधुरसके रसिक, चन्द्रवंशतिलक। हे कमलकुसुमाभरणमंडित, हे राधारुक्मिणीरमण।'

श्रीकृष्ण-चरणकमलमें भक्ति ही उनकी प्राप्तिका प्रकृष्ट उपाय है

'प्रबोधसुधाकर'में आचार्य शंकरने सगुण उपासनाका सहज सरल पथ निर्देश किया है। आपने—**'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च** (बृहदा० उप० २।३।१) इस श्रुति-मन्त्रको भी उद्धृत कर ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त ये दो रूप बतलाये हैं। श्रीकृष्णचरणोंमें भक्ति ही उनको प्राप्त करनेका सहज एवं सरल उपाय है। आचार्यपादने गीतासे **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।'** (१२।५) प्रभृति प्रमाणके उल्लेखद्वारा हरिभक्तिसे ज्ञान-लाभकी विधिके मूल तत्त्व (बीज)पर प्रकाश डाला है। श्रीकृष्ण-भक्तिके स्थूल और सूक्ष्म दो भेद हैं। प्रारम्भमें स्थूल भक्तिसे साधन होता है। उसके बाद सूक्ष्म भक्ति आविर्भूत होती है—

स्थूल भक्ति-प्रकरण

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्।
विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः संगमः शश्वत् ॥
कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च।
परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता ॥
ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्।
यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता ॥
(प्रबोधसु० १७२—१७४)

"जिसका जो वर्ण और आश्रम तथा तद्रूप धर्मानुष्ठान एवं व्यवहार है, उसे पालते हुए विविध उपचारसहित नित्य श्रीकृष्ण-विग्रह-पूजा और उत्सव करना चाहिये। बारंबार हरिभक्तोंके सङ्ग तथा श्रीकृष्ण-कथा-श्रवणसे महान् आनन्द होता है। परस्त्री, परधन तथा परनिन्दामें विमुखता, साधारण ग्राम्यकथा-चर्चासे उद्वेग-बोध, सुतीर्थयात्रामें तत्परता, श्रीकृष्णकी लीलाकथा-विच्छेदसे वृथा आयुक्षय हो रहा है,' ऐसी भावना—इस प्रकार स्थूल भक्ति करते रहनेपर श्रीकृष्णकथा अर्थात् भगवन्नामके अनुग्रहसे क्रमशः सूक्ष्म-भक्तिका उदय होकर श्रीकृष्ण अपने भक्तके हृदयमें प्रविष्ट होते हैं।"

ध्यान-विधि-प्रकरण

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि न्यस्य ॥
तिष्ठन्तं घनशीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम् ॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सकौस्तुभोदारमणिहारम् ॥
(प्र० सु० १८४—८६)

आचार्यपादने श्रीकृष्णध्यानका इस प्रकार सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं—'श्रीहरि यमुना-तटपर परमरमणीय वृन्दावनकाननमें कल्पतरु पादेशमें बायें चरणपर (दक्षिण चरणका) विन्यासकर त्रिभङ्गमुद्रामें पीताम्बर-परिधान घनश्याम-वर्ण अथ च निज तेजद्वारा विश्वको उद्भासित कर रहे हैं। उनके नयनयुगल आकर्ण विस्तृत, दोनों कर्णमें कुण्डल, सर्वाङ्ग चन्दन-कर्पूरलिप्त, मुखकमलपर मृदु हास्य है। कौस्तुभमणि हार, वलय, अङ्गुलीय आदि अलंकार गलेमें निलम्बित वनमालाको उज्ज्वल कर अपने तेजसे कलिकालको दूर

कर रहे हैं। गुञ्जापुञ्जसमन्वित उनके शिरोदेशपर अलिकुल गुञ्जन कर रहा है। आप गोपबालकोंके साथ भोजनरत होकर कुञ्जवनमें स्थित हैं।' यह कृष्णमूर्ति स्मृति-पुराणादिद्वारा अनुमोदित है, यह कह देना पर्याप्त है।

सूक्ष्म-भक्ति प्रकरण

स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रितायां　　हरेर्मूर्तौ।
मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥
सत्यं　समस्तजन्तुषु　कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्।
अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥
प्रमितयदृच्छालाभे　　　संतुष्टिर्दारपुत्रादौ।
ममता　शून्यत्वमतो　निरहंकारत्वक्रोधः॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता।
सुखदुःखशीतलोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्

(प्रबोधसु० १७६—७९)

'ब्रह्मसंहिताप्रभृति स्मृतियाँ तथा विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवतप्रभृति सात्त्विक पुराणोंके अनुसार श्रीहरिमूर्तिमें मानस ध्यान, पूजाके अभ्यास, निर्जनवास-तत्परता, सत्य आचरण, समस्त भूतमें कृष्णावस्थानज्ञान, प्राणसमूहमें अद्रोह—उससे उत्पन्न भूतदया, यादृच्छिक स्वल्पलाभमें संतोष, स्त्री-पुत्रादिके प्रति ममता-त्याग, निरहंकारित्व, अक्रोध, मृदुभाषिता, प्रसन्नभाव, निज-निन्दा तथा स्तुतिमें समभाव, सुख-दुःख-शीतोष्णादिमें द्वन्द्व-सहिष्णुता, विपद्में निर्भीकता, निद्रा, आहार-विहारमें अनादर, निःसंगभाव, लौकिक वाक्य प्रयोगमें अनवसर, श्रीकृष्णस्मरणमें शाश्वती शान्ति, कोई भी श्रीकृष्ण-कीर्तन वा वंशीवादन करनेपर आनन्दाविर्भाव तथा युगपत्, अष्ट सात्त्विक भावका उद्रेक—ये भाव स्थायी होनेपर आनन्दमय अवस्था होती है। फिर क्रमशः सर्वजीवमें भगवद्भावदर्शन एवं भगवान्में सर्वभूतदर्शनका होगा। इस प्रकार हरिदास श्रेष्ठ होते हैं।

कलिमें नाम-कीर्तन एवं लीला-चिन्तन शंकरके मतमें भगवत्प्राप्तिके श्रेष्ठ लघूपाय हैं

आचार्य शंकरने कई स्थानोंपर कहा है कि कलिकालमें भगवन्नाम ही श्रेष्ठ उपाय है। आपने नाम-माहात्म्य-स्थापनके लिये 'विष्णुसहस्रनामभाष्य'[1] एवं 'ललितात्रिशती' भाष्य का प्रणयन किया—

हरेर्नामैव　नामैव　नामैव　मम　जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।१९०)

इस प्रसिद्ध वचनको आचार्यपादने 'विष्णुसहस्रनाम भाष्य' (१०)में उद्धृत कर जगत्के समक्ष स्थापित किया। इसी श्लोकका प्रायः डेढ़ सहस्राब्दि बाद[2] कुछ परिवर्तित रूपमें श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवने भी बड़ा प्रचार किया था। इसमें संदेह नहीं कि आचार्य शंकर-भगवत्पाद आदर्शमें अद्वैतवादी थे, किंतु सर्वसाधारणके लिये सगुण उपासना, मूर्तिपूजा, नामकीर्तनप्रभृति प्रणालीकी आपने सम्पूर्ण अनुमोदन किया और उसके लिये अनुशीलनके लिये बहुत प्रचार किया। वैदिक वर्णाश्रमी सनातनधर्मकी यही मुख्य आधारभित्ति है। इसलिये नामकीर्तन, अर्चा, (मूर्ति)-उपासनादि सदैव वैदिक याग-क्रियाके साथ-साथ ही अनुष्ठेय रहे हैं।

१—आचार्यपादने पद्मपुराण (उत्तर २७१)के वासुदेव सहस्रनामका भाष्य भी प्रणयन किया था। ('कल्याण'भागवताङ्क)

२—इधर पं० उदयवीर शास्त्रीके 'वेदान्त-दर्शन'के इतिहास भाग १ तथा काञ्ची-मठके द्वारा 'पाल ऐण्ड कम्पनी' मद्राससे प्रकाशित 'The Age of Shankar' पुस्तकके आधारपर आचार्यका स्थितिकाल ५०९—४७७ ईसा पूर्व निश्चित किया गया है। इसमें शारदा, गोवर्धनादि ३ अन्य मठोंकी समयतालिकाओंकी भी सहमति है। इसके अनुसार महाप्रभु चैतन्यका समय आचार्य शंकरके १८०० वर्ष बाद होता है। कल्याण वर्ष ११में पहले भी इस आशयके दो लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्यके विचार

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

विशाल विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक ऐसा कोई भी सचेतन मननशील व्यक्ति न हुआ, न है और न होगा, जिसके मनमें कठोपनिषद्का **'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'**—यह सब प्रश्नोंका एक प्रश्न न उठा हो और उत्तर पानेके लिये उसको बार-बार व्याकुल न किया हो कि 'जन्म लेनेसे पहले मैं था अथवा नहीं ? यदि था तो क्या, कहाँ और कैसे था ? मैं कहाँसे आया हूँ ? इस समय मैं क्या हूँ ? मैं कब मरूँगा और इसके बाद मेरा अस्तित्व रहेगा या नहीं ? यदि मेरा अस्तित्व रहेगा तो मैं क्या, कहाँ और किस प्रकार रहूँगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ? मेरा अन्तिम लक्ष्य क्या है ? और उसे प्राप्त करनेका साधन क्या है ?' बुद्धिमान् और मूर्खमें इतना ही अन्तर है कि बुद्धिमान् इस समस्यापर लगातार अध्ययन, ध्यान, विचार और विमर्श करता जाता है, जबतक इसका रहस्य उसके सामने प्रकट नहीं हो जाता, किंतु मूर्ख ऐसी समस्याओंको हल करनेके लिये आवश्यक मानसिक और बौद्धिक योग्यतासे रहित होनेके कारण, इनसे शीघ्र तंग आकर निराशावश इनको छोड़ बैठता है। परंतु इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि चिन्तनशील और मूर्ख दोनों ही अपने हृदयमें अपने-आप उठनेवाले इस प्रश्नका अनुभव समानरूपसे करते आये हैं और सदा अनुभव करते रहेंगे। अन्तर केवल परिणाममें है।

आवश्यकता

किंतु यह एक ऐसा विषय है, जिसपर सभी विचारशील पुरुषोंको गम्भीरतापूर्वक विचार, सावधानीसे जाँच और यथावत् निर्णय करना चाहिये; क्योंकि यह स्वयं सिद्ध है कि जबतक हमें अपने गन्तव्य स्थानका पता नहीं होगा तबतक सम्भवतः हम उस लक्ष्यतक पहुँचानेवाले मार्ग और साधनका विचार भी नहीं करेंगे। और कुछ नहीं तो अपनी साधारण मानसिक शान्तिके लिये भी इन समस्याओंका हल करना परम आवश्यक है कि हम क्या थे, क्या हैं और क्या होना चाहते हैं तथा किस प्रकार अपनी वर्तमान स्थितिसे उस स्थितिपर पहुँच सकते हैं जहाँ हमें पहुँचना चाहिये अथवा जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं।

इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिये कि आत्माकी उपाधि, गुण और स्वरूप अथवा वैज्ञानिक भाषामें, उसके लक्षण क्या हैं, इत्यादि, इत्यादि। इसलिये हम संक्षेपमें उन पहलुओंका विचार करेंगे जिन पहलुओंसे इस प्रश्नकी मीमांसा की जा सकती है और यह निश्चय करेंगे कि इस प्रश्नपर गम्भीर विचार करनेपर उसका निश्चित और अन्तिम उत्तर क्या हो सकता है।

पद्धति—इस प्रयत्नमें हम श्रवण और मननकी भारतीय पद्धतिका अनुसरण करेंगे अर्थात् शास्त्रोंके अवलोकनसे प्रारम्भ करके इन प्रश्नोंपर विभिन्न तार्किक दृष्टियोंसे समालोचनात्मक और विश्लेषणात्मक विचार करते हुए यह निश्चय करेंगे कि शास्त्र और तर्क दोनोंका इस विषयपर कहाँतक अविरोध है।

सनातनधर्मके ग्रन्थ—हमें चाहिये कि हम इस पद्धतिका आश्रय लेकर सत्यके सच्चे और उद्योगी अन्वेषककी भाँति अपनी बुद्धिको राग-द्वेष और पक्षपातसे मुक्त कर लें और ईश्वर, जीव तथा संसारके पारस्परिक सम्बन्धका विचार करना प्रारम्भ कर दें। श्रवण अर्थात् एतद्विषयक शास्त्रीय सिद्धान्तके सम्बन्धमें सबसे आवश्यक ध्यान देनेकी बात यह है कि यदि कुछ क्षणके लिये हम इसके अतिरिक्त अन्य विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले

शास्त्रोंको अलग कर दें और केवल इसी विषयका विचार करनेवाले वेदादि शास्त्रोंको लें तो हमें उनके अन्दर इस बातमें आश्चर्यजनक समानता मिलेगी कि वे ईश्वर, जीव तथा जगत्‌को भिन्नताका प्रतिपादन नहीं करते; केवल इतनी ही बात नहीं है, अपितु इस प्रकारके (भिन्नताप्रतिपादक) विचारोंका निषेध भी करते हैं। दूसरे शब्दोंमें वे शुद्ध अद्वैतवादका उपदेश करते हैं। इस प्रकारके हजारों वचनोंमेंसे उद्‌धृत किये कुछ थोड़े-से चुने हुए वचन यहाँ नीचे दिये जाते हैं—

१–**'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।'** (एक ही ईश्वर सब भूतोंमें छिपा हुआ है; वह सर्वत्र व्याप्त और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है ।)

२–**'नेह नानास्ति किञ्चन ।'** (सम्पूर्ण विश्वके विभिन्न पदार्थोंमें परमार्थतः कुछ भी अन्तर नहीं है—इसमें नानात्व नहीं है ।)

३–**'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।'** (जो विश्वमें नानात्व देखता है, वह जन्म-मरणके अनन्त चक्रमें पड़ता है ।)

४–**'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।'** (द्वैतकी कल्पनासे ही भय, सन्देह, चिन्ता, संघर्ष, घृणा और संसारके अन्य दुःख उत्पन्न होते हैं ।)

५–**'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।'** (जब कुछ भी द्वैतकी भावना मनुष्यको होती है तो उसे भय होना प्रारम्भ हो जाता है ।)

६–**'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।'** (इस पुरुषके भीतरका आत्मा और सूर्यके भीतरका आत्मा एक ही है ।)

७–**'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।'** (सच्चे ज्ञानीको सब पदार्थ आत्मरूप दिखायी पड़ते हैं ।)

८–**'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।'** (जो सब पदार्थोंमें अभेद देखता है उसको न अज्ञान है और न शोक ।)

९–**'यस्मिन्नेकस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** (जिस एकके जान लेनेसे संसारके सारे पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है ।)

१०–**'ईशावास्यमिदं सर्वम् ।'** (सारा संसार एकमात्र ईश्वरसे व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये ।)

११–**'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ।'** (यह सारा विश्व ईश्वररूप है ।)

१२–**'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।'** (हे श्वेतकेतो ! आत्मा ऐसा है, और तुम वही हो ।)

इन विस्तृत विभिन्न वचनोंके अतिरिक्त यह सारगर्भित बात ध्यान देनेकी है कि मुक्तिकोपनिषद्‌में भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीहनुमान्‌जीको एक सौ आठ उपनिषदोंकी विस्तृत नामावली और विवरण देते हुए कहते हैं कि इन सबका सार माण्डूक्योपनिषद्‌में मिलता है (**—'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ।'** *अर्थात्* भवबन्धनसे मोक्ष चाहनेवालोंके लिये केवल माण्डूक्य ही पर्याप्त है) । माण्डूक्योपनिषद्‌का प्रारम्भ इन मन्त्रोंसे होता है—

१३–१४–**'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ।'**

(अर्थात्—पवित्र ओंकार अक्षर-(ईश्वर-)का प्रतीक है, सब कुछ उसीकी अभिव्यक्ति है; जो कुछ था, है या होगा सब ओंकार है, और जो कुछ त्रिकालातीत है वह भी ओंकार ही है; यह सारा विश्व ब्रह्म है, यह (व्यष्टि) आत्मा भी ब्रह्म है ।) इसके पश्चात् माण्डूक्योपनिषद् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें जीवात्माकी (भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त) सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा तथा ओंकारके साथ (जो दोनों मिलकर भगवान्‌के स्वरूपको व्यक्त करते हैं) एकता दिखलाती है ।

※

यह माण्डूक्योपनिषद्, जिसमें केवल बारह छोटे-छोटे मन्त्र हैं और जो इसीलिये अन्य सब उपनिषदोंसे छोटी है, किंतु भगवान् रामचन्द्रजीने जिसे योग्यतामें सबसे बड़ी बताया है, भगवान् आदि जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैतसिद्धान्तका प्रतिपादन करती है। वास्तवमें माण्डूक्योपनिषद् और अद्वैत पर्यायवाची शब्द हैं। माण्डूक्योपनिषद्का मानना और अद्वैतसिद्धान्तको न मानना स्पष्टतः परस्पर विरुद्ध है।

जो श्रुतियाँ ईश्वरद्वारा सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करती हैं, वे भी इस विषयका स्पष्ट निर्देश करती हैं—

१५–**'सच्च त्यच्चाभवत्।'** (वह स्वयं स्थूल और सूक्ष्म जगत् बन गया।)

१६–**'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।'** (उसने इच्छा की—'मैं एक हूँ। अनेक बनूँगा, बहुत रूपोंमें व्यक्त होऊँगा') और इस प्रकार विश्वकी उत्पत्ति हुई। उसने यह नहीं कहा कि—'मैं बहुत-से पदार्थोंको रचूँगा', किंतु केवल 'मैं बहुत-से पदार्थ बनूँगा'—यह कहा। उसने यह नहीं कहा कि—'मैं बहुत-से पदार्थोंको व्यक्त करूँगा,' किंतु केवल 'मैं बहुत-से पदार्थोंमें व्यक्त होऊँगा'—ऐसा कहा। यदि हम यह मानते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और वह उस अदक्ष—प्रमादी व्यक्तिकी तरह नहीं है जो विचार कुछ करता है और कार्य बिल्कुल उससे भिन्न करता है, तब तो यह साधारण-से-साधारण बुद्धिवाले मनुष्यके लिये भी स्पष्ट है कि जब ईश्वरने बहुत हो जानेकी इच्छा की और इससे सारा विश्व उत्पन्न हुआ, तब इस दशामें या तो चुपचाप इस बातको स्वीकार करना चाहिये कि विश्व अनेक रूपोंमें उसीकी अभिव्यक्ति है अथवा उसकी सर्वशक्तिमत्ताको अस्वीकार कर उसको अदक्ष मानना चाहिये। तार्किक दृष्टिसे तीसरा कोई विकल्प नहीं है।

उन नवीन विचारवालोंके सन्तोषके लिये भी जो केवल संहिताभागको ही प्रमाण मानते हैं (किंतु उपनिषदोंको नहीं), हम कह सकते हैं कि पुरुषसूक्त (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें) स्पष्ट घोषणा करता है कि—

१७–**'प्रजापतिश्चरति गर्भे**
अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।'

(सृष्टिकर्ता ईश्वर ही गर्भमें चलता है। वह अजन्मा ईश्वर ही अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है।)

जिसके प्रामाण्यको हम सब लोग मानते हैं और जिसको पाश्चात्त्य दार्शनिक संसार (जैसे, कार्लाइल, इमर्सन प्रभृति) भी स्वीकार करता है तथा जिसके प्रति मौखिक श्रद्धा प्रदर्शित करना आधुनिक युगमें विद्याप्रेमका प्रतीक हो रहा है, वह गीता भी अद्वैतका ही उपदेश करती है। हम संक्षेपमें इसका निर्देश करेंगे। इसको स्पष्ट करनेके लिये दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

१८–ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(यज्ञकी सामग्री ईश्वर है, उसका अर्पण करना ईश्वर है, यज्ञाग्नि ईश्वर है, होता ईश्वर है, यज्ञकर्मके पीछे रहनेवाला केन्द्रीभूत ध्यान ईश्वर है और इससे प्राप्त होनेवाला फल भी ईश्वर ही है गीता ४। २४)।

१९–इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि आर्यसमाजके संस्थापक तथा संहिताप्रामाण्यवादके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती भी अपने 'शुक्लयजुर्वेदसंहिताभाष्य'में इस मन्त्रकी व्याख्या ठीक वैसी ही करते हैं जैसी हमने की है।

(यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, जो इसका अनुभव करता है वह क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहलाता है, सब शरीरोंमें मुझको ही आत्मा समझो, मेरे विचारमें शरीर और आत्माका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। गीता १२ । २-३)

अन्य धर्म

जिन वाक्योंमें बाइबिलने आध्यात्मिक तत्त्वोंकी आलोचना की है, उनमें वास्तवमें अद्वैत-सिद्धान्तका ही प्रतिपादन पाया जाता है। उदाहरणार्थ महात्मा ईसाके ये वाक्य देखे जा सकते हैं—

२०–'ईश्वरका राज्य तुम्हारे भीतर है।'

२१–'स्वयं तुम देवता हो।'

सूफियोंने भी इन आध्यात्मिक प्रश्नोंपर विचार किया है और वे पूर्णतः अद्वैतवादी हैं।

पाश्चात्त्य दार्शनिक—अधिक विस्तारमें जानेकी आवश्यकता न समझकर, हम 'मनन'के इस तुलनात्मक विचारको, दार्शनिक इतिहासके एक प्रसिद्ध तथ्यका उल्लेख करते हुए, यहीं समाप्त करते हैं। प्राचीन यूनानके प्लेटोसे लेकर आधुनिक दार्शनिकोंमें स्वेडेनवर्ग, वर्ड्सवर्थ, ब्राउनिंग, कार्लाइल, इमर्सन, बिशप, बर्कले, हेगल, फिष्टे, इमैन्युअल, काण्ट, राल्फ वाल्डो टाइन, टामस हिल ग्रीन, विलियम वांकर ऐटकिन्सन, एला ह्वीलर विलकाक्स, प्रोफेसर डायसनतक पाश्चात्त्य संसारके समस्त मनोविज्ञानी तथा अध्यात्मज्ञानी भी जडवादियोंके द्वैतवादके विरुद्ध भगवान् श्रीशङ्करके आदर्शवादका ही समर्थन करते आये हैं। संसारके विद्वानों और तार्किकोंमें श्रेष्ठ भगवान् शङ्करने ही अपने निर्दोष युक्तिवाद और गम्भीर मननके स्वाभाविक परिणाम अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवादरूप परम सिद्धान्तको अदम्य साहसके साथ स्वीकार किया। × × × × ×

युक्तिवाद—अब हम मननके दूसरे अंश अर्थात् इस समस्याके वास्तविक स्वरूपके आधारपर उसके स्वतन्त्र दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारपर पहुँचते हैं; क्योंकि हमारे तुलनात्मक विचारके परिणामस्वरूप, मनोवैज्ञानिक क्रमसे, यह दूसरा प्रश्न सामने आता है कि हम इस विचित्र अनुभवकी व्याख्या कैसे करें कि पश्चिमके इन सभी बड़े-बड़े विचारकोंने, जिनमेंसे बहुतोंका वेदोंमें विश्वास नहीं है और कुछको तो वेदोंके नाम और अस्तित्वका भी पता नहीं है, अस्पष्ट किंतु यथार्थ रीतिसे और अपने भिन्न एवं स्वतन्त्र युक्तिवादकी पद्धतिसे भगवान् शंकरद्वारा प्रतिपादित अद्वैतसिद्धान्तको स्वीकार किया है। और, इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर, जिसे कोई भी यथार्थ विचार करनेवाला, न्यायप्रिय और पक्षपातरहित व्यक्ति दे सकता है, यह है कि केवल अद्वैतवेदान्त ही यथार्थ विचारकी कसौटीपर ठीक उतर सकता है, और इसलिये पाश्चात्त्य दार्शनिकोंने भी प्राच्य अद्वैतवादके विरुद्ध अपने स्वभावगत आग्रहके होते हुए भी सच्चे विचारककी हैसियतसे विवश होकर अद्वैतवेदान्तको स्वीकार किया है। दूसरे शब्दोंमें अद्वैत—वेदान्तका अद्वैत—ही एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका युक्तिवाद भी समर्थन करता है।

विधि—इस दृष्टिकोणसे मननपूर्वक तथा यथावत् इस समस्याका विचार करने और उसे हल करनेके लिये अब हम लौटकर उन प्रश्नोंपर आते हैं, जिनसे हमने यह विचार प्रारम्भ किया था, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, इस समय हम क्या हैं, हम कहाँ जाना चाहते हैं! इत्यादि। अध्यात्मशास्त्रमें इन सब प्रश्नोंका एक प्रश्न है, जिसका यथार्थ उत्तर सबके लिये सच्चा आनन्द प्राप्त करानेमें बहुत सहायक होगा। × × × (क्रमशः)

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तकी उपपत्ति

(जगद्गुरु श्रीश्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य ब्रह्मलीन श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—आदि श्रुतिवाक्य ब्रह्मके एकत्वका प्रतिपादन करते हैं। अद्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दोनोंने ही अपने-अपने अद्वैत-सिद्धान्त-सम्प्रदाय श्रुतिप्रामाण्यसे ही स्थापित किये, पर दोनोंकी प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न थीं। अद्वैतवादियोंके मतानुसार **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका स्वरूप ऐसा बतलाते हैं कि वह एक ही है और वह वही है, तद्भिन्न और कुछ नहीं; परंतु विशिष्टाद्वैतवादियोंके मतानुसार **'बृह बृंहि वृद्धौ'**—इस धातुके साथ **'मनिन्'** प्रत्यय होनेसे इस एकमें तीनका समावेश है और वे यह बात श्रुति और स्मृति दोनोंसे प्रमाणित बताते हैं। **'बृहति बृंहयतीति तत्परं ब्रह्म'**—यह 'रहस्याम्नाय ब्राह्मण'का वचन है। विष्णुपुराणमें भी इसी अर्थका प्रतिपादक वाक्य है—

'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते।'

—ये दोनों वचन इस बातको स्पष्ट करते हैं कि वही एक ब्रह्म है, जो स्वयं बृहत् होने और दूसरोंको बृहत् करनेमें समर्थ है; अर्थात् ब्रह्म वह है जिसमें एक और केवल एक ही पदार्थका होना असम्भव है, प्रत्युत जिसमें अन्य पदार्थ भी हैं जो उसीके द्वारा बृहत् किये जाते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। उनके अद्वैत परमात्माका दो अन्य वस्तुओंसे विशिष्ट एकत्व है। वे शास्त्र-प्रमाणसे यही कहते और सिद्धान्ततः प्रमाणित करते हैं; यथा—

'यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद यः पृथिवीमन्तरो यमयति, यस्य आत्मा शरीरं यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि।

इन तथा अन्य वचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा आत्मा और जड पदार्थ—इन दोनोंमें हैं। अद्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्मका एकत्व अद्वितीय है, पर विशिष्टाद्वैतवादी यह सिद्ध करते हैं कि वह एकत्व अद्वितीय नहीं है, प्रत्युत दो अन्य पदार्थोंसे अर्थात् चिन्मय आत्मासे तथा जड प्रकृतिसे विशिष्ट है। इस प्रकारसे विशिष्ट ब्रह्मके प्रतिपादक मतको विशिष्टाद्वैत कहते हैं, जिसमें सत्य, ज्ञान और आनन्द—ये ईश्वरके लक्षण हैं। अद्वैतवादियोंकी यह मान्यता है कि ब्रह्म केवल एक ही वस्तु है और वह अद्वितीय है। इसलिये उनके लिये यह भी कहना आवश्यक हो गया कि यह अखिल विश्व, जो हमारे नेत्रोंके सामने है, मिथ्या है। फलतः उन्हें ब्रह्ममें अविद्याकी कल्पना करनी पड़ी, जिसके कारण ब्रह्म अपने अंदर विविध नामरूपात्मक मिथ्या जगत्को देखता है। इस अविद्यारूप दोषके हट जानेपर ही इस ज्ञानका प्रकाश होता है कि ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है। परंतु विशिष्टाद्वैतने अपना सम्प्रदाय जिस मूल सिद्धान्तपर खड़ा किया वह यह है कि ब्रह्म एक है और उसमें तीन पदार्थ हैं, इसलिये ब्रह्मका एकत्व सिद्ध करनेमें उन्हें इस बातकी आवश्यकता न हुई कि वे इस विश्वको, जिसे हम अपनी आँखोंसे देखते हैं, मिथ्या बताते। यह विश्व ब्रह्ममें लीन है और ईश्वर विश्वमें अन्तर्हित है (**'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्'** इत्यादि), और वह ब्रह्म एक है, इसलिये जगत्को मिथ्या बताये बिना ही ब्रह्मका एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है।

किसी भी वस्तुके ज्ञानके लिये संसारमें तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द अर्थात् वेद। ये वेद सनातन हैं। प्रत्येक कल्पमें

इनकी उसी पदक्रमसे आवृत्ति होती है। इनका रचयिता कोई नहीं है, इनकी उत्पत्ति किसी मनुष्य-(पुरुष-)से नहीं हुई है, ये अपौरुषेय हैं। मनुष्यकी मन-बुद्धिमें भ्रम-संशय-विपर्ययादि जो दोष हो सकते हैं, उनकी वेदोंमें सम्भावना नहीं; क्योंकि वेद मनुष्य-प्रणीत नहीं हैं। वेद स्वतःप्रमाण और अपौरुषेय हैं। इसलिये उनके सम्बन्धमें मान्यता प्राप्त प्रामाण्यको अन्यथा नहीं कहा जा सकता। यदि कभी वेदोंमें हमें कोई ऐसी बात मिलती है जो प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध या परस्पर विरुद्ध-सी मालूम होती है तो यह दोष वेदोंका नहीं, बल्कि वेदोंके समझनेमें हमारे दृष्टिकोणका है। ऐसे अवसरोंपर हमलोगोंका कर्त्तव्य होता है कि हम वेदवाक्योंके भावको ठीक तरहसे समझें और उस विरोधाभासका परिहार करें अर्थात् उन बातोंका ठीक तात्पर्य समझें जो हमें प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध या परस्पर विरुद्ध मालूम होती हैं। मीमांसाशास्त्र इसीलिये है कि कुछ स्थानोंमें जो विरोधाभास प्रतीत होता है, उसका वास्तविक अभिप्राय हम मालूम कर सकें। वेदोंका प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक शब्द प्रमाण है और वेद तथा वेदान्त ही ब्रह्मकी सत्ता प्रमाणित करते हैं, और कोई प्रमाण ब्रह्मकी सत्ता प्रमाणित नहीं कर सकता।

वेदान्तशास्त्रसे ब्रह्ममें तीन पदार्थोंका होना स्पष्टतया प्रमाणित है—(१) जड पदार्थ अथवा जड प्रकृति, जिसके प्रधान, प्रकृति, माया और अविद्या नाम हैं, (२) चेतन आत्मा, जो अणुप्रमाण है, और (३) ईश्वर जो विभु है, सर्वनियन्ता है और सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप कल्याण-गुणोंसे विशिष्ट है। ब्रह्ममें ये तीनों पदार्थ एक साथ रहते हैं। प्रत्येक शरीरमें हम देखते हैं कि शरीरमें रहनेवाली एक चेतन आत्मा होती है, ठीक ऐसा ही सम्बन्ध ईश्वर और आत्माके बीच तथा ईश्वर और जड पदार्थके बीच भी होता है; अर्थात् जिसे हम ब्रह्म कहते हैं वह उस ईश्वरसे भिन्न नहीं है; जो चेतन आत्मा और जड प्रकृति दोनोंमें रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तीनों पदार्थोंकी समष्टि-का नाम ही ब्रह्मका अद्वैत है।

इस संसारमें हम दो प्रकारके जीव देखते हैं—(१) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि, जिनमें अधिक प्राणशक्ति है और (२) पाषाण, वृक्ष आदि, जिनमें अल्प प्राणशक्ति है। पहला वर्ग जङ्गम कहलाता है और दूसरा स्थावर। प्रत्येक सत् वस्तु उसी त्रैत-(तीनोंके समुदाय-)में है। कोई जड पदार्थ आत्मा और ईश्वरके बिना नहीं रह सकता, कोई आत्मा प्रकृति और ईश्वरके बिना नहीं रह सकती और ईश्वर भी प्रकृति और आत्माके बिना नहीं रहता। उदाहरणार्थ मनुष्यको ही लीजिये। मनुष्यका अर्थ आपाततः शरीर ही होता है। फिर अधिक सूक्ष्म विचार करनेपर उसका अर्थ होता है उस शरीरमें रहनेवाला जीवात्मा और वेदोंका तो यह कहना है कि जीवात्मा जिस तरह शरीरमें रहकर उसे चलाता है उसी प्रकार जीवात्मामें ईश्वर रहता और उसका नियन्त्रण करता है; अर्थात् ईश्वर प्रत्येक पदार्थके अंदर स्थित रहता है।

मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार अपनेको या तो (१) शरीर समझता है, या (२) शरीरमें रहकर उसका संचालन करनेवाले चेतन आत्माका अनुमान करता है; अथवा (३) वेदान्तकी प्रक्रियाके अनुसार सत्यका अनुसन्धान करके अपने आपको उस आत्माके अंदर रहनेवाला ईश्वर समझता है। मनुष्यका ज्ञान उसकी विवेकशक्तिकी गहराईके अनुसार होता है। अतः सिद्धान्त यही है कि शरीर तथा उस शरीरको धारण-पोषण करनेवाला जीवात्मा और उस आत्माको भी धारण-पोषण करनेवाला तथा उसका नियन्त्रण करनेवाला ईश्वर—इन तीनोंकी समष्टि ही यथार्थ अद्वैत है। प्रत्येक वस्तुमें यह त्रैत रहता ही है। वेदोंमें इसके लिये अनेक प्रमाण हैं और अनेक पूर्वाचार्योंने इस सिद्धान्तको

एकमात्र सत्य माना है। इसलिये संसारका प्रत्येक पदार्थ त्रेतात्मक है, किसी भी हालतमें अद्वितीय नहीं है। तात्पर्य यह कि इनके मतमें वेदान्तसे परिणामवाद प्रमाणित होता है, विवर्तवाद नहीं।

परिणामवादका स्वरूप यह है कि कारण ही कार्य बन जाता है; जैसे घटका कारण मृत्तिका है और घटरूप कार्य भी मृत्तिका ही है—मृत्तिका ही घटरूपको प्राप्त हुई है। इसलिये कार्य और कारण एक-से ही होने चाहिये; कारणके गुण ही कार्यके गुण हैं। इस संसाररूप कार्यमें यदि हमें तीन पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं तो इसके कारणमें भी उन तीन पदार्थोंका होना आवश्यक है। वे कहते हैं कि ब्रह्म इस जगत्‌का कारण (उत्पन्न करनेवाला) है, जिसका अर्थ यह हुआ कि एकके भीतर जो तीन छिपे हुए हैं वे ही एकके अन्तर्गत तीनके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। यही परिणामवाद है। यह वेद-सम्मत है। वेद वाक्य है—

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति' इत्यादि। संसारका कारण संसारके सदृश ही होना चाहिये, यह स्वतः सिद्ध है। कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म (उत्पन्न होनेवाला) दोनों समान हैं। कारण ही कार्य बन जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कारणको हम योगजन्य ज्ञानसे ही देख सकते हैं और कार्यको हम इन चर्मचक्षुओंसे ही देख लेते हैं। अतः संसारका कारणरूप जो ब्रह्म है वह अव्यक्त जडप्रकृति, अव्यक्त चेतन और ईश्वर इन तीनोंकी समष्टि है। यही अगोचर ब्रह्म—सूक्ष्म ब्रह्म कार्यरूप स्थूल ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार कारण ही कार्यरूपमें परिणत हो जाता है और तत्त्वतः कारण और कार्यमें कोई भेद नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जड प्रकृति और आत्मा ही जिसका शरीर है उस ईश्वरमें भी क्या वैसे ही परिवर्तन होते हैं जो संसारके सभी पदार्थोंमें होते हैं—जैसे **'अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते' नश्यति'** तो वे इसका उत्तर देते हैं—नहीं; क्योंकि उनकी निर्विकारपरक श्रुतियाँ ब्रह्मको अविकार्य बतलाती हैं। निर्विकारका अर्थ है—जो विकारको प्राप्त न हो। बच्चा जनमता है, फिर धीरे-धीरे बड़ा होता है और प्रौढ़ होकर फिर वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है। पर वे कहते हैं कि आत्मामें कभी विकार नहीं होता, शरीर ही केवल बदलता है। अतः कारणब्रह्म जब कार्यब्रह्म बनता है तब ईश्वरमें कोई विकार नहीं होता, जड प्रकृति एकदम बदल जाती है और आत्माका भी ज्ञानरूप बदल जाता है—यद्यपि वह तत्त्वतः सदा एक-सा ही बना रहता है। ब्रह्म जब इस विविध नामरूपात्मक जगत्‌के रूपमें परिणत होता है तब उसमें यदि कोई परिवर्तन होता भी है तो वह भगवान्‌की समस्त स्थूल शरीरोंमें अनुप्रविष्ट होनेकी इच्छाके रूपमें ही हो सकता है। यह परिवर्तन किसी भी दृष्टिसे विकार नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार निर्विकारपरक श्रुतियाँ और सूक्ष्म ब्रह्मका स्थूल ब्रह्मके रूपमें परिणत होना—एतद्रूप जो परिणामवाद, ये दोनों ही तर्ककी कसौटीपर खरे उतरते हैं। अद्वैतरूप अथवा एकता ईश्वरका स्वरूप है और जड प्रकृति और चेतन आत्मा उसका शरीर हैं। इसलिये यह प्रमाणित करनेके लिये कि जड जगत् तथा ब्रह्मसे भिन्न कोई चेतन आत्मा है ही नहीं, माथा-पच्ची करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जगत् सत्य है, जगत्‌में जितने पदार्थ हैं वे सब सत्य हैं और अद्वैत भी सत्य है। यदि कोई कहे कि काशीमें एक काशी-नरेश रहते हैं और वे अद्वितीय हैं, तो क्या इसका यह मतलब होगा कि उनके राज्य, पुत्र, कलत्र आदि कुछ भी नहीं हैं? इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतका अर्थ है एक ब्रह्म, जिसके शरीर आत्मा और प्रकृति हैं और जिसकी बराबरीका और कोई नहीं है।

संसार ब्रह्मसे ओतप्रोत है और जब हम यह कहते हैं कि ब्रह्म एक है, तब इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता कि जगत् है ही नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि वेदोंका प्रत्येक अक्षर प्रमाण है और वेदोंमें ही अनेक स्थलोंमें इस आशयके वचन हैं कि आत्मा और ब्रह्म दो हैं और कई स्थलोंमें ऐसे भी वचन हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अद्वैत सिद्धान्तमें यह मानना पड़ता है कि अभेदप्रतिपादक श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य भेदकी कल्पनामात्र करते हैं और वह कल्पना सत्य नहीं है। इसलिये उनके मतमें अभेदप्रतिपादक वाक्य ही प्रमाण हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य तादृश प्रमाण नहीं हैं।

परन्तु विशिष्टाद्वैतका मन्तव्य यह है कि दोनों ही प्रकारकी श्रुतियाँ प्रमाण हैं। वेदके किसी एक अंशको प्रमाण कहना और दूसरे अंशको अप्रमाण कहना ठीक नहीं। दोनों ही प्रकारके वाक्योंकी विशिष्टाद्वैतवादियोंने इस प्रकारसे व्याख्या की है कि दोनोंमें कोई विरोध नहीं रह जाता; ठीक जिस प्रकार हम मनुष्यको एक कहते हुए भी उसके आत्मा और शरीरमें भेद पाते हैं इसी प्रकार हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि 'ब्रह्म एक है'—यह वाक्य ब्रह्मका जीवके साथ तादात्म्य सूचित करता है और साथ ही जीव और ईश्वरकी भिन्नताको भी कायम रखता है। अतः भेद और अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है। अभेदप्रतिपादक वाक्य एकके भीतर तीनका वर्णन करते हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य उन तीनोंका अलग-अलग वर्णन करते हैं। इसलिये अभेद और भेदके प्रतिपादक वाक्योंके अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं है और यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं होती है कि श्रुतियोंका एक भाग प्रमाण है और दूसरा नहीं।

इसी प्रकार वेदोंमें सगुण ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्य भी मिलते हैं और निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक भी। ये भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, पर बात इतनी ही है कि जहाँ निर्गुणका वर्णन है वहाँ यही अभिप्राय है कि ब्रह्ममें कोई प्राकृत गुण नहीं हैं और जहाँ सगुणका वर्णन है वहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि ब्रह्ममें ऐसे अलौकिक गुण हैं जो ब्रह्ममें ही हैं, जड प्रकृति या जीवात्मामें नहीं—**'अपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'** इत्यादि। यह विचार इस बातसे और भी पुष्ट होता है कि उन्हीं श्रुतियोंमें कहीं-कहीं यह कहा गया है कि ब्रह्ममें कोई अवगुण नहीं है और ईश्वरमें अनेक कल्याणगुण हैं। इसलिये जहाँ श्रुतियाँ ऐसे शब्दोंमें ब्रह्मका निरूपण करती हैं, जो परस्पर विरोधी-से प्रतीत होते हैं, वहाँ 'निर्विकार' आदि शब्द जगत्के आदिकारणरूप ब्रह्मको सूचित करते हैं और 'जीव और ब्रह्म भिन्न हैं,' 'जीव और ब्रह्म एक हैं', 'ब्रह्म निर्गुण है', 'ब्रह्म सगुण है' इत्यादि वाक्योंके सन्दर्भानुसार अलग-अलग अर्थ हैं और इनमेंसे कोई वाक्य अप्रमाण नहीं है। (ये वाक्य सन्दर्भ और दृष्टिभेदसे उभयथा ठीक हैं, सटीक हैं।)

इस प्रकार विशिष्टाद्वैतने अन्य अद्वैत पद्धतिका अनुसरण नहीं किया; क्योंकि उन्हें अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें श्रुति-स्मृतिके अनेक प्रमाण मिल गये। वेदके प्रत्येक वाक्यकी प्रमाणता सिद्ध करना ही उनके सिद्धान्तका मुख्य उद्देश्य है। कितनी ही श्रुतियोंमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जड प्रकृति और जीवात्मा ईश्वरके शरीर हैं और जिस प्रकार जीवात्मा शरीरमें रहनेवाला संचालक है वैसे ही ईश्वर जीवके अन्दर रहकर उसका संचालन करता है। अतः जब हम कहते हैं कि मनुष्य एक है तो वहाँ हम शरीर और आत्माका भेद रखते हुए ही मनुष्यकी एकताका वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि ईश्वर एक है

तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि जीव और ब्रह्म तथा जीव और प्रकृतिमें भेद है; ये प्रकृति और जीव ईश्वरके शरीरसे भिन्न और कुछ नहीं हैं और इस कथनमें कोई वदतोव्याघात दोष* नहीं है। यह विचार हमारे प्रत्यक्ष अनुभवके भी विपरीत नहीं है और इसलिये (इस पक्षमें) यह कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं कि जगत् केवल भ्रम है।

यह श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त है। इसमें श्रुतियोंका साधारण पद्धतिसे ही अर्थ किया गया है और वेदोंके सब भागको प्रमाण माना गया है। उसमें कुछको अप्रमाण माननेकी गुंजाइश नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यने अपने इस विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तका ज्ञान बहुत कुछ पूर्वाचार्योंसे ही प्राप्त किया था और ब्रह्मसूत्रोंपर किये हुए अपने श्रीभाष्य नामक महान् ग्रन्थमें उन्होंने इन पूर्वाचार्योंका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है। श्रीरामानुजाचार्यने इन्हीं पूर्वाचार्योंकी पद्धतिका अवलम्बन करके यह अपना सिद्धान्त स्थिर किया। 'विशिष्टाद्वैत' पदका अर्थ भी 'वास्तविक अद्वैत' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नाम श्रीरामानुजाचार्यने स्पष्टतया इसी बातको सूचित करनेके लिये रखा कि ब्रह्माद्वैत ईश्वरकी एकताका ही नाम है और वह ईश्वर सकल शुभगुणोंका आकर है और जीवात्मा तथा जड प्रकृति उसका शरीर हैं।

माध्वसिद्धान्तमें भगवत्तत्त्व-चिन्तन

(संक्षिप्त विवेचन)

(लेखक—श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम, साहित्यदर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न स्व० गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥†

अखिल विश्वमें चेतनाचेतनात्मक दो ही पदार्थ हैं; अचेतनसंबद्ध विचारशास्त्रको 'विज्ञान' कहते हैं और चेतनसम्बन्धी निर्णयशास्त्रको 'दर्शन' कहते हैं। इस 'दर्शन'के मुख्य दो विभाग हैं—(१) वैदिक और (२) अवैदिक। पुनः प्रत्येकके दो भेद हैं—(१) ईश्वरवादी और (२) अनीश्वरवादी। इस प्रकार कुल चार विभाग हुए। इन चार विभागोंमें प्रत्येकके तात्पर्य-भेदसे अनेक अवान्तर भेद भी हैं। फिर भी भेदोपभेदमें सर्वसमन्वय-दृष्टिसे यथार्थ विरोध नहीं रह जाता।

इन दर्शनोंमें जो ईश्वरवादी वैदिक दर्शन हैं उनमें अनेक कारणोंसे 'उत्तरमीमांसा' नामक वेदान्तदर्शन ही सर्वप्रधान है, जिसमें सर्वतोभावेन ब्रह्मतत्त्वोपपादन ही मुख्य उद्देश्य है। इसमें भी दो मार्ग हैं—'निर्विशेष ब्रह्मवाद, जो 'अद्वैतवाद'के नामसे प्रसिद्ध है और सविशेष ब्रह्मवाद। यह सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकारका है—(१) विष्णुपरक, (२) शिवपरक, (३) शक्तिपरक, (४) सूर्यपरक और (५) गणपतिपरक। इनमें भी हर एकके कई प्रभेद हैं। प्रथम विष्णुपरक विभागके चार विभाग हैं—(क) विशिष्टाद्वैतवाद, (ख) शुद्धाद्वैतवाद, (ग) द्वैताद्वैतवाद और (घ) द्वैतवाद।

इनमें अन्तिम जो 'द्वैतवाद' है, उसके सर्वप्रथम उपदेष्टा चतुर्मुख श्रीब्रह्मदेव हैं। अनन्तर परम्परासे

---

* वदतोव्याघात—अपनेही कथनसे अपना खण्डन करना; जैसे—'मेरे मुँहमें जीभ नहीं है' यह कहना भी जीभके बिना असम्भव है, पर कहा गया है।

† जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकके अखिल अन्धकार-सागरका एक ही बारके उदयसे संहार कर देते हैं वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंके पापोंको एक बारके ही उच्चारणसे नष्ट कर देनेवाला और संसारको मंगल देनेवाला भगवान् श्रीहरिका नाम विजय प्राप्त करे—सर्वोत्कृष्टरूपमें विराजे।

कलियुगमें श्रीमदानन्दतीर्थापरनामा 'श्रीमध्वाचार्य' ही प्रथम उपदेष्टा हुए; अतएव द्वैतसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य विरुदसे भी इनका परिचय प्रसिद्ध है। इन्होंने जिस अनादिसिद्ध सम्प्रदायका प्रकाश या प्रचार किया उसीको शास्त्रोंमें एवं व्यवहारमें 'माध्वसम्प्रदाय' कहते हैं।

इस सम्प्रदायके प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्योंने सिद्धान्त तथा उपासनाके विषयमें प्रमाण-प्रमेयोंके विचारमें जितने ग्रन्थ लिखे हैं उनका हिसाब अनुष्टुप्छन्दके परिमाणसे नियुत-(दसलाख-) से कम न होगा; अतः आचार्योंने अति संक्षेपसे दिग्दर्शन करानेके अभिप्रायसे माध्वसम्प्रदायके मन्तव्योंका एक शार्दूलविक्रीडितवृत्तमें संनिवेश कर दिया है; उसीको हम नीचे उद्धृत करते हैं—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतः
भेदो जीवगणाः हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

इसमें नौ सिद्धान्त कहे गये हैं, इन्हींमें सम्प्रदायका सारा रहस्य आ गया है। देखिये—

(१) श्रीमध्वसम्प्रदायमें श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। चेतन दो प्रकारके हैं—जीव और ईश्वर। दोनोंका स्वरूप है सच्चिदानन्दात्मक। परंतु 'जीव' मायामोहित है, अतएव अनादिकालसे बद्ध है, तथा अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। 'ईश्वर', जो विष्णु नामसे प्रसिद्ध है, सर्वज्ञत्व, अनन्तशक्तिसंपन्नत्व आदि अपरिमित अप्राकृत कल्याणगुणोंका आश्रय है, अतएव चेतनद्वयमें अति प्रशस्त है। (भगवत्तत्त्वके ये दोनों रूप हैं, स्वरूप नहीं।)

(२) जगत् सत्य है, अर्थात् 'रज्जुसर्पन्याय'से मिथ्या नहीं है; क्योंकि स्वतःप्रमाण वेदने भगवान्‌को सत्यसंकल्प कहा है, सत्यसंकल्पका बनाया पदार्थ मिथ्या नहीं हो सकता; अन्यथा 'सत्यसंकल्प'का स्वारस्य ही क्या रह जायगा?

(३) भेद वास्तविक है। भेदशब्दमें जो एकवचनार्थक विभक्ति लगी हुई है, वह भेदस्वरूप धर्मके तात्पर्यसे है, वैसे तो भेदके भी पाँच अवान्तर भेद समझने चाहिये (१) जीव-ईश्वरका भेद, (२) जीव-जड़का भेद, (३) ईश्वर-जड़का भेद, (४) जीवोंका परस्पर भेद और (५) जड़ोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई भी औपाधिक नहीं है।

(४) जीवगण सब ईश्वरके अधीन हैं, अर्थात् जीवोंकी सकल सामर्थ्य भगवदधीन है।

(५) जीवोंमें तारतम्य है, अर्थात् केवल संसार-दशामें ही नहीं, प्रत्युत मोक्षमें भी मिथः (परस्पर) जीवोंका तारतम्य (अपेक्षाकृत छोटा-बड़ापन) रहता है।

(६) स्वरूपनिष्ठ आनन्दका, प्रतिबन्धकसम्बन्धरहित एवं आवरणशून्य, साक्षात्कार ही जीवका मोक्ष है; अर्थात् अपने भीतर रहनेवाले नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष हो जाना ही मोक्ष है, जिसमें प्रतिबन्धक तत्त्वका सम्बन्ध न हो एवं जिसमें आवरण भी न हो।

(७) मोक्षका मुख्य साधन 'अमलाभक्ति' है; अर्थात् फलाभिसन्धिरूप मलरहित जो भगवान्‌में निष्काम प्रीति है वही मुक्तिका प्रधान उपाय है।

(८) समस्त वेदोंके द्वारा वेद्य भगवान् विष्णु ही हैं, अर्थात् यद्यपि वेदोंके प्रतिपाद्य आपाततः अनेक प्रतीत होते हैं, तथापि साक्षात् और परम्परासे वेदोंका तात्पर्य प्रधानतया भगवत्तत्त्वप्रतिपादनमें ही है।

(९) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण हैं। भाव यह कि वस्तुसिद्धि प्रमाणाधीन होती है, अतः उक्त प्रमाणोंसे ही अखिल प्रमेय (यथार्थ ज्ञेय) पदार्थ साबित होते हैं। अन्य दार्शनिकोंने इससे न्यून तथा अधिक प्रमाण भी माने हैं, परंतु इनसे निर्वाह अधिक प्रमाण इन्हींमें गतार्थ हो जाते हैं, और न्यूनतामें नहीं होता; अतः तीन ही प्रमाण माध्वसिद्धान्तको मान्य हैं। (इसी परिप्रेक्ष्यमें माध्वसिद्धान्त भगवत्तत्त्वका परिचिन्तन करता है।)

जगत्में सबसे उत्तम और अवश्य जाननेयोग्य तत्त्व कौन है ?—ईश्वर

(लेखक—स्व॰ पूज्य श्रीमहामना मदनमोहन मालवीयजी महाराज)

इस संसारमें सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। योरपके विद्वान् भी इस बातको मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम चार सहस्र वर्ष पुराना है और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद पुकारकर कहता है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। उस तमके बीचमें और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयम्भू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकारमें अपनेको आप प्रकट किया और अपने तपसे अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्तिके सञ्चालनसे सृष्टिको रचा। ऋग्वेदमें लिखा है—

तम आसीत्तमसा गूलहमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

इसी वेदके अर्थको मनु भगवान्ने लिखा है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकारसे सोता हुआ-सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्तिके द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्तिसे अपनी महिमामें सदासे वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भूने अपनेको आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार मिट गया। मनुस्मृति-(१, ५–६)में लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियो ग्राह्यो सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयो चिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

ऋग्वेद—'**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**' आदि मन्त्रोंद्वारा सर्वप्रथम उस परमात्माकी स्थितिको बताता है जो पृथिवी, आकाश आदि सम्पूर्ण विश्वका धारण करनेवाला है।

श्रुति और भी कहती है—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'

एकमेवाद्वितीयम्

श्रीमद्भागवतमें भगवान्का वचन है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्सदसतः परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
(२। ९। ३३)

शिवपुराणमें भी आया है कि—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तान्ते संचुकोच सः॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥
द्यावाभूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा॥
अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम्॥

श्रीमद्भागवत-(१०। १४। २३)में कहा गया है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णो द्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

इन सब वेद, स्मृति, पुराणके इसी अभिप्रेत तत्त्वको गोस्वामी तुलसीदासजीने थोड़े अक्षरोंमें यों कह दिया है—

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम जस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु बास असेषा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाइ किमि बरनी॥

किंतु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई परमात्मा है ?

जो वेद कहते हैं कि परमात्मा है, वे ही यह भी कहते हैं कि उनको हम आँखोंसे नहीं देखते।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

'ईश्वरको कोई आँखोंसे देख नहीं सकता, किंतु हममेंसे हर एक मनको पवित्रकर विमल बुद्धिसे उसे देख सकता है।' इसलिये जो लोग ईश्वरको मनकी आँखों-(बुद्धि-)से देखना चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने शरीर और मनको पवित्र कर और बुद्धिको विमल कर उसकी खोज करें।

हम देखते क्या हैं?

हमारे सामने जन्मसे लेकर शरीर छूटनेके समयतक बड़े-बड़े चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं, जो हमारे मनोंमें इस बातके जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते हैं और कैसे विलीन होते हैं। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौ फटते ही सहस्र किरणोंसे विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व-दिशामें प्रकट होता है और आकाशमार्गसे विचरता सारे जगत्को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता हुआ सायंकाल पश्चिम-दिशामें पहुँचकर नेत्रपथसे ओझल हो जाता है। गणित-शास्त्रके जाननेवालोंने गणना कर यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवीसे नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस हजार मीलकी दूरीपर है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि यह इतनी दूरीसे इस पृथिवीके सब प्राणियोंको प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है। ऋतु-ऋतुमें अपनी सहस्र किरणोंद्वारा पृथिवीसे जलको खींचकर सूर्य आकाशमें ले जाता है और वहाँसे मेघका रूप बनाकर फिर जलको पृथ्वीपर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास, पत्ती, वृक्ष, अनेक प्रकारके अन्न और धान आदि समस्त जीवधारियोंको प्राण और जीवन देता है। गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा वह एक सूर्य है, ऐसे असंख्य और हैं और इससे बहुत बड़े-बड़े भी हैं जो सूर्यसे भी अधिक दूर होनेके कारण हमको छोटे-छोटे तारोंके समान दिखायी देते हैं। सूर्यके अस्त होनेपर प्रतिदिन हमको अनगिनत तारे-नक्षत्र-ग्रह चमकते दिखायी देते हैं। सारे जगत्को अपनी किरणोंसे सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनीसे रात्रिको ज्योतिष्मती करता हुआ आकाशमें सूर्यके समान पूर्व-दिशासे पश्चिम-दिशाको जाता है। प्रतिदिन रात्रिके आते ही दसों दिशाओंको प्रकाश करती हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहोंकी ज्योति ऐसी शोभा धारण करती हैं कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सब तारा-ग्रह सूतमें बँधे हुए गोलकोंके समान अनुल्लङ्घनीय नियमोंके अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बँधे हुए मार्गोंमें झलकते हुए आकाशमें घूमते दिखायी देते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि गर्मीकी ऋतुमें यदि सूर्य तीव्ररूपसे नहीं तपता तो वर्षाकालमें वर्षा अच्छी नहीं होती। यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत्में प्राणिमात्रके भोजनके लिये अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखायी देता है कि अनेक प्रकारके अन्न और फलद्वारा सारे जगत्के प्राणियोंके भोजनका प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्यके द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेकवती शक्तिका रचा हुआ है जिसको स्थावर-जङ्गम सब प्राणियोंको जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड-पदार्थोंके अचानक संयोगमात्रका परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड-पदार्थोंके एक दूसरेके खींचनेके नियममात्रसे उत्पन्न हुआ है और अपने-आप आकाशमें वर्ष-से-वर्ष, सदी-से-सदी, युग-से-युग घूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियमसे चलानेमें किसी चैतन्य शक्तिका हाथ है? बुद्धि कहती है—वेद भी कहते हैं कि है। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमाको, आकाश और पृथ्वीको परमात्माने रचा—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।

प्राणियोंकी रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत्की रचना इस बातकी घोषणा करती है कि इस जगत्का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्यसे भरा हुआ है। जरायुसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि, अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी, पसीने और मैलसे पैदा होनेवाले कीड़े, पृथिवीको फोड़कर उगनेवाले वृक्ष—इन सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारीका समागम होता है। उस समागममें नरका एक अत्यन्त सूक्ष्म किंतु चैतन्य अंश गर्भमें प्रवेश कर नारीके एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंशसे मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं। वेद कहते हैं—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

एक बालके आगेके भागके सौ भाग कीजिये और उन सौमेंसे एकके फिर सौ टुकड़े कीजिये और इसमेंसे एक टुकड़ा लीजिये तो आपको ध्यानमें आयेगा कि जीव इतना सूक्ष्म है। यह जीव गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे शरीररूपमें बढ़ता है। विज्ञानके जाननेवाले विद्वानोंने अणुवीक्षण यन्त्रसे देखकर यह बताया है कि मनुष्यके वीर्यके एक बिन्दुमें लाखों जीवाणु होते हैं और उनमेंसे एक ही गर्भमें प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारीके शरीरमें ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भमें प्रवेश पानेके समयसे एक नलीके द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धिके साथ-साथ नारीके गर्भमें एक जलसे भरा थैला बनता जाता है जो गर्भको चोटसे बचाता है। इस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु, बालके आगेके भागके दस हजारवें भागके समान सूक्ष्म वस्तुमें यह शक्ति कहाँसे आती है कि जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिताके समान रूप, रंग और सब अवयवोंको धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है जो गर्भमें इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? वह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चेके उत्पन्न होनेके थोड़े समय पूर्व ही माताके स्तनोंमें दूध आ जाता है! कौन-सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणवन्तोंको, सब मनुष्योंको, सब पशु-पक्षियोंको, सब कीट-पतंगोंको, सब पेड़-पल्लवोंको पालती है और उनको समयसे चारा और पानी पहुँचाती है? कौन-सी शक्ति है, जिससे चीटियाँ दिनमें भी और रातमें भी सीधी भीतपर चढ़ती चली जाती हैं? कौन-सी शक्ति है जिससे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पक्षी अनन्त आकाशमें दूर-से-दूरतक बिना किसी आधारके उड़ा करते हैं?

नरों और नारियोंकी, मनुष्योंकी, गौओंकी, सिंहोंकी, हाथियोंकी, पक्षियोंकी, कीड़ोंकी सृष्टि कैसे होती है? मनुष्योंसे मनुष्य, सिंहोंसे सिंह, घोड़ोंसे घोड़े, गौओंसे गौ, मयूरोंसे मयूर, हंसोंसे हंस, तोतोंसे तोते, कबूतरोंसे कबूतर, अपने-अपने माता-पिताके रंग-रूप अवयव लिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं? छोटे-से-छोटे बीजोंसे किसी अचिन्त्य शक्तिसे बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षोंतक पत्ती, फल, फूल, रस, तैल, छाल और लकड़ीसे जीवधारियोंको सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसीले फलोंसे उनको तृप्त और पुष्ट करते, बहुत वर्षोंतक श्वास लेते, पानी पीते, पृथ्वीसे और आकाशसे आहार खींचते, आकाशसे नीचे झूमते-लहराते रहते हैं!

इस आश्चर्यमयी शक्तिकी खोजमें हमारा ध्यान मनुष्यके रचे हुए एक घरकी ओर जाता है। हम देखते हैं, हमारे सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जानेके लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानोंमें पवन और प्रकाशके लिये खिड़कियाँ तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खम्भे और दालान हैं। धूप और पानीको रोकनेके लिये छतें और छज्जे

बने हुए हैं। दालान-दालानमें, कोठरी-कोठरीमें, भिन्न-भिन्न प्रकारसे मनुष्यको सुख पहुँचानेका प्रबन्ध किया गया है। घरके भीतरसे पानी बाहर निकालनेके लिये नालियाँ बनी हुई हैं। ऐसे विचारसे घर बनाया गया है कि रहनेवालोंको सब ऋतुमें सुख देवे। इस घरको देखकर हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई चतुर पुरुष था, जिसने रहनेवालोंके सुखके लिये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर रचा। हमने रचनेवालेको देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि घरका रचनेवाला कोई था या है और वह ज्ञानवान्, विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीरकी ओर देखते हैं। हमारे शरीरमें भोजन करनेके लिये मुँह बना है। भोजन चबानेके लिये दाँत हैं। भोजनको पेटमें पहुँचानेके लिये गलेमें नाली बनी है। उसीके पास पवनके मार्गके लिये एक दूसरी नाली बनी हुई है। भोजनको रखनेके लिये उदरमें स्थान बना है। भोजन पचकर रुधिरका रूप धारण करता है, वह हृदयमें जाकर इकट्ठा होता है और वहाँसे सिरसे पैरतक सब नसोंमें पहुँचकर मनुष्यके सम्पूर्ण अङ्गको शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजनका जो अंश शरीरके लिये आवश्यक नहीं है उसके मल होकर बाहर जानेके लिये मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रसका जो अंश शरीरको पोसनेके लिये आवश्यक नहीं है, उसके निकलनेके लिये दूसरी नाली बनी हुई है। देखनेके लिये हमारी दो आँखें, सुननेके लिये दो कान, सूँघनेको नासिकाके दो रन्ध्र और चलने-फिरनेके लिये हाथ-पैर बने हैं। संतानकी उत्पत्तिके लिये जनन-इन्द्रियाँ हैं। हम पूछते हैं, क्या यह परम आश्चर्यमय रचना केवल जड-पदार्थोंके संयोगसे हुई है या इसके जन्म देने और वृद्धिमें हमारे घरके रचयिताके समान किंतु उससे अनन्त गुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्माका प्रभाव है?

(क्रमशः)

ईश्वर या भगवत्सत्ता

(लेखक—महामहोपाध्याय स्व० डॉ० श्रीगङ्गानाथजी झा एम० ए०, डी० लिट्०)

'ईश्वर है या नहीं?' यह प्रश्न अनादिकालसे चला आया है। उत्तरमें दार्शनिकोंका अनन्त प्रयास भी होता आया है। दर्शनके गूढ़ विचारोंसे इने-गिने लोगोंका ही लाभ होता है। इससे सामान्य जनताकी बुद्धिमें जो बातें, जो युक्तियाँ—आयें, उन्हींका उपयोग यहाँ होगा। १—सबसे प्रबल युक्ति ईश्वर माननेके पक्षमें चिरकालसे यह प्रसिद्ध है कि '**नास्ति चेन्नः किमायातमस्ति चेन्नास्तिको हतः।**'

ईश्वरवादी तार्किक कहता है कि 'मैं यदि ईश्वरको मानता हूँ, उनका भजन करता हूँ और यदि ईश्वर नहीं है तो मेरा यह सब करना व्यर्थ होगा, इतना ही होगा—मेरा कुछ बिगड़ेगा नहीं; पर यदि ईश्वर है तो जो नास्तिक है—जो ईश्वरको नहीं मानता, भजन नहीं करता, उसका सत्यानाश ही होगा।' तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरको माननेमें ही सर्वथा कल्याण है।

२—जब कभी हम किसी चीजको देखते हैं—किताब, कुरसी या मेज इत्यादि—तो उसी क्षणमें उसका बनानेवाला कौन है, यह जिज्ञासा उठती है, और किसी वस्तुके प्रसंगमें यह मनमें नहीं आता कि इसका कर्ता कोई नहीं है। फिर नदी, पर्वत, वृक्ष, फल, पुष्प इत्यादिके प्रसंगमें भी यही युक्ति क्यों नहीं लगायी जाय? जैसे ग्रन्थका या मेजका बनानेवाला कोई पुरुष है, इसी तरह पर्वत इत्यादिका भी कोई कर्ता अवश्य होगा। जैसे मेज इत्यादि बिना कर्ताके नहीं बन सकते, वैसे ही फल-पुष्पादि भी बिना कर्ताके नहीं बन सकते।

'Natural laws' 'Nature,' 'Chance' इत्यादिका आश्रय लेना तो जल्ताडन (मूर्खतापूर्ण प्रयास) मात्र है। 'प्राकृत नियम'के अनुसार तो सभी चीजें बनती हैं—बढ़ई जो मेज बनाता है, हथियारोंसे जो लकड़ी काटी जाती है—यह सब 'प्राकृत नियम'के ही अनुसार होता है। पर प्राकृत नियमके होते हुए भी एक संचालक चेतन पुरुषकी अपेक्षा तो होती ही है। इसी तरह नदी, पर्वत इत्यादि पदार्थोंकी उत्पत्ति प्राकृत नियमके अनुसार होती है, तथापि संचालक पुरुषकी अपेक्षा अवश्य होगी। मेज, कुरसी इत्यादि स्थूल पदार्थ जब बिना चेतन संचालकके नहीं उत्पन्न होते, तब सुन्दर वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि पदार्थ चेतन संचालकके बिना केवल 'प्राकृत नियम'के अनुसार उत्पन्न होंगे, यह बात मनमें नहीं बैठती।

इन सब विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके अस्तित्वको, भगवत्तत्त्वकी सत्ताको मानना ही युक्तियुक्त है और इसीमें सर्वथा कल्याण भी है। इस विषयमें विशेष तर्क-वितर्क करना अनुचित, अनावश्यक और अनिष्टकारक है।

श्रीभगवत्तत्त्वका स्वरूप

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदासजी सेठ)

श्रीभगवत्तत्त्व ज्ञानस्वरूप एवं स्वयंप्रकाशरूप है, असङ्ग और अजन्मा है। यह ज्योतिस्वरूप, चिदानन्दरूप, एवं स्वसंवेद्य है यह निर्गुण होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीनकर योगमायासे सगुण बनता है। जो त्रिविध पाप-तापका हरण करते हैं, वे श्रीहरि भी वही हैं—'**हरति पापान् दुःखान् त्रिविधान् वा इति हरिः।**' मुण्डकोपनिषद् इस तत्त्वका वर्णन इस प्रकार करती है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(३। १। ८)

'परमात्माको न चर्म-चक्षुओंसे देखा जा सकता है न उसे वाणी-द्वारा या अन्य इन्द्रियोंसे अथवा तप या विभिन्न कर्मोंसे ही ग्रहण किया जा सकता है, प्रत्युत ज्ञानप्रसादसे, विशुद्ध हुए अन्तःकरणसे ध्याननिष्ठ साधक उसे अनुभव कर सकता है।' वह भगवद्भक्त नित्य भगवान्में ही रमण करता हुआ, भगवान्में अनन्य प्रेम रखता हुआ परम निष्कामभाव एवं भक्तिभावसे कर्तव्यकर्मोंका सम्पादन करता है। इसे और अधिक स्पष्ट करती हुई मुण्डकोपनिषद् कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(३। २। ३)

'यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि अथवा श्रवणादिद्वारा प्राप्त नहीं होता, यह जिसे अनुग्रहपूर्वक साधनादिसे ही कर लेता है, उसीको प्राप्त हो सकता है।' अथर्ववेदका कथन है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(१०। ८। ४४)

श्रीभगवान् स्वयम्भू, सदातृप्त, सर्वत्र व्याप्त, अकाम, अजर और अमर हैं। उन्हें जाननेसे मृत्युका भय नहीं रहता। उनकी विशदता एवं सूक्ष्मता बताती हुई श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(१ । १५)

'जैसे तिलमें तैल, दधिमें घृत, भूमिगत अन्तः-स्रोतोंमें जल, अरणिमें अग्नि (अदृश्यरूपसे) विद्यमान है, ठीक उसी प्रकार भगवत्तत्त्व अदृश्य-अव्यक्त रूपसे जगत्में सर्वत्र व्याप्त है। उसे सत्य और तपद्वारा जाना जा सकता है।'

श्रीभगवान् सदा-सर्वदा हम सभीके हृदयमें स्थित हैं, किंतु दूषित अन्तःकरणवाले मनुष्य उन्हें नहीं जान पाते। यदि भगवत्तत्त्वमें हमारा यथार्थ तल्लीनता होती है तो अनेक श्रेय नित्य सम्भावित हैं। अति आस्था-वाले भक्त श्रीनरसिंह मेहता, नित्यध्यानमग्न मीराबाई, लीला-गुण-तन्मय तुलसीदास आदि श्रेष्ठ संतोंने अनन्य प्रेमसे ही भगवान्को प्रसन्न किया था। सच्चा प्रेम समर्पण चाहता है। भगवत्प्रेम रोम-रोममें व्याप्त होते ही प्रभु साक्षात् होते हैं। भगवत्प्राप्ति-हेतु प्रतिक्षण रोम-रोमसे परमप्रेमके प्रवाहोंका उत्स्फुरण होना चाहिये। उस परम तत्त्वकी प्राप्तिका आनन्द दिव्य है। उसकी रूपमाधुरी, रसमाधुरीकी अनुभूति अद्भुत है। उच्चाशय जीवनमें ही उस भगवत्-सौंदर्यकी अनुभूति होती है। उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते ही भवबन्धन टूट जाते हैं— **'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।'** दर्शन होनेमात्रसे ही हृदयग्रन्थि विदीर्ण होकर सर्व संशय शान्त हो जाते हैं, एवं कर्म क्षीण हो जाते हैं। ऐसे भक्तश्रेष्ठको भगवत्तत्त्वगुणानुवादके अतिरिक्त कुछ नहीं सुहाता। इसके मूर्तिमान् ज्वलन्त उदाहरण ब्रह्मवेत्ता संतशिरोमणि श्रीशुकदेवजी हैं। इस अनन्यताको बताते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥'
(ब्रह्मानन्द (२) वल्ली, चतुर्थ अनुवाक)

'जहाँ मनसहित वाणी भी नहीं पहुँच पाती, जहाँसे मन एवं वाणी कुण्ठित होकर लौटते हैं, आनन्दमय ब्रह्म है। जिसे वे अनुभूत हैं, वह कभी किसीसे किंचित् भी नहीं डरता।' अथर्ववेद कहता है—

ये बध्यमानमनु दीध्याना
अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो
विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥
(२ । ३४ । ३)

'जो बुद्धिमान् बद्ध मनुष्यको भी अपने मन एवं चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखता है, उसे प्रजाके सङ्ग क्रीड़ा करनेवाले विश्वकर्ता तेजस्वी भगवान् प्रथमतः मुक्त करते हैं।' उस भगवत्तत्त्वस्वरूपकी विशेषता समझाते हुए श्रुति कहती है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठोपनिषद् २ । २ । १२)

'वे सर्वभूतोंके अन्तरात्मा सम्पूर्ण विश्वमें एक हैं, एक रूपको अनेक रूपोंमें प्रकट करते हैं। वे एक होते हुए भी अनेक बनते हैं। जो उन्हें अपने भीतर देखता है, उसे शाश्वत सुख मिलता है। जो भीतर नहीं देखता वह शाश्वत सुखसे वञ्चित रह जाता है। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** में एक हूँ, किंतु अब अनेक होता हूँ।' 'भगवान् एक हैं, अखण्ड हैं, एकरस हैं, तथापि अनेक रूपोंमें दीखते हैं। शास्त्र उनकी विश्ववन्द्य महिमाका उद्घोष करते हुए कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठोपनिषद् २ । २ । १५)

उस परतत्त्वमें सूर्य, चन्द्रमा, तारागण या विद्युत्-अग्निकी आवश्यकता आदिका प्रकाश निहित नहीं है, फिर वस्तुतः श्रीभगवान्‌के प्रकाशसे ही ये सूर्य-चन्द्रादि तेजस्वी पदार्थ प्रकाशमान् हैं। यह सम्पूर्ण विश्व भगवत्तत्त्व-प्रकाशसे ही प्रकाशित है। शास्त्रोंने भगवत्तत्त्वका स्वरूपनिरूपण दो प्रकारसे किया है। एक विधिमुख प्रणालीसे तथा द्वितीय नेतिरूप निषेधमुख प्रणालीसे। सकल तत्त्वोंको छोड़नेपर जो अविभाज्य शेष रहता है, वही भगवत्तत्त्व है। यह सर्वदा परिपूर्ण है। इस सर्वव्यापक भगवत्तत्त्वको हम रजोगुण, तमोगुणादियुक्त बुद्धिके द्वारा अनुभव नहीं कर पाते। हमारा हृदय दुष्ट विचारों, आत्मश्लाघा-परनिन्दा-कथन, राग-द्वेषादि कूड़ेकी दुर्गन्धसे भरा रहता है। फलतः हम सुगन्धकी उपेक्षा कर दुर्गन्ध ही ग्रहण करते हैं। उपेक्षित एवं क्षुद्र मानी जानेवाली झाड़ू इससे भली है वह करोड़ों रुपयोंके मूल्यवान् महलोंकी भी सफायी करती रहती है। वह वर्द्धनीया झाड़ू एक प्रकारसे मङ्गलमय एवं पवित्र वस्तु है। हमारे अन्तर-में निहित विवेकरूपी झाड़ू भी मलशुद्धिकारिणी है। उस विवेक-झाड़ूसे अन्तस्थ कूड़ेकी सफायी करके अन्तरको निर्मल बनाना चाहिये। भगवत्तत्त्वमें श्री और विद्याकी कमी नहीं है। वह पूर्णतम है, सर्वतः परिपूर्ण है एवं पूर्णसे अनेक ब्रह्माण्डोंके हो जानेपर शेष भी पूर्ण ही रहता है। यही सदा पूर्ण रहनेवाला भगवत्तत्त्व है। **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।** (बृहदार० उप०)

इसीका सुस्पष्ट वर्णन करते हुए कठोपनिषद् कहती है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
(२। ३। ७-८)

'इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है। मनसे सत्त्व अर्थात् बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धिसे महत्तत्त्व श्रेष्ठ है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है। अव्यक्त प्रकृतिसे भी पुरुष या परमात्मा अर्थात् भगवत्तत्त्व श्रेष्ठ है। यह भगवत्तत्त्व सर्वव्यापक है एवं चिह्नरहित है, अतएव किसी भी प्रकारके चिह्नोंसे उन्हें दर्शाया नहीं जा सकता। उसे जाननेसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण श्वेताश्वतरोपनिषद् यों करती है—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥
(६। १९)

वह परमतत्त्व निष्कलङ्क है वह सब कुछ करते हुए भी अकर्ता, शान्त, निर्दोष एवं निर्लिप्त है। मैं अमृतके परमफलरूप, चरममोक्षरूप भगवान्‌की शरणमें जाता हूँ। विशेष परिचय कराती हुई श्वेताश्वतरकी श्रुति कहती है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(७। ८)

'वह परमात्मतत्त्व देहरूप कार्यों एवं अन्तःकरण आदिसे रहित है। उसके समान कोई शक्तिशाली नहीं है, उससे अधिक शक्तिशाली भी कोई नहीं है? उनकी स्वाभाविक पराशक्ति, ज्ञान, बल एवं क्रिया विभिन्न प्रकारसे सुनी जाती है। '**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।**' वह सर्वज्ञ है, सर्वविद् है, सकल संसारमें उसकी महिमा सुविख्यात है।' मुण्डकोपनिषद् कहती है—

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।
(३। १। ४)

आत्माके सङ्ग खेलनेवाला, आत्मामें ही रमण करनेवाला एवं क्रियाशील रहनेवाला ही ब्रह्मवेत्ताओंमें, भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है। कठोपनिषद् कहती है—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥
(२।३।४)

इस शरीरके मृत्युपूर्व ही यदि इस शरीरमें रहनेवाले उस भगवत्तत्त्वको प्राप्त न कर सके तो सृष्टिमें नवीन शरीर धारण करना पड़ता है, जन्म-मरणरूप चक्रसे मुक्ति नहीं होती। भगवत्तत्त्वकी शरण सुवर्णवसन्तमालतीकी ऐसी गुटिका है, जो जीवनकी सर्वव्याधियोंका हरण कर लेती है। अतः इसका सद्भावसे सेवन परमावश्यक है।

ब्रह्मका सम्यक् और समन्वयात्मक रूप

(लेखक—डॉ० श्रीअवधबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्०)

ब्रह्मके सम्यक् रूपको परब्रह्म या भगवान् कहते हैं। श्रीमद्भागवत-(१ । २ । ११)के निम्न श्लोकमें परब्रह्मके सम्यक् रूपका वर्णन है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

परब्रह्म अद्वय है। वह स्वजातीय-विजातीय एवं स्वगत-भेदरहित है। उसके समान या उससे भिन्न और कुछ नहीं है। यह जो कुछ है, सब उसीका प्रकाश है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें तीन प्रधान हैं (१) चित्-शक्ति या स्वरूप-शक्ति, (२) जीव-शक्ति और (३) माया-शक्ति। चित्-शक्तिका प्रकाश है उसके धाम, परिकर और लीलादि, जीव-शक्तिका प्रकाश है जीव और माया-शक्तिका प्रकाश है जगत्।

ब्रह्मकी स्वरूप-शक्तिके विकास-क्रमके अनुसार उसके अनन्त रूप हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्ममें स्वरूप-शक्तिका न्यूनतम प्रकाश है—केवल उतना ही जितना सत्तामात्रकी रक्षाके लिये आवश्यक है। इसीलिये उसे केवल सत्रूप कहते हैं। उसमें ऐसा कोई विशेषत्व नहीं, जो अनुभवमें आ सके। इसलिये उसे निर्विशेष कहते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें किसी प्रकारका विशेषत्व है ही नहीं। जब चिच्छक्ति परब्रह्मकी स्वाभाविकी शक्ति है तो परब्रह्मके प्रत्येक प्रकाशमें उसका रहना स्वाभाविक है। ब्रह्ममें भी चिच्छक्ति वर्तमान है। पर वह अव्यक्त है, क्रियाहीन है। जिस प्रकार सूर्य और उसकी प्रभा दोनों तेजोमय हैं, पर सूर्य सविशेष है, प्रभा निर्विशेष, उसी प्रकार परब्रह्म और ब्रह्म दोनों ही चिच्छक्तिविशिष्ट हैं, पर परब्रह्म सविशेष है; क्योंकि वह 'चिद्घन' और 'आनन्दघन' है, उसमें चिच्छक्ति क्रियाशील है और ब्रह्म निर्विशेष है; क्योंकि वह ज्ञानसत्तामात्र और आनन्दसत्तामात्र है, उसमें चिच्छक्ति निष्क्रिय है। इसलिये ब्रह्म-संहितामें परब्रह्म और ब्रह्मकी तुलना सूर्य और उसकी प्रभासे की गयी है (ब्रह्मसंहिता ५ । ४०)। 'चैतन्य-चरितामृत' (१ । २० । १०)में भी ब्रह्मको गोविन्दकी अङ्गकान्ति कहा है—

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डे जे ब्रह्मेर विभूति।
सेई ब्रह्म गोविन्देर हय अंग कान्ति॥

तत्त्वतः परब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। पर निर्विशेष ब्रह्म परब्रह्मका असम्यक् प्रकाश है। व्यापक अर्थमें 'ब्रह्म' शब्द परब्रह्मका ही निर्देश करता है, पर रूढ़ि वृत्तिके अनुसार यह निर्विशेष ब्रह्मका संकेत करता है।

परमात्मामें स्वरूप-शक्तिका विकास ब्रह्मकी अपेक्षा अधिक है। इसलिये वह मूर्त है। श्रुतियाँ उसे अंगुष्ठ-प्रमाण कहती हैं। वह अन्तर्यामिरूपसे सब जीवोंके अन्तःकरणमें विराजमान है। परमात्मा और परब्रह्ममें भी तत्त्वतः कुछ भेद नहीं है। व्यापक अर्थमें 'परमात्मा'

*

शब्द भी परब्रह्मका ही निर्देश करता है। रूढि अर्थमें यह जीवान्तर्यामी परमात्माका निर्देश करता है (चै० च० २ । २४ । ५९)। परब्रह्म अनन्त शक्ति-विशिष्ट है। परमात्माका सम्बन्ध केवल जीव-शक्ति और माया-शक्तिसे है। परमात्मा परब्रह्मका वह अंश है, जिसके द्वारा वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि आदिका कार्य करता है और उनमें व्याप्त रहकर उनका संचालन करता है।

भगवान्‌में स्वरूप-शक्तिका पूर्ण विकास है। ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यकी उनमें पूर्ण अभिव्यक्ति है। वे रस-स्वरूप हैं—**'रसो वै सः।'** उनके भी वासुदेव, राम, नारायण, नृसिंह आदि अनेक रूप हैं, जिनमें उनके ऐश्वर्य, माधुर्यादिके विकास-क्रमका तारतम्य है। वे इन रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे रसका आस्वादन करते हैं। पर उनका श्रीकृष्णरूप ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण 'अखिलरसामृत-मूर्ति' हैं। उन्हींको श्रीमद्भागवत (१० । १४ । २२) और गीतादि शास्त्रोंमें 'परब्रह्म' कहा गया है। वे ही स्वयं भगवान् हैं—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**। रसमयता उनका स्वरूपगत लक्षण है। इसलिये उनके विभिन्न प्रकाशोंका स्वरूप भी रसमय है। भगवत्स्वरूपोंमें स्वरूप-शक्तिके विकास-क्रमके अनुसार रसोंका भी तारतम्य है। निर्विशेष ब्रह्ममें रस न्यूनतम है।

ब्रह्म सत्-रूप है, परमात्मा चित्-रूप है और भगवान् आनन्दरूप। जिस प्रकार सच्चिदानन्दरूप परब्रह्ममें सत्, चित् और आनन्दकी पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक-दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। जिस प्रकार परब्रह्मकी किसी अभिव्यक्तिमें सत्‌की प्रधानताके कारण उसे सत्, चित्‌की प्रधानताके कारण चित् और आनन्दकी प्रधानताके कारण आनन्द कहते हैं, इसी प्रकार परब्रह्मके उस अंशको, जिसमें सत्‌की प्रधानता है 'ब्रह्म' तथा उस अंशको जिसमें चित्‌की प्रधानता है 'परमात्मा' और उस सम्यक् स्वरूपको, जिसमें आनन्दकी प्रधानता है 'भगवान्' कहते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म सविशेष भी है, निर्विशेष भी। दोनों रूप ब्रह्मके स्वाभाविक रूप हैं। दोनोंकी सत्ता पारमार्थिक है। दोनोंमेंसे किसीका भी माया या किसी प्रकारकी उपाधिसे कोई सम्बन्ध नहीं है (भा० १० । १४ । २२)। सूर्यके प्रकाशमें जिस प्रकार अंधकार प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपको माया स्पर्श नहीं करती। **'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया'**—जहाँतक ब्रह्मकी दृष्टि जाती है, माया पास आते भी लजाती है (भा० १० । १४ । २२)।

निर्विशेष और सविशेष ब्रह्मका भेद ब्रह्मके स्वरूप और तटस्थ लक्षणोंसे सम्बद्ध है। किसी वस्तुका स्वरूप-लक्षण उसके रूप और उपादानसे जाना जाता है और तटस्थ लक्षण उसके कार्योंसे जाना जाता है (चै० च० २ । २० । २९६)। श्रुतियोंने ब्रह्मको सत्स्वरूप और ज्ञान-स्वरूप—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** कहा है (तैत्तरीय, आनन्दवल्ली—१)। ब्रह्मसूत्रमें उसे **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (ब्र० सू० १ । १ । १२) कहा है। इसलिये सच्चिदानन्दत्व ही ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है। सृष्टि, प्रलयादि कार्य उसके तटस्थ लक्षण हैं। जो लोग ब्रह्मकी शक्तिको छोड़ उसकी सत्तामात्रका अनुभव करना चाहते हैं, उन्हें उसके तटस्थ लक्षणका अनुभव नहीं होता। उनकी यह धारणा बन जाना स्वाभाविक है कि उसका स्वरूप-लक्षण ही उसका पूर्णरूप है।

श्रीजीवगोस्वामीने निर्विशेष ब्रह्मको केवल 'विशेष्य' और सविशेष ब्रह्मको 'विशेषणयुक्त विशेष्य' कहा है। केवल विशेष्य वस्तुका सम्यक् रूप नहीं होता, सम्यक् रूप विशेषणसहित विशेष्य होता है।

निर्विशेष ब्रह्मके उपासक ब्रह्मके विशेषणोंकी उपेक्षा कर उसकी सत्तामात्रपर ध्यान केन्द्रित करते हैं। ध्यानकी परिपक्वावस्थामें उन्हें ब्रह्मकी सत्तामात्रका अनुभव होता है। यह अनुभव यथार्थ है, पर यह सम्यक् अनुभव नहीं है। श्रीजीवगोस्वामीने भागवतसंदर्भमें

लिखा है कि—**'यत्र विशेष विनैव वस्तुनः स्फूर्तिः सा दृष्टिरसम्पूर्णा यथा ब्रह्माकारेण। यत्र स्वरूपभूतनानावैचित्री विशेषपदाकारेण सा सम्पूर्णा'**—अर्थात् जो दृष्टि बिना विशेषत्वके वस्तुका दर्शन कराती है, जैसे ब्रह्मका, वह असम्पूर्ण है और जो स्वरूपगत नानावैचित्र्यमय विशेषत्वयुक्त वस्तुका अनुभव कराती है, वह सम्पूर्ण है (भ० सं० ७०)। फिर भी **'एकस्य दर्शनस्य वास्तवत्वम् अन्यस्य भ्रमजत्वम् इति न मन्तव्यम् उभयोरपि याथार्थ्येन दर्शितत्वात्'**—अर्थात् एकका अनुभव वास्तव हो, दूसरेका अवास्तव—ऐसा नहीं है। दोनोंका अनुभव यथार्थ है (भ० सं० ६९)।

जिस प्रकार मिसरीको देखनेसे उसके श्वेतत्वका, हाथसे स्पर्श करनेसे घनत्वका और जिह्वापर रखनेसे मिष्टत्वका अनुभव होता है, उसी प्रकार ज्ञान-मार्गका अवलम्बन करनेसे परब्रह्मके निर्विशेष-स्वरूपका, योगमार्गका अवलम्बन करनेसे उसके परमात्म-स्वरूपका और भक्तिमार्गका अवलम्बन करनेसे उसके पूर्णतमरूप स्वयं भगवत्तत्त्वका अनुभव होता है—

सेई कृष्ण-प्राप्ति हेतु त्रिविध साधन।
ज्ञान, योग, भक्ति—तिनेर पृथक् लक्षण॥
तिन साधने भगवान् तिन स्वरूपे भासे।
ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—त्रिविध प्रकाशे॥
(चै० च० २ । २४ । ५७–५८)

जैसे यात्रीको दूरसे पर्वत काले बादलके समान सपाट निर्विशेष, निराकार-सा प्रतीत होता है, उसकी विभिन्न श्रेणियाँ, नदी-नाले, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी इत्यादि व्यक्त रहते हुए भी अव्यक्त रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी साधकको ब्रह्मके केवल निराकार, निर्विशेष रूपका दर्शन होता है। पर्वतके कुछ निकट जानेपर जैसे यात्री उसकी विभिन्न श्रेणियोंके दर्शन करता है, उसी प्रकार योगी, जो ज्ञानीकी अपेक्षा ब्रह्मके अधिक निकट होता है, उसके किंचित् वैचित्री और विशेषत्वयुक्त परमात्म-स्वरूपके दर्शन करता है। पर्वतके बिलकुल पास जानेपर, जैसे यात्री पर्वतकी सम्पूर्ण शोभा-वैचित्रीका दर्शन करता है, बहते हुए नदी-नालोंका कल-कल शब्द और पक्षियोंका कलरव सुनता है तथा मन्द-मन्द बहते शीतल, सुगन्ध पवनके स्पर्शका अनुभव करता है, उसी प्रकार भक्तिमार्गका साधक जो भक्तिके अचिन्त्य प्रभावसे भगवान्‌के बिलकुल निकट होता है, रूप, गुण, लीलादिकी अनुपम माधुरी और वैचित्रीसे युक्त उनके सम्यक् रूपका दर्शन करता है। भक्तिकी आकर्षणी शक्ति, जो ज्ञान और योगमें नहीं है, भगवान्‌को रुचिकर भक्तके इतना निकट ले आती है कि उनका कुछ भी उससे छिपा नहीं रहता है।

अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही साधकोंको भगवान्‌के विभिन्न रूपोंका दर्शन होता है। यह बात कंसकी सभामें मल्ल-युद्धके लिये उपस्थित श्रीकृष्णके विभिन्न प्रकारके स्वरूपके अनुभवोंसे प्रमाणित होती है, जो उस समय अपने-अपने भाव और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार दर्शकोंको हुए थे। किसीने उन्हें साक्षात् मृत्युके रूपमें देखा, किसीने वज्रके रूपमें, किसीने नरश्रेष्ठके रूपमें, किसीने निर्विशेष परतत्त्वके रूपमें, किसीने स्वजनके रूपमें और किसीने मूर्तिमान् कंदर्पके रूपमें (भा० १० । ४३ । १७)।

साधारण जीवोंके साधारण वस्तुओंके अनुभवसे भी योग्यताके अनुरूप अनुभवकी बात ही सिद्ध होती है। तालाबका मेढक अपनी वृत्तिके अनुसार तालाबके कीचड़भरे जलमें विहार करके सुखी होता है, पर तदनुकूल वृत्तिके अभावमें वह तालाबके कमलोंके सौन्दर्य और सौरभका आस्वादन नहीं कर पाता। जब कि भ्रमर अपनी तदनुकूल वृत्तिके कारण दूरसे ही उसका आस्वादन कर उसके निकट उड़ आता है। इसी प्रकार भगवत्स्वरूपकी परिपूर्णावस्था मधुरातिमधुर

श्रीकृष्ण-स्वरूपका अनुभव उन्हीं भाग्यवान् साधकोंको होता है, जिन्होंने भक्तिकी गङ्गामें अवगाहन कर अपनेको उसके अनुकूल बना लिया है—

भक्त्ये भगवानेर अनुभव पूर्णरूप।
एकई विग्रह तार अनन्त स्वरूप॥
(चै० च० २। २०। १३७)

भगवान्ने स्वयं कहा है—**'भक्त्या मामभिजानाति'**—भक्तिसे मुझे भलीभाँति अर्थात् मेरे पूर्ण स्वरूपको जाना जाता है (गीता १८। ५५)। भक्तिसे भगवान्को सम्यक् रूपसे जानकर भक्त भगवान् बन जाते हैं। तभी तो कहा गया है **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** और—

'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।'

भगवत्तत्त्वकी साधना

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज,' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न)

तत्त्वदर्शी ज्ञानिजन ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं; उसीको कोई 'परमात्मा', कोई 'ब्रह्म', और कोई 'भगवान्'के नामसे पुकारते हैं।[1] ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है कि जिससे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, वही 'परमात्मा' है।[2] तैत्तिरीय श्रुति-(३। १)में भी इसीकी पुष्टि की गयी है। उस परमात्माको जानकर ही मृत्युका उल्लङ्घन किया जा सकता है, अर्थात् मुक्त हुआ जा सकता है। मुक्ति-प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है।[3] वेदका भी स्पष्ट उद्घोष है कि उस आत्माको जानकर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता[4] तथा शोक-सागरसे पार हो जाता है[5]। बृहदारण्यकोपनिषद्के[6] उस प्रसिद्ध उपाख्यानमें—जिसमें याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको आत्मदर्शनके माहात्म्य तथा उपायोंको बताया है—**'न वा अरे पत्युः कामाय'** से आरम्भ करके सब पदार्थोंका वर्णन करते हुए कहा है कि ये सब आत्माको अपने लिये ही प्यारे होते हैं; अतः 'हे मैत्रेयि! आत्माको ही देखना, सुनना, ध्यान करना चाहिये; क्योंकि आत्माके देखने, सुनने, मनन करनेसे यह सब कुछ देखा, सुना, मनन किया तथा जाना जाता है।' मुण्डकोपनिषद्के[7] अनुसार 'उस परावर—कार्यकारणरूप अथवा शुद्ध शबलस्वरूप परमात्माके साक्षात्कारसे जीवकी आत्मानात्म अविवेकरूपी हृदयकी गाँठ खुल जाती है। आत्मा, परमात्मा, परलोक आदिके विषयमें इसके सम्पूर्ण संशयोंका उच्छेद हो जाता है और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं—यह कहकर आत्मज्ञानकी महत्ता प्रदर्शित की गयी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'आत्मज्ञान' ही सच्चे सुखकी प्राप्तिका साधन है। जन्म और नाशरहित होनेसे यह आत्मरूप सत्ता नित्य है; सब संसार उसका ही

१–द्रष्टव्य—श्रीमद्भा० १। २। ११ २–देखिये ब्रह्मसूत्र १। २

३–(क) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (यजुर्वेद ३१। २८, श्वेता० ३। ८)
(ख) 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।' (न्यायसूत्र १। १। २)

४–'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः' (अथर्व० १०। ८। ४४, ऋक्० १। १६७। २२)

५–(क) 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७।१।३) (ख) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥(ईश० ७)

६–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।' (बृहदा० ४। ५। ६)

७–'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मुण्डक० २। २। ८)

विवर्त हैं[8], देश-काल वस्तुकृत त्रिविध परिच्छेदशून्य होनेके कारण उस सत्ताको परम आत्मा=परमात्मा या ब्रह्म कहते हैं। वह ब्रह्मसत्ता सब शब्दोंका वाच्य अर्थ है, उसके वाचक स्फोटरूप शब्दसे वह पृथक् नहीं है। वाच्य-वाचकका परमार्थतः अभेद होनेपर भी उसका सम्बन्ध व्यवहार-दशामें अविद्यावश भासता है, भेद-प्रतीति कल्पना-बलसे होती है।

सम्पूर्ण संसार ब्रह्ममय ही है अथवा ब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही विवर्तभावसे जगत्‌रूपमें भासित हो रहे हैं। वे पिण्डमें **'अणोरणीयान्'** तथा ब्रह्माण्डमें **'महतो महीयान्'**के रूपमें प्रकाशमान हैं। जो कुछ भी जड़-चेतनके रूपमें भासित होता है, सब परमात्मा ही है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसी भावसे जड़-चेतन सभीको परमात्मस्वरूप मानकर स्तुति की है।[9] श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है कि आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी हैं सब भगवान् हरिके शरीर ही हैं, अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे[10]। आचार्य शंकर भी लिखते हैं कि 'जो भीतर और बाहर व्यापक है, नित्य शुद्ध है, एक है और सदा सच्चिदानन्दकन्द है, जिससे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चका भान होता है तथा जिससे उसका प्राकट्य हुआ है, वही परब्रह्म परमात्मा है।'[11]

विष्णुपुराणके अनुसार इस जगत्‌में जो कुछ है वह एकमात्र श्रीहरि ही हैं। उनसे भिन्न और कुछ नहीं है। हरि ही संसार हैं, संसार ही हरि है, **'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः।'**[12] इसी प्रकार 'यह सब निश्चय ही ब्रह्म ही है'[13]—**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** 'यहाँ नाना कुछ नहीं है',[14] 'यह जो कुछ भी है सब आत्मा ही है',[15] 'यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है',[16] 'यह सब कुछ पुरुष ही है'[17]---इत्यादि अनेक श्रुतियाँ तथा गीता-(७।७) में भगवान् श्रीकृष्णकी यह उक्ति कि—

'हे अर्जुन ! मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सारा संसार सूत्रमें मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है, यही प्रतिपादित करती है कि एक परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।'

'अंशो नानाव्यपदेशात्,'[18] **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः,'**[19] 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'[20], इत्यादि—वचनोंके अनुसार जीव परमात्माका ही अंश है। पर अविद्यायुक्त होनेके कारण जीव नित्य बद्ध है और परमात्मा विद्यास्वरूप होनेके कारण नित्य मुक्त है। स्वरूप-विस्मृतिके कारण ही चेतन जीव बन जाता है। वास्तवमें जीव और ईश्वरमें कोई भिन्नता नहीं है। शुकरहस्योपनिषद्‌में भगवान् शंकर अपने शिष्य शुकदेवसे कहते हैं कि—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

तात्पर्य यह है कि जीवकी उपाधि है अविद्याजन्य अन्तःकरण एवं ईश्वरकी उपाधि है माया। उपाधि-

८—तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ (कठ० १।२।१२) ९—श्रीमद्रामचरितमानस १।७ ग, १।७।१। १०—श्रीमद्भा० ११।२।४१। ११—यदन्तर्बहिर्व्यापकं नित्यशुद्धं यदेकं सदा सच्चिदानन्दकन्दम्। यतः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य मानं यतस्तत्प्रसूतस्तदेवाहमस्मि॥ (निर्वाणमञ्जरी ९) १२—'एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।' (विष्णुपुराण २।१६।२२) १३—और भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१) १४—'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहदा० ४।४।१९; कठ० २।१।११) १५—(क) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) (ख) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृहदा० २।४।६) १६—'ब्रह्मैवेदं सर्वमिदं वरिष्ठम्' (मुण्डक० २।२।११) १७—'पुरुष एवेदं सर्वम्' (यजु० ३१।२) १८—'जीव ब्रह्मका अंश है' (वेदान्तसूत्र २।३।४२) १९—गीता १५।७। २०—मानस ७।११६।१; महाभारत, वन० २६१।४१।

भेदसे एक ही चैतन्य कार्य और कारण बना हुआ है। कार्यकी उपाधिसे युक्त चैतन्य जीव कहलाता है और कारण की उपाधिसे सम्पृक्त चैतन्यका नाम ईश्वर है। इन दोनों उपाधियोंको दूर करनेसे जो बचता है, वही पूर्णज्ञानका लक्ष्य है, जिसमें जीव और ईश्वरके शुद्ध चैतन्यकी एकता झलकने लगती है। सत्ताकी दृष्टिसे जीव और ईश्वर ही क्यों, संसारके सभी पदार्थ एक हैं। इस विचारसे ब्रह्म और जगत् भी एक ही है; क्योंकि ब्रह्मकी ही सत्ता जगत्में ओतप्रोत है, जैसा कि शंकराचार्यने भी कहा है—

'दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव
आकाशादिष्वनुवर्तमानः।'

जीवका जीवत्व और ईश्वरका ईश्वरत्व—दोनों व्यावहारिक हैं। इन दोनों व्यावहारिक कल्पनाओंका परित्याग करनेपर केवल एक शुद्ध परमार्थ चेतन बचता है; और, वही 'भगवत्तत्त्व' है।

भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये उपासनाके त्रिभेद—ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मयोग—बहुत ही सहायक हैं। वास्तवमें उपासनाके ये तीन सोपान गन्तव्यतक पहुँचानेके लिये भिन्न होते हुए भी एक हैं। साधन-भेदसे इनकी भिन्नता दिखायी देती है, पर तीनों मार्गोंसे ही भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानमार्गी, सम्पूर्ण विश्वमें एकमात्र प्रकाशस्वरूप परमात्माका ही अस्तित्व मानकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी समाप्त कर देता है तथा जप और ध्यानके सहारे परमात्मस्वरूप हो (भगवत्तत्त्वको जानकर) परमात्मासे साक्षात्कार कर लेता है। आत्माराम होनेके कारण उसे परमात्मासे भिन्न किसी वस्तुकी अनुभूति ही नहीं होती। गीतामें भगवान् कृष्णने कहा है कि 'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है[२१]।' जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है; उसीमें विलीन हो जाता है।[२२]

साधकको जब स्वयंमें तथा समस्त जड़-चेतनमें ब्रह्म-भावना करते-करते परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है[२३]। फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् उसे इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। इस तरह ज्ञानी भगवत्तत्त्वको चराचरमें व्याप्त जानकर स्वयंको भी उसी रूपमें मान[२४] अपना अस्तित्व भगवत्तत्त्वमें विलीन कर देता है।

भक्त स्वयंको प्रभुका अंश मानते हुए प्रभुके साथ ही अपने अस्तित्वको भी चिरस्थायी समझता है। भक्ति-पथमें दास्यभावकी भी महती आवश्यकता है। भगवान्को दास अत्यन्त प्रिय है, जिसे उनके अतिरिक्त

२१—गीता ५। २४। २२—मुण्डक० ३। २। ८। २३—(क) स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डक० ३। २। ९) (ख) ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृहदा० ४। ४। ६) २४—(क) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य० ७) (ख) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक० १। ४। १०)

कोई अन्य आश्रय नहीं रहता[२५]। तभी तो वे सदैव अपने दासकी रुचिके अनुरूप ही कार्य करते हैं[२६]। हनुमान्-जीको अनन्य भक्तकी परिभाषा बतलाते हुए भगवान् राम कहते हैं—'हे हनुमान्! अनन्य वही है जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और चराचर जगत् मेरे स्वामीका रूप है।'[२७] मानसके सप्तम सोपान-(७। १११ क)में भी—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

—कहकर गोस्वामीजीने दास्यभावकी महत्ता प्रदर्शित की है। इस प्रकार अपने इष्टकी छवि प्रत्येक अणु-परमाणुमें देखकर तथा इष्टके प्रति आत्म-समर्पणकर भक्त धन्य हो जाता है। भगवान्को प्राप्त एवं प्रसन्न कर उन्हें अपना बना लेना तथा उनके लिये सर्वस्व परित्याग करना ही भक्तकी भगवत्तत्त्व-प्राप्ति है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है कि जिस समय मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है।'[२८]

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें व्यासजी कहते हैं—'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभावोंसे जो कुछ भी करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे। यही सरल-से-सरल सीधा-सा भागवत धर्म है[२९]। कहना न होगा कि भागवतधर्मके आचरणसे ही निष्काम-कर्मयोगकी सिद्धि होती है। उद्धवजीको भागवतधर्मका उपदेश देते हुए भगवान् कृष्णने यही कहा है कि—'उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और उनको करते समय धीरे-धीरे मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ावे। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त अपने आप मुझमें समर्पित हो जायँगे।'[३०] अस्तु!

निष्कर्ष यह कि विश्वके मूलमें जो एक अखण्ड चेतनतत्त्व है, जो सृष्टि, स्थिति तथा संहारका आदिकारण है, जो प्रत्येक जड़ तथा चेतन पदार्थका परम आत्मा है, जिसकी सत्तासे अखिल विश्वका प्रत्येक जीव अनवरत क्रियाशील है, उसी समष्टि चेतनतत्त्व—'भगवत्तत्त्व'की प्राप्ति ही मनुष्यमात्रका चरम लक्ष्य है और इस हेतु सतत प्रयत्नशील रहना उसका प्रथम और आवश्यक कर्तव्य है। परमलक्ष्यकी प्राप्तिके क्रिया-पथ पात्र-योग्यताके अनुसार अनुसरणीय हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना। उपासनामें समर्पणभाव सरल-सुगम सर्वसाध्य है।

सबका सार-तत्त्व

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः। वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥

वेदों एवं यज्ञोंका तात्पर्य भगवान्की आराधनामें ही है। योग और समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति भी भगवान् वासुदेवकी प्राप्तिमें ही है। ज्ञान एवं तप भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही किये जाते हैं। धर्मोंका अनुष्ठान और सब गतियाँ भी उन्हींमें पर्यवसित होती हैं (श्रीमद्भा० १। २। २८-२९)।

२५—तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥ (मानस ७। ८५। ४)
२६—(क) राम सदा सेवक रुचि राखी॥ (वही २। २१८। ४)
(ख) सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ (वही ४। ३। ४)
२७—वही ४। ३। २८—श्रीमद्भा० ११। २९। ३४। २९—वही ११। २। ३६
३०—कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्। मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ (वही ११। २९। ९)

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भगवत्तत्त्वकी मीमांसा

(लेखक—आचार्य पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी)

देवर्षि नारदसे द्वादशाक्षरमन्त्रकी दीक्षा लेकर बालक ध्रुवने भगवान् नारायणके दर्शनके लिये जब उत्कट तपस्या की तो एक दिन ऐसा आया कि श्रीभगवान् उस बालकके हृदयसे विलुप्त हो गये । इससे घबरा-कर ध्रुवने ज्यों-ही आँखें खोलीं तो वह देखता क्या है कि जिस मूर्तिका वह अपने हृदयमें दर्शन कर रहा था, वही मूर्ति सामने खड़ी है । भगवान्के चरणोंमें तुरंत दण्डवत्-प्रणामकर ध्रुव चुपचाप हाथ जोड़े खड़ा हो गया । उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि वह किस प्रकार भगवान्की स्तुति करे । भगवान्ने उसकी दुविधा समझकर ज्योंही उसके कपोलसे अपने शङ्खका स्पर्श किया त्यों ही उसकी वाणी फूट पड़ी और वह स्तुति करने लग गया—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ६)

'जिस भगवान् पुरुषने मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर अपने तेजसे मेरी सोयी हुई वाणीको सजीव कर डाला है और साथ ही हाथ-पैर-कान और त्वचा आदि मेरी अन्य इन्द्रियों और प्राणोंको भी चेतन कर दिया है, उन भगवान् पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ ।' यह घटना ही भगवत्तत्त्वकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या है । ध्रुवने नारदजीके उपदेशसे भगवान्के स्वरूपका ध्यान करते हुए द्वादशाक्षरमन्त्रका निरन्तर जप करना प्रारम्भ किया और पूर्णतः तन्मय होकर एकात्मताके साथ भगवान्के उस स्वरूपका ध्यान भी लगाये रखा । अपना मन पूर्णरूपसे भगवान्के इस स्वरूपमें लगाये रखनेके कारण ध्रुवको अपने हृदयमें भगवान्का वह स्वरूप धीरे-धीरे बिजलीके समान कौंधने लगा, जिसके कारण वह और भी तन्मय हो चला । किंतु ध्रुव तो अपने बाह्य नेत्रोंसे ही भगवान्का दर्शन करना चाहता था । उसकी भावना अत्यन्त तीव्र हो गयी थी । तीव्र हो जानेपर तो वह भावना स्वयं मूर्त हो ही जाती है । सम्पूर्ण भक्तितत्त्वका यही मनोवैज्ञानिक रहस्य है ।

सात्त्विक वृत्तिवाला प्रत्येक पुरुष अपने सत्त्ववृत्तिके कारण अन्तर्मुखी हो जाता है और अन्तर्मुखी होकर अपनी भावनाके अनुसार वह भगवत्-चिन्तन करने लगता है । प्राक्तन (पूर्व) संस्कारके कारण या किसी गुरुके उपदेशके कारण अथवा किसी अन्य प्रकारकी तथा अन्य व्यक्तिकी प्रेरणाके कारण भगवान्के किसी भी सगुण स्वरूपके साथ वह अपनी आत्मीयता स्थापित कर लेता है । संयोगसे हमारे यहाँ भगवान् विष्णु एवं शिवके अनेक अवतार (राम, कृष्ण, नृसिंह, परशुराम तथा हनुमान्) अथवा शक्तिके अनेक रूप माने गये हैं । उन अनेक रूपोंमेंसे किसी रूपके देवताके साथ वह (साधक) एकात्मता स्थापित करनेका प्रयत्न करता है और उसी देवताको वह साक्षात् भगवान्, अपना इष्टदेव, अपना ध्येय, प्रेय, साध्य सब कुछ मानते हुए तन-मन और श्रमसे उसकी उपासना, उसका ध्यान और उसके मन्त्रका जप करता चलता है, और इस विश्वासके साथ साधना करता चलता है कि मुझे अपने इष्टदेवके दर्शन अवश्य होंगे । प्रायः इस प्रकारके अनेक भक्तोंके और साधकोंके मुखसे यह कहते हुए सुना भी गया है कि मुझे अपने इष्टदेवके दर्शन हो गये । उसकी उस साधनासे उसके आसपास रहनेवाले उसके आत्मीय या भक्त लोग भी कुछ उसकी चामत्कारिक क्रियाओंसे प्रभावित होकर यह कहने लगते हैं कि इन्हें अमुक देवताका इष्ट है । इसलिये इनमें यह

शक्ति आ गयी है। कभी-कभी उस साधककी देव-साधनासे प्राप्त सिद्धि-बलका प्रदर्शन भी देखनेको मिल ही जाता है, इसीलिये कहा गया है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।
(हरिवंश)

'जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।' धनुर्यज्ञके समय भगवान् रामको देखकर वहाँ उपस्थित विभिन्न प्रकारकी वृत्तियोंके लोगोंने उन्हें विभिन्न रूपोंमें देखा, जिसकी व्याख्या करते हुए गोस्वामीजीने लिखा—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

कंसके धनुर्यज्ञमें भी ऐसा ही हुआ।

यह भावना ही वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो भगवान्‌को भक्तके सामने उसकी भावनाके अनुसार रूपमें ला खड़ा कर देती है। भावनाका अर्थ है—अत्यन्त तीव्रतमरूपसे अपने इष्टदेवकी भावना या ध्यान करना अथवा उनसे पूर्ण तन्मयता स्थापित कर लेना। इस भावनाको ही भगवत्तत्त्व समझनेका सबसे अधिक प्रबल आधार माना गया है। किंतु यह भगवत्तत्त्व है क्या? विष्णुपुराण (अंश० ६, अध्याय ५)में भगवान् शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
महतां क्षुद्रजन्तूनाम् सर्वेषां जीविनां सदा।
स्रष्टा पाता च शास्ता च भगवान् करुणानिधिः॥

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, समस्त शक्ति, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन—छहोंकी समष्टिको भग कहते हैं और जिसमें ये छहों गुण विद्यमान हों वही भगवान् कहलाता है। इसीके साथ-साथ भगवान् वही कहला सकता है जो सभी जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलय या विनाश, निराश्रयता और साश्रयता तथा विद्या और अविद्याको भलीभाँति जानता-समझता हो, जो बड़े और छोटे सब जीवोंको उत्पन्न करता, उनकी रक्षा करना और उनपर शासन करता रहता है, वही करुणामय भगवान् हैं।'

यही वास्तवमें वह भगवत्तत्त्व है जिसे भलीभाँति समझ लेनेपर फिर कुछ जानना-समझना शेष नहीं रह जाता। इसी भगवत्तत्त्वको समझानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें गीताके रूपमें उपदेश दिया और अपना विराट्‌रूप भी दिखलाया तथा इसी भगवत्तत्त्वको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको समझाकर बदरिकाश्रम भेजा था।

यह भगवत्तत्त्व साधारणतः लोगोंकी समझमें आ नहीं पाता। जब अर्जुन-जैसे सुपात्रको भी यह भगवत्तत्त्व बहुत समझने और विराट्‌रूप दिखानेपर ही समझाया जा सका, तब साधारण मनुष्यकी तो उसमें गति ही कहाँ हो सकती है? किंतु सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियासे इस भगवत्तत्त्वका अनुभव और उसकी साधना सरलतापूर्वक सम्भव है। इसके लिये पहली सीढ़ी है विश्वास अर्थात् साधकके मनमें अपने इष्टदेवकी भगवत्ताके सम्बन्धमें पूर्ण विश्वास और इस विश्वासके साथ उसमें यह भी प्रबल भावना होनी चाहिये कि वह बिना कुछ विचार किये अपनेको पूर्णतः उसके हाथमें सौंपकर कह दे—**'यथेच्छसि तथा कुरु।'**

यही 'प्रपत्तिवाद' कहलाता है और इसीको 'शरणागतिवाद' भी कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

'शरणागति या प्रपत्ति सिद्ध करनेके छः उपाय हैं या उन्हें छः मनोवैज्ञानिक पद भी कह सकते हैं; अर्थात् यह संकल्प कर लेना कि आजसे मैं आपके अनुकूल ही रहूँगा, कभी आपके प्रतिकूल कोई भावना मनमें नहीं आने दूँगा। मेरा यह विश्वास है कि आप, केवल आप ही मेरी रक्षा करेंगे और करते रहेंगे। इस विश्वासके

साथ मैं आपको अपने रक्षकके रूपमें वरण करता हूँ। आजसे मैं अपने आपको पूर्णतः आपके हाथोंमें समर्पित कर रहा हूँ और मैं इतना आर्त हूँ कि आपके अतिरिक्त किसी दूसरेका पल्ला नहीं पकड़ सकता। आप ही मेरा कष्ट दूर कर सकते हैं; मैं पतित हूँ और आप पतित-पावन हैं।'

यह सारी प्रक्रिया पूर्णतः मानसिक होती है, जो मनके स्थिर संकल्पसे ही सिद्ध हो पाती है। जिसकी यह मानसिक प्रक्रिया पूर्णतः सिद्ध हो जाती है, वह भगवत्तत्त्वको ठीक समझ भी पाता है और इस भगवत्तत्त्वको सिद्ध भी कर लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भगवत्तत्त्वकी यही शुद्ध मीमांसा है।

श्रीमद्भगवत्तत्त्व-विमर्श

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

श्रीभगवान्‌के वात्सल्य, माधुर्य आदि अनेकानेक गुणोंके साथ भक्तजन उनकी छः शक्तियोंको भी मुख्य मानते हैं। वे हैं—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और ओज। भक्तिशास्त्रियोंको इस षट्कने इतना मोहित किया है कि उन्होंने इस गुण-समुदायको ही 'भगवत्तत्त्व' का नाम दे दिया है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयगुणादिभिः॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७९)

ये छः गुण जिनमें पूर्ण होते हैं, वे भगवान् हैं। ऋषि-महर्षि आदिके लिये भगवान् शब्दका प्रयोग औपचारिक है। समस्त वस्तुओंका युगपत् साक्षात्कार ज्ञान कहलाता है।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
(गीता ४। ५)

विविध चेतनाचेतन स्थावर-जङ्गम विश्व-ब्रह्माण्ड-निचय भगवान्‌के बलके लवलेशसे ही विधृत है—**'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः।'** (बृ० उ० ३। ८। ९)

श्रीभगवान्‌का नियमन-सामर्थ्य ही ऐश्वर्य है। पृथिव्यादि आत्म-पर्यन्त वस्तु-जातका नियमन भगवान्‌के ऐश्वर्यसे ही हो रहा है—**'यः पृथिवीमन्तरो यमयति यमियं पृथ्वी न वेद य आत्मानमन्तरो यमयमात्मा न वेद यमयति** (बृह उ० ३। ७। ३) अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार न होना वीर्य है। विकारमयी प्रकृतिसे परे होनेके कारण भगवान् निर्विकार हैं। अनेक रूप धारण करना विकार नहीं कहलाता। सुवर्णका कुण्डल अथवा कटक बनना सुवर्णका विकार न होकर केवल उसका संस्थान-भेद है; क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें सुवर्णत्व अव्याहत रहता है। इसी प्रकार भगवान् धनुर्बाणधारी श्रीराम-रूपमें रहें अथवा मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण-रूपमें, उनका प्रकृति-परत्व अक्षुण्ण रहता है। अघटितको घटित करनेवाला अथवा असम्भवको भी सम्भव करनेवाला गुण शक्ति है। पर्वतको राई और राईको पर्वत बना सकना उनकी शक्तिका विलास है। पराभिभव-सामर्थ्य ओज कहलाता है। इसको तेज (तेजस्) भी कहते हैं। इसी गुणसे भगवान् दुरासद, दुराधर्ष और दुरतिक्रम रिपु-चक्रका दमन अनायास कर लेते हैं। श्रुतिने जिस प्रकार **'यः सर्वज्ञ सर्ववित्'** (मुण्डकोपनिषद् १। १। १०) आदि वचनोंमें भगवदीय सर्वज्ञता आदि गुणोंका निर्देश किया है, उसी प्रकार—**'यत्ते रूपं कल्याणतमम्'** (ईशावास्य० १६), **'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'** (मुण्डको० ३। १। ३), **'तस्य**

हेतस्य रूपम्' (बृहदा० २ । ३६); 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम् ।' (मुण्डको० ३ । २ । ३) आदि वाक्योंमें भगवदीय रूपका भी निर्देश किया गया है ।

भगवान्‌की सत्ता सर्वथा शुद्ध है । शुद्ध सत्ता ही शुद्ध तत्त्व कही जाती है । भगवान्‌के विश्व-विश्रुत 'सच्चिदानन्द' नामका प्रथम अंश 'सत्' है । इसको शुद्ध तत्त्व या विशुद्ध सत्त्व कहा जाता है । प्राकृत सत्त्वगुणसे तात्पर्य नहीं है । शास्त्रमें श्रीभगवान्‌में प्राकृत गुणोंका प्रतिषेध किया गया है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
(विष्णुपुराण १ । ९ । ४४)

जब ज्ञान, आनन्द आदि गुण भगवत्स्वरूप हैं, तब ज्ञान-मूर्ति, आनन्द-मूर्ति, ज्ञान-विग्रह, आनन्द-विग्रह आदि शब्दोंसे भगवान्‌का निर्देश समीचीन ही है । ऐसे सभी शब्दोंके भावोंको सूचित करनेके लिये भक्तगण 'सच्चिदानन्दघन' शब्दका प्रयोग करते हैं । इसका अर्थ है सच्चिदानन्दमूर्ति; क्योंकि घन शब्दका अर्थ मूर्ति ही है—**मूर्तौ घनः** (पाणि. अष्टाध्या० ३ । ३ । ७७) श्रीभगवान्‌में देह और देहीकी कल्पनाके लिये भी अवकाश नहीं है । इसीलिये भगवान्‌के सभी श्रीविग्रहोंके लिये शास्त्रमें कहा गया है, वे आपादमस्तक, परमानन्दमूर्ति और केवल ज्ञानमय होते हैं ।' अप्राकृत भगवद्-विग्रह चिदानन्दका आकर है । उस विग्रहमें प्राकृत कल्पनाओंका आरोप अनुचित है । जब भगवान्‌में सात्त्विकाहंकारोत्थ एकादश इन्द्रियोंकी ही सिद्धि नहीं हो सकती, तब तामसाहंकारसे विकसित स्थूल शरीरकी तो चर्चा ही क्या ?

श्रीभगवान्‌का वर्ण नील है । संस्कृतमें नीलको श्याम भी कहते हैं—'**कृष्णो नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः** ।' (अमरकोश १, ५, । १४) अतएव भगवान् श्यामसुन्दर कहलाते हैं । हिरण्यवर्णा श्रीलक्ष्मीजीके सांनिध्यके कारण भगवान्‌का इन्द्रनीलमणिके समान नीलवर्ग मरकतके समान हरित प्रतीत होने लगता है—

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगताश्रिये ।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥
(श्रीमद्भा० ८ । १६ । ३५)

पीत एवं नील वर्णोंके मिश्रणसे हरितवर्ग हो जाता है । यह वैज्ञानिकोंकी मान्यता है । भगवान् सर्वव्यापक हैं और उनकी शक्ति जगन्माता श्रीलक्ष्मीजी भी सर्वव्यापिका हैं, विष्णुपुराणका कथन है—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ॥
(१ । ८ । १७)

अग्निपुराणका भी यही मत है ।

त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम् ।
(२३७ । १०)

लक्ष्मीनारायण भगवान् ही सीताराम भगवान् हैं—
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः ।(रामायण ६ । ११७ । २९)
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेति प्रथिता जनैः ।
(हरिवंश, हरिवंशपर्व १४१ । १२९)

एवं वे ही भगवान् श्रीराधा-कृष्ण भी हैं—

सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः ।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम ॥

(कल्याण, श्री'विष्णुअङ्क' पृष्ठ ७६, सम्पादकीय टिप्पणीमें उद्धृत वचन) । प्रारम्भमें भग और भगवान्‌के वाच्य-वाचक-सम्बन्धकी जो चर्चा हुई है, वह **भग एवं भगवांस्तु देवाः**' इस ऋग्वेदीय (७ । ४१ । ५) मन्त्रांशका पौराणिक उपबृंहण है ।

वेदमें भगवत्तत्त्वका स्रोत

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालङ्कार)

भारतीय संस्कृतिके मूलाधार वेद हैं। भारतीय संस्कृतिमें वेदोंका सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वे सम्पूर्ण धर्मके मूल हैं—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**। एक आस्तिक हिन्दूके लिये वेद-विरुद्ध ईश्वरके वचन भी वेदविरुद्ध होनेसे ही प्रामाणिक नहीं हैं। वेद-निन्दकको ही नास्तिक कहते हैं—**'नास्तिको वेदनिन्दकः'**। स्वतः प्रमाणभूत भारतीय वाङ्मयके आधारभूत वेद अपौरुषेय हैं। उनमें किसी भी पुरुषका किंचिदपि स्वातन्त्र्य नहीं है। कर्तव्य-अकर्तव्य कर्मोंकी व्यवस्थामें एकमात्र शासन करनेवाले वेद ही हैं। भगवान् कृष्णका गीता-(१६। २३-२४)-में परामर्श है कि शास्त्र-विधानोक्त कर्तव्यका ज्ञान कर कर्म करना चाहिये। जो पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर स्वतन्त्रतापूर्वक मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न उत्तम गति ही।

अपौरुषेय होनेसे ही वेद भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव (इन्द्रियोंकी असामर्थ्य) आदि दोषोंसे असंस्पृष्ट हैं। वेद परमात्माके निःश्वासभूत हैं। **'यस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'**—'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी' और **'निःश्वसितमस्यवेदाः'**—ये सभी वचन वेदोंको भगवान्‌के निःश्वासभूत बतलाते हैं। वेदोंमें सहस्रशः ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिनमें भगवत्तत्त्वका स्पष्ट विवेचन है। उनमें कुछ मन्त्रोंको हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। जो सबका शासक, सबका नियामक, सबको शक्ति देनेवाला है, वेदोंमें विविध रूपोंसे उसकी महिमाका उपबृंहण है। हम सब उस परमात्माको श्रद्धापूर्वक हविर्दान करते हैं। इन हिमाचल आदि पर्वतों और नदियोंके साथ समुद्र जिसकी महिमा कहते हैं, ये पूर्व आदि दिशाएँ जिसकी महिमाको बतानेवाली हैं, जिसके बाहु विश्वके रक्षक हैं, यह सम्पूर्ण जगत् उस परमात्माकी विभूति है—

यस्येमे हिमवन्तोमहित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(शु० यजु० २५। १२)

हम उस परमात्माका श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, जो उपासकोंको सायुज्य मोक्ष देनेवाला है, सामर्थ्य देनेवाला है—भोग-मोक्षका प्रदाता है। सारे देव-मनुष्यादि जिसका शासन मानते हैं, जिसके ज्ञानपूर्वक आश्रय और उपासना मोक्षहेतु हैं और जिसका अज्ञान संसारका कारण है—

य आत्मदाबलदायस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(शु० यजु० २५। १३)

वही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा है। शुक्र, प्रकाशमान वेद, प्रतिपाद्य ब्रह्म—इन सब रूपोंमें व्याप्त है। जल और प्रजापति भी ब्रह्म है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(शु० यजु० ३२। १)

यह प्रसिद्ध है कि यह ब्रह्म भगवान् सारी दिशाओंमें व्याप्त होकर स्थित है। मनुष्यो! यह भी प्रसिद्ध है कि यह सबसे प्रथम उत्पन्न है। गर्भमें भी इसकी ही स्थिति है। उत्पन्न होकर भी यह भविष्यत्कालमें भी उत्पन्न होनेवाला है। सब ओर मुखादि अवयववाला अचिन्त्यशक्ति वह ब्रह्म प्रत्येक वस्तुमें पूर्ण है।

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥
(शु० यजु० ३२। ४)

इस परमपुरुषने आकाशको वृष्टि देनेवाला बनाया है और पृथ्वीको दृढ़ धारणशक्तिवाला बनाया है। सब प्राणियोंका धारण, वृष्टिका ग्रहण और अन्नकी सिद्धि—यही पृथ्वीकी दृढ़ताका प्रयोजन है। उसने सूर्य-मण्डलको ऊपर ही रोक रखा है और स्वर्गको भी स्तम्भित किया है। हम जो आकाशमें वृष्टिरूप जलके रचयिता हैं, उन देवको श्रद्धापूर्वक हविर् अर्पण करते हैं—

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

वेदान्तविद्याके रहस्यके जानकार सदसद् विवेकशाली विद्वान् उस ब्रह्म या भगवान्का साक्षात्कार करते हैं, उसे जानते हैं—जो सबकी हृदयगुहामें स्थित होकर भी दुर्ज्ञेय है। वह नित्य है। जिस तत्त्वमें यह कार्यरूप विश्व एक आश्रयवाला हो जाता है एवं कारणरूप बन जाता है, उस परमतत्त्वमें ही यह सम्पूर्ण भूत-समुदाय प्रलयमें मिल जाता है तथा सृष्टिके समय व्यक्त हो जाता है। वह परमतत्त्व परमात्मा सबमें ओत-प्रोत हो रहा है। वह ऊर्ध्वतन्तुओंमें पटकी भाँति शरीरभावसे ओत तथा तिरछे तन्तुओंमें पटकी भाँति शरीरी आत्माके भावसे प्रोत है अर्थात् सब ओरसे गुथा हुआ है। वही कार्य-कारणभावसे विविधरूपोंमें दृश्यमान हो रहा है। वही सब कुछ है। वह हम सबका बन्धु, उत्पादक, धारक और संरक्षक भी है। वह सब लोकों एवं स्थानोंको भी जानता है जिसकी शक्तिसे अमृतस्वरूपसे पूर्ण होकर अग्नि, इन्द्र आदि देव स्वर्गमें स्वेच्छासे ही आनन्दित रहते हैं।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं
स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशाना-
स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥
(शु० यजु० ३२।६।८।१०)

सर्वान्तर्यामी, सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वस्वरूप होकर भी किसी विशेष रूपके धारण करनेमें समर्थ हैं। विरोधिनी शक्तियाँ भी जहाँ स्वभावोंका प्रदर्शन कर सकें, उसकी यही सर्वशक्तिमत्ता है। वह **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभुः'** है; करने-न-करने, विपरीत करनेमें अप्रतिहत शक्तिवाला होना ही भगवान्की भगवत्ता है। ब्राह्मण उस एक ही सत्तत्त्वको भिन्न-भिन्न अग्नि, यम, वायु आदिके नामोंसे पुकारते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० सं० १।१६४।४)

वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासना-(भक्ति-)काण्ड, ज्ञानकाण्ड—इन तीनोंका विशद विवेचन है। तीनों काण्ड परस्पर सम्बद्ध हैं। वे क्रमशः एक दूसरेके सहायक हैं। अब विचारणीय बात यह है कि क्या कर्म और उपासना निःसाक्षिक स्वतन्त्ररूपेण फलप्रद हैं। कोई भी कृतकर्म समाप्त होकर पुरुषकी सत्ताके बिना, तदाराधनके बिना फलदानमें उन्मुख कैसे होगा—**'क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।'** निःसाक्षिक कर्म माननेपर अकृताभ्यागम—नहीं किये गये कर्मफलकी प्राप्ति एवं कृत-प्रणाश—किये गये कर्मोंका नाश, ये दोनों ही दोष सम्भाव्य हैं। तत्त्वदर्शन ही भारतीय संस्कृतिका परम लक्ष्य है। भगवत्तत्त्वके अभ्युपगम होनेसे ही कर्म, उपासना और ज्ञानका साफल्य सम्भव है। एक सत् तत्त्वको बहुत प्रकारसे कहे जानेपर भी नाम-भेद होनेपर भी वस्तु-भेद-प्रतिपत्ति नहीं है। क्रियाभेदसे ही नाम-भेद है। वेदोंमें सर्वत्र अनुस्यूत सत्ताका विविध रूपोंसे वर्णन मिलता है। उपरिलिखित मन्त्रोंमें यह बात स्पष्ट वर्णित है। तन्तुओंमें पटकी भाँति वह परम तत्त्व सबमें ओत-प्रोत है। यह तत्त्व ही सबकी सत्ताका नियामक है। यह सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालावच्छिन्न वस्तु-

जातके रूपमें पुरुष ही है और वह अमृतभावका स्वामी है—'**पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति** (शु० यजु० ३१ । २)। उस परमात्माकी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि प्रत्यक्ष महिमा भी परिच्छेद-(सीमा-) से रहित है, तो फिर श्रुति (शब्द) और अनुमानसे सिद्ध होनेवाले उस परम भगवत्तत्त्वके विषयमें ही क्या कहना है—

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा॥
(रघु० १२८)

'यह सम्पूर्ण दृश्यवर्ग उसीकी महिमा है। पर वह इससे बहुत बड़ा है। यह सब उसका चतुर्थांश है। पर तीन अंश तो इससे पृथक् उसके दिव्य रूपमें ही हैं'—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(वाजस० मा० शु० यजु० ३१ । ३२)

वेदोंमें भगवत्तत्त्वके प्रतिपादक वचन सहस्रशः हैं। यहाँ कुछ निदर्शनमात्र हैं। वेदोंका प्रतिपाद्य लक्ष्य एकमात्र भगवत्तत्त्व ही है। यजुर्वेदके 'वाकोवाक्य'में एवं ऋग्वेदके भी ऐसे ही मन्त्रोंमें भगवत्तत्त्वका सुन्दर प्रतिपादन स्फुटतया लक्षित होता है। विशेष ज्ञानके लिये वहाँ ही देखना चाहिये।

संसारमें घटादिका निर्माता कुम्भकार किसी स्थानपर बैठकर आरम्भक कारणद्रव्य मृत्तिकासे चक्रादि साधनोंकी सहायतासे घटादिका निर्माण करता है। आकाशादिकी सृष्टि कर रहे विश्वकर्मा परमात्माका अधिष्ठान क्या था ? निवास कहाँ था ? सृष्टिनिर्माणमें उपादानकारण क्या था ? क्रिया क्या थी ? (जिससे) अतीत अनागत वर्तमानकालके एक साथ साक्षात्कर्ता अनन्यशक्ति परमात्माने पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति करते हुए स्वसामर्थ्यसे उन्हें आच्छादित किया—

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भ-
णं कतमत् स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा
वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

उक्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए आगे कहते हैं कि असहाय वह एकाकी ही विश्वरूपी कर्म करनेवाला देव आकाशादिकी सृष्टि करता हुआ, बाहुस्थानीय धर्म-अधर्मसे पञ्चमहाभूतोंसे सम्बद्ध हो जाता है। धर्माधर्म निमित्त और पञ्चमहाभूतरूप उपादानकारणोंसे सङ्गत हो जाता है। वह अन्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना ही सृष्टि कर देता है। वह परमात्मा सब ओर नेत्रोंवाला, सब ओर मुखवाला, बाहुवाला, चरणवाला है। सर्वभूतात्मक होनेसे प्राणियोंके सारे अङ्ग उस भगवान्के ही हैं।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(शु० यजु० १७ । १९)

सबका स्रष्टा और विशिष्ट मनवाला होकर सर्वकर्मोंका ज्ञाता है। आकाशके समान व्यापक तथा संहारक, सबका धारक और सबका उत्पादक, सर्वोत्कृष्ट परमात्मा जिन्हें अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे देखता है, वे सुखी होकर मुक्त हो जाते हैं। जिस लोकमें सप्तर्षि विश्वकर्मा परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हो चुके हैं, वहाँ सब द्वन्द्वोंसे रहित होकर सब भूत आहुति रसभूत अन्नसे सुखी रहते हैं। जो हम सबका पिता, पालक और उत्पादक है और जो विशेषरूपसे सबका धारण करनेवाला है और जो सम्पूर्ण भूतसमुदाय और स्थानोंका ज्ञाता है तथा जो एक होते हुए भी देवोंके भिन्न नामोंका धारण करनेवाला है, सम्पूर्ण जीव अपने अधिकार-प्रश्नके लिये उसीकी शरणमें जाते हैं अथवा प्रलयमें उसीमें मिल जाते हैं—

'**विश्वकर्मा विमनाद् विहाय धाता विधाता परमोत संदृक्तातेषामिष्टानि समिषा मदन्ति। यत्रा**

सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः । यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवनायन्त्यन्या ।
(शु० यजु० १७ । २६ । २७)

जो परमात्मा इन सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करता है और अन्तमें समेट लेता है, जीवो ! उस परमपुरुषको तुमलोग नहीं जानते हो । अहंप्रत्ययगम्य तुम जीवोंका वास्तविक स्वरूप अन्य है । यदि तुम उसे समझकर आत्माके रूपमें उसकी उपासना करो तो तुम्हारा संसार-बन्धन छिन्न हो जायगा । नीहार (कुहरे) के समान अज्ञानसे आवृत होने और कुतर्क अहङ्कारपूर्ण होनेसे 'मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ हूँ, सम्पन्न और बलवान् हूँ, सबमें मैं सम्मानित हूँ, मेरा यह ऐश्वर्य है' आदि अहंता-ममतापूर्ण भाषण करनेवाले विषयेन्द्रिय-सम्बन्धमें ही निरन्तर रत, परलोकके भोगोंमें आसक्ति होनेसे यज्ञोंमें स्तुतिमें लगे हुए पुरुष, उस भगवत्तत्त्वके अधिकारी नहीं हैं । लौकिक, पारलौकिक विषय-भोगोंकी तृष्णामें आकण्ठ मग्न, अज्ञान-मिथ्या ज्ञानके वशवर्तीजनोंको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
(शु० यजु० १७ । ३१)

जो सर्वात्मा प्रजापति सबके हृदयमें स्थित होकर अन्तःप्रविष्ट है और जो अजन्मा होकर भी कार्य-कारणरूपसे विविध रूपोंसे मायासे प्रपञ्चरूपसे उत्पन्न होता है, भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले विद्वान् उस ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं—मैं वही हूँ ऐसा अनुभव करते हैं । सारे भूतसमुदाय जिस भगवत्तत्त्वमें ही स्थित हैं, यह सब तत्स्वरूप ही है ।—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-
रजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(शु० यजु० ३१ । १९)

यह भगवत्तत्त्व भी विविध नामरूपोंसे सगुण-साकार-रूपसे और सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, अनामरूप निर्गुण, निराकारके रूपमें भी वेदोंका परम प्रतिपाद्य है । यहाँ उद्धृत मन्त्र भगवान्के निर्गुण-निराकारके साथ सगुण-साकार रूपके भी प्रतिपादक हैं—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिंपुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
(शु० यजु० ३ । ६०, ३४ । ४३)

इसी प्रकारके बहुतसे अन्य मन्त्र सगुण-साकार रूपका प्रतिपादन करते हैं । वेदोंमें उसी भगवत्तत्त्वका विधिनिषेध-रूपसे वर्णन प्राप्त होता है ।

सबका कल्याण चाहनेवाले, सबको सुख देनेवाले सांसारिक सर्वसुखोंके प्रदाता, ज्ञानप्रद होनेसे मोक्ष-सुखके देनेवाले कल्याणरूप निष्पाप धर्माधर्मादिरहित अत्यन्त कल्याणमयस्वरूप शिव होकर भक्तोंको भी निष्पाप करनेवाले निरतिशय शिव उन भगवान्को बारम्बार नमन है । श्रुतिने **'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'** कहकर स्पष्टतया अद्वितीय शिवको ही तुरीय (भगवत्तत्त्व) प्रतिपादित किया है । अतः शिवतत्त्व भगवत्तत्त्व है । मादृश जन तो—

'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं ।
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ॥
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं ।
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

अद्वैत वेदान्तके परमप्रकाण्ड आचार्य मधुसूदन-सरस्वतीके इन शब्दोंसे भगवत्तत्त्वका चिन्तनकर उसकी पात्रतामें ही अपनेको कृतार्थ मानते हैं ।

औपनिषद भगवत्तत्त्व

(लेखक—श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

'भगवत्तत्त्व क्या है ?'—इसका प्रामाणिक तथा सयुक्तिक उत्तर एकमात्र वेदान्तमें ही मिलता है। वेदके शीर्षस्थानीय वेदान्त ग्रन्थ ज्ञानके आकर हैं। इनमें जीव, ईश्वर, जगत् आदिका तात्त्विक विवेचन प्राप्त होता है। वेदान्तकी उपनिषद्, रहस्य आदि भी संज्ञा है। 'योगवासिष्ठ' 'शारीरकसूत्रादि' भी इनमें संमिलित हैं। भगवत्तत्त्व या परमतत्त्व प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थोंसे अतीत है। इसलिये वह प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणोंसे बोधगम्य नहीं। नाम, रूप, क्रिया, सम्बन्ध आदि भी परमतत्त्वमें नहीं हैं। इसी कारण उनमें शब्द-प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि किसी निमित्तके आश्रयसे ही तो शब्द-प्रवृत्ति सम्भव है। कहा भी है—

निमित्तं किंचिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते।
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः॥
निर्विशेषे परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते॥
(कठरुद्रोपनिषद् ३१-३२)

'किसी निमित्तके आश्रयसे ही शब्द-प्रवृत्ति होती है। परमतत्त्वमें निमित्तके अभावसे वाणी प्रवृत्त नहीं होती। भला अशेष-विशेषशून्य परानन्दमें शब्द-प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?' प्रकृति तथा प्राकृतिक गुणोंके आध्यासिक सम्बन्धसे ही परमतत्त्वमें नाम, रूप, क्रिया आदिका व्यवहार होता है। ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, शिव, नारायण, विष्णु, गणेश, सूर्य, रुद्र, देवी आदि नामोंकी कल्पना किसी-न-किसी सम्बन्धसे ही होती है। सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, पूर्ण आदि शब्द—प्रयोगका कारण भी यही है। ब्रह्म तथा प्रकृतिके लक्षण और सम्बन्धका वर्णन करती हुई उपनिषद् कहती है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तस्मिन् मरुशुक्तिका-स्थाणु-स्फटिकादौ जलरौप्य-पुरुषरेखादिवल्लोहितशुक्लकृष्ण-गुणमयी गुणसाम्या-निर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। (पैङ्गलोप० १। १)

'प्रियदर्शन ! सृष्टिसे पूर्व सत् ही था। वह नित्य' मुक्त, निर्विकार, सत्य, ज्ञान, आनन्द, परिपूर्ण, सनातन तथा सजातीय-विजातीय एवं स्वगतभेदशून्य अद्वितीय ब्रह्म था। उसमें मरुभूमिमें जल, शुक्तिकामें चाँदी, स्थाणुमें पुरुष और स्फटिकमें रेखा आदिके समान कल्पित रक्त, शुक्ल तथा कृष्ण गुणमयी गुणसाम्यावस्थावाली अनिर्वचनीय प्रकृति थी।' अध्यस्त प्रकृतिसे पर परमतत्त्व है। वही ज्ञानसे ज्ञेय है और उसे जानकर ही प्राणी मुक्त होता है—

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
(कठोप० २। ६। ८)

'अव्यक्त—प्रकृतिसे पुरुष पर है, व्यापक और अलिङ्ग है। जिसे जानकर जीव कर्मबन्धनसे मुक्त होता है और अमरत्व प्राप्त करता है।' इस प्रकार परमतत्त्व असङ्ग, अविकारी, गुणरहित, निर्विशेष, निष्कल, परिपूर्ण, अखण्ड, अनन्त, आकाशवत् अद्वयतत्त्व है। न उसमें क्रिया है, न कर्तृत्व। उत्पत्ति-विनाश, बन्ध-मोक्ष, साध्य-साधन आदि सभी कल्पित हैं; यही सिद्धान्त है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥
(आत्मोपनिषद् ३१ अवधूतोपनिषद् ८, पञ्चदशी ६। २३५, माण्डूक्यकारिका २। ३२, योगवा०)

'न कुछ उत्पन्न होता है, न नष्ट; न कोई बद्ध है, न साधक और न कोई मुमुक्षु है, न मुक्त—यही परमार्थ-रूप है।' प्रकृति या मायाके सम्बन्धसे ही उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, बन्धन, साधन, मुमुक्षता और मोक्षकी कल्पना की जाती है। जैसे अधिष्ठान रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिसे भय, कम्प, पलायन आदि होते हैं और अधिष्ठान रज्जु-दर्शनसे सर्प-भ्रान्तिके निवारण होनेपर भय, कम्पादि निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही अधिष्ठान

परमतत्त्वके अदर्शन और कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुखित्व-दुःखित्व, जन्म-मरणादि देहाभिमानसे जीव बन्धनमें पड़ता है। इसके विपरीत अधिष्ठानतत्त्व-दर्शन होनेपर कर्तृत्वादिसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित होना ही अमरता है। यही वेदान्तका उद्घोष है—**'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।'** (श्वेता० ४।१६) स्वप्रकाश शिवको जानकर, समस्त अविद्याके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
(श्वेता० ६।२०)

'जब मनुष्य चमड़ेके समान आकाशको लपेट लेंगे, तभी स्वप्रकाश परमतत्त्वके बिना जाने दुःखका अन्त सम्भव हो सकेगा (अर्थात् यह असम्भव है)।' निष्कर्ष यह कि निर्गुण, निराकार, प्रत्यगभिन्न, परमतत्त्वज्ञानसे ही मोक्षस्वरूप तत्त्वकी प्राप्ति सम्भव है।

पूर्वोक्त निर्गुण, निर्विशेष, अकर्ता परमतत्त्व ही मायाके संयोगसे सगुण, सविशेष, कर्ता, सर्वज्ञ, कर्मफल-प्रदाता, शासक, सृष्टि, स्थिति तथा संहारका हेतु होता है। कहा भी गया है—**'ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः।'** (निरालम्बो०) 'ब्रह्म ही प्रकृतिसंज्ञक अपनी शक्तिके आश्रित होकर लोकोंकी रचना करते हैं और लोकोंको रचकर, उनमें प्रवेशकर अन्तर्यामीरूपसे ब्रह्मादिके बुद्धि तथा इन्द्रियादिके नियन्ता होनेसे 'ईश्वर' कहे जाते हैं।'

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः॥
(अध्यात्मो० ३०)

'मायाकी उपाधिसे ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है तथा सर्वज्ञ, शासक आदि लक्षण होनेसे निमित्तकारण भी है। शबल ब्रह्म परोक्ष और सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह 'तत्' पदसे कहा जाता है।'

*

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्-
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥
(श्वेता० ४।९)

'वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान तथा इसके अतिरिक्त जो कुछ वेद कहते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर ब्रह्मसे ही उत्पन्न करता है और विश्व-प्रपञ्चमें ही मायासे अन्य-सा होकर बन्धनमें पड़ गया है।' माया अघटितघटनापटीयसी है। स्वयं अस्तित्वशून्य होनेपर भी निराधार चिदाकाशमें अनेक चित्र-विचित्र विश्व-प्रपञ्चकी सृष्टि कर देती है और चिदाकाशस्वरूपको आच्छादित कर स्वयं नृत्य करती है। मायाके स्वरूपका निर्वचन उपनिषदें इस प्रकार करती हैं—**'माया नाम अनादिरन्तवती प्रमाणाप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते।'**
(सर्वसारोप०)

'मायानाम्नी शक्ति अनादि तथा अन्तवाली है। वह प्रमाण-अप्रमाणमें सामान्य, न सत्य, न असत्य और न सदसत् (उभयरूपा) है। वह स्वयं अधिका तथा विकाररहिता है। जो निरूपण करनेपर सभी लक्षणोंसे शून्य है, वह माया है।' माया अनन्त शक्तिरूपा है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया, आवरण, विक्षेप, अहंकार, कल्याण, प्रभावादि उसके अनन्तरूप हैं। मायोपाधिके कारण ही परमतत्त्व ईश्वर, भगवान्, नारायण, विष्णु, शिव आदि नामोंसे अभिहित होता है। माया ईश्वरके परतन्त्र है। ईश्वर स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, पालक, शासक, न्यायकारी तथा दयालु है। ईश्वर अपने अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्द स्वरूपको जानते हैं और मायिक प्रपञ्च तथा उसके बन्धनमें पड़े जीवोंको भी जानते हैं। किंतु जीव मायाके मोहिनी स्वरूपसे मोहित हो न अपनेको जानता है, न ईश्वरको और न मायाको। जीव

मायाके परतन्त्र है। परतन्त्रतासे मुक्त होनेके लिये ईश्वरोपासना, भक्ति तथा स्वकर्मसे ईश्वरार्चन करना ही एकमात्र उपाय है। इसीलिये उपनिषद्का उद्घोष है—

अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत।
तस्य पादाम्बुजध्यानाद् दुस्तरा सुतरा भवेत्॥
(शरभोपनिषद् २१)

'सुव्रत! मेरी (शिवकी) और विष्णुकी माया अत्यन्त मोहित करनेवाली है। ईश्वरके चरणकमलोंके ध्यानसे दुस्तरणीय माया भी सरलतासे तरणीय हो जाती है।' मायासे मोहित प्राणी शरीरमें अहंभावना और शरीरसे सम्बन्धित व्यक्ति तथा वस्तुमें मम भावना करता है। इनके लिये ही दिन-रात्रि प्रयत्न करता है, कभी ईश्वरका ध्यान नहीं करता। परिणामस्वरूप वह जन्म-मरणकी परम्परामें प्रवाहित होता रहता है और कर्मानुसार पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मानव, दानवादि योनियोंमें जन्म-मरणके असहनीय कष्टोंको भोगता है। जबतक भगवान्‌की भक्ति और उनकी प्रसन्नता नहीं होती, तबतक इससे मुक्त होना सम्भव नहीं। अतः मानवकी मानवता यही है कि वह भगवान्‌की भक्तिद्वारा मुक्ति प्राप्त कर ले।

मुक्ति चार प्रकारकी होती है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। चारों प्रकारकी मुक्तियाँ ईश्वरोपासनासे प्राप्त होती हैं। श्रीहनुमान्‌जीके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीरामने कहा—'कपे! दुराचारपरायण होनेपर भी मनुष्य मेरे नामके भजन करनेसे 'सालोक्य' मुक्ति प्राप्त करता है, किसी अन्य लोकको प्राप्त नहीं करता। जिनकी काशीमें ब्रह्मनाल नामक स्थानमें मृत्यु होती है, वह मेरे तारक मन्त्रको प्राप्तकर पुनरावृत्ति-रहित मुक्ति प्राप्त करता है। काशीक्षेत्रमें जहाँ कहीं भी प्राणीकी मृत्यु हो, मृत्युके समय भगवान् शंकर उसके दक्षिण कर्णमें मेरे तारक मन्त्रका भलीभाँति उपदेश करते हैं। इससे समस्त पाप-समूहोंका निःसारण हो, मेरे 'सारूप्य'को प्राप्त करता है, वही सालोक्य-सारूप्य मुक्ति कही जाती है। जो द्विज सदाचारपरायण हो नित्य अनन्य बुद्धिसे मुझ सर्वस्वरूपके ध्यानमें रहता है, वह मेरे 'सामीप्य'को पाता है, वही सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य मुक्ति कही जाती है। जो द्विज गुरूपदिष्टमार्गसे मेरे सगुण अविनाशी स्वरूपका ध्यान करता है, वह भली-भाँति भ्रमरकीटवत् ध्यान करनेसे मेरे 'सायुज्य'को प्राप्त करता है। वही ब्रह्मानन्दप्रदात्री कल्याणकारी 'सायुज्य' मुक्ति है। ये चारों प्रकारकी मुक्तियाँ मेरी उपासनासे प्राप्त होती हैं—

दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात् कपे।
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्॥
काश्यां तु ब्रह्मनालेऽस्मिन् मृतो मत्तारमाप्नुयात्।
पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं प्राप्नोति मानवः॥
यत्र कुत्रापि वा काश्यां मरणे स महेश्वरः।
जन्तोर्दक्षिणकर्णे तु मत्तारं समुपादिशेत्॥
निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम्।
सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्यधीः॥
मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्।
सैव सालोक्यसारूप्यसामीप्या मुक्तिरिष्यते॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् मद्गुणमव्ययम्।
मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग् भजेद्भ्रमरकीटवत्॥
(मुक्तिको० १। १८—२५)

यह ईश्वरतत्त्व निर्गुण निराकार, सगुण-निराकार एवं सगुण साकार भी है। यही प्राणियोंके भोग-मोक्षके लिये संसारकी रचना करते हैं। देश, काल, वस्तु, दिशा-विदिशा, नीचे-ऊपर, अन्दर-बाहर समस्त रूपोंमें एकमात्र ईश्वर ही व्याप्त हैं। यह सब, भूत, वर्तमान और भविष्य नारायणस्वरूप ही है—**'ऊर्ध्वं च नारायणः, अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः, नारायणस्येदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।** (नारायणो० २)

इस प्रकार सब कुछ और सर्वत्र भगवत्तत्त्व **ही** है, किसी अन्यकी सत्ता नहीं। सगुण-निराकार ईश्वर ही अपनी मायाशक्तिसे भक्तानुग्रहके लिये सगुण-साकारस्वरूप धारण करते हैं। जो अनन्तब्रह्माण्डों-

की अपनेसे अपनेमें रचना करते हैं, पालन करते हैं और अन्तमें अपनेमें ही लीन करते हैं, उनके लिये किसी विशेष स्वरूपकी संरचना क्या असम्भव है। भक्तोंके उद्धारार्थ तथा उनकी कामना-पूर्तिके लिये किसी विशेष देश, कालमें किसी भी स्वरूपको धारण करना लीलामात्र ही है। इसीलिये वेदमें उन्हें 'स्वयम्भू' (ईशा० ८) स्वेच्छासे उत्पन्न होनेवाले कहा गया है। अन्यत्र भी कहा है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(रामपूर्वतानी० १।७)

'ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, कलाशून्य और शरीररहित हैं। किंतु उपासकोंके कार्यसिद्धिके लिये वे रूपकी कल्पना कर लेते हैं।' सशरीर होनेपर भी ईश्वर कर्मबन्धनसे युक्त नहीं होते। न कर्म-बन्धनसे जन्म होता है और न कर्म करनेपर बन्धन होता है। यही ईश्वरकी विलक्षणता है। वह तो मायाका आश्रय लेकर स्वयं स्वेच्छापूर्वक शरीर धारण करते हैं और लोकोपकारी तथा लोकशिक्षणके लिये कार्य करते हैं। उनके चरित्रोंके कथन और गुण-गान, ध्यानादिसे जीव संसारसागरसे पार हो जाते हैं।

इस प्रकार उपनिषदोंमें निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार भगवत्तत्त्वका मार्मिक-सारगर्भित विवेचन मिलता है। अपनी योग्यतानुसार मनुष्य किसी भी रूपके परायण हो कल्याणस्वरूप परम श्रेय प्राप्त कर सकता है।

वैष्णवागमोंमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर' एम्० ए० पी-एच्० डी०)

ब्रह्म ही भगवान् हैं

सात्त्वततन्त्रका उद्घोष है कि ब्रह्म ही 'भगवत्' पद वाच्य है। सत् या सत्य द्विविध है—सत्ता और स्वता। यह चित्-शक्तिस्वरूपसे प्रकृति और पुरुष है। सत्ताका (अस्तित्वमात्रका अर्थात् सर्वलोकों तथा सब जीवोंका) एकमात्र निलय (आश्रय) स्वता (भगवान्) है। उसकी कार्यकारणरूपिणी शक्ति ही प्रकृति है (सा० तं० १।१०–१२, ४०)। बृहद् ब्रह्म-संहिता कहती है कि 'सबकी अवधि (परमाश्रय) शेषी, सद्गुणोंके आलय और सब कारणोंके कारण सच्चिदानन्दरूप भगवान् हैं।'[1] इस कथनमें 'सर्वविधि' से सतका, 'शेषी' से चितका, और 'सद्गुणालय' से आनन्दका ज्ञापन होता है। सच्चिदानन्दकी व्यक्ति 'सर्वकारणकारण' रूपा होती है।

बृहत् होने अथवा बृंहण करनेके कारण श्रुतियाँ सत्तत्त्वको 'ब्रह्म' कहती हैं (अहि० सं० २।३७)। ब्रह्म एक, निर्दुःख, निःसीम, सुखानुभव-लक्षण, अनाद्यन्त, अनामय, परब्रह्म, नारायण, सर्वभूतोंमें आवास किया हुआ, सबमें व्याप्त होकर स्थित, निरवद्य, अन्तरंग समुद्रके समान अविक्षिप्त, प्राकृत गुण-स्पर्शरहित, किंतु अप्राकृत गुणोंका आस्पद, भवसागरसे सर्वथा पार, निष्कलंक, निरञ्जन, आकार-देश-कालके आयोगसे अनवच्छिन्न तथा इदम् ईदक्—इयत्तासे सम्यक्तया अपरिच्छेद्य है (अहि० २।२२–२६)।

महानिर्वाणतन्त्रमें ब्रह्मके लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—वह एक, अद्वितीय, सत्, सत्य, अद्वैत, परात्पर, स्वयं-प्रकाश, सदापूर्ण, सच्चिदानन्द-लक्षण, निर्विकार, निराधार, निर्विशेष, निराकुल, गुणातीत, सर्वसाक्षी, सर्वात्मा,

---

१–सर्वलोकावधिः शेषी ....॥
एष सर्वावधिः शेषी भगवान् सद्गुणालयः। सच्चिदानन्दरूपोऽसौ सर्वकारणकारणः॥
(बृ० ब्र० सं० २।७।१४७-१४८)

सर्वदृक्, विभु, गूढ़, सर्वव्यापी, सनातन, सर्वेन्द्रिय-गुणाभास, सर्वेन्द्रिय-विवर्जित, लोकातीत, लोक-हेतु, अवाङ्मनसगोचर, सर्वत्र, अविज्ञेय, जगदवलम्ब, जगत्प्रभु, सर्वभूतकारण और परमेश्वर है (२ । ३४–४०)। भगवान् 'यत्' और 'तत्' शब्दोंसे उपलक्षित वेदान्त-वेद्य ब्रह्म ही हैं, जो प्रलय-कालमें निमेषादि तथा कालको ग्रास कर लेते हैं, और मृत्युके मृत्यु, भयके भय स्वरूप हैं (२ । ४५)।

ज्ञानामृतसार नारदपञ्चरात्रमें भगवान् अभ्यन्तर ज्योतिःस्वरूप, अतुल, श्यामसुन्दर, परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर हैं। वे निरीह, अतिनिर्लिप्त, निर्गुण प्रकृतिपर, सर्वेश, सर्वरूप, सर्वकारण-कारण, सत्य, नित्य, पुरुष, पुराण, पर, अव्यय, मङ्गल्य, मङ्गलार्ह, मङ्गल, मङ्गलालय, स्वेच्छामय, परधाम और सनातन हैं। भगवान् भक्त-प्रिय, भक्तेश, भक्तानुग्रह-विग्रह, श्रीद, श्रीश, श्रीनिवास हैं। वे ही राधिकेश्वर श्रीकृष्ण हैं जो परमानन्द, नन्दनन्दन हैं (१ । १ । ३–९)। भगवान् श्रीकृष्ण त्रिगुणात्पर (१ । २ । ६५), परात्पर (१ । १२ । ३०-३१) तथा स्वयं परमात्मा (२ । ५ । १५) हैं। भगवान् परिपूर्णतम ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर, निर्लिप्त, साक्षिभूत और सनातन हैं (१ । ३ । ८०)। भगवत्ता प्रधानतः भक्तपर कृपा करनेमें है। भगवान् भक्तानुग्रहकातर हैं तथा भक्तप्रिय, भक्तेश, भक्त-सर्वस्व, और स्वभक्ति तथा दास्यके प्रदानकर्ता हैं (१ । १२ । ३३-३४)। भगवान् सर्वान्तरात्मा हैं (१ । १२ । ४९)। स्व० महामहोपाध्याय गोपीनाथजी कविराजने भी कहा है कि 'भक्तके प्रारब्धका ध्वंस ही भगवत्ताका विशिष्ट निदर्शन है।'[२] सात्वततन्त्रके अनुसार भी परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं; ब्रह्म, पुरुष आदि उन्हींके नाम और स्वरूप हैं (३ । ३९–४७)।

षाड्गुण्य पूर्ण भगवान्

लक्ष्मीतन्त्रमें 'भगवान्' शब्दकी सुन्दर, स्वतन्त्र व्याख्या है। छठें अध्यायमें वैष्णवागम-निर्दिष्ट पचीस तत्त्व बताये गये हैं। उनमें भगवान् परमतत्त्व हैं। भगवान् वह सनातन परमात्मा हैं जो मेघहीन आकाश, निष्पन्द महोदधिके समान हैं, तथा जो 'स्वच्छ-स्वच्छन्द चैतन्य सदानन्द महोदधि' हैं और आकार-देश-कालादि परिच्छेदसे विवर्जित हैं (७ । २-३)। यह महोदधि ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-वीर्य और तेजका है (७ । ५)। इन्हें षड्गुण, षडैश्वर्य, षड्वर्ग या भग कहते हैं। नारद पाञ्चरात्रमें स्थान-स्थानपर[३] भगवान्का षाड्गुण्य दिखाया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिताकी स्थापना है कि षाड्गुण्यके गुणोंके योगसे ही ब्रह्मको 'भगवान्' कहा गया है—**'षाड्गुण्यगुणयोगेन भगवान् परिकीर्तितः'** (२ । २८)। षाड्गुण्यका समष्टि-रूप 'भग' है। आगमोंकी इस अवधारणाका आधार वेदमत है। ऋग्वेदमें कहा है—**'भग एव भगवाँ अस्तु'** (७ । ४१ । ५)। आशय यह कि भगसे ही भगवत्ता है। एक अन्य मन्त्र-(ऋक् ८ । ४१ । ३)में भक्तके लिये भगके छः कार्य (या अनुग्रह) बताये गये हैं। आगमों और पुराणोंमें उन्हीं कार्योंको षाड्गुण्य या षडैश्वर्य कहा गया है।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त, सर्वोपाधिविवर्जित और सर्वकारण-कारण परब्रह्म षाड्गुण्य (षडगुणसम्पन्न) हैं (अहि० सं० २ । ५२)। ब्रह्म निर्गुण है तथापि उसको षाड्गुण्य कहा गया है; क्योंकि निर्गुणका अर्थ है प्राकृत गुणोंके स्पर्शसे रहित—**'अप्राकृतं गुणस्पर्शं निर्गुणं परिगीयते'** (२ । ५५)। भगवान्के षड्गुणोंका वर्णन इस प्रकार है—

२–तान्त्रिक वाङ्मयमें शाक्तदृष्टि, प्रथमावृत्ति, पृ० १९।

३–यथा नारद पाञ्चरात्र १ । ३ । ४२–४६, ७९–८२, १ । १२ । ४६–५४, ७१–७६ आदि।

भक्तपर अनुकम्पारूपमें षाड्गुण्यकी अभिव्यक्ति होती है। भगवान्‌की विभुता और प्रभुता 'ऐश्वर्य' है। उनकी जगदात्मता 'धर्म' है। उनका करुणासागर होना 'यश' है। दीनबन्धु और सुखधाम होना 'श्री' है[1]। वे वेद-प्रकाश और जगदुद्धारक हैं, इससे 'ज्ञान' गुण प्रकट होता है। वे निर्वाण-रूप हैं, यह 'वैराग्य' गुण है।

भगवान् शील, शक्ति और सौन्दर्यके निधान हैं। ये तीन गुण वस्तुतः षाड्गुण्यके ही संपिंडित रूप हैं। शीलमें धर्म और वैराग्यका, शक्तिमें ऐश्वर्य और ज्ञानका तथा सौन्दर्यमें यश और श्रीका प्रकाशन होता है। भगवान्‌में षड्गुण या शील-शक्ति-सौन्दर्य त्रिगुणके स्थापनका तात्पर्य एक ही है।

सच्चिदानन्द ही भगवत्तत्त्व हैं। इसका स्पष्टीकरण यह होगा कि सत्‌में ऐश्वर्य और धर्मका, चित्‌में ज्ञान और वैराग्यका एवं आनन्दमें यश और श्रीका निवास है। सच्चिदानन्दत्व षाड्गुण्यका ही संप्रसारण है।

भगवान् शब्दका अर्थ

विशिष्ट शब्दोंके स्थूलार्थ लोक-प्रचलित रहते हैं। सूक्ष्मार्थ और परार्थ शास्त्रोंमें स्पष्ट किये जाते हैं। आगमोंने 'भगवान्' और 'वासुदेव'-जैसे शब्दोंके ऐसे विशेष अर्थ बताये हैं। यहाँ दोनों शब्दोंका सूक्ष्मार्थ दिया जा रहा है; परार्थ 'चतुर्व्यूह' के प्रसंगमें लिखा जायगा।

अहिर्बुध्न्यसंहिताके अनुसार भगवान् शब्द अपने वर्णसमुदायमें 'पूज्य' अर्थ देता है। (५२ । ५९)। पृथक्-पृथक् वर्णोंके अर्थ भी इस संहितामें दिये हैं।[2] भकार त्रिकर्म-वाचक है। कर्म तीन हैं—धारण-पोषण-पूरण (भरण और संभरण)। गकारके पाँच अर्थ हैं—समस्त शब्दोंद्वारा गायमान, अपवर्ग आदिसे प्राप्तव्य, स्वतः अवबुध्य, निखिल जगत्‌में सर्वव्यापक और सम्पूर्ण अर्थोंका नेता। मतुप् (वान्) प्रत्ययका अर्थ है—विश्वको स्वत्वसे वरण या आवरित करनेवाला, ईशतापूर्वक वर्तन करनेवाला और अखिल कामनाओंका वर्धन करनेवाला (अहि० सं० ५२ । ६०–६३)।

बृहद् ब्रह्मसंहिता भगवान्‌के लक्षणोंमें उनके गुणोंकी विशेषताओंको अधिक स्पष्टतासे रेखाङ्कित करती है। भगवान् हेय-प्राकृतिकरूप—'विशेष'से वर्जित, किंतु हेयांश-वर्जित-विशेषसे संयुक्त, चित्-अचित्-शब्द-वाच्य, विशेषणतया स्थित, सदनन्त गुणोंके आवास और अन्य व्यापवर्तक अनेक विशेषणोंसे विशेषवान् हैं। उस विशेष्य परमात्मामें सब अवस्थाओंका आश्रय-रूप विशेष कभी भी निवर्तित नहीं होता (४ । ८ । ६६–७०)। भगवान् निर्विशेषमें विशेष हैं—इसपर बहुत विस्तारसे विचार किया गया है (४ । ८ । ९४–१११), उसे लेख-विस्तार-आशंकासे यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

षाड्गुण्य

ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य, बल और तेज—ये छः भगवद्गुण हैं (ल० तं० ७ । ५)। षड्गुणोंमें प्रथम 'ज्ञान' है। 'ज्ञान' अजड तथा नित्य है। स्वात्मका पूर्णबोध और सबका व्यापक परिज्ञान 'ज्ञान' है। यह ब्रह्मका स्वरूप है और गुण भी है—

अजडं स्वात्मसम्बोधि नित्यं सर्वावगाहनम्।
ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः॥
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते।
(अहिर्बुध्न्य संहिता २ । ५६–५७)

शक्ति आदि अन्य पाँच गुण वस्तुतः ज्ञानके ही अंश हैं। ज्ञान ही परमात्मा ब्रह्मका परम रूप है (अहि० सं० २ । ६१-६२)।

लक्ष्मीतन्त्रका कथन है कि निर्मेघ आकाश और निष्पन्द उदधि-जैसे लक्ष्मीके ज्ञानरूपी घनसे शुद्धा

१—श्रीका नाम तेज भी है। यथा—'भयउ तेज हत श्री सब गई।' (तुलसीदास)

२—वर्णोंके प्रतीकार्थ शाक्तागमोंमें भी दिये हैं। द्रष्टव्य—वर्णोद्धारतन्त्रम्, नानातन्त्रशास्त्रम् आदि।

सृष्टिका प्रवर्तन होता है। ज्ञान निर्व्यापार सदानन्द, शुद्ध, सर्वात्मक और पर है। प्रथम ज्ञानका ही नाम संकर्षण है (ल० तं० ४ । ७-८)।

'शक्ति' गुण 'ब्रह्मका जगत्प्रकृतिभाव' है (अहि० सं० २ । ५७)। इस संदर्भमें शक्तिकी संज्ञा अन्य आगमों और पुराणोंमें 'श्री' भी है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें परा श्रीके स्वरूप-निर्वचनमें कहा है कि 'श्री' भगवान्‌की पूर्ण षाड्गुण-विग्रहा, सहस्रा, परमाशक्ति है, जो भगवान्‌की सहगा तथा स्वरूप-प्राप्ता है (५९ । ८)। सहस्राका अर्थ है षड्गुणोंके मध्य विराजनेवाली शक्ति (५९ । १२)। अतः यह समझना उचित है कि 'श्री' तो वासुदेवाभिन्न भगवती हैं, जिनमें छहों गुण साथ-साथ पूर्णतया रहते हैं और 'शक्ति' उनका एक अंश है। शक्तिगुणका प्राधान्य अनिरुद्धमें है।

ब्रह्मका स्वातन्त्र्य-समृद्धकर्तृत्व 'ऐश्वर्य है— **'कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्यपरिबृंहितम्'** (अहि० सं० २ । ५८)। लक्ष्मीतन्त्रमें यही बात इस प्रकार कही गयी है कि विश्वके निर्माणमें किसी अन्य हेतुकी अनपेक्षा-रूप जो स्वातन्त्र्य है, वही ऐश्वर्य है। यही पुरुषोत्तम प्रद्युम्न हैं (४ । ९)।

जगत्‌की संततरूपसे सृष्टि करनेमें श्रम न होना भगवान्‌का 'बल' गुण है (अहि० सं० २ । ५९)। ज्ञान और बलका उन्मेष 'संकर्षण' कहलाता है। यह 'तिलकालक' के समान स्वतः सकल विश्वका भरण करता है। इसीका नाम वेदान्तमें 'बल' कहा गया है (ल० तं० ४ । १४)। संकर्षणसे ही निर्घात शब्दके समान शास्त्र प्रकाशित होता है (ल० त० ४ । १५)।

ब्रह्म ही जगत्‌का उपादान भी है। उपादान कारण होनेपर भी विकारसे रहित रहना भगवान्‌का 'वीर्य' गुण है। इसका दूसरा नाम 'अच्युतत्व' है (अहि० सं० २ । ६०)। लक्ष्मीतन्त्रमें भी **'विकारविरहो वीर्यम्'** (४ । १६) कहा है। शक्ति और तेजका समुन्मेष प्रद्युम्न है (४ । १५)।

सहकारीकी अपेक्षा न होना 'तेज है— **सहकार्यनपेक्षा या तत् तेजः समुदाहृतम्'** (अहि० २ । ६१)। यही बात लक्ष्मीतन्त्रमें है और वहाँ कहा है कि यही अनिरुद्ध है— **'तेजस्त्वन्यानपेक्षत्वमनिरुद्धत्वमच्युत'** (४ । १७)। शक्ति और तेजका समुन्मेष अनिरुद्ध है— **'शक्तितेजःसमुन्मेषो ह्यनिरुद्धः स ईरितः'** (ल० सं० ४ । १६)।

चतुर्व्यूह

जगत्‌के उपकारार्थ ही षाड्गुण्य भगवान् चतुर्व्यूह रूप धारण करते हैं। भगवान्‌की यह चतुर्विध आत्म-व्यवस्थिति मनके आलम्बनके लिये है। चतुर्व्यूह भी सच्चिदानन्द-लक्षण होता है (अहि० सं० ५ । ४४)। **'पूर्णस्तिमितषाड्गुण्यः सदानन्दमहोदधिः'** (ल० तं० ६ । १५) के छहों गुण पुरुषोत्तम हैं। छहों गुणोंका, कार्यशीलताके लिये होनेवाला युगपत्-उन्मेष 'वासुदेव' है। यह प्रथम व्यूह है। शक्तिकोशासे संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह होते हैं (ल० तं० ६ । २ । १७)।

पारमेश्वर-संहिताके अनुसार भगवान् वासुदेव **'षाड्गुण्य महोदधि'** हैं। वे विवेकदाता हैं और अनिच्छुकको भी अपवर्ग प्रदान कर देते हैं। वे आद्य सद्ब्रह्म 'नित्योदित-व्यूह' हैं, उनमें नित्य ही व्यूहोंका उदय है (१९ । ५२४—५२७)। वे जगत्पति (१ । ४७) परतत्त्वके एकमात्र आश्रय हैं (१ । ३३)।

विश्वात्मा भगवान् **'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजमहोदधिः'** हैं (अहि० सं० ५३ । २)। वे षाड्गुण्यके महान् सागर हैं। भगवान् वासुदेवमें छहों गुण पूर्ण मात्रामें एक साथ रहते हैं। चतुर्व्यूहके अवशिष्ट तीन रूपोंमें षड्गुणकी विभक्ति, दो-दो करके हो जाती है। संकर्षणमें ज्ञान और बल गुण होते हैं, जिनके द्वारा उपासना-क्षेत्रमें

वे भगवत्प्राप्ति-साधन-रूप ऐकान्तिक मार्गको प्रकट करते हैं। प्रद्युम्नमें वीर्य और ऐश्वर्य गुण होते हैं, जिनके द्वारा वे शास्त्रार्थभावसे भगवत्प्राप्तिका पथ प्रशस्त करते हैं। अनिरुद्धमें शक्ति और तेज गुण होते हैं, जिनके माध्यमसे वे शास्त्रार्थका फल-भगवत्प्राप्ति प्रदान करते हैं। ये तीनों प्रकार क्रमशः शास्त्र, शास्त्रार्थ और शास्त्रार्थ-साध्य-फलके निर्वाहक हैं (अहि० सं० ५ । १७–२४)। इस चतुर्व्यूहमें प्रत्येकके तीन-तीन, इस प्रकार द्वादश, व्यूहान्तर हो जाते हैं। फिर विष्णुके संकल्पसे उनचास विभव आविर्भूत होते हैं (५ । ४७–६०)।

लक्ष्मीतन्त्रमें भी यह बात किंचिद् भिन्न प्रकारसे स्पष्ट की गयी है। शास्त्रज्ञानके क्षेत्रमें संकर्षण उसके प्रकाशक हैं, उसकी क्रिया प्रद्युम्नसे होती है और अशेष क्रियाफल अनिरुद्धसे होते हैं। अनिरुद्ध सृष्टि, प्रद्युम्न पालन और संकर्षण अयन करते हैं। इन तीनों कार्योंमें ये देव सदा अनुग्रह रखते हैं। यद्यपि इन तीनोंमें किसी एक-एक गुणका विशेष उन्मेष होता है, तथापि ये सब सनातन वासुदेवसे अन्यून-अनधिक ही रहते हैं। इनकी देह भी षाड्गुण्यमय सनातन ही है, भूतमय नहीं है। इनमें भेद वास्तविक नहीं है; तत्तत् कार्यकी विचारणाके हेतुसे कल्पित किया गया है। ज्ञान, ऐश्वर्य, और शक्ति ध्यानकी विश्राम-भूमियाँ हैं, परस्पर-भिन्न नहीं हैं। सब भावोंमें भगवान्के इस चातुरूप्यको ऐसा जानना चाहिये कि पहले 'वस्तु' है, फिर 'भाव' तब 'अर्थ' फिर 'क्रिया'। इन चारोंको भगवान् अपने-आपको चार रूपोंमें विभक्तकर संविद्-रूपसे आवृत किये हुए हैं, अर्थात् वस्तुके वासुदेव, भावके संकर्षण, अर्थके प्रद्युम्न, और क्रियाके अनिरुद्ध अधिष्ठाता-स्वरूप हैं (ल० तं० ४ । १७-२७)।

भगवान् और वासुदेव दोनों शब्दोंके परार्थ चतुर्व्यूहका ही द्योतन करते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता कहती है कि 'भगवत्' के चारों अक्षर चतुर्व्यूहका ही अर्थ देते हैं—'चतुर्भिरक्षरैरेभिं चतुर्व्यूहनिरूपणम्' (५२ । ७६)। इसके 'भ' के अर्थ हैं—ध्रुव, पूर्व और अवधि। ध्रुवका अर्थ है जगत्का उपादान। अतः भकारका अर्थ हुआ पर और अक्षर, अर्थात् वासुदेव। 'ग' का अर्थ है 'गाम्', अर्थात् सत्-शास्त्ररूप वाणीका ज्ञान करानेवाला या स्वयं जाननेवाला गोविन्द। गोविन्ददेव ही संकर्षण हैं। 'व' का अर्थ है विश्वका आवरण करनेवाला, विश्वकी रचना करनेवाला वरुण। यह प्रद्युम्न है। तकारका वाच्य है 'सुग्धर'। सुग्धर वह है जो सृष्टि और लय करता है। अपने नाभि-कमलके बीचमें देव ये दोनों कार्य धारण करते हैं। अतः सुग्धर अनिरुद्धका नाम है (अहि० सं० ५२ । ७१-७५)।

वासुदेवके 'व' का अर्थ है अमृताधार 'वासुदेव'। 'आ' का अर्थ है आदिदेव संकर्षण। अतः 'वा' का अर्थ यह हुआ कि जो सनातन मोक्षाधार भगवान् वासुदेव हैं, वे ही संकर्षण हैं। 'सु' का धात्वर्थ है उत्पन्न करना। अतः यहाँ 'सु' का अर्थ है वह सनातन जिसने आदिमें भुवन-कर्म बनाये। वह सोग है। वही पुरुषोत्तम 'प्रद्युम्न' कहा गया है। यदि यह उदय उद्दाम हो, तो संकर्षण कहलाता है। संकर्षण-दशामें हरिका सम्पूर्ण उदय होता है, अतः संकर्षणको वासुदेवात्मक कहा गया है। संकर्षण और प्रद्युम्न मूलतः भिन्न नहीं हैं, यह सुकारका अर्थ है। 'द' का अर्थ है 'दत्तावकाश'। अतः यहाँ 'दे' का अर्थ है जिस सोते हुए महात्माने अपने नाभि-कमलमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी वृद्धिके लिये अवकाश दिया है वह, वही अनिरुद्ध कहलाता है। 'ए' का अर्थ है जगद्योनि 'प्रद्युम्न'। प्रद्युम्न संकर्षणात्मक है, अनिरुद्ध उनसे भिन्न नहीं है—यह देकारका अर्थ है। इस प्रकार इन तीन अक्षरोंसे चतुर्व्यूहका उत्तम तादात्म्य व्यक्त होता है। फिर जो चतुर्थ अक्षर 'व' है, वह उपसंहार-रूपसे वासुदेवका वाचक है (अहि० ७६-७८)। (क्रमशः)

पुराणोंमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना, 'प्रवर' एम्० ए० पी-एच्० डी०)

वैदिक देवता 'भग' की विशेषताओंको दृष्टिमें रखकर आगमशास्त्रने 'भग' और 'भगवान्' शब्दोंकी व्याख्या की। आगमोंकी यह विचारणा पुराणोंमें मान्य हुई। सभी पुराणोंमें ब्रह्म या परमात्माको 'भगवान्' संज्ञासे अभिहित किया गया। श्रीविष्णुपुराणमें इन शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या हुई है और श्रीमद्भागवतमें भगवत्तत्त्वका एवं देवीभागवतमें भगवतीके स्वरूपका सुन्दर निदर्शन हुआ है।

'ब्रह्म' शब्दका विषय नहीं है, तथापि उपासनाके लिये उसका 'उपचार' से अर्थात् चर्या-व्यवहारकी सुविधाके हेतु 'भगवत्' शब्दके द्वारा कथन किया जाता है (वि० पु० ६। ५। ७१)। अज, अजर, अव्यक्त, अव्यय, अचिन्त्य, अनिर्देश्य, अरूप, अपाणि, अपाद, विभु, सर्वगत, नित्य, भूतोंका आदिकारण, स्वयं अकारण, जिससे समस्त व्याप्य और व्यापक प्रकट हुआ है और जिसे प्रबुद्धजन ज्ञान-नेत्रोंसे देखते हैं, वह ब्रह्म है। वही मुमुक्षुओंका ध्येय परमधाम है और वही वेद-वचनोंसे प्रतिपादित विष्णुका सूक्ष्म परमपद है। परमात्माका यह स्वरूप ही 'भगवत्' शब्दका वाच्य है और भगवत् शब्द इस आद्य, अक्षय स्वरूपका वाचक है (वि० पु० ६। ५। ६६—६९)।

भगवत्-शब्दार्थ

'भज् सेवायाम्' से भग, भगवत्, भक्त, भक्ति-जैसे शब्दोंकी व्युत्पत्ति हुई है। **'इन्द्रो भगः'** (ऋग्वेद ३। ६५। ५) पर सायण-भाष्य है—**'भगः सर्वैर्भजनीयः स इन्द्रः'**। देवीपुराणके पैंतालीसवें अध्यायमें भगवतीका ऐसा ही स्वरूप बताया है—

सेवते या सुरैः सर्वैस्ताश्चैव भजते यतः।
धातुर्भजेति सेवायां भगवत्येव सा स्मृतिः॥

इस व्युत्पत्तिके अनुसार भगवत्-शब्द 'पूज्यत्व' की सूचना देता है। इसका प्रयोग परमात्माके लिये मुख्य रूपसे है, गुरु आदि अन्य पूज्य जनोंके लिये उपचारसे अर्थात् गौणरूपसे है।

इस सामान्य अर्थमें जब प्रतीकात्मकता जुड़ गयी, तब भगवत्-शब्दमें ब्रह्मत्वकी, समस्त विशेषताओंकी समाहिति देखी गयी। सिद्धि-आदिक ऐश्वर्य-सम्पन्नता भगवत्-शब्दका वाच्य हो गयी। ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति-खण्डमें कहा है—

सिद्ध्यैश्वर्यादिकं सर्वं यस्यामस्ति युगेयुगे।
सिद्ध्यादिके भगो ज्ञेयस्तेन भगवती स्मृता॥
(अध्याय ५४)

ऐश्वर्योंकी संज्ञा 'भग' निर्धारित होनेसे 'भगवत्' की व्याख्यामें भग-शब्दको प्रमुखता मिली। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—मैं भगवत्तम (परमेश्वर) यज्ञस्वरूप हूँ—**'यज्ञोऽहं भगवत्तमः'** (११। १९। ३९)। और आगे उन्होंने स्पष्ट कहा—**'भगो म ऐश्वरो भावः'** (११। १९। ४०)।

श्रीविष्णुपुराणमें भगवत्-शब्दका अर्थ एकाक्षरी कोषके अनुसार अर्थात् अक्षरोंकी प्रतीकार्थमयताके आधारपर किया गया है। भगवत् शब्दमें 'भ' के दो अर्थ हैं—पोषक और सर्वाधार। 'भ' के ये प्रतीकार्थ 'भ' अक्षरके अर्थ 'नक्षत्र या ग्रह' के अनुकूल हैं। 'ग' के तीन अर्थ हैं—नेता, गमयिता और स्रष्टा। नेताका अर्थ है 'कर्म-फल प्राप्त करानेवाला'। गमयिताका अर्थ है 'लय करानेवाला' और स्रष्टा 'रचयिता' है। एकाक्षरी अर्थोंको 'जाननेवाला' और 'गणेश' के मूलभावसे इन अर्थोंका सम्बन्ध स्पष्ट है। भ और गकी संयुतिसे 'भग' शब्द बना है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छहका नाम 'भग' है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥
(६ । ५ । ७४)

'भ तथा ग के उपर्युक्त पाँच अर्थोंके साथ विसर्ग (:) के एक अर्थको मिलाकर ये उपर्युक्त छः गुण होते हैं। एकाक्षरी कोषके अनुसार विसर्गके अर्थ हैं—त्याग, मुक्ति, दीप्ति आदि। इन अर्थोंके संश्लेषसे विसर्गका अर्थ हो जाता है 'वैराग्य', अर्थात् संसार-भावका त्याग। पोषण ऐश्वर्यका, सर्वाधार धर्मका, नेता यशका, गमयिता ज्ञानका और स्रष्टा श्री-(आद्याशक्ति, महामाया-) का प्रत्यर्थक है (६ । ५ । ७२-७५)।

भगवान् वासुदेव

श्रीविष्णुपुराणके अनुसार, भगवत्-शब्दके वकारका अर्थ है—वह अखिल भूतात्मा, अव्यय परमात्मा, जिसमें सब भूत निवास करते हैं और जो स्वयं सब भूतोंमें अधिवास करता है। 'व' वस् धातुका प्रथमाक्षर है और वकारका एकाक्षरी अर्थ 'वास' भी है। अतः भगवान्शब्द समस्त कारणोंके कारण, महाविभूति-संज्ञक, परब्रह्मस्वरूप श्रीवासुदेवका ही वाचक है, अन्य किसीका नहीं (६ । ५ । ७६)। परमात्मा सब भूतोंके परम आश्रय हैं, सब भूतोंमें आत्मा-रूपमें विराजमान हैं तथा वे ही विश्वके विधाता (स्रष्टा) और धाता (रक्षक) हैं, अतः वे प्रभु 'वासुदेव' कहलाते हैं (६ । ५ । ८०-८२)। आत्मारूपमें सर्वत्र रहनेसे परमात्मा वासुदेव समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और नाश, आना और जाना तथा विद्या और अविद्या सब कुछ जानते हैं, अतः वे 'भगवान्' शब्दके वाच्य हैं (६ । ५ । ७८)।

भगवान् वासुदेवमें सब भूत बसते हैं, यह 'धर्म' गुण है। वे सर्वात्मा अन्तर्यामिरूपसे सबमें बसते हैं, व्याप्त हैं, यह 'यश' है। वे जगत्के विधाता और धाता हैं—ये उनके 'श्री' और 'ज्ञान' संज्ञक गुण हैं। वे परमात्मा हैं—यह 'वैराग्य' है—और वे प्रभु हैं—यह उनका 'ऐश्वर्य' है। षाड्गुण्य-संदर्भमें वासुदेव-नामकी जो व्याख्या श्रीविष्णुपुराणने की है, उसका यही सहज अर्थ हो सकता है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् वासुदेव सत्त्वात्मा, सत्त्वस्वरूप हैं (६ । १२ । २१)। वे सब भूतोंमें व्याप्त हैं और हृदय-गुहामें अवस्थित हैं, अन्तर्यामी हैं (२ । ९ । २४)। पहले एकमात्र भगवान् ही थे। वे प्रभु आत्माओंके आत्मा हैं और स्वेच्छासे ही सर्वत्र विराजते तथा उपलक्षित होते हैं (३ । ५ । २३)। भगवान् ही सब देवताओंके नाम-रूपमें प्रकट होते हैं (६ । १८ । ३३-३४)। वास्तवमें तो भगवान् निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृतिसे परे हैं; तथापि वे अपनी मायाके गुणोंको स्वीकार करके बाध्य-बाधक-भाव अर्थात् मरने और मारनेवाले दोनोंके परस्पर-विरोधी रूपोंको ग्रहण करते हैं (७ । १ । ६)। भगवान् ही सब कुछ करते हैं (६ । १७ । २१)। भगवत्पद शाश्वत, प्रशान्त, प्रतिबोधमात्र, शुद्ध, सम, अजस्र सुख और विशोक है (२ । ७ । ४७-४८)।

श्रीमद्भागवतमें मुख्यतः वासुदेवको ही भगवान् कहा गया है। भागवतमें वासुदेवका अर्थ श्रीविष्णु-पुराणसे किंचित् भिन्न है। वहाँ कहा गया है कि—

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजे मे नमसा विधीयते ॥

भगवान् शङ्करने सतीसे कहा है कि—'विशुद्ध अन्तः-करणका ही नाम 'वसुदेव' है; क्योंकि उसीमें अन्तः-करण-स्थित परमपुरुषका अनुभव होता है। उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।' भगवान् शङ्करके अनुसार प्राज्ञजन भगवान् वासुदेव—'परस्मै पुरुषाय गुहेशयाय'

को ही प्रणामादि करते हैं (४ । ३ । २२-२३)। यहाँ भगवान् वासुदेवकी अन्तर्व्याप्ति या अन्तर्यामिताके साथ, उनकी विशुद्ध 'सत्त्वमयता' को विशेषरूपसे रेखाङ्कित किया गया है।

भगवान्‌के ऐसे वासुदेव-स्वरूपमें षाड्गुण्यका दर्शन देवयानीको भी मोक्षकालमें हुआ था। उसने प्रार्थनामें सर्वभूताधिवास भगवान् वासुदेवके स्वरूपकी तीन विशेषताएँ लक्षित कीं—वेधस्, शान्त और बृहत् (९ । १९ । २९)। वेधस्‌से धर्म और बल, शान्तसे ज्ञान और वैराग्य तथा बृहत्‌से शक्ति और तेज गुणका कथन है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्ण-जन्म-खण्डके पचीसवें अध्यायमें कहा है—

महतां क्षुद्रजन्तूनां सर्वेषां जीविनां सदा।
स्रष्टा पाता च शास्ता च भगवान् करुणानिधिः॥

अर्थात्—'करुणा वरुणालय भगवान् ही बड़े और छोटे सभी जीवोंके सदा स्रष्टा, रक्षक और शासक हैं।'

इस कथनमें भगवान् वासुदेवका षाड्गुण्य लक्षित होता है।

भगवान् कृष्ण अपने अंश-भागसे देवकीके गर्भमें आये (१० । २ । ९, १० । ८ । ५०)। भगवदंशका अर्थ ज्ञान-बलादिक षाड्गुण्य है। श्रीकृष्णमें षड्गुणकी समग्रता है। कृष्ण भगवान् हैं (१० । ८ । २७, ३६)। वे स्वयं भगवान् हैं, साक्षात् भगवान् हैं (१० । २३ । ४८)। चाणूरसे मल्लयुद्ध करते हुए श्रीकृष्णमें मथुराके नागरिकोंको षाड्गुण्यके दर्शन हुए। उन्होंने अनुभव किया कि कृष्णका अनन्यसिद्ध लावण्य-सार-सौन्दर्य **'एकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य'** (१० । ४४ । १४) है। वे मनुष्य-रूपमें छिपे पुराण-पुरुष हैं (यह उनका ज्ञान-गुण है)। वे गौओंका पालन और वेणु-वादन करते हैं (यह उनका धर्म या वीर्य गुण है)। उनके पदपद्म शंकर और रमासे अर्चित हैं (यह उनका वैराग्य गुण है) (१० । ४४ । १३)। इसी प्रकार **'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने। प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः'** (१० । ७३ । १६) इस स्तुतिकी छः संज्ञाएँ भगवान्‌के षाड्गुण्यकी वाचक हैं। **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** (४।८।५४)—यह भगवत्प्राप्ति करानेवाला उत्तम मन्त्र है। भगवान्‌के सगुण-रूपको हृदयकमलकी कर्णिकापर स्थापित करके (४ । ८ । ४५–५०) या मनमें उनकी मन्दमुसकानमयी मञ्जुलमूर्ति-(४ । ८ । ५१-५२)का ध्यान करके इसे जपनेसे चतुर्वर्गकी सिद्धि होती है (४ । ८ । ५९–६१)।

षाड्गुण्यका श्रेष्ठत्व यह भी है कि विश्वात्मा भगवान् भक्तोंको अभय प्रदान करते हैं—**'भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः'** (१० । २ । १६)। भगवान् शब्द एक बीज मन्त्र है और कवच-रूपमें जीवके स्व अर्थात् 'अहंकी' रक्षा करता है—**'आत्मानं भगवान् परः···पातु'** (१० । ६ । २५)। इस कथनसे स्पष्ट है कि जगदात्मा ही भगवान् हैं। श्रीकृष्णको षाड्गुण्य आदिका परमाधार जानकर युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उनकी अग्रपूजा की गयी (१० । ७४ । १८-१९)।

षड्गुणकी विविध संज्ञाएँ

भगोंसे युक्त परमात्मा भगवान् हैं। 'भग' उनकी नित्यसिद्ध स्वरूपभूत छः शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ उनके अतिरिक्त अन्य कहीं भी नित्य निवास नहीं करतीं। ये सर्वेश्वर अपने नित्य तेजोमय, आनन्दमय स्वरूपमें ही निमग्न रहते हैं—**'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्'** (२ । ९ । १६)।

'भग' शब्दकी पूर्वोक्त व्याख्याके अनुसार भगवत्-स्वरूपपर विचार करके श्रीविष्णुपुराण-(६ । ५ । ७९) ने भगवान् शब्दका अर्थ यह किया है कि हेयगुणों और तज्जन्य क्लेशादिकको छोड़कर ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-वीर्य-तेज इन षड्गुणोंकी सम्पूर्णता भगवान्‌में है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

'अहिर्बुध्न्यसंहिता' आदि आगम-ग्रन्थोंमें भी भगवान्के षाड्गुण्यके ये ही नाम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीविष्णुपुराणकारकी षाड्गुण्यसम्बन्धी मान्यता 'ऐश्वर्यस्य' वाले पूर्वलिखित श्लोककी है और यह दूसरी अवधारणा उक्त पुराणमें आगमोंसे गृहीत की गयी है। इससे पुराणकारका लक्ष्य दोनों पुराणोंमें एकसूत्रता दिखाना है। अब हमें यह देखना होगा कि भग शब्दद्वारा निर्दिष्ट षाड्गुण्य और भगवान्-शब्द-वाच्य इस षाड्गुण्यमें क्या सम्बन्ध है।

षड्गुणोंकी दोनों संहतियोंमें ऐश्वर्य और ज्ञान-गुण समान हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिताके श्लोकको अन्य आगमों तथा पुराणोंने ग्रहण करते हुए 'धर्म' के स्थानपर 'वीर्य' गुण नाम रखा है; क्योंकि दोनोंका अर्थ 'अविकारत्व' है। शेष तीन गुण भी अर्थसाम्यके द्वारा परस्पर अभिन्न हैं। 'जगत्प्रकृतिभाव' दोनोंमें होनेसे श्री'शक्ति' है। 'बल' का अर्थ है 'जगत्सृष्टि' करनेमें श्रम न होना। 'यश' भी इसी अथक, अनवरत क्रिया-शीलतासे होता है। सहकारीकी अपेक्षा न होना 'तेज' है, वैराग्य भी अनपेक्षाका ही भाव है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि षाड्गुण्यकी दोनों संज्ञावलियोंमें कोई भिन्नता नहीं है। पहली नामावलि षड्गुणोंकी अपनी मूलभूत स्थितिकी प्रदर्शिका है, दूसरी नामावलि इन गुणोंके उन रूपोंकी वाचिका है, जिन्हें ये षडैश्वर्य गुणी-द्वारा अधिकृत होकर धारण करते हैं।

श्रीविष्णुपुराणने भगवान्में पूर्वोक्त षड्गुणोंकी स्थिति अगले कुछ श्लोकोंमें और अधिक स्पष्ट की है। हेय गुण न होकर ये छः गुण पूर्णमात्रामें भगवान्में होते हैं (६ । ५ । ७९)। भगवान् सर्वभूत प्रकृति, उसके विकारों और गुण-दोषोंसे रहित हैं (६ । ५ । ८३)। आगे फिर कहा है कि ये छहों गुण भगवान्में पृथक्-पृथक् नहीं, एकजुट होकर रहते हैं—'**तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः**' (६ । ५ । ८५)। इसमें ज्ञानका पर्याय 'महावबोध' दिया गया है, और 'वीर्य'का विशेषण 'सु' लगाया है। इससे इन गुणोंका स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ये षड्गुण वस्तुतः 'समस्त कल्याण गुणात्मक' (६ । ५ । ८४) हैं। परमेश्वराख्य भगवान् व्यष्टि-समष्टि-स्वरूप तथा व्यक्ताव्यक्त स्वरूप हैं—यह उनका 'बल' गुण है। वे सर्वेश्वर हैं—यह उनका 'ऐश्वर्य' है। वे सर्वदृक् (सर्वसाक्षी) हैं—यह भगवान्का 'अविकारत्व' अर्थात् 'वीर्य' है। प्रकृति-विकारों और उनके गुणदोषोंसे रहित, समस्त आवरणोंसे परे और सर्वव्याप्त होना भी भगवान्का वीर्य गुण है। वे सर्ववित् हैं, यह उनका ज्ञानगुण है। भगवान् 'समस्तशक्ति' हैं, इससे उनका शक्तिगुण स्पष्ट है (६ । ५ । ८२—८७)। इस पुराणमें अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर भगवान्की भगवत्ताका कथन है। वहाँ भगवान्के स्वरूप तथा गुणोंके वर्णन करनेमें षाड्गुण्यकी झलक स्पष्ट दिखायी देती है।

'भग'को ऐश्वर्य कहनेसे स्पष्ट है कि भागवतकार षाड्गुण्यको भगवान्का षडैश्वर्य कहना अधिक उचित समझते हैं। भागवतके अनुसार शौर्य-(वीर्य-) का अर्थ है स्वभावको जीतना—'**स्वभावविजयं शौर्यम्**' (२० । १९ । २७)। श्रीका अर्थ है निरपेक्षतादि गुण—'**श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः**' (११ । १९ । ४०)। ज्ञान है बन्ध-मोक्षको जानना—'**पण्डितो बन्धमोक्षवित्**' (११ । १९ । ४१)। बुद्धिका गुणोंमें अनासक्त रहना ही 'ईशता' है—'**गुणेष्वसक्तधीरीशः**' (११ । १९ । ४४)। षड्गुणकी यह व्याख्या पुरुष, विशेषतः जीवके संदर्भमें है।

भगवान् ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, अवबोध, वीर्य और श्रीसंज्ञक षडैश्वर्यसे पूर्ण हैं। भगवान् वासुदेव सर्वान्तर्यामी,

सर्वज्ञ हैं। उनमें परम भक्ति-भाव रखकर मनुष्य बन्धन-मुक्त हो जाता है। भगवान् आत्मारूपमें-सब भूतोंमें एवं सम्पूर्ण भूत भगवान्में स्थित हैं (३ । २४ । ३२, ४५-४६)। कपिल भगवान् कहते हैं—'मैं साक्षात् भगवान् हूँ, प्रकृति और पुरुषका भी प्रभु हूँ तथा समस्त प्राणियोंकी आत्मा हूँ। मेरे भयसे वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करता है, आग जलती है और मृत्यु अपना कार्य करती है तथा योगिजन ज्ञानवैराग्यमयी भक्तिसे मेरे पाद-मूलका निर्भयतापूर्वक आश्रय लेते हैं। तीव्र भक्ति-योगसे मुझमें चित्त लग जाना ही मनुष्यकी सबसे महती कल्याणोपलब्धि है। (३ । २५ । ४१-४४)।

भगवान्की शक्तियाँ अनन्त हैं, जिन्हें देवता-रूप कहा जाता है। उन सब देवताओंका एकत्रीभाव भगवान् हैं। वे स्वयं कहते हैं—**'सर्वदेवमयोऽहम्'** (१० । ८६ । ५४)। उन अनन्त शक्तियोंमें बारह शक्तियाँ प्रमुख हैं (१० । ३९ । ५५) । उनमें भी छः षडैश्वर्यरूप शक्तियाँ हैं । लक्ष्मी, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, कीर्ति और तुष्टि क्रमशः ऐश्वर्य, वीर्य, बल, ज्ञान, श्री, यश और वैराग्यरूपी हैं। अन्य शक्तियोंमें 'इला' संधिनीरूपा पृथ्वी-शक्ति है, 'उर्जा' लीलाशक्ति है, 'विद्या-अविद्या' जीवोंके मोक्ष और बन्धनमें कारण-रूपा बहिरंग-शक्तियाँ हैं। ह्लादिनीशक्ति आनन्दमयी है, मायाशक्ति संवित् अन्तरङ्गाशक्ति है।

भागवतमें ही अन्यत्र भगवान्के छः गुणोंके नाम हैं—कृपा, विभूति, तेज, महिमा, वीर्य और प्रभुता (६ । १९ । ५)। ये क्रमशः यश, ऐश्वर्य, तेज (वैराग्य), ज्ञान, वीर्य (धर्म) और श्रीके ही नामान्तर हैं। अन्य प्रसङ्गोंमें भगवान्को एक स्थानपर श्रीपति, धीपति, यज्ञपति, लोकपति, धरापति और सतांपति कहा गया है (२ । ४ । २०)। ये क्रमशः श्री, ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, यश, और वैराग्य गुण हैं। अन्य स्थानों-पर उन्हें आत्माओंका आत्मा, भूत-अवश्वर, त्रयीमय धर्ममय, तपोमय और अतर्क्यलिङ्ग कहा है (२ । ४ । १९)। ये क्रमशः श्री, ऐश्वर्य, ज्ञान, धर्म, वैराग्य और यशके विस्तार हैं। भागवतमें अन्य अनेक स्थानोंपर (यथा १० । १६ । ३९-५०, १४ । २४ । २ । १० । २७ । १०-११ आदि स्थलोंपर) तथा विशेषतः शुकस्तुति (२ । ४ । १२-२४) तथा गजेन्द्र-स्तुति-(८ । ३ । २-३२)में भगवान्के षाड्गुण्यका निदर्शन हुआ है। भगवान्के विशेषणोंमें भगवत्तत्त्व निर्दिष्ट हैं।

देवीभागवत-(१ । ६)में भगवतीके कीर्ति, धृति, कान्ति, मति, रति और श्रद्धासंज्ञक छः स्वरूप बताये हैं। ये भी षड्गुण ही हैं। इन्हें क्रमशः यश, वीर्य (धर्म), तेज (वैराग्य), ज्ञान, श्री और ऐश्वर्य कह सकते हैं।

भगवान् निर्गुण और निरपेक्ष हैं। फिर भी वे सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति, दम आदि सब गुणोंके अधिष्ठान हैं (१० । १४ । ३९)। षड्गुण, साम्य, असंग आदि सारे गुण उन्हींमें प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि वे सबके हितैषी सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। वस्तुतः उन गुणोंको गुण कहना भी सही नहीं है; क्योंकि वे नित्य हैं, सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं। प्राकृत गुण आच्छादक और बन्धक होते हैं (१० । १० । ३२-३३, १० । १६ । ४६)। किंतु भगवद्गुण मोक्ष-कारक हैं।

विश्ववास भगवान्

श्रीमद्भागवतमें भगवान् वासुदेव विश्ववास हैं। यह अखिल विश्व भगवद्रूप है (१० । १४ । ५६-५७)। जो कुछ भी दिखायी दे रहा है और नहीं भी दिखायी दे रहा है, वह सब भगवान्का शरीर है (११ । २ । ४१)। जो कुछ भी है सब वासुदेव भगवान् हैं, जो भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये नाम-रूप धारण करते हैं—

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ॥
योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥
(६ । ४ । ३०, ३३)

समस्त जगत्के साक्षात् कारण-स्वरूप प्रधान और पुरुष हैं । उनके भी नियामक भगवान् हैं । इस जगत्के आधार, निर्माता और निर्माण-सामग्री भी भगवान् हैं । वे जगत्के स्वामी हैं, और उन्हींकी क्रीड़ाके लिये जगत्का निर्माण हुआ है । यह जिस समय, जिस रूपमें जो कुछ रहता है या होता है, वह सब भगवान् ही है । प्रकृतिरूपसे भोग्य और पुरुषरूपसे भोक्ता तथा दोनोंसे परे, दोनोंके नियामक भगवान् ही हैं (१० । ८५ । ४) । भगवान्से भिन्न सदसदात्मक कुछ नहीं है—**'नान्यद् भगवता किञ्चिद् भव्यं सदसदात्मकम्'** (२ । ६ । ३२) ।

भगवान् विश्वात्मा हैं, उनके अंश-(पुरुष-)के अंश-(प्रकृति, माया)के अंश-(गुणों-)के भाग (लेशमात्र) से विश्वकी उत्पत्ति तथा प्रलय होता है—**'यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः'** (१० । ८५ । ३१) । भगवान्के स्वरूप-वर्णनमें ब्रह्माजी उन्हें 'भुवन-वृक्ष' कहते हुए नमस्कार करते हैं—**'तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय'** (३ । ९ । १६) । भगवान् विश्व-वृक्षरूपमें स्वयं ही विराजमान हैं । वे ही अपनी मूल प्रकृतिको स्वीकारकर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके हेतुभूत ब्रह्मा-विष्णु-महेशके रूपसे तीन शाखाओंमें विभक्त हुए हैं और फिर प्रजापति एवं मनु आदि शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत विस्तृत हो गये हैं ।

भगवान् परम पुरुष हैं । वे भूमा (सर्वव्यापक), विश्व (सर्वस्वरूप), विश्व-गुरु, परदेवता (परमाराध्य), और हंस (शुद्धस्वरूप) हैं । वे नारायण ऋषि और नरोत्तम (नर) हैं । वे निगमेश्वर (वेदमार्गके प्रवर्तक) हैं और समस्त लौकिक-वैदिक वाणियाँ उनके अधीन हैं (१२ । ८ । ४७) । भगवान्ने अपने स्वरूपमें ही प्रकृति आदि नौ शक्तियोंका संकल्प करके इस चराचर जगत्की सृष्टि की है और वे इसके अधिष्ठान-रूपसे स्थित हैं । उनका परम पद केवल अनुभूति-स्वरूप है । वे ही देवताओंके आराध्य देव सनातन भगवान् हैं (१२ । १२ । ६७) । भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी हैं (१२ । ३० । २०) । वे अनुग्रह करके भक्तको आत्म-तत्त्वका बोध करा देते हैं (२ । २ । ३१–३७, २ । ३ । ११-१२, २ । ४ । २१–२४) ।

भगवान्के सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूप वन्द्य हैं (५ । २६ । ३९) । उन भगवान् वासुदेवका ध्यान करें—**'तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि'** (२ । ५ । १२); क्योंकि पवित्रकीर्ति भगवान् वासुदेवके गुणोंकी चर्चा मोक्षाकाङ्क्षी पुरुषकी बुद्धिको विषयों-से हटाकर भगवान्में लगा देती है (५ । १२ । १३)।

सर्वव्यापक और सूक्ष्म

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठो० १ । ३ । १२)

'यह सब आत्मरूप परमपुरुष समस्त प्राणियोंमें गुप्त रहता हुआ भी मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण सबको ज्ञात नहीं होता । यह तो सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा अति सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है ।'

श्रीमद्भागवतके 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' पर तात्त्विक विमर्श

(लेखक—महाकवि श्रीवनमालिदास शास्त्रीजी महाराज)

श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें सभी अवतारोंका सूत्ररूपसे वर्णन किया गया है। पश्चात् श्रीकृष्णको ही परिपूर्णतम एवं सर्वावतारी अर्थात् सभी अवतारोंका मूलतत्त्व बताते हुए अट्ठाईसवें श्लोकमें यह वाक्य आया है कि **'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (श्रीमद्भा० १ । ३ । २२) अर्थात् ये सब अवतार तो भगवान्के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) ही हैं। श्रीकृष्ण ही सब अवतारोंके मूलतत्त्व हैं।

श्रीव्यास आदि मुनियोंने अंशांश, अंश, आवेश, कला, पूर्ण और परिपूर्णतम—ये छः प्रकारके अवतार बताये हैं। इनमेंसे छठा—परिपूर्णतम अवतार तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। मरीचि आदि 'अंशांशावतार', ब्रह्मा आदि 'अंशावतार', परशुराम आदि 'आवेशावतार' और कपिल एवं कूर्म आदि 'कलावतार' कहे गये हैं। नृसिंह, राम, श्वेतद्वीपाधिपति हरि, वैकुण्ठ, यज्ञ और नर-नारायण पूर्णावतार हैं, अर्थात् सर्वावतारी हैं। असंख्य ब्रह्माण्डोंके अधिपति वे प्रभु श्रीगोलोकधाममें विराजते हैं जिनके अपने तेजमें सभी अवतारोंके तेज विलीन हो जाते हैं। भगवान्के उस अवतारको श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष साक्षात् 'परिपूर्णतम' बताते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ताको ज्ञानी भक्तोंमें श्रेष्ठ श्रीउद्धवजी ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भक्तवर्य श्रीविदुरके प्रति इस प्रकार बताते हैं—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्योडितपादपीठः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २१)

'देखो विदुरजी ! स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके अथवा वैकुण्ठलोकके ऊपर विराजमान अपने नित्यधाम-गोलोक, मथुरा, द्वारकारूप तीनों लोकोंके और ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनोंके अधीश्वर हैं। अतः जब उनके समान ही कोई नहीं है तब उनसे बढ़कर भी कोई कैसे हो सकता है। वे अपने स्वतःसिद्ध ऐश्वर्यसे, किंवा स्वरूपभूत परमानन्द शक्तिके प्रभावसे ही सर्वदा पूर्णकाम हैं और चिरकालजीवी ब्रह्मा आदि असंख्य लोकपालगण अनेक प्रकारकी भेंटें देकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम किया करते हैं।

इस श्लोककी विशिष्ट व्याख्या करते हुए श्रीरूप-गोस्वामीजीने अपने 'लघुभागवतामृत'में एक पौराणिकी प्रक्रिया दिखाकर यह कहा कि भगवान् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिमें अनेक प्रकारके अनन्त ब्रह्माण्ड विचित्र-रूपसे विराजमान हैं। इस ब्रह्माण्डका परिमाण तो केवल पचास करोड़ योजन ही बताया है, किंतु श्रीकृष्णकी विचित्रताके कारण कितने ही ब्रह्माण्ड सौ करोड़ योजनके हैं, कितने ही अरब-खरब योजनके तथा कितने ही सौ-सौ परार्द्धके परिमाणके विस्तारवाले हैं। यह ब्रह्माण्ड तो केवल चौदह भुवनोंवाला है, किंतु अन्य ब्रह्माण्डोंमें तो किसीमें बीस भुवन हैं और किसीमें पचास, किसीमें सत्तर, किसीमें सौ, किसीमें हजार, किसीमें दस हजार तथा किसीमें लाख भुवन भी हैं। उन सभी ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मादि लोकपालगण भी अनेक प्रकारसे विराजमान हैं। किसी-किसी ब्रह्माण्डमें इन्द्र आदि लोकपाल शतमहाकल्पजीवी हैं और ब्रह्मादि लोकपालगण परार्द्ध महाकल्पजीवी हैं। इस प्रकार वे ब्रह्मा, इन्द्र आदि लोकपालगण ही 'चित्रलोकपाल' कहे जाते हैं। उनके कोटि-कोटि मुकुटोंके द्वारा, श्रीकृष्णके पादपीठकी स्तुति यथावसर हुआ करती है।

उसका विवरण इस प्रकार है कि एक समय भगवान् 'श्रीकृष्ण द्वारकापुरीमें विराजमान थे। उसी समय द्वारपालने आकर निवेदन किया कि 'प्रभो ! आपके श्रीचरणारविन्दों-के दर्शनकी अभिलाषासे ब्रह्माजी द्वारपर खड़े हैं।' 'उनसे पूछो कि कौनसे ब्रह्मा द्वारपर आये हैं'—भगवान्‌के इस वचनको सुनते ही द्वारपालने द्वारपर जाकर ब्रह्मा-जीसे पूछकर कहा कि 'प्रभो ! सनकादिकोंके पिता चार मुखवाले ब्रह्मा हैं।' 'ले आओ'—श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर द्वारपाल ब्रह्माको सभामें ले आया। ब्रह्माके दण्डवत्-प्रणाम कर लेनेपर श्रीकृष्णने पूछा कि 'ब्रह्मन् ! आप आज किस कारणसे आये हैं?' ब्रह्मा बोले—'प्रभो ! आनेका कारण तो पीछे निवेदन करूँगा, परंतु नाथ ! आपने अभी जो प्रश्न किया कि 'कौनसे ब्रह्मा आये हैं' बस पहले इसी रहस्यको जानना चाहता हूँ। कारण यह कि मेरे अतिरिक्त कोई ब्रह्मा ही नहीं हैं।'

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने कुछ मुस्कराकर सभी चिरलोकपालोंका स्मरण किया। तत्काल कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंसे लोकपालगण तीव्रवेगसे द्वारकामें आने लगे। उनमें आठ मुखवाले, सोलह मुखवाले, बत्तीस मुखवाले, चौसठ मुखवाले, सौ, हजार, लाख तथा करोड़ मुखवाले ब्रह्मा भी थे, और बीस, पचास, सौ, हजार मुखवाले तथा लाख भुजावाले, लाख-लाख शिरोंवाले शंकर भी थे तथा लाख एवं दस लाखतकके नेत्रोंवाले इन्द्रगण थे। सभी अनेक आकारवाले एवं सभी अनेक प्रकारके आभूषण धारण किये हुए थे। सभी चिरलोकपालगण, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके पादपीठमें प्रणत हो गये। उन सबको देखकर चार मुखवाले ब्रह्मा विस्मित होकर उन्मत्त हो गये।

ब्रह्मसंहितामें श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ता इस प्रकार दिखायी है—

यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा कहते हैं कि 'मैं आदिपुरुष उन श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ, जिन गोविन्दके अभिन्न-स्वरूप महाविष्णुके एक श्वासके लेनेका समय अवलम्बन करके, जिनके (महाविष्णुके) रोमकूपोंमें विद्यमान अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति जीवित बने रहते हैं, वे महाविष्णु भी जिन गोविन्दके कलाविशेष कहे जाते हैं।'

रामादिमूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'मैं आदिपुरुष उन गोविन्दका भजन करता हूँ जो श्रीकृष्ण-नामक परमपुरुष, अपनी कलाओंके नियमसे अर्थात् शक्तियोंके परिमित प्रकाशके द्वारा श्रीराम आदि मूर्तियोंमें स्थित होकर, भुवनोंमें अनेक अवतार धारण करते रहते हैं; और वैवस्वत मन्वन्तरके इस अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही परिपूर्ण-तमरूपसे प्रकट हुए हैं', प्रमाण यथा—

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ४०)

भगवान् शंकरके अवतार श्रीशंकराचार्यजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ता अपनी निराली परिपाटीसे इस प्रकार प्रतिपादित की है—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान्प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते स मूर्त्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतःसच्चिन्मयोनीलिमा॥
(प्रबोधसुधाकर—२४२)

जिन श्रीकृष्णने ब्रह्ममोहन-लीलामें ब्रह्माको अनेक ब्रह्माण्डोंका दर्शन कराया एवं प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अतिशय अद्भुत ब्रह्माओंका दर्शन कराया तथा सभी वत्सगणोंसे युक्त ग्वाल-बालोंको भी विष्णुरूपसे प्रदर्शित कर दिया और शंकर भी जिनके चरणोदकरूप गङ्गाजलको अपने

सिरपर सादर धारण करते हैं, किंतु सच्चिदानन्दमयी श्यामसुन्दरताकी झाँकीवाले वे ही अनिर्वचनीय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप तीनों मूर्तियोंसे पृथक् ही निर्विकाररूपसे विराजमान हैं। तात्पर्य, श्रीकृष्ण दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करते हैं। **'अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयंरूपः स उच्यते'**; क्योंकि जिसका रूप दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता, वही स्वयं भगवान् कहलाता है।

श्रीकृष्णकी परावस्थाका प्रदर्शन करते हुए श्रीकृष्णकर्णामृतकार श्रीबिल्वमङ्गलजीने भी कहा है कि—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥

'पद्मनाभ भगवान्‌के सर्वतोभावसे मङ्गलमय बहुत-से अवतार हैं तो उन्हें रहने दो। परंतु श्रीकृष्णसे भिन्न ऐसा कौन-सा अवतार हुआ है कि जो लताओंको भी प्रेमका प्रदान करनेवाला है?' यद्यपि—**'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'** उत्तररामचरितकी इस उक्तिके अनुसार, सीता-विरहाकुल श्रीरामजीकी दशाको देखकर पत्थर भी रोते थे एवं वज्रका हृदय भी पिघल जाता था, तथापि वह तो उनके वियोगकी दशामें हुआ था। किंतु श्रीकृष्णकी तो यह विशेषता थी कि उनके संयोगमें भी गोपगण, पक्षिगण एवं मृगगण भी रोमाञ्चित होते रहते थे; यथा—

'त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।'
(श्रीमद्भा० १०। २९। ४०)

'प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म।'
(श्रीमद्भा० १०। ३५। ९)

निजनिर्मित—षट्सन्दर्भरूप मन्दराचलके द्वारा श्रीमद्भागवतरूप क्षीरसागरका मन्थन करके, श्रीकृष्णचन्द्ररूप परिपूर्णतम चन्द्रमाको हस्तामलकवत् दिखाकर प्रेमी भक्तोंके जीवनरूप श्रीजीवगोस्वामीजीने 'तत्त्वसंदर्भ'के आदिमें **'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता'**के अनुसार साररूपसे श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ता प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार प्रार्थना की है कि—

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि
निगमे याति चिन्मात्रसत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति
वशयन्नेव मायां पुमांश्च।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमे
व्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह
भगवान् प्रेम तत्पादभाजाम्॥

'परात्परतत्त्वस्वरूप जिन श्रीकृष्णकी चित्स्वरूपा सत्ता अर्थात् श्रीअङ्गकी कान्ति ही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि वेद-विभागमें निर्विशेष ब्रह्मका नाम धारण कर लेती है, एवं कारणार्णवशायी सहस्रशीर्षपुरुष, जो कि अपने अंशस्वरूप मत्स्यादि अवतारोंके द्वारा मायाको वशमें करके लीलावतारोंको प्रकट करते रहते हैं, वे पुरुष भी जिन श्रीकृष्णके अंश कहे जाते हैं, एवं जिनका नारायण-नामक एक (मुख्य) रूप, प्रकृतिके पार वैकुण्ठमें विराजमान है, वे ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इस संसारमें अपने चरण-कमल-सेवी भक्तोंको अपना प्रेम सदैव अर्पण करते रहें।'

श्रीकृष्णका साक्षात्कार करनेवाले श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने तो पूछनेवाले अपने अन्तरङ्ग भक्तोंसे स्पष्ट कह दिया था कि—**'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने'** अर्थात् श्रीकृष्णसे परे और कुछ भी तत्त्व है, इसे मैं नहीं जानता; और कहा कि—

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥

'देखो भाइयो! मैंने तो श्रीकृष्णका अद्भुत माहात्म्य प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत कर दिया है। किंतु इतनेपर भी जो मूढ उसको नहीं सह सकते हैं, वे तो निकटवर्ती भविष्यमें नरकमें ही जानेवाले हैं।' (अगले अङ्कमें समाप्य)

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का समीक्षात्मक विवेचन

(लेखक—पं० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय' एम्० ए०)

श्रीमद्भागवत प्राचीन औपनिषदकी उस परम्पराके तात्त्विक विचारोंका निसृष्टार्थभूत परम मधुर व्याख्यान है, जिसमें कालक्रमसे पाञ्चरात्रादि आगमों एवं तत्तत्कालीन दर्शनोंके सिद्धान्त भी अन्तर्भुक्त होते गये हैं। इसमें परिगृहीत ब्रह्मसूत्रकी-सी संग्रहवृत्ति, समन्वयवादिता तथा पुष्टशैली यदि एक ओर इसे वेदान्तराद्धान्तका मथितार्थ सिद्ध करती है, तो दूसरी ओर इसमें प्रवाहित भगवान् कृष्णकी ललित लीलाओंसे समुद्भूत भक्तिरूपा अन्तःसलिला अपने विविध प्रस्तार एवं भावभावित तरङ्गोल्लासके द्वारा इसे परमरसरूप काव्यके रूपमें भी प्रस्तुत करती है। भागवत तत्त्वसार और रससागर दोनों है।

वस्तुतः श्रीमद्भागवत सारसंग्रह भी है और परमतत्त्वकी मधुमयी व्याख्या भी। निगमकल्पतरुकी विविध शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त तत्त्वमाधुरीके सुरभित सुमन 'ब्रह्मसूत्र'-का यह अर्थरूप[1] परिणत फल है, जिसका कोई भी अंश रसविहीन न होनेसे त्याज्य नहीं कहा जा सकता। इसीलिये भगवान् व्यास भावुक भक्तोंको, आमुक्ति इसके अमृत पानकी सलाह देते हैं।[2]

इतर पुराणों एवं आचार्योंके अनुसार वेदसार गायत्रीका उपबृंहण ही 'भागवत' का सम्पुष्ट लक्षण है, जिसमें वैदिकसंहिताभागके बहुचर्चित विषय वृत्रासुरके वध तथा तज्जन्य धर्मविस्तारका भी निरूपण हुआ है; यथा—

> यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
> वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते॥
> (मत्स्यपुराण)

श्रीमद्भागवतके विषयमें 'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ'—इस पुराणोक्तिकी सङ्गति भी प्रायः सभी प्रत्न-अर्वाचीन टीकाकारोंने तत्तत् टीकाओंमें सुस्पष्टतया प्रदर्शित की है, जिसे विशदरूपमें वहीं देखा जा सकता है। स्थूल-दृष्टिसे अवलोकन करनेपर भी हमें इन कथनोंकी सत्यता निर्भ्रान्तिरूपसे ज्ञात हो जाती है; क्योंकि भागवतकार अपने प्रथम श्लोकमें ही ब्रह्मसूत्रके **'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) सूत्रसे निरूपण करते हुए गायत्रीके **'धीमहि'** पदकी उपसंहृति[3] द्वारा परमसत्यका अनुध्यान करते दीख पड़ते हैं। फिर उनके ग्रन्थकी पूर्णता भी इसी सत्यानुध्यानके साथ ही होती है; यथा—

> **'तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।'**
> (श्रीमद्भा० १२।१३।१९)

अर्थात् 'उस शुद्ध, मलरहित, विगतशोक, अमृतस्वरूप परमसत्यका हम ध्यान करते हैं।'

इस प्रतिपादनसे हमारा तात्पर्य यही है कि श्रीमद्भागवत साधारण ग्रन्थ नहीं, अपितु वेदान्त-सिद्धान्तोंको 'शारीरक सूत्र'के रूपमें संग्रथित करनेवाले एवं विधिनिषेधमूलक त्रयीधर्मका, महाभारत और पुराणवाङ्मयके रूपमें व्याख्यान करनेवाले, त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यासकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे समुद्भूत समाधिभाषाका आप्तग्रन्थ है; अतएव इसमें प्रतिपादित भगवत्तत्त्व और श्रीकृष्णकथा वेद-पर्यवसायी ज्ञानका ही अपर अभिधान है, जिसका सम्यक् विमर्शन आर्षपद्धतिद्वारा ही सम्भव है। अस्तु!

यद्यपि यह सत्य है कि महर्षि बादरायण श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणात्मक प्रथम श्लोकमें परमतत्त्वका अनुध्यान करते हुए किसी भी भगवत्स्वरूप या अवतार-

१—अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम् (गरुडपुराण)।

२—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥' (श्रीमद्भागवत १।१।३)

३—'सदानिरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।' (१।१।१)

*

तत्त्वज्ञों के परमोपास्य

भगवान् श्रीकृष्ण

विशेषका नाम ग्रहण नहीं करते, फिर भी सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत महापुराण श्रीकृष्णकथाका ही दार्शनिक उपनिबन्धन है—यह सुतरां (सूक्ष्मरूपसे द्वितीय श्लोकमें ही) परिलक्षित हो जाता है; जैसे—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुद्ध्यतेऽत्रकृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥[4]

'श्रीमद्भागवतमें जिस धर्मका प्रतिपादन हुआ है, वह छल या दम्भसे विहीन (अर्थात् भगवद्भक्तिरूप[5] धर्म) है, यह परमधर्म, मात्सर्यविहीन सज्जनोंके आचरणका विषय है। (वे सज्जन भक्त ही हो सकते हैं[6]।) इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य—वास्तविक तत्त्व, (अर्थात् त्रिकालाबाधित सत्य ब्रह्म) है। किंतु वह (वस्तुरूप ब्रह्म) मात्र निर्गुण निर्लेपरूपसे ही यहाँ विवक्षित नहीं, अपितु (स्वकृत प्रपञ्चमें आत्ममायासे गुणवत्ताको स्वीकार करते हुए) निखिल कल्याणधाम बनकर (स्वाश्रित अंशरूप जीवोंके) आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तापत्रयके उपशामक रूपसे ही वर्णित हुआ है। और, वह केवल ब्रह्म ही नहीं ईश्वर भी है (अर्थात् यहाँ उसके मायारहित तथा मायोपहित इन दोनों रूपोंका प्रतिपादन इष्ट है) जो कि पुण्यात्मा श्रोताओंके द्वारा श्रवण-मननका विषय होनेपर अविलम्ब—तत्क्षण ही उनके भावमय हृदयमें बन्दी बन जाता है।'

यहाँ **'कृतिभिः'** *और* **'शुश्रूषुभिः'** *इन पदोंद्वारा उस परमतत्त्वकी उपासनासे एवं श्रवणादि साधन-विषयत्वसे जैसे उसकी ईश्वरता और ज्ञानरूपता सिद्ध होती है, वैसे ही—***'सद्यो हृद्यवरुद्ध्यते'** *इस पदसे उसकी भगवत्ता अथ च कृपापरवशता और प्रेयरूपता भी निश्चयेन सुव्यक्त हो जाती है। (और, इन्हीं तत्त्वोंसे विशिष्ट भगवत्तत्त्व साकार अवतार तत्त्वमें विराजता है।)*

श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण उसी परमतत्त्वके अपर पर्याय हैं, जिसके विषयमें भागवतकार अभिधानके आग्रही नहीं हैं। आप अपनी रुचिके अनुसार उन्हें अद्वयज्ञान कहिये, ब्रह्म कहिये, परमात्मा या ईश्वर कहिये अथवा भगवान् शब्दसे अभिहित कीजिये, बात एक ही है। अन्तर शब्दोंमें है, तत्त्वमें नहीं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

फिर भी भागवतकी अपनी भाषा मुख्यतया इस तत्त्वको भगवत्पदवाच्य रूपसे ही स्वीकार करती है। श्रीशुकदेवजी 'भगवान्'को अधिक समीपसे देखते हैं; इसीलिये कहा है कि—

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्॥
(२। ४। २१)

४–श्रीमद्भागवत १। १। २।

५–इतर धर्मोंके व्यवहारमें यत्किंचित् दम्भ दृष्ट हो सकता है, किंतु भगवद्भक्ति या प्रपत्ति ही एक ऐसा धर्म है, जहाँ वस्तुतः दम्भके लिये अवकाश ही नहीं रहता; क्योंकि भक्ति देवी तो 'तृणादपि सुनीचेन' की भावनासे भावित हृदयमें ही आविर्भूत होती हैं। इसीलिये श्रीगीतामें भगवान्ने उत्तरधर्मोंका व्यावर्तन करके प्रपत्तिधर्मको ही श्रेष्ठ ठहराया है—सर्व धर्मान् परित्यज्य ………… (गीता १८। ६६)।

६–भक्ति स्वभावतः अनुरागमयी मनोवृत्ति होनेके कारण अहंतासे ऊपर ममताकी भूमिमें अधिष्ठित होती है; जब कि इतर धर्मोंमें अहंताका सर्वथा अभाव नहीं होता। इसीलिये सच्चे भगवद्भक्तमें छल या दम्भ नहीं हो सकते; यदि हैं तो वह सच्चा भक्त नहीं—यही समझना चाहिये।

'मनीषी लोग जिनके चरणकमलोंके चिन्तनरूप समाधिसे शुद्ध हुई बुद्धिके द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं और साक्षात्कारके अनन्तर अपनी-अपनी (मति तथा) रुचिके अनुसार जिनका वर्णन करते हैं, ऐसे वे 'भगवान्' मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों।'

यहाँ मनीषिगण भले ही यथारुचि उस तत्त्वको अन्य कुछ कहें, किंतु भागवतवक्ता श्रीशुकदेवजी उस परमतत्त्वको 'भगवान्' ही स्वीकारते हैं।

यह बात श्रीमद्भागवतके अपने अभिधानसे भी स्पष्ट हो जाती है। भागवतका तात्पर्य ही होता है, जो भगवान्‌का हो—**'भगवत इदम्–इति भागवतम्।'** इसके अतिरिक्त आरम्भमें सूतके प्रति शौनकादि ऋषियोंकी जो जिज्ञासा वर्णित हुई है, उसमें भी सर्व-प्रथम 'भगवान्' इस विशेषणका ही प्रयोग अधिकतासे दिखलायी पड़ता है।[7] अतएव भागवतके 'भगवान्'की व्याख्या केवल **'षडैश्वर्यविभूतिसम्पन्नता'** तक ही सीमित नहीं है।

विष्णुपुराण-(६ । ५ । ७४)में 'भग' शब्दको इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है—'सम्पूर्ण ईश्वरता, सम्पूर्ण धर्म, कीर्ति, लक्ष्मी एवं समग्र ज्ञान तथा अखण्ड वैराग्य—इन छः तत्त्वोंके निचयकी 'भग' ऐसी संज्ञा मानी जाती है।' यह 'भग' जिसमें पूर्णतया सुसंगत होता हो—वर्तमान हो, वही प्रामुख्येन 'भगवान्' कहा जाता है।

भागवतके श्रीकृष्ण इन षडैश्वर्योंसे सम्पन्न तो हैं ही, किंतु इन सबसे परे अत्यन्त अतीत, निष्कल परब्रह्म भी हैं, जिनकी अधिष्ठान-सत्तामें ही यह सारा जगत् भ्रमरूपमें टिका हुआ है। देखिये, पृथ्वीकृत श्रीकृष्णकी यह स्तुति कि 'हे भगवन्! ये (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इत्यादि) पञ्चभूत, (गन्ध, रस, तेज, स्पर्श, शब्द आदि) पञ्चतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ देवता, अहंकार और महत्तत्त्व, किंबहुना सारा चराचर प्रपञ्च आपके ही अद्वितीय स्वरूपमें भ्रम-(माया-)के कारण प्रतीत होता है। (तत्त्वस्वरूपसे तो केवल आप ही हैं[8])।

श्रीमद्भागवत-(प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय-)में सर्वप्रथम तात्त्विक भगवच्चर्चा सूतके इस कथनसे आरम्भ होती है कि सत्त्व, रज, तम इन प्रकृतिके गुणोंको स्वीकार कर परमपुरुष (परमात्मा) ही ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका-मूर्तित्रयीको जगत्‌की सृष्टि-स्थिति एवं संहार-हेतु धारण करता है[9]; उनमें भी भजनीयकी दृष्टिसे सत्त्वमूर्ति श्रीविष्णु ही श्रेष्ठ हैं। अतः मुमुक्षुजन भैरवादि उग्र भगवन्मूर्तियोंको छोड़कर शान्त नारायण-कलाओंका ही आश्रय ग्रहण करते हैं। यहींपर श्रीकृष्णको वासुदेव संज्ञाद्वारा सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप तथा सद्गतियोंका चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। वासुदेव शब्दका अर्थ टीकाकारोंने अन्तर्यामी या सर्वाधार किया है; यथा—

'वसति भूतेषु, अन्तर्यामितया इति वासुः, दीव्यति, द्योतते न क्वापि सज्जते इति देवः।'... सर्वत्रनियामकतया तिष्ठन्नपि न क्वापि सक्त इत्यर्थः। यद्वा, वसन्ति यत्र भूतानि, इति वासुः, स च देवः सर्वाधिष्ठानमपि नोपाधिभूतः।'

७-(क)-'सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः।' (१ । १ । १२)

(ख)-को वा भगवतस्तस्य' (१ । १ । १६)

(ग)-कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः। अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः॥ (१ । १ । २०)

८-(भा० १० । ५९ । ३०) ९-(भा० १ । २ । २३)

१०-द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवतके १ । १ । २८ की श्रीधरी टीकापर 'दीपनी' व्याख्या।

अर्थात्—'जो प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे निवास करता है, उसे 'वासु' कहते हैं। वह प्रकाशित होता है, प्रतीत होता है, किंतु कहीं लिप्त नहीं होता, अतएव वह देव कहा जाता है।'.....'नियामक रूपसे सब स्थानोंमें रहते हुए भी जो कहीं सक्त नहीं होता (निर्लेप रहता है), वही (अन्तर्यामी-सूत्रात्मा निर्गुणनिर्लेप शुद्धब्रह्म) वासुदेव कहा जाता है।' अथवा 'जिस (आधाररूप)-में सम्पूर्ण भूत टिके रहते हैं, जो देव सबका अधिष्ठान—आश्रय होनेपर भी उपाधिरहित है, वही वासुदेव है।'

(क्रमशः)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्तत्त्व-निरूपण

(लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

गीताके तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागका प्रकरण है। पाश्चात्त्य दार्शनिकोंका पुरुष-प्रकृति (Man and nature) तत्त्व भी प्रायः ऐसा ही है। ज्ञानतत्त्वके ज्ञाता-ज्ञेय ही (Subject-Object) पुरुष-प्रकृतिके मौलिक स्वरूप हैं। संसारकी सभी वस्तुओंको ज्ञाता और ज्ञेय इन दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। ज्ञाता या चेतनाविशिष्ट जीवात्मा-का ही दूसरा नाम पुरुष है। सांख्य-दर्शनने प्रकृतिको चौबीस तत्त्वोंमें विभाजित करके उनके साथ पुरुषको मिलाकर कुल पचीस तत्त्वोंकी आलोचना की है। गीताने भी तेरहवें अध्यायमें इसी मार्गका अनुसरण किया है। किंतु सातवें अध्यायमें तत्त्वोंकी कुल संख्या आठ ही रखी है, मानो ये—'क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि और अहंकार—शिवकी अष्टमूर्तियाँ हैं।

परा और अपरा प्रकृतिको गौड़ीय वैष्णवाचार्योंने तटस्था और बहिरङ्गा शक्ति कहा है। इनके सिवा उनके द्वारा एक और महत्तर शक्ति चर्चित हुई है, जिसका नाम है—अन्तरङ्गा शक्ति। यह भगवान्‌की लीलाओंमें विशेष सहायिका है। तटस्थाशक्ति, जीवशक्ति या पराप्रकृति है। इस शक्तिद्वारा वह अनन्त विश्वको धारण किये हुए है—**'ययेदं धार्यते जगत्'**। आधार जिस प्रकार आधेयको धारण करता है, उसी प्रकार जीवशक्ति दृश्यप्रपञ्चको धारण करती है। पुरुषोत्तम जीवशक्तिको धारण किये रहते हैं और जीवशक्ति जगत्‌को धारण करती है, जैसे—शिवके अङ्कमें शिवानी और शिवानीके अङ्कमें सिद्धिदाता गणपति। जीवशक्ति केवल ज्ञाता ही नहीं, भोक्ता भी है। बहिरङ्गा शक्ति भी केवल ज्ञेय ही नहीं, भोग्य भी है। भोक्ताके लिये ही भोग्यकी सत्ता है। भोक्ताके कर्मानुयायी ही भोग्य प्रकृतिका परिणाम होता है। जीवके कर्म ही प्रकृतिके परिणामके नियामक हैं।

भोक्ता-भोग्य दोनों तथा इन दोनोंके भोग भी पुनरपि परमेश्वरकी भोग्य वस्तु हैं। सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे ही निखिल विश्वका उद्भव और उसीमें लय भी होता है। उसीमें जगत् प्रतिष्ठित है। पुरुषोत्तमसे श्रेष्ठ वस्तु दूसरी कुछ नहीं—**'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'**—(गीता ७।७)।

आचार्य रामानुजने जीव और प्रकृतिको परब्रह्मके दो विशेषण कहे हैं; मानो परब्रह्म विशेष्य हो और ये दोनों उसके विशेषण। विशेष्य-विशेषणकी समानाधिकरणता रहती है। जैसे नीलपद्मका नीलत्व पद्मको व्याप्त किये हुए है, उसी प्रकार जीव और प्रकृतिको ईश्वरसे पृथक् नहीं किया जा सकता। आचार्य शंकरके मतमें ब्रह्म निर्विशेष है। जीव और प्रकृतिकी सत्ता मायिक है, पारमार्थिक नहीं। श्रीरामानुजाचार्यके मतमें ब्रह्म सविशेष है। जीवशक्ति

एवं प्रकृति उसकी विशेषता-प्रतिपादक हैं। दार्शनिक स्पिनोजा (Spinoja) ने मानव-चैतन्य और प्रकृतिको परमेश्वरके दो प्रकार (Mode) कहा है। अपरा प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुणमयी है। यह जड़ या अचेतन है और देहादिरूपमें परिणत होकर जीवचैतन्यके कर्मभोगका क्षेत्र बनती है। परा-चैतन्यस्वरूपा प्रकृति है। पुरुषोत्तम भी चैतन्यस्वरूप हैं। दोनोंमें पार्थक्य यह है कि पुरुषोत्तम हैं—विभु चैतन्य और जीव है—अणु चैतन्य। पुरुषोत्तम हैं—प्रकृतिसे अतीत विराट् चैतन्य, जीव है—प्रकृति-जड़ित खण्ड चैतन्य। अखण्ड चैतन्य है—एक तथा अद्वितीय, खण्ड चैतन्य है—संख्यातीत—**'संख्यातीतो हि चित्कणः'**।

अद्वैतवेदान्तमतसे आवरण माया ब्रह्ममें ही रहती है। गीताके मतसे माया ईश्वरकी ही प्रकृति है। पूर्णको देखते ही वह लज्जासे मुँह ढककर छिप जाती है। अखण्ड ईश्वरतत्त्वके पास माया नहीं फटकने पाती। इस प्रकार माया या त्रिगुणात्मक प्रकृति दोनों एक हैं—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** भिन्न क्रियाकारित्वसे हेतु-जैसे एक ही जल स्नानीय और पानीय बनता है, वैसे ही इनकी क्रियाएँ भिन्न हैं। अपरा प्रकृति विश्वका मूल उपादान कारण है। परंतु माया अपने त्रिगुणोंद्वारा उसको सीमाबद्ध करके उसके असली स्वरूपका आवरण करती है। जीव अपूर्ण है, जीवकी सत्ता खण्ड सत्ता है—**'ममैवांशो जीवलोके'**—इस अपूर्ण अंश-सत्तापर माया अपना अधिकार जमाती है। अणु चैतन्य जीवको माया विभ्रान्त करती है। जीवके लिये इस 'दुरत्यया' मायाके चंगुलसे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। इसका उपाय श्रीभगवान्‌की अनन्य शरणागति है। बता दिया है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते'**। (गीता ७।१४)

माया ही जीवको ढकती है, यह महामाया श्रीहरिकी ही शक्ति है—**'महामाया हरेश्चैषा'**। जब यह सृष्टिलीलाका कार्य करती है तो इसका नाम रहता है—'योगमाया'। पर कृष्ण-विमुखोंको जो मुग्धकर दुःख देती है, वह है—'माया'। जो कृष्ण-उन्मुख हैं, उन्हें कृष्णके प्रति लुब्ध करके जब सुख पहुँचाती है, वह है 'योगमाया'। गीताके चतुर्थ अध्यायमें अवतार-प्रसङ्गमें जिस 'आत्ममाया' (४। ६) शब्दका प्रयोग किया गया है, वहाँ भी वह इसी योगमायाको लक्ष्य करके ही किया गया है। भगवान् स्वयं अज, अव्ययात्मा और समस्त भूतप्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी इसी योगमायाद्वारा अपनेको प्रकट करते हैं—**'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्'** (गीता ४। ६)। उनके जन्म और कर्म दूसरोंकी तरह प्राकृत नहीं होते, किंतु दिव्य, चिन्मय होते हैं—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'** (गीता ४। ९)। यह दिव्यत्व सर्वदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। जब यह तत्त्व अर्जुनको हृदयंगम हुआ है तो वे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
(गीता १०। १२, १५)

इस ज्ञानोपलब्धिके बाद अर्जुन भगवान्‌को अनन्त विभूतियोंका वर्णन सुनानेके लिये निवेदन करते हैं। विभूतियोंका वर्णन करके भगवान् इस विषयका उपसंहार इस प्रकार करते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०। ४२)

एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने अपने इसी विश्व-रूपका अर्जुनको दर्शन कराया है और दर्शनके मात्र उपायके रूपमें **'भक्त्या त्वनन्यया'** विधिका निरूपण कर दिया है (गीता ११। ५४)। जिस प्रकार एक साधारण छोटी शालग्रामशिलामें अखण्ड-मण्डलाकार

परब्रह्मके समस्त देव-देवियाँ विराजमान रहती हैं, उसी प्रकार पञ्चदश अध्यायमें अखण्ड गीता अपनी सभी मुख्य तत्त्वचिन्तनके सहित प्रकाशित है। ईश्वर अंशी है, जीव उसका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५ । ७)।

अंशी और अंशके बीचमें कुछ सादृश्य रहेगा और कुछ वैसादृश्य भी रहेगा । एक है समुद्र या अग्निराशि । दूसरा है—एक बिन्दु जल या विस्फुलिङ्ग । अग्नि-जलत्वरूपसे दोनों एक हैं । पर अग्नि-जलमें उनके उपादानोंका जो अनुपात है, यह वैसादृश्य है । इसी प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, अंश जीव भी सच्चिदानन्दस्वरूप है, यह सादृश्य हुआ। ईश्वर है भूमा—विराट्, जीव है—लघु । ज्योतिपुञ्ज सूर्य अंशी है, प्रकाशकी एक किरण उसका अंश है। दोनों ही प्रकाश हैं, यह है—सादृश्य। एकका विराट् स्वरूप है, दूसरेका क्षुद्र स्वरूप है, यह है—वैसादृश्य । ईश्वर सनातन है, चिरकाल वर्तमान है। जीव भी सनातन है, चिरकाल विराजित है, यह हुआ सादृश्य। किंतु ईश्वर चिद्घन हैं, जीव चित्कण है, यह हुआ वैसादृश्य। सूर्य सूर्यलोकमें विराजमान हैं, उनकी किरण छिटककर आ गयी है पृथ्वीपर। पुरुषोत्तम विराजमान हैं आनन्दमय नित्यलोकमें, जीव जरा-मृत्युमय जीवलोकमें भटक रहा है, यह हुआ वैसादृश्य । उपनिषदोंमें आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

इनमें सूर्य, चन्द्र, अग्निका जो तेज समग्र विश्वको प्रकाशित करता है, वह पुरुषोत्तमका ही तेज है। वे ही निजशक्तिसे जगत्स्थ समस्त जीवोंको धारण करते हैं। रसात्मक सोमरूपसे वे समस्त ओषधियोंको परिपुष्ट करते हैं। इन ओषधियोंको ही आहाररूपसे ग्रहण करके जीवगण जीवन-धारण करते हैं। प्राणियोंकी देहमें वैश्वानर जठराग्निरूपसे निवास करके वे ही समस्त आहार्य वस्तुओंका परिपाक करते हैं। वे ही सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे संनिविष्ट हैं। जीवको जो आत्मज्ञान, स्मृति-विस्मृति होती है, वह उनके ही कारण होता है। अष्टम अध्यायमें कहा है, **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'**—(८ । ३)। एकादश अध्यायमें कहा है, **'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'**—(११ । १८) एवं **'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'**—(११ । ३७) बारहवें अध्यायमें भी कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
(१२ । ३)

इनमें व्याख्यातागण रूपभेद भी मानते हैं। अक्षर पुरुष अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य है। सारे वेद इन अक्षर ब्रह्मस्वरूपका ही कीर्तन करते हैं **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'**—(१५ । १५) **'वेदविदेव चाहम्'**—(१५ । १५) समस्त ब्रह्माण्डमें दो प्रकारकी वस्तुएँ हैं—एक परिवर्तनशील, दूसरी परिवर्तनहीन। जो परिवर्तनशील है, वह परिणामी अनित्य है। जो परिवर्तनहीन है, वह अपरिणामी नित्य है। परिणामी जगत्के मूलमें जो है, वही क्षर पुरुष है—**'अधिभूतं क्षरो भावः'**—(९ । ४) अपरिणामी नित्य वस्तुके जो कारणस्वरूप हैं, वही अक्षर पुरुष हैं। दोनोंको ही पुरुष कहा गया है। पुरुषका अर्थ होता है—जो पुरीमें सोये हुए हैं (Underlying reality)।

इन दोनोंका वर्णन श्रुति इस प्रकार करती है—**'ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशावनीशौ'** (श्वेताश्वतर०)। पुरुष दो हैं— ज्ञ और अज्ञ । एक ईश है, दूसरा अनीश । अज्ञ और अनीश-तत्त्व ही क्षरपुरुष है। ज्ञ और ईश-तत्त्व अक्षरपुरुष है । जड-जगत्के माध्यमसे ईश्वरका जो कार्य है, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पृथ्वी, ओषधि, जठराग्निमें जो क्रियाशक्ति है, वह क्षरपुरुषका कार्य है। क्षरपुरुष साकार है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमय है। अक्षरपुरुष निराकार, अशब्द, अस्पर्श,

अरूप, अव्यय हैं। अक्षरपुरुष चैतन्यमय हैं, वह जीवात्माके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं। ज्ञान और अज्ञानकी जो भी क्रिया होती है, सबका कारण वही हैं। जिस महाचेतनाद्वारा विश्व चैतन्य-विभूत है, जो अपौरुषेय ज्ञानभण्डार वेदके लक्ष्य हैं, जो वेदोंके वेत्ता हैं, रहस्यविद्याके जो मूल हैं, वही अक्षरपुरुष हैं। इसीलिये संक्षेपमें कहा है—

'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥'
(१५। १६)

सर्वभूतोंके अन्तर्में जो ईश्वरसत्ता है, वह क्षर है। विश्व-चैतन्यके मूलमें जो निर्विकार सत्ता है, वह अक्षर है। क्षरपुरुष गुणमय हैं, गुणमय जगत् ही उसकी क्रीडास्थली है। अक्षरपुरुष गुणातीत है, वह समस्त सत्ताके मूलमें पटभूमिका-रूपसे विराजमान है। इस चित्रके अङ्कनमें दो वस्तुएँ प्रयोजनीय हैं। एक निर्मल बेदाग पर्दा, दूसरा उसके ऊपर भरे जानेवाले विचित्र रंग। इस विश्वचित्रकी रचनामें निरुपाधि निर्गुण अक्षरब्रह्म है—पर्दा-स्थानीय। गुणमय क्षरपुरुष है, पर्देपर चित्रित किये जानेवाले नाना विचित्र रंग। इस दृष्टिभङ्गीके अनुसार ही गीताके वक्ताने कहा है—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।'** (१५। १६) श्रीरामकृष्ण परमहंसकी भाषामें अक्षर है—शहनाईका एक पौं-शब्द और क्षर है—शहनाईके संगीतकी स्वरलहरी। तदनन्तर पुरुषोत्तम तत्त्वका वर्णन है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५। १७-१८)

पुरुषोत्तम-तत्त्व क्षर और अक्षरसे भिन्न है। वह क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम है। प्रभु जगद्बन्धुकी भाषामें—'मायिक सृष्टिके साथ कृष्णका लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं। वह एकमात्र ईश्वर है, स्वतन्त्र ईश्वर है।' यह स्वतन्त्र ईश्वर ही पुरुषोत्तम हैं। उपनिषदोंमें इन्हें **'पुरुषविधः'** कहा है। ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तमें इसे **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** चौदहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कहा गया है—'मैं धर्मस्वरूप ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।' घनीभूत ब्रह्मस्वरूप हूँ मैं। ब्रह्म धर्म है, मैं धर्मी हूँ। ब्रह्मसंहिता कहती है—ब्रह्म गोविन्दकी अङ्गप्रभा है—

यस्य प्रभाप्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(५। ४६)

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें अगणित वसुधादि विभूति-भेदवश जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वह निष्कल, अनन्त, अशेषभूत ब्रह्म जिनकी अङ्गप्रभा हैं, उन आदि-पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ। 'श्रीचैतन्य चरितामृत'की भाषामें—

ताहार अङ्गेर शुद्ध किरण मण्डल।
उपनिषद कोहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल॥

क्षर साकार हैं, अक्षर निराकार हैं, पुरुषोत्तम चिदाकार व आनन्दविग्रह हैं। क्षर जड़-विकारी है, अक्षर निर्विकार है, पुरुषोत्तम चिद्घन-विकारी हैं। क्षर और अक्षर उनकी दो चिद्विभूति हैं। श्रीमद्भागवतमें तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें ही कह दिया है—

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।'
(१०। १४। ५५)

'हे परीक्षित! श्रीकृष्णको तुम समस्त जीवात्माओंकी परम आत्मा ही जानो।' रात्रिको उज्ज्वल करता है चन्द्रमा, चन्द्रमाको प्रकाशित करता है—सूर्य। क्षरको प्रकाशित करता है—अक्षर; अक्षरका प्रकाशक है—पुरुषोत्तम। समुद्रका ऊपरी भाग तरङ्गमय है, इसको धारण कर रखा है निस्तरङ्ग जलराशिने। इन दोनोंको ही धारण कर रखा है जलधिने। क्षरको धारण करते हैं अक्षर। अक्षरको धारण करते हैं उसकी प्रतिष्ठास्वरूप पुरुषोत्तम।

वे ही वैश्वानर-रूपमें भोजनको पचाते हैं। कविराज कृष्णदास गोस्वामीकी भाषामें—

डुभृ धातुर अर्थ धारण पोषण।
पोषिलो पोषिलो प्रेम दिया त्रिभुवन॥
(चै० च०)

'कृष्ण नव जलधर जगत शस्य ऊपर वरिषये लीलामृत धारा।'

पुरुषोत्तम निज प्रियजनोंके साथ निरन्तर प्रेमरसके आदान-प्रदानकी क्रीड़ा करते रहते हैं। जीवात्मा उस लीलाका सतत श्रवण, कीर्तन, स्मरण करते हुए— **'सततं कीर्तयन्तो माम्—**(गीता ९। १४)' उसके माधुर्यरसका आस्वादन करता है। श्रीशुकदेवजी श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—**'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'** (१०। ३३। ३७) उन लीलाओंका श्रवण करके जीव भगवत्परायण हो जाता है।

श्रुतिमें चैतन्यकी तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं— वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। परम चैतन्यस्वरूपकी भी उसी प्रकार तीन अवस्थाएँ हैं। वैश्वानरका समपर्यायी क्षररूप है, तैजसका समतत्त्व अक्षररूप है और प्राज्ञ भूमिका साम्य पुरुषोत्तम स्वरूपसे है। इन सबसे भिन्न चैतन्यकी एक और उच्चावस्था भी है। श्रुतिने उसे 'तुरीय' नाम दिया है। पुरुषोत्तमकी भी दो अवस्था है— एक है क्षर-अक्षरात्मक सृष्टिलीलामें आत्मसमाहित अवस्था दूसरी है स्वमाधुर्य आस्वादनकी विचित्रतामें क्रीडारत अवस्था। इस स्वरूपमें वह नित्य-लीलामय हैं। इस लीलामयत्वके अनुरूप भूमि है तुरीय चैतन्य। कविराज गोस्वामीकी भाषामें—

'तुरीय कृष्णेते नाई मायार सम्बन्ध।'

वेदोंका चरम दर्शन परब्रह्मकी आनन्दमयतातक ही सीमित नहीं है। **'रसो वै सः'**। वे उसे रसस्वरूप बतलाते हैं। जो पुरुषोत्तम-तत्त्वको जानता है, वह उनका सर्वभावेन भजन करता है। **'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।'** (गीता १५। १९)

सर्वभावेन भजनके दो भेद हैं। इसके भी आत्म-निवेदन और सम्बन्धस्थापन दो भेद हैं। आत्मनिवेदन अंश एक प्रकारसे निष्क्रिय किंतु सम्बन्धस्थापन-अंश सक्रिय है। किसी एक विशेष सम्बन्धके माध्यमसे अपनेको पुरुषोत्तमके हवाले करनेको ही सम्बन्धस्थापन कहते हैं। अपनेको उन्मीलन करके अपनेमें पुरुषोत्तमको प्रवेश करने देना यानी पुरुषोत्तमका निजजन बन जाना। पहले पुरुषोत्तममें मेरा प्रवेश, उसके बाद मेरेमें उनका प्रवेश।

इस प्रकार जो सर्वभावेन भजन करते हैं, वे **'सर्वविद्'** हो जाते हैं। यहीं प्रेम प्रकट होता है। प्रेमकी गति है नीरव-निःशब्द। ज्ञानमें प्रवीण होकर भी प्रेमी भक्त शिशुकी तरह होता है। प्राज्ञ-अज्ञ-मधुमङ्गलके माधुर्यका क्या कहना। ज्ञानमूर्ति अद्वैतका बालचापल्य कितना मधुर था। ज्ञानघनमूर्ति श्रीगौराङ्ग सुन्दरकी बालसक्ति कितनी मधुर है—

'गुरु मोरे मूर्ख देखि कोरिला शासन।'

ऐसा होता है सर्वविद्का अज्ञभाव। परमेश्वरका— श्रीहरिका मानव-शिशुभाव—गूढ़-कपट लीलाका यही माधुर्य है। पुरुषोत्तमके माधुर्यके जो आस्वादक हैं, वे भी सहज सरल शिशु ही हैं। प्रेमभक्ति यानी पराभक्तिके प्राचुर्यसे सर्वज्ञ भी सर्वविद् हो जाते हैं, रसज्ञ भी रस-आस्वादक हो जाते हैं, आराध्य भी आराधक बन जाते हैं। आराधनासे होती है मधुवृष्टि, समस्त विश्वमें होती है मधुतरंगोंकी सृष्टि। माधुर्य भगवत्ताका सार पदार्थ है। माधुर्य भागवतका सार है, भक्तासार है और भक्तिका सार है। भजनसे विश्व मधुमय हो जाता है। सर्वभावेन भजनद्वारा मिलन अनुभवके विषयमें वैदिक ऋषि उदात्त स्वरमें गाते हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः, मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पति-र्मधुमानस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥
(वाजसनः १३)

(प्रेषक तथा अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

श्रीवैखानस भगवच्छास्त्रमें निरूपित भगवत्तत्त्वका स्वरूप-विवेचन

(लेखक—श्रीचल्लपल्लि भास्कर रामकृष्णमाचार्युलु, एम्० ए०, बी० एड्०)

श्रीवैखानस भगवच्छास्त्र श्रीभगवान् विष्णुके वैदिक आराधना-विधि-निरूपक (आद्य) शास्त्र है। इस शास्त्रका उल्लेख वेदोंसे लेकर काव्योंतक पाया जाता है। इसके अनुसार संक्षेपमें 'भगवत्तत्त्व'का निरूपण किया जाता है।

'भगवत्तत्त्व' शब्द विवरण—'भग-वत्-तत्त्व' शब्द सम्मिलित होकर 'भगवत्तत्त्व' शब्द बना है। इसके 'भग' शब्दका विवरण शास्त्रोंमें अत्यन्त विस्ताररूपसे पाया जाता है। 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यादि; जैसे—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसःश्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य—इन छः गुणोंका समाहार 'भग' कहलाता है। और, 'भगवान्' शब्दका निरूपण इस प्रकार पाया जाता है।

विष्णोरकुण्ठवीर्यस्य नानाव्यूहैकहेतुकम्।
तत् षड्गुणसम्पूर्णं लक्ष्मीलक्षणसंयुतम्॥
सत्यं ज्ञानमनन्ताख्यं भगवच्छब्दशब्दितम्।

(तर्ककाण्ड—मोक्षोपायप्रदीपिकाके उद्धरणसे)

अकुण्ठ वीर्यसहित, विविध व्यूहोंके हेतु, षड्गुणोंसे परिपूर्ण, लक्ष्मी-लक्षणसहित, सत्य-ज्ञान-अनन्त कहलाने-वाले विष्णु ही 'भगवत्' शब्दसे शब्दित (अथवा कथित) हैं।

'तत्त्व' शब्दका निरूपण—उस-(परमात्मा-)का भाव ही तत्त्व है; अर्थात् उस परब्रह्म, नारायणका (स्व)भाव ही तत्त्व है।

'तस्य भावस्तत्त्वमिति—' 'तस्य परब्रह्मणः परमात्मनः, नारायणस्य भावः' (विमानार्चनकल्प, पटल १०)।

'तत्त्व'के दो प्रकार—उस परमात्माका स्वभाव—(१) सकल, (२) निष्कल—नामक दो प्रकारका होता है—

'तद्ब्रह्मणो निष्कलस्सकलश्च स्वभावः।'

(वही, पटल १०)

निष्कल—परमात्माके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसे क्षीर-(दूध-)में सर्पि (घी), तिलोंमें तेल, पुष्पोंमें सुगन्ध, फलोंमें रस तथा काष्ठोंमें अग्नि, सूक्ष्म रूपसे परिव्याप्त (पूर्णतया व्याप्त) होते हैं वैसे ही विश्वमें व्याप्त परमात्मा निष्कल कहलाता है।[1]

सकल—जैसे काष्ठों-(लकड़ियों-)में अंतर्निहित अग्नि मथनसे प्रकट होकर प्रज्वलित होती है, उसी तरह निष्कलात्मा विष्णु ध्यान-मथनसे, भक्तिसे, संकल्प करनेसे सकल होते हैं। जैसे अग्निसे विस्फुलिङ्ग प्रकट होते हैं, कुम्भारके चक्रके ऊपर स्थित मिट्टीसे घट-शराव आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार भगवान् विष्णु ध्यानके अनुसार प्रकट होते हैं। उन्हींसे विविध देवता भी प्रकट होते हैं।[2]

भगवान्का स्वरूप तथा तत्त्व अभिन्न होनेपर भी ग्रहण-सौलभ्यके लिये अलग-अलग रूपसे विवेचित हैं। भगवान्का स्वरूप-चिन्तन भी भगवत्तत्त्व-चिन्तनके लिये उपयुक्त होता है। अतः भगवत्स्वरूप विवरण दिया जाता है।

१—निष्कलः—परमात्मनोऽन्यन्नकिंचिदस्तीति । क्षीरे सर्पिस्तिले तैलं पुष्पे गन्धः फले रसः काष्ठेऽग्निरिवान्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याऽऽकाशोपमः 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः'—इति । आकाशः शरीरं ब्रह्मेत्यशरीरशरीरेषु व्याप्य तिष्ठति ।' (वही पटल वही)

२—अथ सकलः—काष्ठेऽग्निर्मथनादुज्ज्वलन्निव निष्कलात्मको विष्णुर्ध्यानमथनेन भक्त्या संकल्पनात्सकलो भवति । तस्मादग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव ब्रह्मेशानादि देवतारूपैर्भिन्नत्वात्कुलालचक्रस्थ मृदो घटशरावादि भेदा इव यद्रूपं मनसा भावितं तद्रूपो भूत्वा विष्णुः प्रकाशते । (वही पटल वही)

भगवान्का स्वरूप—'तत्र परमात्मैव पञ्चधा भवति । स एव एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मेति श्रुतिः।' (वही १ पटल ९१)

वहाँ परमात्मा पाँच प्रकारसे होते हैं। उनके भेद इस प्रकार कहे गये हैं—(१), पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अन्तर्यामी तथा (५) अर्चावतार।

अथतो देवस्य परस्य परमात्मनः।
स्वरूपं पञ्चधा प्रोक्तं..............॥
परो व्यूहश्च विभवश्चान्तर्यामी तथैव च।
अर्चा चेति हरे रूपं पञ्चधाऽऽविष्कृतं विभो ॥

(आनन्दसंहिता अ० ४, श्लोक ५-६)

(१) 'पर'का स्वरूप—भगवान्के 'पर' स्वरूपका प्रयोजन केवल समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करनामात्र है। वे अनुपम, अनिर्देश्य, दस हजार पूर्ण चन्द्रोंके समान कान्तिवाले, विश्वका आप्यायन करनेवाले, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि दिव्यायुधोंसे युक्त, श्री आदि अनपायी-(अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि-)से सेवित स्वरूप हैं।[3]

(२) 'व्यूह'का स्वरूप—भगवान्के 'व्यूह'का प्रयोजन 'देहचलन' तथा 'मन'का अधिष्ठान रहना है; अर्थात् सभी जीवोंके शरीरोंका चैतन्य तथा मनका आधार या अधिष्ठान बना रहता है।

व्यूहस्तु देहचलनं हेतूनां मुनिपुंगवाः।
चतुर्णां मानसादीनां अधिदैवतमेव हि ॥८॥

(आनन्दसंहिता, अ० ४)

इस व्यूहका स्वरूप (१) दैविक (वैखानस), (२) मानुष (पाञ्चरात्र) भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। पहला दैविक (वैखानस) व्यूह पुनः पाँच प्रकारका होता है।

पञ्च धातुः पुनर्व्यूहः प्रोच्यते श्रुतिसम्मतः।
देवो विष्ण्वादिभेदेन पञ्चधा व्यवतिष्ठते ॥

(प्रकीर्णाधिकार अ० ३३, श्लोक १३)

उपर्युक्त पाँच प्रकारकी मूर्तियोंके आदिमूर्ति 'विष्णु' हैं। उन-(विष्णु-)के भेद, चार प्रकारके पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध नामोंसे होते हैं।

आदिमूर्तिस्तु पञ्चानां विष्णुर्भेदाश्च तस्य तु।
चतस्रः पुरुषाद्यास्युर्मूर्तयो भिन्नलक्षणाः ॥

(वही अध्याय ३३, श्लोक १५)

(३) विभव—धर्म-संस्थापनके लिये गृहीत मत्स्य, कूर्म आदि अवतार विभव कहे जाते हैं। इनमें भगवान्के विविध अवतार, अंशावतार, पूर्णावतार, आवेशावतार आदि सम्मिलित होते हैं।

विभवा मत्स्यकूर्माद्या हयग्रीवादयो मताः।

(प्रकीर्ण० अ० ३३ । २२)

(४) अन्तर्यामी—जगत्के समस्त चराचर जीवोंमें सूक्ष्म रूपमें व्याप्त होकर रहनेवाला अन्तर्यामी कहलाता है।[4]

उस शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है—(तैत्तिरीय आरण्यक) इस श्रुतिके अनुसार हृदयकमलके बीचमें श्री, भूमि तथा पार्षदोंसहित रहनेवाले समस्त कारणोंके कारण विष्णुजी अन्तर्यामी कहलाते हैं।

३-..................................परस्यादखिलाण्डानां सृष्टिमात्रप्रयोजकः ॥ ६ ॥
अनौपममनिर्देश्यं पुनस्संभजते परम् । विश्वाप्यायनकं कान्त्या पूर्णेन्द्वयुत तुल्यया ॥ ५ ॥
शङ्खचक्रगदापद्मदिव्यायुधपरिष्कृतः ....। सहस्रादित्यसंकाशः परमे व्योम्नि संस्थितः ॥ ९ ॥
श्रियानित्यानपायिन्या सेव्यमानो जगत्पतिः ॥११॥ (आनन्दसंहिता, अ० ४)

४-अन्तर्यामीति जगतामाधारार्थं स्थितो हरिः ॥ १ ॥
तस्याःशिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः । इत्युक्तश्श्रुत्याभिहितो ... हृदयाम्बुजमध्यमे ॥ २४ ॥
हृदि तिष्ठति सर्वात्मा श्रीभूमिभ्यां च पार्षदैः ॥२९॥ अन्तर्यामीति विज्ञेयस्सर्वकारणकारणः ॥ ३० ॥
(आनन्दसंहिता, अ० ४)

(५) अर्चावतार—समस्त जीवोंको सुलभसे मोक्ष प्रदान करनेके लिये भगवान् श्रीहरिने 'अर्चा' रूपसे अवतार लिया—'**अर्चारूपस्तु सुलभाद्ददाति परमं पदम्** ।' (आनन्दसंहिता, अ० ४ । १३)

अर्चा रूपका अर्थ है 'आराधनाके लिये उपयुज्यमान भगवान्का श्रीविग्रह ।' इनका सविशेष विवरण ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत 'अर्थपञ्चक-विवरण' खण्डमें भी पाया जाता है ।

यह अर्चावतार (श्रीविग्रह) १–ध्रुव, २–कौतुक, ३–उत्सव ४–स्नपन तथा ५–बलिनामोंसे पाँच प्रकारका होता है । ये श्रीविग्रह मन्दिरके हर एक प्रधान देवताके लिये भी प्रतिष्ठाप्य तथा अर्च्य हैं ।

१–'ध्रुव'-भेर आलयोंमें प्रधानतया शिलासे, कभी-कभी लौह या दारु-(लकड़ी-)से भी बनाया जाता है । यह सदा स्थिर रहता है । २–'कौतुक'में 'ध्रुव'से परमात्माके कलाओंका आवाहन करके अर्चना की जाती है । ३–'उत्सव'-विग्रह रथ, वाहन आदिके ऊपर बिठाया जाकर 'उत्सव' करनेके लिये उपयोगमें लानेवाले हैं । ४–'स्नपन'-विग्रह नित्य तथा नैमित्तिक स्नान करानेके लिये तथा ५–'बलि'-विग्रह आलय तथा ग्रामोंमें बलि प्रदान करनेके लिये उपयोगमें लाये जाते हैं ।

अबतक परमात्माके स्वभाव तथा स्वरूपका विवरण दिया गया । भगवत्तत्त्वके ज्ञानका लक्ष्य 'परमपदप्राप्ति' ही होनेके कारण तथा परमपदमें प्राप्य परमात्माका विवरण भी ज्ञेय होनेके कारण 'परमपद'का विवेचन किया जाता है ।

परमपदके भेद—'पञ्चधा पञ्चात्मा' श्रुतिके अनुसार परमात्मा पाँच रूपोंमें पाँच प्रकारसे विराजते हैं । १–आदिमूर्ति विष्णु सर्वव्यापी हैं । उनके चार भेद (अ) विष्णु, (आ) महाविष्णु, (इ) सदाविष्णु और (ई) व्यापिनारायण रूपसे होते हैं । उन रूपोंसे क्रमशः १–आमोद, २–प्रमोद, ३–सम्मोद तथा ४–वैकुण्ठ नामके चारों लोकोंमें विराजमान होकर पाद (पौवा या ¼), अर्ध (आधा ½), त्रिपाद, (¾), केवल (१ या पूर्ण) विभूतिसहित धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा वैराग्य गुणोंसे युक्त होकर, जीवको उसके पुण्यविशेषके अनुसार (१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सारूप्य और (४) सायुज्य नामक चार प्रकारके मोक्ष प्रदान करते हैं । भगवत्तत्त्व अत्यन्त गहन तथा आर्षवाक्य गूढ है; अतः वास्तविक निरूपण दुरूह है । भगवत्तत्त्वकी दुरूहता उसका महत्त्व है, जो सृष्टिके प्रारम्भसे मानी जाती रही है । यहाँ जो विवेचन दिया गया है, वह वैखानस भगवच्छास्त्रके आधारपर दिशा-निर्देशमात्र है ।

मूर्त-अमूर्त ब्रह्म

द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च । क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते ॥
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत् । एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ॥
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥ (विष्णुपु० १ । २२ । ५५-५६)

'उस ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं, जो क्षर और अक्षररूपसे समस्त प्राणियोंमें स्थित हैं । अक्षर ही वह परब्रह्म है और क्षर सम्पूर्ण जगत् है । जिस प्रकार एकदेशीय अग्निका प्रकाश सर्वत्र फैला रहता है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्मकी ही शक्ति है ।'

वेद-पुराणादिमें श्रीभगवत्तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्रीरूपगोस्वामीके 'लघुभागवतामृत'के प्रथम प्रकरणका नाम 'भगवत्तत्त्व' है। इसमें उन्होंने 'शास्त्रयोनित्व' (वेदादि तथा उपनिषदों द्वारा सिद्ध—'**त्वां त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**') एवं सभी दर्शनोंके आधारपर और जगत्कर्तृत्व, भर्तृत्व, स्वामित्वसे एवं भजन करनेपर दिव्य चमत्कृत ढंगसे मशकादिको विरिञ्चि आदि पद देनेसे ईश्वरको प्रकट वस्तु सिद्ध किया है। निर्गुण रूपसे तो वे सदा सर्वत्र व्याप्त हैं—'**पावा परमतत्त्व जनु जोगी**', तथा—'**वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी**' आदिसे निर्दिष्ट वेदवेद्य श्रीपुरुषोत्तमतत्त्वके राम-कृष्णादि रूपमें अवतीर्ण होनेपर वेद भी रामायण-भागवतादिके रूपमें अवतरित हुए कहे गये हैं—'**वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।**' '**निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्**' (श्रीमद्भा० १।१।३) इत्यादि। भगवत्तत्त्वको सांख्य-योग, न्यायदर्शन एवं श्रीमद्भागवतादिमें केवल 'तत्त्व' अद्वयज्ञान, ब्रह्म या परमात्मादि नामोंसे भी व्यक्त किया गया है, *यथा*—'**अथ तत्त्वं व्याख्यास्यामः**,' **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।** (श्रीमद्भा० १।२।११) इत्यादि। वैसे '**भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते**' आदिमें भगवत्तत्त्व शब्द भगवान्के लिये भी प्रयुक्त है, पर इसमें तथा अन्य सभी ग्रन्थोंमें 'तत्त्व' मात्रसे भी 'भगवत्तत्त्व'को व्यक्त किया गया है; क्योंकि उपनिषद्, महावाक्यादि आदिके "**तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**' (छांदोग्य० ६।१६।३) आदिमें प्रयुक्त '**तद्**'* पद परमात्माका ही वाचक है। 'तत्त्वों' पर प्रवर्तित मुख्य ग्रन्थ वैसे सांख्य, न्याय एवं वेदान्त हैं। भागवतमें तो कपिल, माया-मत्स्यादिप्रोक्त सांख्यको 'तत्त्वों'का परम प्रामाणिक वेद—'तत्त्वाम्नाय' तक कहा गया है—'**तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यम्**' (श्रीमद्भा० ३।२५।३१) '**विहरंस्तत्त्वमब्रवीत्। पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्।**' (वही ८।२४।५४-५५)। पर 'सर्वदर्शनसंग्रह'में पाशुपत, माहेश्वर, लोकायतिक जैन-बौद्ध एवं अन्य दर्शनोंके अनुसार २, ३, ४, १०, २५, ३५, ३६ आदि तत्त्व (elements) भी निर्दिष्ट हैं। श्रीमद्भागवत ११।२२।४–४५ तकमें स्वयं श्रीभगवान्ने उद्धवसे ३, ९, ११, ४, ६, ७, २५, २६ आदि तत्त्वोंकी गणनाको, '**तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः**'से युक्तिसंगत ही बतलाया है।

भक्तिशास्त्रोंके अनुसार—'**वन्दे गुरूनीशभक्तानीशमीशावतारकान्। तत्प्रकाशांश्च तच्छक्तीः**' तथा—

कृष्ण, गुरु, भक्त, शक्ति, अवतार, प्रकाश।

कृष्ण एइ छै रूपे करेन विलास॥' (चैतन्यचरितामृत)

आदिसे कृष्णतत्त्व, गुरुतत्त्व, भक्तितत्त्व, शक्तितत्त्व, अवतारतत्त्व और प्रकाशतत्त्व—ये मुख्य छः तत्त्व मान्य हैं। फिर इनमेंसे भगवान्के ऐश्वर्यादि छः शक्तियोंका वर्णन, गुरुके शिक्षा, दीक्षादि-भेद तथा उसे भगवद्वतारादिके भी पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, आवेशावतार, पूर्णावतार, कलावतार आदि कई अवान्तर भेद विस्तारसे निरूपित हैं। पर वस्तुतः विश्वतत्त्व, शास्त्रतत्त्व या तत्त्वोंके एकमात्र तत्त्व भी श्रीभगवान् ही हैं, इसीलिये उन्हें 'शास्त्रयोनि' एवं 'औपनिषद पुरुष' भी कहा गया है। अतः इन शास्त्रोक्त साधनोंसे ही उनकी ही प्राप्ति

---

* भाषा-शास्त्रियोंके अनुसार 'तद्'का मूल भी 'त' है; यह तत्र, ततम्, आदि पदों एवं तस्मै, तस्यै, तस्य, तयोः, तेषु आदि इसके प्रायः सभी रूपोंसे स्पष्ट है। पञ्चदशी (५।८)के—'दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते। ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्।' इन वचनोंसे 'तद्' एवं 'जगत्' का भी 'ब्रह्म' या 'स्वप्रकाशरूप' आत्मा ही विवक्षितार्थ बतलाया गया है। 'एकाक्षरीकोशोंमें 'त'का अर्थ तस्कर एवं सर्वशिरोमणि कृष्ण भी है।

निर्दिष्ट है। योग-भक्ति आदि शास्त्रोंमें उनकी प्राप्तिमें यज्ञ, तप, त्याग, संयम, श्रद्धा, तीव्र लालसा, अनन्यभक्ति एवं विनयको मुख्य कारण माना है। भक्तों, देवताओंकी प्रार्थना—विनयादिसे ही वे सदा अवतीर्ण हुए हैं। यह—'बहुबिधि बिनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटे हरि कौतुकी कृपाला।' 'जय जय सुरनायक जन सुखदायक' एवं '**पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।'** (भाग० १० । १ । २०) **एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः। तेषामाविरभूद् राजन् सहस्रार्कोदयद्युतिः।'** (८ । ६ । १)—आदिमें देव-स्तुतियों, गजेन्द्र-स्तुति, द्रौपदी-स्तुति, प्रचेतास्तुति तथा प्रह्लादादिके '**आविर्भव आविर्भव** (५ । १८ । ८); 'नरहरि प्रगट किए प्रह्लादा;' **आविरासीत् कुरुश्रेष्ठ** (६ । ४ । ३५) '**आविरासीद् यथा प्राच्याम्** '(१० । ३ । ७) आदिके भगवत्प्रादुर्भावसे सुस्पष्ट है। अन्यथा उनका रूप आसुर प्रकृतिके लिये तो तिरोहित ही रहता है—वे अपने रूपको देवता-मुनियोंसे भी दुराये रखते हैं—'**नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्**' (स्तोत्ररत्नम्—१५) तथापि अनन्यभक्तगण उन्हें सदा सर्वत्र देखते ही रहते हैं—'**पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः।** (वही १६); '**तस्याहं सुलभः' 'तस्याहं न प्रणश्यामि**' (गी०)

वेदोंका भी अनन्य भक्तिद्वारा उनका साक्षात्कार करनेका आदेश है। ऋग्यजु, साम, तैत्तिरीय, अथर्वणादिका कथन है कि उस परमतत्त्वको ही जानो, जिसके आश्रयमें सभी विश्वदेवता, लोकपाल अधिदेवतादि स्थित हैं। उसके ज्ञानके विना ऋचाएँ व्यर्थ हैं[1]—'**यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।** (ऋग्वेद १ । १६४ । ३९, याजुः तैति० आरण्यक २ । ११ । १, अथर्व ९ । १० । १८, निरुक्त १३ । १०)। 'वाजसनेयिसंहिता' तो सभी विश्वको ईश्वरमय ही देखती है और वैसा ही देखनेका आदेश देती है—'**ईशावास्यमिदं सर्वं** । (४० । १) '**कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' 'तत्त्वं परं योगिनाम्।'** आदिके अनुसार वेदों, गीता, भागवत, गर्गसंहिता, विष्णु-ब्रह्मवैवर्तादि पुराणोंके तत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं। रूपगोस्वामीके अनुसार पुष्करनाभ भगवान्के अवतार तो एक-से-एक हैं और सभी परम मङ्गलकर हैं, पर लताओंमें भी प्रेम प्रकट कर देना तो कृष्णका ही कार्य है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥
(लघुभाग० ५ । २२ । ९, चैतन्यच० २)

गोपियोंके प्रेम-परवश होकर समस्त सौन्दर्य, माधुर्यसार सुख, सौगन्ध्य, औज्ज्वल्य, ऐश्वर्य, कारुण्यामृतवारिधि वेदतत्त्वब्रह्म उदूखलमें बँध गया। लीलाशुक बिल्वमङ्गल कहते हैं—

परमिमुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिपदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

'अरे निगमागमवनमें 'तत्त्वान्वेषी' श्रान्त पथिक भाई! तुम्हारा अभीष्ट सार'तत्त्व' तो व्रजमें गोपियोंके घर ऊखलमें बँधा है, तुम वहाँ जाओ, वह तुरंत मिलेगा।' एक गोपी कहती है—'वेद-वेदान्तका तत्त्व गोधूलिमें सना हुआ नन्दरायके प्राङ्गणमें थेई-थेई कर नाच रहा है'[2]—

शृणु सखि कौतुकमेकं
नन्दनिकेतनाङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो
नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥
(कृष्णकर्णा)

सूरदासने बालकृष्ण-माधुरीके—'धनि गोकुल धनि नंद जसोदा जाके हरि अवतार लयेः' आदिके हजारों पद गाये हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'कृष्ण-

१. इस 'अस्य वामीय' या 'सौपर्ण-सूक्त'के सभी बावनों मन्त्र परमात्मतत्त्वके ही प्रशंसक हैं। यद्यपि ऋगनुक्रमणी, मीमांसा, सभी ब्राह्मण श्रौतसूत्रादिकोंके अनुसार संहिताभागमें कर्मकाण्ड ही प्रधान है। इसी प्रकार अथर्वणमें विशेषकर उसके पिछले काण्डमें सैकड़ों अध्यात्मसूक्त हैं। (२) कुछ लोगोंने इसे बिल्वमङ्गलका भी वचन माना है।

गीतावली'में कृष्णयशका अद्भुत चमत्कार पूर्ण वर्णन किया। मदनमोहन, परमानन्द, नन्ददास आदिके पद तथा बीसों तो 'भ्रमरगीत' तैयार हो गये। यह सब कृष्णका आकर्षण ही था। उन्हें भागवतकारने निर्गुण-निराकार एवं सगुण-साकारका समन्वय माना है। इसके उदाहरणमें वे निम्न वचन कहते हैं—

स्वयं तु साम्यातिशयस्त्र्यधीशः
साम्राज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २१)

अर्थात् उनकी १६ हजार पटरानियाँ तथा सभी लोकपाल उनके सेवक थे। इन्द्र-महेन्द्र अपने किरीटकोटिसे उनके पादपीठको प्रणाम करते थे, जिससे उनके कोमल पैरोंको कोई क्लेश न हो, तथापि वे उग्रसेनकी सेवा बजाते थे—'लोकपाल दिगपाल वरुन यम रवि ससि आज्ञाकारी। तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेंत कर धारी।' उनकी वंशीध्वनिसे जड़-चेतन, मृग-पक्षी, ऋषि मुनितक मुग्ध हो जाते थे—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा ।
कंदर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥

इसी प्रकार भगवान् रामका भी आकर्षण प्रसिद्ध है। उनके वन जानेके समय सारे अवधवासी सुरदुर्लभ भवनको छोड़कर उनके साथ दौड़ पड़ते हैं—

सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥
चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई ॥
(रामच० २ । ८३ । ४, ६)

वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित अवधवासियोंका प्रेम तो और भी विस्तृत है। वृक्ष तक म्लान होते हैं—**'अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः।'** यह वर्णन दो अध्यायोंमें चला गया है। खर-दूषण, त्रिशिरा-जैसे दुष्ट राक्षस भी कहते हैं—क्या हुआ जो इन लोगोंने बहन शूर्पणखाकी नाक-कान काटी, ये दण्ड-योग्य तो कदापि नहीं हैं—

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥

साँप बिच्छू भी इन्हें देखकर निर्विष हो जाते हैं—

जिनहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी

समुद्रके जीव-जन्तु भी इन्हें एकटक देखते रह जाते हैं, रुकते नहीं। और उन्होंने उस समय परस्परका द्वेष भी छोड़ दिया—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा ॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्हि कें डर तेपि डेराहीं ॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे ॥

शबर, शंकर, विश्वरूप, पितृभूति, देवस्वामि, मण्डन मिश्र, देवत्रात, वाचस्पति, रामानुज, उवट-महीधर एवं गीताकी सभी व्याख्याओंके अनुसार भी वेदोंकी संहिता-भागसे उपनिषदें श्रेष्ठ हैं। इन्हीं उपनिषदोंमेंसे श्रीकृष्णोपनिषद्, कृष्ण राम एवं विष्णुको एकका ही रूपान्तर मानती है। उसमें कहा गया है कि २४वीं त्रेता*में श्रीरामचन्द्रजी ऋषि-मुनियोंके दर्शनार्थ जङ्गलमें गये। वहाँ महाविष्णु, सच्चिदानन्द लक्षण सर्वाङ्गसुन्दर भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर सभी वनवासी मुनि विस्मित हो गये। उन ऋषियोंने उनके शरीर-स्पर्शकी कामना प्रकट की। भगवान्ने अन्यावतारमें उनकी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया—

'श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नावद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति।' उन सभी देवताओं तथा ऋषियोंकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। वे सभी कृतकृत्य हो गये। कालान्तर (२८वें द्वापर)में श्रीभगवान्का प्राकट्य हुआ। भगवान्का स्वरूपभूत परमानन्द ही नन्द हुआ, ब्रह्मविद्या यशोदा हुई। ब्रह्मपुत्री गायत्री देवकी हुई, स्वयं निगम ही वसुदेव

* द्रष्टव्य—वायुपुराण ९८ । ९२-९३, हरिवंश १ । ४१ । १२१, देवीभाग० ४ । १६ । १६, ब्रह्मपु० २१३ । १२४, मत्स्य ४७ । २४५, ब्रह्माण्ड २ । ८ । ५४, ३ । ७३ । ९२, पद्म १ । १४ । ६६ आदि)

हुए। वेदोंकी ऋचाएँ ही गोपियों तथा गौओंके रूपमें अवतीर्ण हुईं। भगवान्‌के मनोहर संस्पर्शके निमित्त ब्रह्मा मनोहर यष्टि हुए। भगवान् रुद्र सम-स्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर श्रीहस्तमें सुशोभित हुए और पापी असुर हुए—

> यो नन्दः परमानन्दः यशोदा मुक्तिगेहिनी।
> गोप्यो गावो ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः॥
> वंशस्तु भगवान् रुद्रःशृङ्गमिन्द्रस्त्वघोऽसुरः।

इसके अतिरिक्त वैकुण्ठ गोकुलवनके रूपमें अवतरित हुआ। तपस्वीगण वृक्षोंके रूपमें अवतीर्ण हुए। क्रोध-लोभादि दैत्य हुए तथा मायासे विग्रह धारण करने-वाले साक्षात् श्रीहरि ही गोपरूपमें अवतीर्ण हुए। श्रीशेषनाग बलराम हुए और शाश्वत ब्रह्म ही श्रीकृष्ण हुआ। सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियोंके रूपमें ब्रह्मरूपा वेदोंकी ऋचाएँ तथा उपनिषदें प्रकट हुईं—

> गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
> लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः॥
> गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारकः।
> शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥
> अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
> ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

यहाँतक कि साक्षात् द्वेष भी चाणूर-मल्लरूपमें अवतीर्ण हुआ, मत्सर अजेय मुष्टिक हुआ, दर्प कुवलयापीड हाथी तथा गर्व बकासुर राक्षस हुआ। दया रोहिणी माताके रूपमें अवतीर्ण हुई, धरा सत्यभामा हुई, महाव्याधि अघासुर बना तथा कलियुग कंसरूपमें अवतीर्ण हुआ। शाम-मित्र सुदामा हुए, सत्य अक्रूर हुआ तथा दम उद्धव हुआ एवं सर्वदा संस्पर्श पानेके लिये साक्षात् भगवान् विष्णु शङ्खरूपमें अवतीर्ण हुए—

> द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
> दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः॥
> दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति ।
> अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः॥
> शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।
> यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः॥

इसी प्रकार इसमें आगे चलकर तथा गर्गसंहितादिमें भी कहा गया है कि जिस प्रकार भगवान् पहले आनन्दपूर्वक क्षीरसमुद्रमें क्रीडा करते थे, वैसा ही आनन्द लेनेके लिये उन्होंने क्षीर-समुद्रको दधि-दुग्धके भाण्डोंमें स्थापित किया एवं शकट-भञ्जन आदि लीलाएँ रचीं। गणेशजी या साक्षात् ब्रह्म चक्ररूपमें अवतीर्ण हुए, लक्ष्मी वैजयन्ती माला हुईं, स्वयं वायु ही धर्ममय चमर हुए एवं अग्निके समान प्रकाशवाले तलवाररूपमें स्वयं भगवान् महेश्वर आविर्भूत हुए। श्रीकश्यपजी उलूखल हुए, देवमाता अदिति रज्जु हुईं। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त परिकरके रूपमें—'सर्वे वै देवताः प्रायाः' वे ही सब देवगण अवतीर्ण हुए, जिन्हें सभी सादर नित्य नमस्कार करते हैं। इसमें किसी प्रकार भी संशय नहीं करना चाहिये। सर्वशत्रु-निबर्हिणी साक्षात् कालिका गदारूपमें अवतीर्ण हुईं और भगवान्‌की वैष्णवी माया शार्ङ्गधनुषरूपमें उनके करकमलमें आ विराजीं। शरद्-ऋतु भगवान्‌के सुन्दर भोजनोंके रूपमें प्रकट हुआ। श्रीगरुडजी भाण्डीरवट हुए तथा नारद मुनि श्रीदामा नामक उनके सहचर गोपाल हुए। क्रिया, बुद्धि एवं भक्ति देवियाँ सम्मिलित रूपसे वृन्दा (तुलसीसमूह)के रूपमें अवतरित हुईं—

> दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डोदधिगृहे।
> क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत् सुमहोदधौ॥
> संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः।
> यत्स्रष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्॥
> जयन्ती पद्मजा वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः।
> यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः॥
> कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा।
> यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः॥
> नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः।
> गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिबर्हिणी॥
> धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः।

गरुडो वटभाण्डीरः श्रीदामा नारदो मुनिः ॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ।

इस तरह—

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥*
सर्वे वै देवताप्रायाः । (श्रीमद्भा० १० । १ । ६२-६३)

—यह श्रीनारदजीकी उक्ति सर्वथा सत्य सिद्ध हुई ।

ऊपरके वर्णनसे यह सिद्ध हो गया कि परमपुरुष ही, जो वैदिक संहिताओं, उपनिषदोंका चरमतत्त्व है, इतिहास-पुराणादिमें श्रीकृष्ण तथा श्रीरामादिरूपोंसे विवक्षित एवं विस्तारसे निरूपित है ।

रामचरितमानसमें भगवत्तत्त्वकी व्यापकता

(लेखक—पं० श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

रामचरितमानस मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राघवेन्द्रकी परब्रह्मताके साथ उनके आदर्श मानवीय चरित्रोंका भी प्रतिपादन करनेवाला महाकाव्य है,अतः इसमें कई स्थलोंपर प्रभुके दिव्य ऐश्वर्य (भगवत्तत्त्व)का भी प्राञ्जलरूप प्रतिपादित हुआ है । **'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'**के अनुसार मानवमात्रको मानवताकी शिक्षा देना इस अवतारका मुख्य उद्देश्य है और इसके लिये मानवीय चरित्रका अभिनीत होना भी आवश्यक था । अखिल-ब्रह्माण्डनायकके लिये सामान्य मानवीय चरित्रका अभिनय विचित्र कार्य है । अतः भगवान् रामके विशुद्ध माधुर्य-चरित्रके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि-जैसे तत्त्वद्रष्टाके महाकाव्यमें भी ऐश्वर्यका अभिनय नहीं रुक सका, तब भला रामचरितमानस कैसे उससे पृथक् रह सकता है ?

श्रीरामके मानवचरित्रका मूल कारण महारानी शतरूपाको मिला हुआ वरदान है । इसमें भगवत्तत्त्वके रूप-विधानका दर्शन मनु-महाराजकी तपस्यासे करें । महाराज मनु जहाँ प्रभुके समान पुत्रकी कामना करते हैं—'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत', वहींपर महारानी शतरूपाने कहा—नाथ ! चतुर नृपने जो वर माँगा है, वह मुझे भी प्रिय है, किंतु आप ब्रह्मादिकोंके जनक, जगत्के स्वामी एवं घट-घटमें, अणु-अणुमें रमण करनेवाले ब्रह्म हैं, अतः इस रूपमें आप मेरे पुत्र होंगे, इसमें मुझे संदेह है । फिर भी आपने 'एवमस्तु' कहा है, अतः उसे प्रमाण मानकर मैं आपसे यह चाहती हूँ—

'जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥'

इस स्थलपर सगुण और निर्गुण दोनों ही ब्रह्म-तत्त्वोंका मार्मिक प्रतिपादन हुआ है । महारानी शतरूपाको कौसल्या-रूपमें जहाँ-जहाँ इन छः वरदानोंकी प्राप्ति हुई है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मतत्त्वका दिग्दर्शन होता है—

१–सोइ सुख—

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना ।
मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ॥
ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद ॥
प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान ।
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान ॥

२–सोइ गति-ग्यान—

स्तुति करि न जाइ भय माना ।
जगत पिता मैं सुत करि जाना ॥

* यह विवरण पद्मपुराण ४ । ७३ । २२—४०; ५।२४५ । १६४—६५ तथा गर्गसंहिताके भी वृन्दावन-खण्ड आदिमें प्राप्त होता है।

तथा—

निगम नेति सिव अंत न पावा।
ताहि धरै जननी हठि धावा॥

३–सोइ भगति—

चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
सुख संदोह मोह पर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥

४–सोइ निज चरन सनेहु—

तन पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरननि सिरु नावा॥

५–सोइ बिबेक—

बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥

'गीतावली'में विवेकका मार्मिक विवेचन 'सुनहु राम मेरे प्राण पियारे'—इस पदमें द्रष्टव्य है।

६–सोइ रहनि—

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए॥
निजकुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा।........................

इस प्रकार शतरूपाके उपर्युक्त छः वरदानोंकी प्राप्ति करानेमें भगवत्तत्त्वका सर्वत्र दर्शन होता है। इसी प्रकार ब्रह्मके मानवीय-चरित्रोंद्वारा भी भगवत्तत्त्वका प्रकाशन भी दर्शनीय है।

कौसल्याजी अपने परम पुत्र प्रिय रामको उबटन आदि लगाकर स्नान कराती हैं। उस निरञ्जनको अञ्जन लगाकर पयपान करातीं और पलनेपर सुला देती हैं।

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाये॥

कुलके इष्टदेव श्रीरंगजीकी पूजाके लिये स्नान करती हैं। पूजन करनेके बाद नैवेद्यका भोग लगा देती हैं। जब रंगजीके मन्दिरमें जाकर कौसल्या देखती हैं तो आश्चर्यचकित रह जाती हैं—वह छोटा-सा बालक राम मन्दिरमें जाकर भोग लगे पदार्थोंको खा रहा है! कौसल्या सोचती हैं कि पलनासे अपने-आप उतरनेमें असमर्थ राम मन्दिरमें कैसे आ गया! वे दौड़ती हुई पलनाके पास जाती हैं और पलनेपर सोये हुए रामको देखती हैं। एक ही समयमें दो अवस्थाओंमें, दोनों स्थानोंपर राम हैं!

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा॥

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें जीव-कोटिका कोई भी बालक इस प्रकारका चरित्र नहीं कर सकता। वह एक कालमें, एक ही स्थितिमें रह सकता है। यहाँ भगवान् रामने '**तुरीयमेव केवलम्**'का अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है। इसे कथमपि मानवीय-चरित्र नहीं कहा जा सकता। विश्वामित्रके यज्ञ-रक्षणार्थ जाते हुए ताड़का-वध-प्रसङ्गमें—'एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥'में निज-पद प्रदान करना भी ऐश्वर्य ही है। तब रिषि निज नाथहिं जियँ चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥ से एवं अहल्याके प्रसङ्गसे भी भगवान्का ऐश्वर्य प्रकट है। इसी प्रकार जनकजीके द्वारा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥' यह पूछनेपर विश्वामित्रजीका स्पष्ट उत्तर है—'कह मुनि बिहँसि कहेउ नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥' यहाँ भगवत्ता स्पष्ट हो जाती है। महाज्ञानीका प्रश्न और महामुनिका उत्तर—दोनों सटीक बैठ जाते हैं—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।'

भगवान् रामके विवाहमें देवताओंके कपट-वेषमें आनेपर उनका मानसिक पूजन करना एवं आसन प्रदान करना भगवान् रामकी भगवत्ताका प्रकाशन करना है—

'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।'

बालकाण्डके सती-मोह-प्रकरणमें भी भगवत्तत्त्वका स्पष्ट विवेचन हुआ है। सतीका प्रश्न है—'ब्रह्म मनुष्य नहीं हो सकता'—

※

भगवान् श्रीसीताराम

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥
बिष्णु जो सुर हित नर तनु धारी । सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी ॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी—यह सतीका तर्क था । भगवान् शंकरके शास्त्रीय विवेचनोंसे भी सतीका यह मोह दूर नहीं हो सका । अन्तमें उन्हें ब्रह्मकी परीक्षा लेनी पड़ी और इस परीक्षामें प्रच्छन्न भगवत्तत्त्व प्रत्यक्ष हो गया—

देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका । अमित प्रभाव एक ते एका ॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ॥

अरण्यकाण्डमें सुतीक्ष्ण, शबरी, गीध आदिके प्रकरणोंमें भी भगवत्ताका प्रचुर-मात्रामें दर्शन होता है । गीधके लिये 'राम कहा तनु राखहु ताता', 'तनु तजि तात जाहु मम धामा', 'सीता हरण तात जनि कहेउ पिता सन जाइ' आदि भगवान्‌के कथनोंमें उनके **'मायामनुष्यं हरिम्'** रूपका दर्शन होता है । किष्किन्धामें हनुमान्‌के मिलनेपर तथा वालिके शब्दोंमें भगवत्ताका पूर्ण विवरण प्रस्तुत हुआ है—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥
जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहिं सम गति अबिनासी ॥
सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं ।

इसी प्रकार लंकाकाण्डमें विभीषण, मन्दोदरी, त्रिजटा, कुम्भकरण आदिके द्वारा भगवत्ताका प्रकाशन तो हुआ ही है, रावण-वधके पश्चात् ब्रह्मादिक देवताओंके द्वारा स्तुति तो भगवत्तत्त्वके स्वरूपका और अधिक स्फुट विधान स्थापित करता है । उत्तरकाण्डमें लंकासे आगमनके अवसरपर समस्त अयोध्यावासियोंसे एक साथ ही मिलनेके लिये भगवान्‌के अमितरूप प्रकटनमें उनकी भगवत्ता स्पष्ट ही दीख पड़ती है । इसी प्रकार राज्यसिंहासनारूढ़ होनेके अवसर-पर ब्रह्मादिक देवताओं एवं वेदोंद्वारा उनके सगुण ब्रह्म-रूपका प्रतिपादन किया गया है । आगे अपने पुरवासियोंको उपदेश देते समय भी भगवान् रामके द्वारा अपने वास्तविक स्वरूपका कथन हुआ है ।

इस प्रकार मानसमें सर्वत्र ही भगवत्तत्त्वका व्यापक रूप-विधान प्राप्त होता है । भले ही तत्त्वतः न होकर वह प्रसंगतः अधिक है ।

मानसमें भगवत्तत्त्वका व्यापक रूप-विधान

(लेखिका—सुश्री मञ्जुश्री, एम्० ए०)

रामचरितमानस भगवान् श्रीरामकी दिव्य लीलाओंमें अन्तःकरणका अभिनिवेश है । भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजीने इस ग्रन्थमें भगवत्तत्त्वका व्यापक एवं सूक्ष्म रूप-विधान किया है ।

वेद सबके मूलमें एक, अद्वितीय, सर्वव्यापक, समर्थ, परमात्मशक्तिकी सत्ता स्वीकार करते हैं । वह ब्रह्म निराकार होते हुए भी निर्गुण और सगुण दोनों है[१] । वह उदारवात्सल्यमय है[२] । उसीसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है[३] । वह सबका आधार और अधीश्वर है[४] । वह जीवका शासक, विधाता, त्राता, माता-पिता और सखा है[५] । उसके विराट् स्वरूपका वर्णन[६] भी वेदोंमें है । वेदोक्त ये सभी विशेषताएँ तुलसीके राममें भी हैं ।

मानसमें निगम-आगम-पुराणादिमें व्याख्यात भगव-त्तत्त्वका निदर्शन हुआ है और इसीसे उनका व्यापक रूप-विधान हो सका है । पाञ्चरात्र आगममें भगवान्‌के लिये **'षाड्गुण्यगुणयोगेन भगवान् परिकीर्तितः'** कहा गया है[७] । विष्णुपुराण 'भगवान्' शब्दको महाविभूतिका द्योतक मानता है । उसके अनुसार

१—यजु० ४० । ८ । २—ऋ० ४ । १९ । ६ । ३—ऋ० ६ । ४९ । १३, १० । ९०, १० । १२९ । ४—ऋ० १० । १२९ । ७, अथर्व० १० । ७, ८ १ । ५—ऋ० ४ । १७ । १७, यजु० २३ । ३, ३२ । १०, अथर्व० ४ । १६ । २-४ । ६—ऋ० १ । ८९, १० । ९०, अथर्व १० । ७ । ७—अहि० सं० २ । २८ ।

भगवान्‌का अर्थ है—भ—भर्ता, सम्भर्ता; ग—गमयिता, नेता, स्रष्टा; भग—समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, व—वास, समस्त भूतोंका; वासी—समस्त भूतोंमें[८]। तुलसी भी भगवान्‌में ये समस्त गुण देखते हैं।

आगम-शास्त्रमें ब्रह्मको षाड्गुण्ययुक्त होनेपर भगवान्‌की संज्ञा दी गयी है,[९] किंतु तुलसी ऐसा कहकर भगवान्‌को किसी निश्चित परिधिमें नहीं बाँधना चाहते; वे तो भगवान् रामको भी ब्रह्म मानते हैं (२ । ९३ । ७)। आगम-कथित ब्रह्मके समस्त लक्षण तुलसीदासजी राममें ही समाहित करते हैं। आगमग्रन्थोंके अनुसार वे सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्त, सर्वोपाधिविवर्जित, सर्वकारण-कारण हैं[१०]। वे अश्रोत, अचक्षु, अपाणि, अपाद और दूरस्थ होते हुए भी विश्वश्रवा, विश्वचक्षु, विश्वपाणि, विश्वपाद एवं समीपवर्ती हैं[११]। प्राकृत गुण-स्पर्शसे रहित होनेके कारण वे निर्गुण हैं,[१२] तथा अप्राकृत गुणोंका आश्रय होनेके कारण वे सगुण हैं[१३]। उनके छः गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज[१४]। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमय एवं स्वाधीन हैं[१५]। ईश्वर ही जगत्‌का निमित्तोपादान कारण है,[१६] उसका स्रष्टा, पालक और संहारक है[१७]। साथ ही विश्वरूप भी है[१८]। अधर्मियोंके विनाश, पीड़ित प्रजाके उपकार तथा धर्ममर्यादाकी स्थापनाके लिये वह अवतार धारण करता है[१९]। रामचरितमानसमें श्रीराममें ये सभी गुण हैं।

पुराणोंमें प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर एक है, अनिर्वचनीय है। नाम-रूप उसकी उपाधियाँ हैं। विष्णु, शिव, देवी, राम, कृष्ण आदि उसीके विभिन्न नाम हैं, भक्त स्वेच्छानुसार उसका किसी भी रूपमें भजन कर सकता है। परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, निर्गुण और सगुण हैं। वे अनादि, अनन्त, अक्षर, अकल, अनीह, निर्विकार, निरंजन, निरुपाधि, अगोचर और गुणातीत हैं; ज्ञान, बल, बुद्धि, ऐश्वर्य, दया, कृपा, भक्तवत्सलता आदि दिव्य गुणोंवाले हैं; सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वरूप और सर्वशासक हैं। वे विरोधीगुणोंके आश्रय भी हैं। जगत्‌के कर्ता, धर्ता और संहर्ता हैं। वे ही ब्रह्मारूपसे स्रष्टा, विष्णुरूपसे पालक और शिवरूपसे संहारक हैं। सृष्टि भगवान्‌का लीला-विलास है।[२०]

पुराणोंने भगवान्‌के अवतारी स्वरूपोंके वर्णनके द्वारा निगम और आगमकी अपेक्षा भगवान्‌के अत्यधिक व्यापक रूप-विधानका भी ऐसा आधान किया है, जो शास्त्रीय मर्यादाके साथ ही अधिकाधिक सर्वजनग्राह्य और लोकग्राह्य हो गया है।

रामचरितमानसमें भगवत्तत्त्वके सभी शास्त्र-निर्दिष्टरूप हैं; यथा—भगवान् राम, भगवान् शिव, भगवती सीता, भगवती उमा, गुरुरूपमें भगवत्तत्त्व, माता-पितारूपमें भगवत्तत्त्व, चराचररूपमें भगवत्तत्त्व तथा अखिल विश्व-कारणकरण भगवत्तत्त्व। **सीय राममय सब जग जानी** में भगवत्ताकी व्यापकता सुस्पष्ट है।

भगवान् राम—तुलसीदासजीके मतमें परब्रह्म, जिसका निर्वचन वेद करते हैं, मुनि ध्यानमें धारण करते हैं, वही भक्त-हितकारी दशरथ-पुत्र कोशलपति भगवान् हैं (१ । ११८)।

जिसको वेद नेति-नेति कहकर निरूपित करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि और उपमारहित है, जिसके अंशसे अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न होते हैं, जिसके स्मरणमात्रसे अज्ञान मिट जाता है, वही सर्वज्ञ भगवान् राम हैं (१ । ५२ । ४)। वे प्रभु होकर भी

८—वि० पु० ६ । ५ । ७१—७६, ७९-८०। ९—आहि० सं० २ । २८ । १०—वही २ । ५३ । ११—वही ३१ । ८—१०, जया० सं० ४ । ६४—६९ । १२—अहि० सं० २ । २४, ५५ । १३—वही २ । २४ । १४—वही २ । ५६—६२ । १५—जया० सं० ४ । ७० । १६—अहि० सं० ८ । २८ । १७—वही ८ । २१, जया० सं० ४ । ६७ । १८—ल० तं० २ । ६, जया० सं० ४ । १२७—१३० । १९—अहि० सं० ११ । ६—१२ । २०—तुलसीदर्शनमीमांसा पृष्ठ ३६१ ।

सेवकके वश हैं, भक्तोंके लिये लीलातनु ग्रहण करते हैं (१।१४३।५—७)। यद्यपि वे अकाम हैं, तथापि भक्तके विरह-दुःखसे दुःखित रहते हैं (१।७५।२)। हनुमान्‌ने जब भगवान् रामसे अंगदकी प्रीति बताई तो वे उस प्रेममें मग्न हो गये (७।१९ख)। अयोध्या लौटनेपर दयासिंधु भगवान् अपने अनेक रूप धारणकर क्षणभरमें सबसे मिल लिये, यह मर्म किसीने भी नहीं जाना (७।५।७)। रावण भी राममें भगवत्ताका अनुमान करता है। वह सोचता है कि खर-दूषण मेरे ही समान बलशाली हैं, उन्हें भगवान्‌के बिना कौन मार सकता है (३।२२।२)!

भगवान् शिव—तुलसीदासजीका कथन है कि शंभु सहज ही समर्थ भगवान् हैं (१।६९।३)। भगवान् शिव वेदपार एवं ज्ञानगिरागोतीत हैं (७।१०८।२)। करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान, विज्ञानघन, ओंकारमूल, एक, तुरीय, निर्वाणरूप, व्यापक, विभु, ब्रह्म हैं (७।१०८।१-२, ५)। वे विश्वात्मा (१।६४।३) और सर्वभूताधिवास (७।१०८।७) हैं। वे जगज्जनक हैं, विश्व उनके अंशसे उद्भूत है (१।६४।३), साथ ही वे विश्वके संहारक, महाकाल, कालके भी काल हैं (७।१०७।२)। वे निर्गुण, निराकार, निर्विकार, कलातीत, विरज, निरंजन, निरुपाधि और निर्विकल्प हैं (वही)। वे अच्युत, अकल, अखण्ड, अज, अमित और अविच्छिन्न हैं (७।१०८।५)। अकाम, अभोगी, अनघ और अनवद्य हैं (१।९०।२)। वे निर्गुण होते हुए भी गुणनिधान हैं, सर्वसौभाग्यमूल, कल्याणराशि एवं करुणामय हैं (१।१।सो० ४)। कृपालु, आशुतोष, औढरदानी, दीनबंधु और अशरणशरण हैं (४।१।सो० ख)। मंगलप्रद, सर्वहितकारी एवं आनन्ददायक हैं (१।६४।३)। अभयकर्त्ता, जनरंजक और खलताड़क (१।७०।४) हैं। वे कामादि, अज्ञान, संशय, पाप एवं त्रितापके निवारक हैं (६।१।श्लोक २)। भावगम्य, भाववल्लभ, चतुर्वर्गदाता और त्रिभुवनगुरु हैं (१।१११।३)। वे संपूर्ण संसारके माता-पिता हैं (१।८१)। सकल चराचर उनके दास या भक्त हैं, अपनी महिमाके कारण वे ब्रह्मा-विष्णुद्वारा वंदनीय हैं (१।१०७।४)। भक्तोंके लिये उनका नाम कल्पवृक्ष है (१।१०७)। भगवान् शिवकी आराधनाके बिना सब व्यर्थ है (१।७०।४)। उनकी कृपाके बिना संताप-नाश नहीं हो सकता; सुख, शान्ति, ऐश्वर्य, अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती (१।७१।१) तत्त्वतः शिव भी भगवत्तत्त्वके मूर्तरूप हैं।

भगवती सीता—भगवती सीता भगवान् रामकी परमशक्ति हैं, उनकी प्रिया हैं (१।१८७।३, २।१४०)। राम और सीताका उसी प्रकार अभिन्न सम्बन्ध है, जैसे शरीरका परछाईंसे, सूर्यका प्रभासे, चन्द्रमाका चन्द्रिकासे, वाणीका अर्थसे तथा जलका लहरसे (२।९७।३, १।१८)। वे रामकी आदिशक्ति, जगन्मूला हैं (१।१४८।१)। वे विश्वका उद्भव, पालन तथा संहार करनेवाली हैं (१।१ श्लोक ५, २।१२६ छं०)। वे जगज्जननी, जगदम्बा हैं (१।१८।४, १।२४६।१, १।२४७।१, ६।६२।७, ७।२४।५), उनके भृकुटि-विलाससे ही विश्व निर्मित हो जाता है, त्रिदेव-शक्तियाँ उनके अंशमात्रसे उत्पन्न हैं (१।१४८।२-३)। सीता लक्ष्मीकी अवतार भी हैं, साथ ही उनकी जननी और वंदिता भी हैं (१।२४७।३)। पार्वतीकी जननी एवं वन्दनीया भी हैं, साथ ही उनकी स्तुति करनेवाली भी हैं (१।१४८।२, १।२८९।६।१०७ छं०, ७।२४।५)। इस विरोधाभासका समाधान डॉ० सियाराम सक्सेना 'प्रवर' ने अपने शोध-प्रबन्ध-'रामचरितमानसपर आगम-प्रभाव'में इस प्रकार किया है कि परात्पर

ब्रह्मकी अजा, अनादि, आद्याशक्ति भगवती सीतासे त्रिदेवोंकी शक्तियाँ (उमा, रमा, ब्रह्माणी) उत्पन्न हुई हैं। इस स्वरूपमें वे लक्ष्मी, पार्वती आदिके लिये वंदनीया हैं। त्रिदेवान्तर्गत विष्णुकी शक्ति लक्ष्मीके रूपमें वे पार्वतीके समकक्ष हैं, किंतु जब हम पार्वतीकी भावना परात्पर-ब्रह्म शिवकी पराशक्तिके रूपमें करते हैं, तब त्रिदेवान्तर्गत विष्णुकी शक्ति लक्ष्मीके लिये पार्वती पूजनीया हैं। जनकपुत्री सीताद्वारा पार्वती-पूजाका यही हेतु है। भगवती सीता साक्षात् भक्तिस्वरूपा हैं (२।२३९)। मानसमें भी भगवत्तत्त्वकी शक्ति सीताके रूपमें भी गृहीत है।

भगवती पार्वती–भगवान् शिवकी शक्ति या माया भगवती भवानी हैं (१।८१)। वे अजा, अनादि, अविनाशिनी और शक्तिस्वरूपा हैं तथा स्वेच्छासे लीला-शरीर धारण करती हैं (१।९८।२–४)। पार्वतीके रूपमें शरीर धारण करना, उनका अवतार लेना है (१।९४)। वे अन्तर्यामिनी, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और समस्त लोकोंकी स्वामिनी हैं। (१।७२।८)। वे विश्वका सर्जन, पालन एवं प्रलय करनेवाली हैं (१।२३५।४)। वे विश्वमूला, जगपालिका, जगजननी हैं। (१।४८।२)। भगवती पार्वतीका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, इनके अमित प्रभावको वेद भी नहीं जानते (१।२३५।३)। भगवती उमा पुरारि-प्रिया, वरदायिनी, चारों फलोंकी दात्री हैं। उनके चरण-कमलोंकी पूजा कर देवता, मनुष्य, मुनिगण सुख प्राप्त करते हैं। (१।२३६।१-२)। भगवती उमा भगवत्तत्त्वकी साक्षात् प्रति-मूर्ति हैं, जो जगदम्बारूपमें सीताद्वारा भी पूजित हुई हैं।

गुरुरूपमें भगवत्तत्त्व—आगम-शास्त्रमें गुरुको नररूपमें भगवान् माना है[२१]। तुलसीदासजी भी गुरुके चरण-कमलोंकी वंदना करते हुए कहते हैं—जो कृपासिंधु नररूपमें हरि हैं तथा जिनके वचन महामोहरूपी सघन अंधकारके निवारण-हेतु सूर्यके समान हैं, उन गुरुके चरण-कमलोंकी मैं वंदना करता हूँ (१।१ सो० ५)। ज्ञान और मोक्षके साधन गुरु ईश्वर हैं ब्रह्मा, शिवके समान हैं (४।१७, ७।९३।३)। वे ईश्वरसे भी बड़े हैं (२।१२९।८)। गुरु भगवत्तत्त्वका एक लौकिक रूप है। गुरुत्वमें भगवत्तत्त्वकी झलक है।

चराचररूपमें भगवत्तत्त्व–तुलसीदासजी सम्पूर्ण जगत्को सीता-राममय जानकर प्रणाम करते हैं—

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(१।८।२) भगवान् व्यापक, विश्वरूप हैं (१। १३।२, ६।१४)। विश्वबास भगवान् प्रकट होते हैं (१।१४६।४)। तुलसी समस्त चराचरमें भगवान्का ही दर्शन करते हैं—**मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान।** (६।१५ क) तथा **'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि'** (१।७ ग)। इनके अतिरिक्त **'सातवँ सम मोहि मय जग देखा'** (३।३६।२), **'ईस्वर सर्वभूतमय अहई'** (७।११०।८), **निज प्रभुमय देखहिं जगत** (७।११२ ख) आदि उक्तियोंसे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी चराचररूपमें भगवत्तत्त्वका ही दर्शन करते हैं।

अखिल विश्व-कारण-करण भगवत्तत्त्व—भगवान् राम विश्वके कारण भी हैं, करण भी हैं (१।२०८)। वे अरूप होकर भी विश्वरूप (१।१३।२), निराकार होकर भी विश्वविग्रह हैं (७।७२।३)। वे व्याप्य और व्यापक दोनों हैं (७।७२।२)। वे अगजगमय एवं सर्वरूप होते हुए भी सर्वरहित, सर्वभिन्न हैं (१। १८५।४, ५।५०।२, ६।१११।८)। तात्पर्य यह कि तुलसीदासजी ब्रह्मरामके अखिल विश्वके

२१–जयाख्य संहिता १।६२—६५।

कारण और करण दोनों रूपोंको भगवत्तत्त्वमय प्रतिपादित करते हैं।

रामचरितमानसमें भगवत्तत्त्वके इन सभी शास्त्र-निर्दिष्ट रूपोंके अतिरिक्त सगुण भगवान्‌के दोनों मुख्य गुण, ऐश्वर्य एवं माधुर्यका समायोजन विशेषरूपसे किया गया है।

भगवान् राम परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं। उनके अवतार ग्रहण करनेका एक बहुत बड़ा प्रयोजन पृथ्वीके भारका अर्थात् संतोंके लिये दुःखदायी राक्षसोंका विनाश करना है (१।१२१)। अतः तुलसीदासजी रामके धनुर्धारी रूपकी वन्दना करते हैं—

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥
राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक॥
(१।१७।५)

श्रीरामका शौर्य शील-संयुक्त है। तुलसीदासजी अपनी मुखर वाणीमें घोषणा करते हैं—

'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान।'
(१।२९ क)

श्रीराम उग्र परशुरामजीके गर्वीले वाक्योंको भी सुनकर आत्म-परिचयमें कहते हैं—**'राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥'** (१।२८१।३)। श्रीराम सम्पूर्ण सृष्टिको त्रस्त कर देनेवाले महाबली रावणके वधका श्रेय शालीनता-वश भालुओं एवं कपियोंको दे देते हैं—**'तुम्हरे बल मैं रावनु मार्यो।'** (६।११७।२) इसी प्रकार अयोध्या लौटनेपर अपनी सफलताका सम्पूर्ण श्रेय वे गुरु वसिष्ठको देते हैं—

'गुरु बसिष्ठ कुल पूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥'
(७।७।३)

भगवान् रामका सम्पूर्ण जीवन इस प्रकारके उदाहरणोंसे भरा है। भगवत्तत्त्वके दूसरे रूप-माधुर्यमें शीलके साथ ही सौन्दर्य भी है। भगवान् रामका दर्शन कर सभी भक्त आत्मसुधि खोकर गद्गद हो जाते हैं (४।१।६, ५।४४।३, ७।३२।२–४)। उनके सौन्दर्याकर्षणसे वैरागी जनकसहित जनक-पुरवासी (१।२१५।३, १।२२९।१, १।२२०), वनमार्गके ग्रामीण नर-नारी (२।१०९।२, २।११३।३), कोल-भील (२।१३४।४–६) सभी आकर्षित हो उन्हें देखते ही रह जाते हैं। मनुष्य तो क्या विषैले और तामसी प्रवृत्तिके सर्प-बिच्छू भी उनपर मुग्ध हो जाते हैं (२।२६१।८)। इसी प्रकार खर-दूषण (३।१८।३–५), शूर्पणखा (३।१६।८–१०)-जैसे राक्षस-राक्षसी भी उनके सौन्दर्यपर विमुग्ध हो जाते हैं। क्षत्रियकुलके प्रसिद्ध द्रोही परशुराम रामका सौन्दर्य अपलक निहारते ही रह जाते हैं (१।२६८।८)। पुष्पवाटिकामें लताकुञ्जमें प्रकटित भगवान् रामके सौन्दर्य-दर्शनसे सीताजी (१।२३३।१-२)-सहित उनकी सखियाँ (१।२३२।१) भी अपने-आपको भूल गयीं। दूलह रामके त्रिभुवनमोहन रूपके दर्शनार्थ सभी देवता आये (१।३१६।२–८) और अपनी आँखोंके कम होनेपर पछताने लगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् राम शक्ति, शील और सौन्दर्यके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, ऐश्वर्ययुक्त एवं माधुर्य-सम्पन्न हैं। भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास-जीने अत्यधिक सूक्ष्म एवं विस्तृत, गहन एवं व्यापक-रूपमें भगवत्तत्त्वकी विवेचना की है। गोस्वामी तुलसी-दासजीने पूर्णब्रह्मके अवतार श्रीरामके चिर-परिचित रूपको नवीन साँचेमें ढालकर प्रतिपादित किया है। श्रीरामके पूरे चरितमें भगवत्तत्त्वका दर्शन होता है; अतः यह निर्विवाद है कि 'रामचरितमानस'में भगवत्तत्त्वका व्यापक रूप विधान किया गया है।

शांकर-अद्वैत-वेदान्तमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—श्री र० वेङ्कटरत्नम्)

भगवान् यद्यपि सभी विवरण-विश्लेषण और विवेचनोंसे परे हैं तथापि शास्त्रों तथा आचार्य शंकरने भी अपने अनेक ग्रन्थोंमें भगवत्तत्त्वका परिचय देनेका यत्न किया है। उनके अनुसार जिसके देख लेनेपर और कुछ देखने योग्य न रह जाय, वह है—परब्रह्म। उसे जान लेनेपर, अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं रह जाता—

यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

(आत्मबोध ७७)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका भी प्रायः यही कथन है—

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(८। २१)

भगवत्साक्षात्कारके पश्चात् कुछ भी प्राप्य वस्तु नहीं है। शंकराचार्य बताते हैं—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

(आत्मबोध ५४)

यहाँ भी पूर्ववत् भगवत्तत्त्व स्पष्टीकृत है। भगवान्से मिलना ही जीवका परम लक्ष्य है। उससे उच्चतर ध्येय असम्भव है। उनसे अधिक सुखदायक कोई नहीं है और उनका ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। भगवान् इस तरह सर्वोत्तम, सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ बने रहते हैं। सर्वोत्तम वस्तु होनेपर भी सर्वसाधारणके नेत्रोंद्वारा दिखायी नहीं देते। ब्रह्मतत्त्व बड़ा ही सूक्ष्म है—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः॥

(विवेकचूडामणि ३६१)

'इस परमात्मतत्त्वको कोई स्थूल दृष्टिद्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। अतः अति शुद्ध बुद्धिवालोंको समाधि अवस्थाद्वारा सूक्ष्मवृत्तिसे उसे जानना पड़ता है।' शंकराचार्य यहाँ ब्रह्म-प्राप्तिके लिये समाधि-अवस्था, सूक्ष्म वृत्ति और शुद्धबुद्धि—ये तीन साधन बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त इस श्लोकमें आचार्यप्रवर तीन स्थानोंमें अतीव, अत्यन्त, अतिशुद्ध—इन शब्दोंका प्रयोगकर ब्रह्म-तत्त्वकी असाधारणताका भी परिचय देते हैं। भगवत्प्राप्तिके लिये सूक्ष्मवृत्ति ही नहीं, परंतु अत्यन्त सुसूक्ष्मवृत्ति चाहिये। इन शब्दोंके साथ 'आर्य' शब्द भी प्रयुक्त है। उपर्युक्त समाधि-अवस्था परब्रह्मप्राप्तिका एक मार्ग है। एकान्त स्थानमें आसीन, जितेन्द्रिय होकर विरक्तावस्थामें बाहरी चिन्ताओंको छोड़कर परब्रह्मका मनन करना चाहिये—

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः॥

(आत्मबोध ३८)

यहाँ ब्रह्मके तीन लक्षण निर्दिष्ट हैं—एकत्व, आत्मत्व और अनन्तत्व। अतः ब्रह्म अद्वितीय, अन्तहीन और आत्मवस्तु है। उसका ध्यान करनेवाला एकान्तमें रागरहित रहकर, अन्य चिन्ताओंमें न पड़े, एकाग्रबुद्धिसे मनन करे। पहले श्लोकमें कथित समाधिशब्दका विवरण इधर मिलता है। समाधि-अवस्थामें जाननेवाला, जाननेकी वस्तु एवं जाननेकी क्रिया—ये भिन्न नहीं रहते; सब एक हो जाते हैं। चित् और आनन्दरूपी परब्रह्ममें तीनों अपना अलग-अलग अस्तित्व खो बैठते हैं—

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि॥

(आत्मबोध ४१)

'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इनमें भेद परमात्मावस्थामें विद्यमान नहीं। चित् और आनन्दका सम्मिश्रण होनेके कारण सत्तत्त्व वस्तु स्वयं देदीप्यमान होकर प्रज्वलित हो उठती है।' वहाँ अज्ञान और दुःख पास नहीं आ

सकते। अँधेरा और दुःख, परब्रह्मके निकट कहीं नहीं टिकते। जो व्यक्ति परमात्मतत्त्वसे परिचित हो गया है, वह परतत्त्वमें ही लीन रहता है। ईश्वर-साक्षात्कार उसे प्राप्त हो गया। वह सदा ईश्वरीयदशामें रहता है। छोटे-मोटे भेदोंके ख्याल उसके मनमें नहीं उठते—

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥

(आत्मबोध ४०)

यहाँ ब्रह्मवेत्ताका विवरण है। पूर्ण ज्ञानी होनेके कारण चित् और आनन्दका साक्षात्स्वरूप बनके रहता है। ब्रह्मज्ञानी सदैव आनन्दावस्थामें रहता है। आचार्य इसका कारण निम्न श्लोकमें बतलाते हैं—

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीत्यवधारयेत् ॥

(अपरोक्षानुभूति ४९)

'सभी जीव परब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। अतः सबको ब्रह्मका ही अंश मानना चाहिये।' समस्त जीव-जन्तु ब्रह्मस्वरूप मात्र हैं। इस जगत्को प्राण और शक्ति सब कुछ परब्रह्मसे ही मिला है। ब्रह्मके कारण ही सूर्यादि प्रकाशमय दीखते हैं—

यद्भासा भास्यतेऽर्कादिभास्यैर्यत्तु न भास्यते।
येन सर्वमिदं भाति तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥

(आत्मबोध ६१)

आचार्यवर परब्रह्मके एक-एक गुणको नेति-नेति कहकर स्पष्ट करते हैं—

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥

(आत्मबोध ६०)

मायामय नेत्रसे विश्वके मायिक पदार्थ ही दीखते हैं। पर वे ईश्वर इन आँखोंकी शक्तिके बाहर हैं। उन्हें देखनेके लिये आन्तरिक दृष्टि या आत्मदृष्टि चाहिये। ज्ञानचक्षुओंसे भगवान्का साक्षात्कार हो सकता है। साधारण आँखोंसे साधारण वस्तुओंको ही देख पाते हैं। असाधारण वस्तुको देखनेके लिये असाधारण नयन भी चाहिये—

इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे।
भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्यः ॥

(प्रबोधसुधाकरः १९७)

'श्रीभगवान् ज्ञानके द्वारा दर्शनीय होते हैं—**'ज्ञानगम्यः पुरातनः'** (विष्णुसहस्रनामस्तोत्र—)। ब्रह्म एक नित्य वस्तु है, बाकी सब अनित्य हैं। इतना कहकर भी आचार्य रुकते नहीं। उनका कथन है—

ब्रह्मैव नित्यं अन्यत्तु ह्यनित्यमिति वेदनम्।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति कथ्यते ॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १६)

'ब्रह्मज्ञानी भी सचमुच विवेकी माने जाने योग्य है, क्योंकि नित्य-अनित्य वस्तुओंका भेदभाव पहचानना ही सच्चा ज्ञान है।' यदि कोई ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है तो उसे और क्या मिलता है?—इस प्रश्नका उत्तर भी हमें जगद्गुरुकी दिव्य वाणीमें मिलता है। 'ब्रह्मका कोई दर्शन कर चुका है तो उसके लिये सारी सृष्टि मनोमोहक उद्यान है। हर वृक्ष कल्पवृक्ष है, उसके लिये सभी भाषाएँ और ग्रन्थ वेद हैं, सभी जल गङ्गा और सभी भूमि ही शुद्ध काशी है'—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

(धन्याष्टक १०)

'ईश्वरद्रष्टाको समस्त जगत् पुण्यभूमि नन्दनवन है। बुराई कहीं नजर न आती, हर एक पानीकी बूँद गङ्गाजल है। सारी भाषाएँ वेदान्तमयी या प्रणव है।' श्रीशंकराचार्यको दुःख है तो एक ही कि कोई भी परतत्त्व विचारमें मग्न नहीं होता। लौकिक विषयोंमें ही मनुष्य दिन काट

देता है। छुटपनमें बालक खेल-कूदमें ही तल्लीन रहता है। युवक हो जानेपर युवतीके पीछे पागल बनकर फिरता है। बूढ़ा होनेपर व्यर्थ चिन्ताओंमें समय बीत जाता है। कोई भी परब्रह्ममें विचार नहीं रखता है—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तासक्तः परे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
(मोहमुद्गर, श्लोक)

अतः हर मानवको चाहिये कि जहाँतक हो सके, वह ईश्वरी विचारमें मग्न रहनेका प्रयत्न करे।
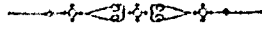
जगद्गुरु रामानन्दाचार्यका भगवत्तत्त्व-निरूपण

(लेखक—श्रीव्रजकिशोरप्रसादजी साही)

आधुनिक रसायन-विज्ञान (Chemistry) भौतिक पदार्थोंका विश्लेषणकर उसकी विवेचना करता है। इसके अनुसार पदार्थके मूलभूत रूपतत्त्व (Element) हैं। इनके मिश्रणसे बने पदार्थ यौगिक (Compound) कहे जाते हैं। न्यायशास्त्र (Logic)के अनुसार किसी पदार्थके प्रमाण-सिद्धस्वरूपका नाम तत्त्व है—**'प्रमाणोपपन्नं स्वरूपं तत्त्वम्'** (न्यायसारपदपञ्चिका) वेदोंके अनुसार यथार्थताको 'तत्त्व' कहते हैं—**'तत्त्वतः यथावत् स्थितम्।'** अमरकोशमें वेद, तप एवं ब्रह्मको 'तत्त्व' कहा गया है—**'वेदस्तत्त्वं,तपो ब्रह्म'**—(अ० को० ३।३।११४)।

अखिल विश्वके मूल तत्त्व श्रीभगवान् हैं। इन्हें जगद्गुरु रामानन्दाचार्यजीने अपने 'श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर'में ईश्वर, विष्णु, हरि, भगवान्, राम, परमात्मा एवं पुरुषोत्तम आदि नामोंसे स्मरण किया है। विष्णुपुराणमें 'भगवान्'का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भक्तानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
(विष्णुपुराण ६।७, ना० पु० पूर्व० ४६।२१-२२)

इसकी व्याख्या करते हुए वहीं कहा गया है—

ज्ञानेन तनुते शास्त्रं सर्वसिद्धान्तगोचरम्।
बलेन हरतीदं स गुणेन निखिलं मुने॥
ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते तच्चराचरम्।
वीर्येण सर्वधर्माणि प्रवर्तयति सर्वशः॥
शक्त्या जगदिदं सर्वमनन्ताण्डं निरन्तरम्।
बिभर्ति पाति च हरिर्मणिसानुरिवाण्डकम्॥
तेजसा निखिलं तत्त्वं ज्ञापयत्यात्मनो मुने॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' ग्रन्थमें ईश्वरतत्त्व अथवा भगवत्तत्त्वका निरूपण इस प्रकार किया है—

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवित-
मखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकाम-
मविरतं भासयत्येतदेपः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि
सुतलं याति नैवेश्वरो यः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभ-
गुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥८॥

उन्होंने इस तत्त्वका स्वरूपदर्शन अनेकों स्थानोंमें किया है—

तत्राद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते।
श्रीरामो जगतां गुणैकनिलयो हेतुश्च संरक्षकः॥१३॥

उपर्युक्त निरूपणसे यह स्पष्ट है कि भगवत्तत्त्वसम्बन्धी इतर उपर्युक्त पुराणोक्त निरूपणसे आचार्योक्त प्रतिपादन अधिकांशरूपमें समान होते हुए भी विशेष एवं विलक्षण है। इसकी विवेचना आगे की जायगी। आचार्यचरणने ग्रन्थारम्भमें ही—**'सम्यक्शास्त्रानुसारं गुरुवरवचसा**

प्रोच्यते श्रूयतां तत्' (५)—इस प्रतिज्ञा-वाक्यद्वारा अपने कथनको गुरुपरम्परा-सम्प्रदायसिद्ध एवं शास्त्रसिद्ध बतलाकर प्रमाणित किया है—**'शिष्टानुशिष्टोपदिष्टो मन्त्रः सम्प्रदायः । सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदस्तस्माच्छास्त्रं प्रमाणम्'** । वर्तमान रामानंदाचार्य श्रीभागवताचार्यजीद्वारा इनकी व्याख्या बड़े आर्षकरूपसे प्रस्तुत हुई है। तदनुसार जो ज्ञानबाधित नहीं किया जा सके, उस निश्चयात्मक तथ्यको 'सम्यक्' कहते हैं। कोशानुसार—**'सत्यं तथ्यं ऋतं सम्यगमुनि त्रिषु तद्वति'** (अ० को० १ । २ । २२)—ये उसके पर्याय हैं । आचार्यचरणका उपर्युक्त कथन सम्यक् शास्त्रानुसार है। इसमें प्रमाण है—**जन्माद्यस्य यतः**—(ब्र० सू० १ । १ । ३)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म ।

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता १५ । १२)

—इत्यादि वचन भी प्रमाण हैं। आचार्यचरणने जो भगवन्नामोंका निरूपण किया है, वे सभी देश-शास्त्रानुसार ही हैं। यथा—

१—ईश्वर—

प्रधानार्थस्तु ईश्वरस्वरूपस्य निरूपणम् (वै० म० ५२)
विहाय चान्यत् परमं दयालुं
प्राप्यं समर्थं निरपायमीश्वरम् (१३०)

२—विष्णुः

जातोऽत्र रामः स्वयमेव विष्णुः (७८)
अस्त्येवतैद्विष्णुकृपोपलभ्ये
पतिश्रियोऽनन्तगुणार्णवन्तम् (९२)

३—हरिः—

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिंचनो जनो
द्विजादिरिच्छञ्शरणं हरिं व्रजेत् ।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षितं
क्रियाकलापादिकजातिभेदम् ॥
पुरुषकारैकनिष्ठास्तु हरिस्वातन्त्र्यमीक्ष्य च ।
कृपाप्रचुरमाचार्यं मत्वोपायमवस्थिताः (१३१)

४—भगवान्—

अणु व्याप्तौ च भगवानणुषु त्वणुरुच्यते ।
पराकाष्ठा परैर्विज्ञैर्मतविद्भिर्महात्मभिः ॥१०७॥
तत्र भागवता बोध्या ये तु ते भगवत्पराः ॥१४०॥

अर्थात् श्रीभगवान् अणुसे अणु सूक्ष्मताकी सीमा हैं।

५—परमात्मा—

उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदा
भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम् ॥६३॥

६—पुरुषोत्तम—

प्रसन्नलावण्यसुमन्मुखाम्बुजं
जगच्छरण्यं पुरुषोत्तमं परम् ।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं
स्मरामि रामं सह सीतया सदा (वै०म०५८)

आचार्योक्त उपर्युक्त भगवन्नाम स्वतः ही स्वशब्दार्थसे भगवत्तत्त्वका निरूपण कर देते हैं—(१) ईश्वर—**'निरुपाधिकमैश्वर्यमस्यैति ईश्वरः । एष सर्वेश्वरः'** (माण्डू० ६) इति श्रुतेः । सर्वशक्तिमत्तया ईश्वरः । सर्वभूतनियन्तृत्वात् ईशानः ।

(२) —**'विष्णुः विष्णुर्विक्रमणात्'** (महा० उद्योग० ७० । १३) इति व्यासोक्तेः, रोदसी व्याप्य कान्तिरभ्यधिका स्थितास्येति विष्णुः ।

व्याप्य मे रोदसी पार्थ कान्तिरभ्यधिका स्थिता ।
क्रमणाद्वाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥
(महाभा० शा० ३४१ । ४२-४३) ।

(३) हरिः—**सहैतुकं संसारं हरतीति हरिः ।'**

(४) भगवान्—**'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥** (वि० ६ । ५ । ७४) सो

स्यास्तीति भगवान् । (५) परमात्मा— परमश्चासावात्मा चेति परमात्मा कार्यकारण-विलक्षणो नित्यशुद्धमुक्तस्वभावः । (६) पुरुषोत्तम— पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमः । अत्र न निर्धारणे (पाणि- अष्टा० सू० २ । २ । १०) इति षष्ठी समास प्रतिषेधो न भवति, जात्याद्यनपेक्षया समर्थत्वात् । अथवा पञ्चमी समासः, तथा च भगवद्वचनम्—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गीता १५ । १८ वि० स० शांकरभाष्य १६में शंकराचार्य-का उद्धृत वचन)

अर्थात् भगवान् रुपी पुरुषोंमें या पुरुषोंसे उत्तम हैं । श्रीरामानन्द-सम्प्रदायमें भगवत्तत्त्वको ही प्राप्य कहा गया है एवं उसका इस प्रकार निरूपण किया गया है—

प्राप्यः सर्वगुणार्णवो निखिलभूरक्ष्यैकदीक्षो महान्
नित्यश्चेतन ईश्वरः सकरुणः सर्वज्ञता भूमिराट् ।
औदार्यादिगुणावलक्षितमृतं सत्यं च सर्वाश्रयः
श्रीरामो हि परात्परः सुमतिभिः सेव्यः सदा सर्वगः ॥

कुछ लोग भगवान्‌को निर्गुण कहते हैं । परंतु श्रीरामानन्दाचार्यजी भगवत्तत्त्वको **'सर्वगुणार्णव'** कहते हैं । सभीके मूलतत्त्व भगवान् हैं । यदि भगवत्तत्त्व निर्गुण है तो जगत्‌में गुण आये कहाँसे । **'मूलं नास्ति कुतः शाखा ? तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।'** अतएव भगवान् सभी गुणोंके मूल एवं सर्वगुणार्णव हैं । भगवान्‌को सामान्यरूपसे सर्वगुणार्णव कहकर उन्हें पुनः औदार्यादि गुणोंसे युक्त कहकर उनके विशेष गुणोंका ज्ञापन करते हैं । पुनः उन विशेष गुणोंमें भी उनका सर्वोच्च विशेष गुण 'कारुण्य' बतलाते हैं ।

'कारुण्य'का लक्षण प्रशस्तपादभाष्यमें—**'स्वार्थ-मनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्'**—यह बतलाया गया है । भगवान्‌में यही सर्वोपरि गुण है । वाल्मीकिरामायणमें भगवान् श्रीरामको बार-बार साधु-पदसे सम्बोधित किया गया है—**'साधुरदीनः सत्य-वागृजुः ॥', 'साधुरदीनात्मा महामतिः ॥'**, साधु शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं करुणाकी पूर्ण अभिव्यक्ति है—**'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'**—'साधु होइ न कारज हानी' 'पर उपकार बचन मन काया संत सहज सुभाव खगराया ॥' तुलसी संत सुअम्ब तरु फूले फले पर हेत । इत ते वे पाहन हने, उत ते वे फल देत ॥' भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी कहा गया है—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥
दीनानुकम्पी धर्मज्ञः । (वाल्मी० २ । १ । ११)

यदि भगवान्‌मेंसे 'कारुण्य'का लोप हो जाय तो सृष्टि-रचनाकी व्याख्या नहीं की जा सकती । सृष्टि-रचनाके विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्तिकी जाती है कि सृष्टि-रचनामें ईश्वरका कोई भी प्रयोजन नहीं है—

अवाप्तसर्वानन्दस्य रागादिरहितात्मनः ।
जगदारभमानस्य न विद्मः किं प्रयोजनम् ॥

(जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी)

वहीं इसके उत्तरमें कहा गया है कि ईश्वर करुणाके वश सृष्टि-कार्यमें प्रवृत्त होता है—**'करुणया प्रवृत्ति-रीश्वरस्य ।'** इसके विरुद्धमें पुनः कहा गया कि सृष्टिके पूर्व तो सभी क्लेश संस्पर्शरहित थे । फिर करुणासे प्रवृत्ति कैसी ?—

सर्गात् पूर्वं हि निःशेषक्लेशसंस्पर्शवर्जिताः ।
नास्य मुक्ता इवात्मानो भवन्ति करुणस्पदम् ॥

(न्यायमञ्जरी)

इसके उत्तरमें कहा गया है कि जीव अनादि है और अनादिकालसे उसके कर्मोंके संस्कार फलभोगके लिये अवशेष रहते हैं । तब जीवोंको नहीं भोगे हुए अपकर्मोंके फलका भोग कराकर उन्हें परमशान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये जगत्‌की रचना करना भगवान्‌की कृपा ही है—

अथवा अनुकम्पयैव सर्गसंहारावारमतामीश्वरः ।
नन्वत्र चोदितम् अनुपपन्नं तु अनादित्वात् संसारस्य शुभाशुभसंस्कारानुविद्धा एवात्मनस्ते च धर्माधर्मनिगडसंवृत्त्वादपवर्गपुरद्वारप्रवेशमलभमानाः

कथं नानुकम्प्याः, अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण च तत्फलं भोगाय नरकादिसृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्। (न्या० मं०)

परंतु न्यायदर्शनके इस कथनमें पुनः आपत्तिका अवकाश है कि न्यायदर्शनका अपवर्ग वा मोक्ष दुःखाभावमात्र है—**'अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावासमानकालीनो दुःखध्वंसः'** (त० सं० दीपिका) इसमें सुखकी अनुभूति नहीं है। ऐसी दुःखाभावकी अनुभूतिमात्र तो सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें भी रहती है। तब सृष्टि करनेमें अनुकम्पा क्या हुई? श्रीरामानन्दसम्प्रदायका अपवर्ग दुःखाभावमात्र नहीं, प्रत्युत परमानन्दकी प्राप्ति और अक्षय सुख-भोगरूप नित्यधाम साकेतकी प्राप्ति एवं भगवान्‌के साथ आनन्दभोग है—

परं पदं सैवमुपेत्य नित्यममानवो ब्रह्म पथेन तेन।
सायुज्यकादि प्रतिलभ्य तत्र प्राप्यस्य सन्नन्दति तेन साकम्॥
(श्रीवैष्ण० म० भा० १८५)

अतएव सृष्टिके पूर्व जीवको आनन्दाभाव तथा भगवान्‌ने सृष्टि कर उनके पूर्व कर्मोंके फलोंका भोग कराकर उन्हें परमानन्दलोक साकेतकी प्राप्ति करानेका द्वार खोल दिया है। यह उनकी परम अनुकम्पा है, यही सिद्ध होता है, जिस प्रकार किसी द्रव्यके तत्त्व-निरूपणमें उसके 'गुण'का भी ग्रहण होता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत गुणके निरूपणसे ही द्रव्यका निरूपण होता है। वायुमें रूप-गुण नहीं है। फिर भी **'रूपरहित स्पर्शवान् वायुः'** कहकर उसमें नहीं रहनेवाले गुण 'रूप' से ही उसका निरूपण किया जाता है। उसी प्रकार 'भगवत्तत्त्व'के निरूपणमें भगवान्‌की करुणा, वत्सलता, क्षमा, माधुर्य, सौहार्द, सौन्दर्य, सौलभ्य, सौशील्य, निखिलजनआह्लादकत्व, प्रकाशकत्व आदि अनन्त गुणोंका भी ग्रहण होता है। ये सभी निखिल हेय प्रत्यनीक भगवत् दिव्य गुण भी भगवत्तत्त्व हैं। इस सम्प्रदायमें भगवत्तत्त्वमें केवल परात्पर ब्रह्म श्रीरामजीका ही ग्रहण नहीं है, प्रत्युत उनके साथ ही उनकी नित्य परात्परा शक्ति श्रीसीताजी भी समान और अनिवार्यरूपसे गृहीत हैं—**'श्रीभगवद्रामचन्द्राभिमतानुरूपस्वरूपविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकासंख्येयकल्याण-गुणगणां पद्मवनालयां पद्मासनां पद्मदलायताक्षीं नित्यानपायिनीं भगवतीं निरवद्यां श्रीसीतां श्रीरामदिव्यमहिषीमखिलं जगन्मातरमशरण-शरण्यामनन्यशरणः शरणमहं प्रपद्ये॥'** (श्रीरामार्चन-पद्धति)

इस सम्प्रदायकी 'श्रीसीतोपनिषद्'में निरूपित भगवत्तत्त्व-रूपा सीताजी भगवत्तत्त्वरूपमें विधिवत् प्रतिपादित हैं—इसमें न केवल भगवान् एवं उनकी परात्परशक्ति सीता मात्र, प्रत्युत **'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक'** के सिद्धान्तानुसार भगवद्भक्त—(**'मो ते अधिक संत कर लेखा।' 'राम ते अधिक रामके दासा'** **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्** (ना० भ० सू० ४१) गुरु **'आचार्यं मां विजानीयात्'** एवं भक्ति (भगवत्प्रेम) भी भगवत्तत्त्व ही हैं।

इसी प्रकार इस सम्प्रदायमें भगवत्तत्त्वसे तात्पर्य—भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम इन चारोंसे हैं। ये चारों नित्य माने गये हैं तथा यहाँ हरि गुरु संत भी भगवत्तत्त्वके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस सम्प्रदायमें **'पालनात् पूर्णत्वाच्च परः श्रीराम उच्यते'**, एवं **'परो हि भगवान् रामः परे लोके विराजितः'**,के अनुसार श्रीरामको परब्रह्म ही माना है। विस्तार-भयसे उपर्युक्त श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर-के श्लोकोंमें निरूपित भगवत्तत्त्वकी विस्तृत व्याख्या नहीं की जा सकी। श्लोकोंसे ही उसे समझा जा सकता है।

इस सम्प्रदायमें भगवान्‌को नित्य शरीरी माना जाता है। इसकी पुष्टि करते हुए वर्तमान् जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्यजीने अपने अद्वितीय ब्रह्मसूत्र-भाष्य **'वैदिक भाष्यम्'**में इस प्रकार लिखा है—**'न हि शरीरित्वमनित्यत्वेन व्याप्तम्। जन्यत्वं हि**

व्याप्तमनित्यत्वेन। न हि ब्रह्मणः शरीरं जन्यं जातं वा अनादिनस्तस्य सर्वमनाद्येव। अजन्मनस्तस्य सर्वमजन्मैव। सर्वद्रष्टार्थद्रष्टुः सर्वश्रोतृणः सर्वशक्तिमतश्च तस्य शरीरं तदतिरिक्तसकलशरीरविलक्षणमेव। न च शरीरोपपादनमवैदिकमिति वाच्यम्।' अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। (ऋ० १। ३२। १०)। पाञ्चभौतिकत्वाभावादजन्यत्वाद्दृश्यत्वाच्च नैव स्पृशति ब्रह्मशरीरमनित्यत्वापत्ति समापत्तिरिति। (ब्र० सू० १। १। २२ वैदिकभाष्य)

इस प्रकार श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें भगवान् नित्य शरीरीरूपमें निरूपित एवं मान्य हैं, जो सर्वविलक्षण हैं। इस सम्प्रदायमें भगवान् रामके समान भगवती सीता भी तत्त्वरूपा स्वीकृत हैं। अतएव जानकीसहस्रनाममें उनके नाम **'तत्त्वरूपिणी, तत्त्वकुशला, तत्त्वात्मा'** इत्यादि (श्रीजानकीचरितामृतम्, श्लोक ५२) परम निष्ठासे आदृत हैं। इस प्रकार श्रीरामानन्दसम्प्रदायका **'भगवत्तत्त्व'** 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' श्रीसीतारामात्मक **'सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ।'** पूर्णरूपेण प्रस्थिति एवं सुप्रसिद्ध है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यका भगवत्तत्त्व-दर्शन

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर, साहित्यकार)

पुष्टिमार्गके प्रतिष्ठापक श्रीमद्वल्लभाचार्यद्वारा प्रतिपादित मत—'शुद्धाद्वैत 'ब्रह्मवाद', या 'अविकृत परिणामवाद'के नामसे प्रसिद्ध है। आचार्यने नवधा भक्तिको साधन-भक्ति मानकर मर्यादाभक्तिके रूपमें स्वीकार किया है और **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** मन्त्रको पुष्टिमार्गका 'शरण-मन्त्र' घोषित किया है। उनके आराध्य श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। उनकी समस्त लीलाएँ बड़ी मधुर और आनन्ददायिनी हैं। आपने अष्टछापके महाकवि सूरदासको इन लीलाओंका भेद बताकर भगल्लीला-गान करनेका आदेश दिया था। सूरदासजीने अपनी 'सूरसारावली' में कहा है—'श्रीवल्लभगुरु तत्त्व सुनायौ लीलाभेद बतायौ।'

महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने परमाराध्य श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिके प्रचारद्वारा भगवत्तत्त्वको उजागर किया। इस उद्देश्यसे उन्होंने समस्त भारतकी अनेक यात्राएँ कीं। आपकी पहली यात्रा चैत्र सं० १५४५ में आरम्भ हुई, जिसे आपने सं० १५५४में उज्जैन आकर समाप्त की। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीने देशभरमें भ्रमण कर भगवान् श्रीकृष्णके भक्तितत्त्वको सर्वसाधारणको समझाया और तीसरी यात्रामें सं० १५५० में आप व्रजधाम पधारे। उस समय वहाँ सिकन्दर लोदीके अत्याचारोंसे समस्त व्रज उत्पीड़ित हो रहा था। उसने व्रजके प्राचीन देवालयोंको नष्ट करनेके आदेशके साथ मूर्ति-पूजापर भी कड़ी पाबन्दी लगा दी थी। नये मन्दिरोंके निर्माणपर भी राजकीय प्रतिबन्ध था, परंतु वल्लभाचार्यने इसकी अवहेलनाकर श्रीनाथजीके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा प्रचलित करते हुए गोवर्धनगिरिपर श्रीनाथजीका नया मन्दिर वि० सं० १५७६ में वैशाखकी अक्षय तृतीयाको बनवानेका उपक्रम किया और सबको निर्भय होकर भगवान् श्रीनाथजीकी सेवा-पूजा करनेके लिये प्रोत्साहित किया।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने साधना-पक्षमें आत्मसमर्पणको ही भक्तिका प्रधान उपादेय माना है। आपके अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दघन हैं। उनको प्राप्त करनेके लिये ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति आदि मार्ग विवेचित हुए हैं। ईश्वरीय आनन्द स्थूल चेतनाका विषय नहीं है, बल्कि आत्मनिष्ठ अनुभूति है। भौतिक वासनामें लिप्त मानव निर्गुणकी उपासना कर ही नहीं सकता। श्रीवल्लभके अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और यह समस्त सृष्टि उन्हींकी आत्माभिव्यक्ति है। श्रीमद्वल्लभाचार्यने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध तथा कुछ

अन्य स्कन्धोंपर जो टीका लिखी है, वह 'सुबोधिनी' के नामसे प्रसिद्ध है। उसीके पृ० १६६ में उपर्युक्त विवेचन हुआ है। श्रीवल्लभाचार्य महान् भक्त होनेके साथ ही दर्शनशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् थे। वेदार्थकी मीमांसा करनेवाले 'ब्रह्मसूत्र' जो श्रीवेदव्यासकी रचना है, उसपर अनेक ऋषियों और आचार्योंने व्याख्याएँ लिखी हैं। इन्हीं सूत्रोंपर वल्लभने 'अणुभाष्य' लिखा है। इसमें आपने अन्यान्य वादोंका निराकरण करके वेदसम्मत ब्रह्मवादका वेदव्यासके आशयानुसार प्रतिपादन किया है। 'तत्त्व-दीपनिबन्ध' के ९० वें श्लोकमें भक्तिके विधानकी चर्चा है। आचार्य वल्लभके मतानुसार किसी भी भावसे भगवान्‌की भक्ति उनके अनुग्रहको प्राप्त करा सकती है और यह अनुग्रह या पुष्टि, अनन्तगुण एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न भगवान्‌की सृष्टि-लीलाके समान ही लीला है। नवधा भक्ति मर्यादामार्गियोंद्वारा भी सेव्य है, किंतु पुष्टि-मार्गियोंके लिये तो एकमात्र भगवत्सेवाकी ही उपादेयता है।

आचार्य वल्लभके उद्बोधक उपदेश

देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गाया हुआ भगवद्गीताशास्त्र ही एकमात्र शास्त्र है। देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्यदेव हैं। उन भगवान् श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र मन्त्र हैं और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य-कर्म हैं।[1] समस्त लौकिक विषय-अहंता-ममतासे युक्त होकर श्रीकृष्ण जो आनन्दके समुद्र हैं, उनका चिन्तन करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णके चरणमें आत्म-निवेदन करनेपर किसी भी भाँतिकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।[2] वे सर्वथा अनुग्रह रूप हैं, वे लौकिक व्यक्ति की तरह व्यवहार नहीं करेंगे।[3] जिस जीवकी प्रभु श्रीकृष्णकी सेवा और कथामें गाढ़ आसक्ति है, उसका कभी नाश नहीं होता—ऐसा मेरा मत है।[4] श्रीवल्लभाचार्यजीने तन-मन-धन सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित कर दिया था। उन्होंने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके नायक पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णके महत्त्वको उनके सार-तत्त्वको सर्वोपरि बताते हुए मानवको अनन्य भक्ति-भावसे केवल उन्हींपर सर्वथा निर्भर रहनेका उपदेश दिया था। आचार्यने स्वयं श्रीकृष्णाश्रयपर सभी प्रकारसे निर्भय निर्भर रहनेका भक्तोंके सामने आदर्श उपस्थित किया था। उसीसे आर्त, निःसहाय, दुर्बल-दुःखी, जीवोंको सान्त्वना, संतोष, निर्भयता और निश्चिन्तता मिली थी और वे सभी परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णकी शरणमें आकर अपना जीवन सफल करने लगे थे।

आचार्य वल्लभने अपने देशव्यापी भ्रमणमें ८४ नयी बैठकें स्थापित कीं, पर उन्होंने किसी प्राचीन तीर्थधामकी कभी अवमानना नहीं की। परमपावन जगन्नाथपुरीमें एकादशीके व्रतके दिन किसी भक्तने जब श्रीजगन्नाथका भात उनके हाथमें रख दिया तो श्रीवल्लभाचार्यने बड़े भक्ति-भावसे उस महाप्रसादको अपने हाथमें ग्रहण किया, किंतु व्रत होनेसे उसे खाते कैसे? परब्रह्मस्वरूप भगवत्-प्रसादका तिरस्कार भी करना उन्हें अभीष्ट न था, अतः वे धैर्य और भक्तिभावके साथ रातभर प्रसादको हाथमें लिये हुए मधुर श्लोकोंसे उसका स्तवन करते रहे। सूर्योदय होनेपर दूसरे दिन दीनोंको भवसागरसे पार उतारनेवाले श्रीकृष्णस्वरूप भगवान् श्रीजगन्नाथस्वामीका दर्शन करके उस प्रसादको ग्रहण किया। कहना न होगा कि भगवत्तत्त्वको समझने, निभाने और दूसरोंको समझाने तथा प्रेरणा देनेके लिये आचार्य वल्लभकी ऐसी अनोखी भक्तिकी कई बातें मार्गदर्शक हैं और सर्वसामान्यको भगवद्विश्वासी बनानेमें बड़ी उपयोगी है।

१–एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

२–तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः। आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवं विचिन्तयेत्॥

३–चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः यदा प्रीतः। भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥

४–सेवायां कथायां वा यस्यासक्ति दृढा भवेत्। यावज्जीव तस्य नाशो न क्वापीति मे मतिः॥

इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य मन, वाणी, कायाको सर्वथा सर्वभावेन श्रीकृष्णको समर्पित करते हुए अपने आराध्यकी अष्टयाम सेवाके विविध आयोजन कर प्रभुको नूतन विविध भाँतिकी भोग-सामग्रीका भोग लगाते रहे। तत्त्वदर्शी आचार्यने, श्रीकृष्ण ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर आदिदेव पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं—इस भगवत्तत्त्वको सबको समझानेमें ही अपना समस्त जीवन लगा दिया था।

भगवत्तत्त्वकी विभुता

(कविसम्राट् स्व० श्रीहरिऔधजी)

है रूप उसी विभुका ही, यह जगत् रूप है किसका ?
है कौन दूसरा कारण, यह विश्व कार्य है जिसका ?
है प्रकृति-नटी लीला तो है कौन सूत्रधर उसका ?
अति दिव्य दृष्टिसे देखो भव-नाटक प्रकृति पुरुषका ॥
है दृष्टि जहाँतक जाती, नीलाभ गगन दिखलाता।
क्या यह है शीश उसीका, जो व्योमकेश कहलाता ?
वह प्रभु अनन्तलोचन है जो हैं भव-ज्योति सहारे।
क्या हैं न विपुल तारक ये उन आँखोंके ही तारे ?
जितने मयंक नभमें हैं वे उसके मंजुल मुख हैं।
जो सरस सुधामय हैं सब जगती-जीवनके सुख हैं॥
चाँदनीका निखर खिलना, दामिनीका दमक जाना।
उस अखिल-लोक-रञ्जनका है मंद मंद मुसुकाना॥
उसके गभीरतम रवका सूचक है घनका निस्वन।
कोलाहल प्रबल पवनका अथवा समुद्रका गर्जन॥
अपने कमनीय करोंसे बहु रवि-शशि हैं तम खोते।
क्या हैं न हाथ ये विभुके जो ज्योति-बीज हैं बोते ?
भव-केन्द्र हृदय है उसका नभ जीवन-रस संचारी।
है उदर दिगन्त, समाई जिसमें विभूतियाँ सारी॥
हैं विपुल अस्थिचय उसके गौरवित विश्वके गिरिवर।
हैं नसें सरस सरिताएँ तन-लोभ-सदृश हैं तरुवर॥
जिसके अवलम्बन द्वारा है प्रगति विश्वमें होती।
है वही अगति-गतिका पग, जिसकी रति है अघ खोती॥
है तेज तेज उसका ही, है श्वास समीर कहाता।
जीवन है जगका जीवन, है सुधा-पयोधि विधाता॥
हैं रातें हमें दिखातीं, फिर वर वासर है आता।
यह है उसकी पलकोंका उठना-गिरना कहलाता॥
जिनसे बहु फलित ललित हो बनता है विश्व मनोहर।
उन सकल कलाओंका है विभु अति कमनीय कलाधर॥

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें उपास्य भगवत्तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीगोविन्ददासजी 'सन्त' धर्मशास्त्री, पुराणतीर्थ)

श्रीहरिप्रियायुध सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र स्वनिर्मित 'वेदान्तदशश्लोकी'के चौथे और पाँचवें—इन दो श्लोकोंमें भगवत्तत्त्वका स्वरूप बतलाते हुए ध्यान करते हैं—

> स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
> मशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
> व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
> ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥
> अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
> विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
> सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
> स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥
> (वे० द० ४ । ५)

'जो स्वभावसे ही समस्त दोषोंसे मुक्त अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस—इन प्राकृतिक गुणोंसे परे (गुणातीत) हैं और समस्त कल्याणगुणोंकी राशि हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चारों व्यूह जिनके अङ्ग हैं और जिनके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, जो समस्त पापोंके हरण करनेवाले हैं, ऐसे सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वोपास्य परब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका हम ध्यान करते हैं। साथ ही, उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके समान गुण और स्वरूपवाली एवं उनके वामाङ्गमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान अनन्त सखियोंद्वारा सदा सेव्यमान भिन्ना-भिन्नात्मिका भगवान्की परमाह्लादिनी चिच्छक्ति तथा निज भक्तोंको भुक्ति-मुक्ति आदि समस्त मनोऽभिलषित कामनाओंको प्रदान करनेवाली श्रीवृषभानुनन्दिनीका हम सदा-सर्वदा स्मरण करते हैं।'

'रसो वै सः' इस श्रुतिवाक्यानुसार भगवत्तत्त्व रस-स्वरूप है। रस शब्दसे ही रास शब्द बना है। इसी रस-रासके द्वारा आनन्दकी उपलब्धि होती है। अतः भक्तों-(रास-रसिकजनों-)को परमानन्द प्रदान करनेहेतु वही भगवत्तत्त्व युगलरूपमें परिणत हो गया; यथा—

> 'तस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम् ।'
> (सम्मोहनतन्त्र)

> 'येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
> र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत् ।'
> (अथर्ववेदीय श्रीराधातापिन्युपनिषद्)

> 'राधाकृष्णात्मिका नित्यं कृष्णराधात्मिको ध्रुवम्'।
> (ब्रह्माण्डपुराण)

> 'हरेरर्द्धतनू राधा राधिकार्द्धं तनुर्हरिः ।'
> (श्रीनारदपाञ्चरात्र)

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान्के अन्यतम शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यजीने भी कहा है—

> श्रीराधिकाकृष्णयुगं सनातनं
> नित्यैकरूपं विगमादिवर्जितम् ।
> (औदुम्बरसंहिता)

हिन्दी भाषाके एक कविने भी ठीक कहा है—

> कृष्ण है सो राधिका, राधिका है सो कृष्ण।
> न्यारे निमिष न होत है, समुझि करहु जनि प्रश्न ॥

संत कबीरदासजीने भी एक दोहेमें श्रीराधा-कृष्णकी नित्य-एकताका वर्णन करते हुए बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

> कबिरा धारा अगम की, सद्गुरु दई लखाय।
> उलट ताहि पढ़िये सदा, स्वामी संग लगाय ॥

वे कहते हैं कि हमारे श्रीसद्गुरुदेवने हमें अगम, अलख, अगोचर निरञ्जनकी धाराको लखा दिया अर्थात् जता दिया है। उस 'धारा'को उलटकर पढ़नेसे 'राधा' हो जाता है। उसके स्वामी श्रीकृष्णको राधाके साथ जोड़कर पढ़िये अर्थात् 'राधाकृष्ण' ऐसा बोलकर भजन-स्मरण कीजिये।

जिस प्रकार जल और उसकी तरङ्ग कभी भिन्न (अलग) नहीं हो सकते, ठीक उसी प्रकार श्रीश्यामाश्याम प्रियाप्रियतम युगलकिशोर श्रीवृन्दावन-विहारी-विहारिणीका विभाग एवं वियोग नहीं हो सकता।

आगे चलकर इसी परम्परामें अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य आदि वाणीकार श्रीश्रीभट्ट-देवाचार्यजी महाराज एवं रसिकराजराजेश्वर महावाणी-कार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने 'श्रीयुगलशतक' तथा 'श्रीमहावाणीजी' नामक अपने वाणीग्रन्थोंमें भी इसी भगवत्तत्त्वकी रसमयी उपासनाका प्रतिपादन किया है; जैसे—

प्यारी तन श्याम, श्यामा तन प्यारो,
ज्यों दर्पण में नैन, नैन में नैन सहित दर्पण दिखवारो।

ये भगवत्तत्त्व युगलस्वरूप इतने और ऐसे ओत-प्रोत हैं कि जो कभी भी एक दूसरेसे पृथक् (अलग) नहीं हो सकते। जैसे हाथमें दर्पण लेकर कोई व्यक्ति उसमें अपना मुख देखता है तो उसमें अपने नेत्र भी दिखायी देते हैं और उन नेत्रोंमें हाथमें दर्पण लिये हुए वह द्रष्टा भी दिखायी देता है, ठीक उसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दरके श्रीअङ्गमें श्रीकिशोरीजीकी झलक बनी रहती है तथा श्रीकिशोरीजीके कमनीय कलेवरमें श्रीश्यामसुन्दरकी छवि समायी हुई रहती है। इस विषयमें यह वाक्य मननीय है कि—

'राधां कृष्णस्वरूपां वै कृष्णं राधास्वरूपिणम्'।

तथा—'एक स्वरूप सदा द्वै नाम' एवं—

'एक प्रान द्वै गात है, छिन बिछुरे न समात'

(श्रीमहावाणीजी)

इस युगलस्वरूप भगवत्तत्त्वकी उपासनाका सदुपदेश केवल भगवान् निम्बार्कने ही नहीं, अपितु अनादि वैदिक सत्सम्प्रदायप्रवर्तक श्रीहंस भगवान्‌ने भी श्रीसनकादि मुनिजनोंको सदुपदेश किया था, जिसका उल्लेख करते हुए श्रीसनत्कुमारजीने अपने शिष्य देवर्षि श्रीनारदजीको उपदेश करते हुए सनत्कुमारीय योगरहस्य-(२। ११)में कहा है कि—

यथा हि हंसस्य मुखारविन्दा-
च्छ्रुतं मया तत्कथितं रहस्यम्।
गोविन्दमाद्यं शरणं शरण्यं
भजस्व भद्रं यदि चेच्छसि त्वम्॥

—और वहीं (२। १०में)भी यह कहा है—

'यथा श्रुतं हंसमुखारविन्दात्
तथा विधानं कथयामि साम्प्रतम्।'

अर्थात्— (श्रीसनत्कुमारजीने कहा—)'हे देवर्षि! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीराधा-माधवगोविन्द प्रभुकी शरण लो, यह हमने अपने गुरुदेव श्रीहंस भगवान्‌के मुखारविन्दसे सुना है।'

इसी परम्परागत भगवत्तत्त्वकी उपासनाको बताते हुए श्रीनिम्बार्क भगवान्‌ने भी कहा है—

उपासनीयं नितरां जनैः सदा
प्रहाणये ज्ञानतमस्तु वृत्तैः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे॥

(वेदान्तदशश्लोकी)

'घोर अज्ञानरूप मायाकी निवृत्ति अर्थात् त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) तापोंसे मुक्त होनेके लिये भक्तजनोंको इसी युगलतत्त्व परब्रह्म श्रीराधासर्वेश्वरकी सदा-सर्वदा निरन्तर परम्परागत उपासना करनी चाहिये।'

परमपूज्य लोकाचार्य श्रीसनन्दनादि मुनिवरोंने समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता देवर्षि श्रीनारदजी महाराजको इसी उपासनाका उपदेश दिया था। अतः इस परम्परामें—

राधया सहितो देवो माधवो वैष्णवोत्तमैः।
अर्च्यो वन्द्यश्च ध्येयश्च श्रीनिम्बार्कपदानुगैः॥

*

उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार भगवत्तत्त्वकी युगल उपासनाका ही विधान है।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजीके मतमें ब्रह्म, जीव और जगत्—ये तीनों तत्त्व यथार्थ (सत्य) हैं। ब्रह्मसे जीव और जगत्का भेद भी है और अभेद भी। जीव और जगत्की स्वतन्त्र स्थिति और प्रवृत्ति नहीं है। ये सदा—सर्वदा भगवदधीन हैं। जीव और जगत् ब्रह्मात्मक होनेसे तथा इनकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे ये ब्रह्मसे अभिन्न हैं और नामरूपादिसे भिन्न भी हैं। भेदाभेद, भिन्नाभिन्न और द्वैताद्वैत ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

जड़-चेतनात्मक समस्त विश्व ब्रह्मात्मक अतएव अपने उपास्य-(आराध्य-) का अंश एवं अङ्ग है। अतः किसीका भी अपमान न किया जाय, किसीसे भी विद्वेष करना अपने उपास्यसे ही विद्वेष करना मानना चाहिये। विश्वके कण-कणमें अनुराग एवं प्रेम होनेपर ही विश्वम्भर प्रभु संतुष्ट होते हैं; क्योंकि वे अणु-अणुमें व्याप्त हैं। रजका एक कण भी ऐसा नहीं मिल सकता कि जहाँपर अपने आराध्य प्रभु विराजमान न हों। प्रभु सर्वत्र एवं सदा विद्यमान हैं।

ऐसे भगवान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र एवं सर्वोपरि होनेसे सर्वोपास्य हैं।

श्रीचैतन्य-सम्प्रदायमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री, तीर्थद्वय, रत्नद्वय)

चित्-अचित् समस्त जगत्के मूलकारण, सबके एकमात्र आश्रयतत्त्वको शास्त्रोंमें 'अद्वय या अभेद ज्ञान' कहा गया है।[1] जीव और जगत्का परब्रह्मसे भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं; क्योंकि जीव और जगत् भगवान्की शक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये मूलतत्त्व निर्विशेष नहीं; सविशेष है।[2] 'अद्वयज्ञान' रूप वस्तुका पूर्णतम दर्शन ही जीवोंका सर्वोत्कृष्ट प्राप्य तत्त्व है। अधिकार-भेदसे प्रत्येक साधक एक ही 'अद्वयज्ञान' तत्त्वका अपने-अपने अधिकारके अनुसार एक-दूसरेसे भिन्न रूपमें दर्शन करता है। ज्ञानाधिकारी उसे ब्रह्मके रूपमें, योगाधिकारी परमात्माके रूपमें तथा भक्तिका अधिकारी भगवान्के रूपमें दर्शन करता है।[3] इस प्रकार शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्तिके कारण परतत्त्व विविध रूपसे प्रतीत होता है—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्।

ब्रह्म—यह अद्वयज्ञानतत्त्वकी अपूर्ण एवं आंशिक प्रतीति है, इससे वस्तुके पूर्णतम स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती। 'ब्रह्म' शब्दसे केवल नाम, रूप, गुण और क्रियादिसे रहित एक निर्विशेष भाव अथवा गुणका बोध होता है, जैसे चर्म-चक्षुओंसे सूर्य निर्विशेष ज्योतिः-स्वरूप दीख पड़ते हैं।[4] भक्ति-चक्षु प्राप्त होनेपर निर्विशेष ब्रह्म-ज्योतिको भेदकर जीव उसके भीतर ज्योतिके आधार अखिल रसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करता

१—वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ (श्रीमद्भा० १। २। ११)

२—चैतन्य-चन्द्रोदयनाटक ६। ३६

३—भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः। ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥ (लघुभागवतामृत पृ० १५८ पर उद्धृत स्कन्दपुराणका वचन)

४—ब्रह्म निर्धर्मकं वस्तु निर्विशेषममूर्तिकम्। इति सूर्योपमस्यास्य कथ्यते तत्प्रभोपमम्॥ (लघुभाग० १। ९९)

है। 'ब्रह्म' स्वयं कोई वस्तु नहीं है, वह भगवत्तत्त्वका गुण है[1] और गुणकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, वह गुणोंका आश्रय करके रहता है। परतत्त्वको 'ब्रह्म' कहनेसे एक आंशिक प्रतीतिगत व्यतिरेक सत्ताकी अनुभूति होती है, परंतु वह परतत्त्व नहीं है।

परमात्मा—कुछ दार्शनिकोंने थोड़ी दूर आगे बढ़कर शक्तियुक्त परमात्म-तत्त्वको स्वीकार किया है। सशक्तिक तत्त्ववादी परमात्माको माया-शक्तियुत स्वीकार करते हैं।[2] सांख्य और पातञ्जलयोगियोंमें यह विचार अत्यन्त स्पष्ट है। इसीलिये गीतामें कोरे ज्ञानियोंकी अपेक्षा योगियोंकी प्रधानता स्वीकार की गयी है।[3] जिस प्रकार अनन्त स्फटिक खण्डोंपर एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित होकर पृथक्-पृथक् प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अद्वयज्ञानतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णका अंश ही अनन्त संख्यक व्यष्टि जीवोंमें प्रतिफलित होकर अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें प्रकाशित होता है, जिसे योगी ध्यानद्वारा देखनेका प्रयत्न करते हैं।[4] फलतः ब्रह्मतत्त्वसे परमात्मतत्त्वकी श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है, किंतु जगत्‌की सृष्टि होनेके पश्चात् भगवान्‌का जो अंश मायाशक्तिके अधीश्वररूपसे जगत्‌में प्रवेशकर जगत्‌के नियामकरूपमें स्थित है, वही स्वतः जगदीश्वर या विश्वव्यापी पुरुष है; निष्कर्षतः इस परमात्मतत्त्वसे परमनित्य भगवत्तत्त्वकी श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है।

भगवान्—सर्वशक्तिमान् परतत्त्वको 'भगवान्' कहा जाता है। फलतः जिसके भीतर शक्तिका पूर्णतम विकास होता है, उसका न्यूनतम विकासवाले पदार्थसे अधिक होना स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवतके १।२।११ वाले पद्यमें तत्त्व वस्तुको अन्तमें भगवान् ही कहा गया है। भगवान् व्रजेश्वर श्रीकृष्णका ही अपर पर्याय है। नवजलधरकान्ति सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही 'भगवान्' शब्दके वाच्य हैं। वे नित्य सगुणस्वरूप हैं।[5] वे सर्व-कारणकारण, युगपद् विरुद्धधर्माश्रय, अवतारी तथा भगवतत्त्वके पूर्णतम प्रकाश हैं। औपनिषद् ब्रह्म श्रीकृष्णके चिद्विग्रहकी प्रभामात्र हैं, योगियोंके ध्येय परमात्मा श्रीकृष्णके ही अंश हैं। इस प्रकार ब्रह्म तथा परमात्मा उनकी ही खण्ड तथा आंशिक प्रतीतियाँ हैं। भगवान् ही सर्वहितोपदेष्टा, सर्वदुःखहर्ता एवं सर्वाधिक गुणशाली हैं। भगवान् और उनका श्रीविग्रह दोनों ही सच्चिदानन्दघन हैं। उनमें देह और देहीका भेद नहीं है, फिर भी 'राहोः शिरः'के सदृश औपचारिक प्रयोग होता है[6]। वे ही विभिन्न अवतार धारण करके जगत्-हित और भक्तोंके चित्ताकर्षणके लिये विविध लीलाएँ करते हैं। वे[7] सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। उनकी अचिन्त्य

१ (क)—तद् ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् किरणार्कोपमाजुषोः। ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः॥
(भ० रसा० सिन्धु, पूर्व २।८५)

(ख)—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् (गीता १४।२७)

२ (क)—अन्तर्यामित्वमयमायाशक्तिप्रचुरचिच्छक्त्यंशविशिष्टं परमात्मेति। (भगवत्संदर्भ)

(ख) तुलनीय गीता ९।४, १३।२ का रामानुजभाष्य तथा महाभारत वनपर्व ६।४६।

३—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। (गीता ६।४६)

४—तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्। प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥
(श्रीमद्भा० १।९।४२)

५—श्रीभगवत एव सर्वहितोपदेष्टृत्वात्, सर्वदुःखहरत्वात्, परमात्मरूपत्वात् सर्वाधिकगुणशालित्वात् परमप्रेमयोग्यत्वमिति। (जीवगोस्वामी तत्त्वसंदर्भ, पृष्ठ ३३)

६—सच्चिदानन्दसान्द्रत्वाद् द्वयोरेवाविशेषतः। औपचारिक एवात्र भेदोऽयं देहदेहिनोः॥ (लघुभागवतामृत)

७—एवम्भूतोऽपि मायया कृपया जगद्धिताय सर्वस्यापि स्वात्मानं प्रति चित्ताकर्षणाय देहीव क्रीडति। (भगवत्संदर्भ)

पराशक्ति अन्तरङ्गरूपमें चिच्छक्ति, बहिरङ्गरूपमें मायाशक्ति और तटस्थरूपमें जीवशक्ति है। चिच्छक्तिके संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—ये तीन प्रकार हैं। सर्वशक्तिवरीयसी श्रीराधा, श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं। वस्तुतः राधा-कृष्ण एक होते हुए भी रसास्वादनके लिये दो हैं, अतः दोनोंमें स्वरूपगत भिन्नता होते हुए भी अभिन्नता है। गौड़ीय वैष्णवोंके प्रधान उपास्य यही हैं[1]। उनके सम्प्रदायमें भगवत्तत्त्वका विवेचित रूप यही है।

इस प्रकार एक अद्वयज्ञानतत्त्वके अन्तर्गत ही भगवान् परतत्त्व हैं[2]। ब्रह्म उनका गुण है, परमात्मा उनका अंश है। अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न भगवान् (श्रीकृष्ण) ही उस परतत्त्वकी पूर्ण प्रतीति हैं। सच्चिदानन्दघन-विग्रह श्रीकृष्ण ब्रह्म और परमात्माके आश्रय हैं अथवा ब्रह्म और परमात्मा उसी विशेष्यके दो विशेषण हैं।[3] श्रीमद्भागवतके—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** इस परिभाषारूप प्रतिज्ञावाक्यके द्वारा श्रीकृष्णको स्वतन्त्र बतलाकर उन्हें ही मुख्यतम प्रतिपाद्यके रूपमें निश्चित किया गया है। भागवतमें अनेक स्थानोंपर इस तथ्यका उल्लेख हुआ है। यह भी विचारणीय है कि शास्त्रोंमें बहुधा 'परब्रह्म', 'पूर्णब्रह्म' और 'परमात्मा' शब्दोंके व्यवहार देखे जाते हैं, किंतु 'परम भगवान्' शब्दका व्यवहार कहीं भी नहीं देखा जाता। भागवतमें 'पूर्णब्रह्म' का प्रयोग सविशेष तत्त्वके लिये ही किया गया है और गीतामें[4] भी इस प्रकारके प्रयोग मिलते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अखिलरससमुद्र तथा माधुर्यकी चरमतम सीमाके प्रीतिपूर्ण आकर्षण हैं[5]। अन्य देवता, विविध अवतार एवं नारायणसे भी अधिक चार गुण श्रीकृष्णमें नित्य वर्तमान हैं—(१) सर्वलोकचमत्कारिणी लीला, (२) अतुलनीय प्रेममाधुरी, (३) तीनों लोकोंको आकर्षित करनेवाली मुरलीकी तान, (४) चराचर विश्वको चकित और मुग्ध कर देनेवाली अतुलनीय रूपश्री। उनकी लीला नित्य है, जो दो प्रकारकी है—(१) प्रकट और (२) अप्रकट[6]। भगवान्‌की लीला गङ्गाके अखण्ड प्रवाह अथवा ज्योतिश्चक्रके किसी-न-किसी ब्रह्माण्डमें अनवरत चला करती है[7]। लोक-लोचनके गोचर न होना ही उनकी अप्रकटता है।

वस्तुतः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌में वस्तुभेद नहीं है, जो जिस रूपको जितनी दूरतक[8] देख सकते हैं, वे उसीको देखकर सर्वोत्तम बतलाते हैं। भागवतमें दृष्टिभेदका एक और हेतु बताया है, जिसे श्रीरूप-गोस्वामीने भी 'लघुभागवतामृतम्'में उद्धृत किया है—

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥
(श्रीमद्भा० ३। ३२। ३३)

—इस विवेचनको इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

१—ब्रह्म परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय-ज्ञानतत्त्व (श्रीकृष्ण)की विभिन्न प्रतीतियाँ हैं।

२—जीव अपने ज्ञानाधिकारमें श्रीकृष्णकी अङ्गच्छटाको निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें देखता है। यह परतत्त्व-दर्शनकी प्रथम प्रतीति है।

१—उपास्येर मध्ये कौन उपास्य प्रधान। श्रेष्ठ उपास्य युगल राधाकृष्ण नाम॥
(चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला)

२—यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्। (श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

३—भागवत १०। १४। ५४, ४—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। (गीता १०। १२)

५—भक्तिरसामृतसिन्धु, द० १। ३३। ३५

६—प्रकटाप्रकटा चेति लीला सेयं द्विधोच्यते। (लघुभागवतामृत–पृष्ठ २२९)

७—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला। ८—लघुभागवतामृत, पृष्ठ २३०।

३—जीव—योगाधिकारमें श्रीकृष्णके आंशिक स्वरूपको अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें देखता है, यह द्वितीय प्रतीति है।

४—जीव भक्ति-अधिकारमें सर्वगुणाधार निखिल ऐश्वर्य और माधुर्यके आश्रय परब्रह्म श्रीकृष्णका दर्शन करता है। यही जीवोंका पूर्ण और चरम-दर्शन है।

सनातनधर्ममें भगवत्तत्त्वकी व्यापकता

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, साहित्यायुर्वेदरत्न, विद्याभास्कर, डी० एस्-सी०)

'सनातनधर्ममें भगवत्तत्त्वकी व्यापकता'के विवेचनके पूर्व सनातनधर्मका परिचय आवश्यक है।

सनातनधर्म दो शब्दोंके योगसे बना है—सनातन और धर्म। इन दोनों खण्डोंका क्रमशः अर्थ है अनादि एवं धर्मशास्त्र-सम्मत सर्वमान्य आचार। भगवान् मनुने (मनुस्मृति २। १२ में) धर्मका स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात्—'वेद और धर्मशास्त्रमें जिन-जिन आचार-विचारोंके पालन अथवा त्यागकी व्यवस्था दी गयी हो तथा अपनी आत्मा जिनके पालनमें आत्यन्तिक कल्याणका अनुभव करती हो वही वास्तविक धर्म है।' इस धर्म-शास्त्रीय व्यवस्थाका यथावत् आकलन, प्रतिपादन जिस प्राणिमात्रके उपकारक मार्गमें हुआ है, वही सनातन-धर्म है। यह सनातनधर्म वेद भगवान्की ही भाँति अपौरुषेय एवं अनादि है। वेद-(अथर्व० १०। ८। २३) में इसके सम्बन्धमें इस प्रकार उल्लेख उपलब्ध होता है—

सनातनमेनमाहुरुत अद्यः स्यात्पुनर्भवः।
अहोरात्रे विवर्तेते अन्य अन्यस्य रूपयोः॥

अर्थात्—'जिस प्रकार एक ही अविच्छिन्नकाल सूर्यादि ग्रहोंकी गति-विगतिके क्रमसे दिनसे रात और रातसे दिनके रूपमें सतत नवल प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार एक ही सनातनधर्म सृष्टि, उत्पत्ति और प्रलयके कारण सतत अभिनवरूपमें प्रकट तथा प्रतिभासित होता है।' वेदोक्त इस सनातनधर्मके सम्बन्धमें सर्वप्रथम जिज्ञासा महाराज युधिष्ठिरके कथनमें उपलब्ध होती है, जो पुराणोंकी बहुमूल्य थातीके रूपमें श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार निबद्ध है। महाराज युधिष्ठिरने देवर्षि नारदसे प्रश्न किया—

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान् विन्दते परम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। २)

अर्थात् देवर्षे! मैं वर्ण, आश्रम और आचार-युक्त मनुष्योंके अभिमत सनातनधर्मको सुनना चाहता हूँ, जिसका पालन करनेसे मानव परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

देवर्षि नारदने महाराज युधिष्ठिरको उत्तर दिया—

'वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्।'
(श्रीमद्भा० ७। ११। ५)

अर्थात्—'हे राजन्! मैं तुम्हारे सामने भगवान् नारायणके मुखसे सुने हुए सनातनधर्मका वर्णन करता हूँ।'

देवर्षि नारदने इस प्रकार कहकर न केवल इसे आदि पुरुषसे सम्पृक्तकर आदिधर्मके पदपर आरूढ़ कर दिया है, अपितु सर्वगुणोंके आश्रयके मुखसे इसे प्रकटित कराकर इसे अव्याहतरूपमें सर्वगुणालय प्रेय और श्रेयका साधक भी प्रतिपादित कर दिया है।

पापान्निवारयति पाति च सत्सखेव
सोऽयं प्रसीदतु सनातनधर्मदेवः ॥

भाव यह कि यह सनातनधर्म अनादि, अनन्त, प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाला, मानवको पापकर्मसे विरत कर श्रेयमार्गकी ओर ले जानेवाला, ऐसा अविग्रही देव है जो भागवतोक्त अविज्ञातनामक बन्धुकी भाँति सतत हमारे साथ रहकर हमारा हितसाधन किया करता है। आदिदेव भगवान् नारायणके उत्तमाङ्गसे निःसृत होनेके कारण यह देवरूप तो है ही, भगवत्तत्त्वका व्यापक और विस्तारक भी निसर्गतः ही है।

इस सनातनधर्ममें भगवत्तत्त्वका निरूपण, प्रतिपादन जिस गरिमा, महत्ता और व्यापकताके साथ हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

सनातनधर्म एक, अद्वितीय, त्रिकालाबाधित परमेश्वरका उपासक है और अपने उस परमेश्वरको सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण विभिन्न नाम और रूपोंद्वारा सम्बोधित, पूजित कर आत्मतोषका अनुभव करता है। सनातनधर्म मानता है कि—**'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** और इसीलिये श्रीमद्भागवतके—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

इस कथनको समादृत करते हुए प्राणिमात्रको **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'**की भावनासे निहार गोस्वामी तुलसीदासजीके स्वरमें स्वर मिलाकर कह उठता है कि—

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

सनातनधर्म परमेश्वर अथवा भगवान्‌के साकार और निराकार दोनों रूपोंको मानता है; क्योंकि उसे अपने अधिष्ठान वेदसे उस भगवान्‌के दोनों रूपोंका प्रतिपादन इस रूपमें प्राप्त होता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (अथर्व०)

अर्थात्—'ब्रह्मके दोनों ही रूप हैं—साकार भी और निराकार भी।'

वेदादि शास्त्रोंमें जहाँ भगवान्‌को निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, निर्लेप, निर्विकार आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया गया है, वहाँ एकमात्र उद्देश्य उस प्रभुकी ब्रह्मदशाको अभिव्यक्त करना है। जहाँ उसे सगुण, साकार, सर्वशक्ति-सम्पन्न आदि नामोंसे सम्बोधित किया है, वहाँ उसकी ईश्वरदशासे परिचित कराना ही उद्देश्य है। जहाँ उसका वर्णन सृष्टिकर्ता, चतुरानन, हंसवाहन आदि नामोंसे हुआ है, वहाँ उसकी रजोगुणमयी ब्रह्मदशाका दिग्दर्शन कराना अभिप्रेत है। जहाँ चराचर प्रतिपालक, लक्ष्मीपति, रमारमण, वैकुण्ठाधिपति आदिद्वारा उसका ख्यापन हुआ है, वहाँ उस भगवान्‌की सत्त्वगुणयुक्त 'विष्णुदशा'का दिग्दर्शन कराया गया है तथा जहाँ उसे प्रलयंकर, भूतनाथ आदि नामोंसे वर्णित किया गया है, वहाँ उस भगवान्‌की तमोगुणप्रधान रुद्रदशाको प्रकट करना है। भाव यह है कि यद्यपि भगवान् एक हैं और वे ही सर्वोच्च सत्ताके रूपमें इस विश्वकी सारी गतिविधिका संचालन करते हैं तथापि जब वे मात्र योगिजन-ध्यानगम्य रहते हैं तब ब्रह्म, जब अखिल विश्वपर शासन करते हैं तब ईश्वर, जब सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त होते हैं तब ब्रह्मा, पालन-रक्षणकर्ममें प्रवृत्त होनेपर विष्णु और विनाशकर्ममें प्रवृत्त होनेपर रुद्र कहलाते हैं। इसी स्थितिको दृष्टिगत रख कैवल्योपनिषद्‌में कहा गया है—

'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः।'

अर्थात्—'वे ही एकमेव परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं।'

सनातनधर्म अणु-अणुमें उसी भगवान्‌को समाया हुआ देखता है और सारे विश्वको उसी प्रभुमें समाविष्ट

पाता है और कह उठता है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** अर्थात् वे प्रभु इतने महान् हैं कि यह चराचरात्मक अखिल ब्रह्माण्ड उन्हीं भगवान्‌में समाया हुआ है और इतना सूक्ष्म है कि एक-एक अणुमें वे समाये हुए हैं। वे कितने सूक्ष्म हैं—इसका अकल्पित आभास संत कबीर इन शब्दोंमें कराते हैं—**'पुहुप वास ते पातरो'**। पुष्पकी गन्ध कितनी सूक्ष्म होती है? उसका परिमाण क्या आजतक नापा जा सका है? अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने श्रीमुखसे कहा है कि मुझमें ही यह सारा विश्व सूत्रमें मणियोंकी भाँति पिरोया हुआ है—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
(७।७)

सनातनधर्म व्यापक दृष्टिकोण रखनेके कारण देवताओंको भी भगवद्रूपमें ही मान्य करता है। उसका विश्वास है कि भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ ब्रह्माण्डमें अनेकानेक कार्य सम्पादित करती हुईं मानवका आत्यन्तिक कल्याण करनेमें संलग्न रहती हैं। पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्रादि—सभीमें वे एक ही परमात्मा व्याप्त हैं। इसी मान्यताके आधारपर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि नाना-शक्ति-सम्पन्न परमात्माके ही अभिन्न चेतन-रूप—देवता कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त यज्ञादि सकाम कर्म करके अपने-अपने कर्मके अनुसार मृत्युके बाद दिव्य शरीर धारणकर स्वर्गादि लोकोंमें निवास करनेवाले मनुष्येतर प्राणियोंको भी देवता कहा जाता है। इन देवताओंको भगवान्‌के श्रीविग्रहका अङ्ग-प्रत्यङ्ग कहा गया है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथर्व १०।७।२७)

अर्थात्—'जिस परमात्माके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें तैंतीस करोड़ देवता अवयवरूपसे विभक्त होकर विराजमान हैं, उन तैंतीस करोड़ देवताओंको कुछ एक ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं।'

ये देवता मनुष्योंसे भिन्न होते हैं। वे अस्थिरहित, दिव्यदेहधारी पवित्र वायुकी भाँति निर्मल एवं स्वच्छ होते हैं—

तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः। (शतपथ २।१।१८)
अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः॥
(अथर्व० ४।३४।२)

भगवान्—परमात्मा सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। भक्तोंके उद्धारके लिये, दुष्टोंके संहारके लिये वे अवतार धारण कर बार-बार पृथ्वीपर आते हैं। जिस प्रकार अग्नि सर्वव्यापक है, परंतु वह संघर्षसे किसी एक स्थान-विशेषमें उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सर्वव्यापक प्रभु भक्तोंके साधनारूपी संघर्षसे उनके अपेक्षित स्थानपर प्रकट भी हो जाते हैं और सर्वव्यापी भी बने रहते हैं। वेद इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।'
(शुक्लयजु० ३१।१९)

अर्थात्—समस्त चराचरात्मक विश्वके पालक भगवान् गर्भके बीचमें विचरते हैं। वे अजन्मा होते हुए भी (भक्तोंकी रक्षा, धर्म-स्थापना आदिके लिये) बार-बार अनेक रूपोंमें विशेषरूपसे प्रकट होते अर्थात् अवतार धारण करते हैं—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (ऋग्वेद ६।४७।१८)।

अर्थात्—'भगवान् अपनी माया शक्तियोंद्वारा अनेक बनकर संसारमें अवतरित होते हैं।'

सनातनधर्म उस भगवत्तत्त्वको आत्मसात् करनेके लिये भक्तिका सहारा लेनेका उपदेश करता है। श्रीमद्भागवतमें बताया गया है कि—

'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।'

किंतु यह लक्ष्यप्राप्ति ईश्वरकृपासे ही सम्भव है, अतः सनातनधर्मने शास्त्रों, पुराणों एवं अन्यान्य विहित कार्योंके निर्देशद्वारा मानवको ईश्वरोन्मुख बनानेका प्रयास किया है। आद्य शंकराचार्यजीने विवेकचूडामणिमें

सनातनधर्मके इसी दृष्टिकोणको उजागर करते हुए लिखा है कि—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात् परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥
(विवेकचूडामणि २)

'प्राणियोंको पहले तो मानवरूपमें उत्पन्न होनेका अवसर मिलना ही दुर्लभ होता है और उससे भी दुर्लभ है ब्राह्मण-शरीर पाना, उससे वैदिक धर्ममार्गपरक बनना, उससे विद्वत्ता, उससे आत्मतत्त्व-विवेचनपरायण होना और उससे भी दुर्लभ है ब्राह्मी स्थितिमें पहुँच पाना। इस प्रकार करोड़ों जन्मोंके पुण्य जमा हुए विना व्यक्ति मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।'

पुराणोंमें इसीलिये कहा गया है—**'दुर्लभं मानुषं लोके।'** गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इसीलिये मानवजन्मको 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' प्रतिपादित करते हुए भगवत्-स्मरणद्वारा उसे सार्थक बनाने और लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेके लिये प्रेरित किया है।

ईश्वरकी कृपा प्राप्त करनेके लिये मानवको स्वाध्याय, सत्सङ्ग, तीर्थाटन, देवदर्शन, ईश्वरप्रणिधान आदि उपायोंका सहारा लेना पड़ता है। इन उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ है सत्संगति। कहा भी गया है—**'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'**। इन सब साधनोंका आश्रय मानव-जन्ममें ही सम्भव है—यदि मानवशरीर प्राप्त न हो तो सबका सम्पादन एवं मोक्षप्राप्ति सम्भव ही नहीं है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम भगवत्-भक्तिका आश्रय लेना चाहिये। भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। वे मन्दिरोंमें विशेष शक्तिसे तथा उत्तम साधकके हृदयमें प्रेमाकर्षणसे आकृष्ट होकर प्रतिष्ठित हैं। सामान्य प्राणियोंके हृदयमें भी वे ही प्रभु विराजमान हैं। भगवान्ने गीता-(१८। ५८) में कहा है कि 'अर्जुन! सभी भूतोंके हृद्देशमें ईश्वर विद्यमान है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

संत कबीर भी यही कहते हैं—

'तेरा साईं तुज्झमें ज्यों पुहुपनमें बास।'
(साखीकबीर ४१)

परंतु वह उसी प्रकार प्रकट नहीं होता जैसे दूधमें घी व्याप्त होनेपर भी विना मथे प्रकट नहीं होता। उस प्रभुको रिझानेके लिये—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

श्रीमद्भागवतोक्त नवधाभक्तिका आश्रय लेना भी आवश्यक है। तभी उस प्रभुकी कृपादृष्टि प्राप्तकर मानव आत्यन्तिक कल्याणकी दिशामें उन्मुख हो सकता है।

सनातनधर्ममें १८ महापुराण, १८ पुराण तथा १८ उपपुराणों इन ५४ तथा अन्यान्य सूत्रग्रन्थ आदिके माध्यमसे भगवत्तत्त्वका प्रतिपद ख्यापन किया गया है। देवता, पितृगण, ग्रह, नक्षत्र एवं अन्यान्य प्राकृतिक उपादानों आदिके माध्यमसे भगवान्के दिव्यरूप, दिव्य कर्म आदिका दिग्दर्शन कराकर मानवको उनकी ओर उन्मुख बनानेका प्रयास किया गया है।

पुराण-श्रवण एवं सत्सङ्गको मानवके लिये परमावश्यक प्रतिपादित कर सनातनधर्मने प्रतिपगपर भगवत्तत्त्वको इस प्रकार व्यापकरूपमें प्रतिपादित किया है कि मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार भगवान्के अपेक्षित प्रिय रूपकी ओर अग्रसर हो नवधाभक्तिमें किसी निजी मनोऽनुकूल प्रकारको अपनाकर उन प्रभुकी कृपादृष्टि प्राप्त करे, जिससे जीवनके लक्ष्यतक सहज ही पहुँच सके। भगवत्तत्त्वकी व्यापकताका मूल लक्ष्य यही है कि मानव अपने जीवन-लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये उपयोगी साधन ले सकें।

भागवतमें श्रीराम-कृष्णकी तात्त्विक एकता

(लेखक—पं० श्रीहरिनामदासजी 'वेदान्ती')

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें शौनकादि ऋषियोंद्वारा किये गये प्रश्नोंमेंसे—

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया।
(अ० १, श्लो० १८)

—इस अवतारविषयक प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीसूतजीने ब्रह्मादि बाईस अवतारोंका संक्षिप्त निरूपण कर अन्तमें कहा—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
(श्रीमद्भा० १ । ३ । २८)

पूर्वोक्त ब्रह्मादि अवतार **'पुंसः'** अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजीके कोई अंशावतार और कोई कलावतार हैं, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रजी स्वयं भगवान् श्रीरामजी ही हैं, क्योंकि भगवत्पदवाच्य एवं पुरुषपदवाच्य श्रीमद्भागवतादि अनेक ग्रन्थोंमें श्रीरामजीको ही कहा गया है। यथा—श्रीमद्भागवतमें कलियुगके लिये एकमात्र आराध्य श्रीरामजीकी वन्दना करते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(११ । ५ । ३३)

'महापुरुष! आपके सदा ध्यान करनेयोग्य, संसारके छुड़ानेवाले, भक्तोंके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले, तीर्थोंके आश्रयभूत, श्रीशंकरजी तथा श्रीब्रह्माजीसे नमस्कृत, शरणागतकी रक्षा करनेवाले, सेवकोंके दुःखोंको दूर करनेवाले, नमस्कार करनेवालोंका पालन करनेवाले, संसारसमुद्रसे पार करनेके लिये नौकास्वरूप चरणकमलकी मैं वन्दना करता हूँ।' वे महापुरुष कौन हैं? इसका परिचय लक्षणाद्वारा आगे श्लोकमें बतलाया जाता है—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(११ । ५ । ३४)

'महापुरुष! जिसने धर्मात्मा पिताजीकी आज्ञासे देवताओंसे अभिलषित दुस्त्यज श्रीअयोध्याकी राज्य-लक्ष्मीको त्यागकर वनके लिये प्रस्थान किया और जो दण्डकारण्यमें अपनी प्रियतमा श्रीजनकराजदुलारीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मायामृग मारीचके पीछे दौड़े, उन आपके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ।' इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें महापुरुषपदसे श्रीरामजीको ही सम्बोधित किया गया है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें भगवान् श्रीरामजीकी स्तुति करते हुए ब्रह्माजीकी भी वाणी है—

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
....॥
(अ० ७ श्लो० २३)

'हमारी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर कलया अर्थात् भरतादि भ्राताओंके साथ **'कलेशः—सर्वकलानामीशः कलेशः'** समस्त कलाओंके स्वामी भगवान् श्रीरामजी इक्ष्वाकुवंशमें प्रकट होकर भाई लक्ष्मण और भार्या श्रीसीताजीके साथ पिता श्रीदशरथजीकी आज्ञासे वनमें प्रवेश किये।' उपर्युक्त प्रसङ्गमें श्रीब्रह्माजीने श्रीरामजीको कलाओंका स्वामी कहकर उन्हें सर्वावतारी बताया। पञ्चम स्कन्धमें श्रीव्यासजीने श्रीहनुमान्‌जीकी भी उपासनाका निरूपण करते हुए कहा है—**'किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसंनिकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते'** (अ० १९, श्लोक १) इत्यादि—एवं वे—**'ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय**

नम आर्यलक्षणशीलव्रताय ... महापुरुषाय महाराजाय नमः (अ० १९, श्लो० ३) इत्यादि आठ मन्त्रोंसे श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामकी प्रार्थना करते हैं।

उपर्युक्त पङ्क्तियोंमें भी आदिपुरुष एवं महापुरुष भगवान् श्रीरामजीको ही बतलाया गया है और श्रीहनुमान्‌जीने भजनीय भगवान्‌का संकेत करते हुए कहा—

> सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
> सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
> भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
> य उत्तराननयत् कोसलान् दिवमिति ॥
> (श्रीमद्भा० ५ । १९ । ८)

'देवता, दैत्य, वानर, नर सभी प्राणी जो उत्तरकोसलदेशवासियोंको साथमें अपने धाम ले गये ऐसे उत्तम सुकृतज्ञ मनुष्यके समान आकारवाले हरि श्रीरामजीका सर्वतोभावेन भजन करे।' अतः पुंसः पदवाच्य श्रीरामजी हैं। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्तमें 'बाहू राजन्यः कृतः' इस मन्त्रसे द्विभुज पुरुषरूप भगवान्‌का निरूपण किया। श्रीमद्भागवत नवम स्कन्धके दसवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें समुद्रके द्वारा भगवान् श्रीरामजीसे प्रार्थनाका उल्लेख है—

> न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्
> कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम्।
> यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
> मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः ॥

'व्यापक प्रभो! कूटस्थ, आदिपुरुष, जगत्‌के स्वामी आपको जड़-बुद्धि मैं नहीं जानता।' श्रीशुकदेवजीने भी कहा—

> भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः।
> सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥
> (श्रीमद्भा० ९ । ११ । १)

आचार्यवान् भगवान् श्रीरामजीने उत्तम सामग्रीसे पूर्ण यज्ञद्वारा सर्वदेवमय देव आत्माका पूजन किया। यज्ञके अन्तमें दक्षिणा प्राप्तकर परम प्रसन्न हो ब्राह्मण बोले—

> अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर।
> यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥
> (श्रीमद्भा० ९ । ११ । ६)

११वें स्कन्धमें भी 'सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः'में रामजीको ही धार्मिक सर्वोपरि यशस्वी तथा परम पुरुष कहा गया है। इन प्रसङ्गोंमें भी भगवान् पदवाच्य श्रीरामजीको कहा। श्रीमद्भागवत (१० । ४७ । १७) भ्रमरगीतके प्रसङ्गमें गन्धके लोभसे चरणके समीप आये हुए भ्रमरको श्रीश्यामसुन्दरका दूत मानकर श्रीजी कहती हैं—

> मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
> स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
> बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-
> स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ।

—मैं 'उस कालेको अच्छी तरह जानती हूँ, उसने वालीको व्याधकी तरह छिपकर मारा और राजा बलिके यज्ञमें उपेन्द्रके रूपमें जाकर तीन पद पृथ्वी माँगकर अपने पैरसे त्रिलोकीको नापकर कम पड़नेपर शरीर नापा; फिर काककी तरह बाँध दिया। पञ्चवटीमें शूर्पणखा उससे प्रेम करने आयी, उसका नाक-कान कटवा लिया ऐसे कालेसे अब प्रीति नहीं करना है, इच्छा पूर्ण हो गयी।' उपर्युक्त श्लोकसे भी भगवान् श्रीरामजी ही कृष्णचन्द्रजीके रूपमें अवतरित हुए यही सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण एवं पद्मपुराण तथा कृष्णोपनिषद्‌में मङ्गल श्लोक और प्रथम ऋचामें वर्णन है— —

> पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
> दृष्ट्वा रामं महात्मानं भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ॥
> (पद्मपुराण)

> रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
> ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥
> (श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण ३ । १)

> यो रामः कृष्णतामेत्य सार्वात्म्यं प्राप्य लीलया।
> अतोषयद्देवमौनिपटलं तं नतोऽस्म्यहम् ॥
> (वन्दना)

'श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽनवद्यमवतारान् वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति । भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ इत्यादि' । (कृष्णोपनिषद् प्रथम श्लोक)

'जिस समय श्रीरामजी तपस्वीके वेषमें दण्डकारण्यमें पधारे उस समय वहाँके निवासी महर्षिगण सर्वाङ्गसुन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीविग्रहको देखकर आश्चर्यचकित हो गये और आलिङ्गन करनेकी इच्छा व्यक्त करने लगे । तब श्रीरामजीने कहा—'यह मेरा मर्यादापुरुषोत्तमका अवतार है । इस स्वरूपसे आपलोगोंकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता । द्वापरमें मेरा कृष्णचन्द्रके रूपमें अवतार होगा और आपलोग गोपिकाओंके रूपमें प्रकट होंगे । उस समय मैं आपलोगोंका यह मनोरथ पूर्ण करूँगा । उन्हीं देवता, ऋषि, मुनियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये भगवान् श्रीरामजीका श्रीकृष्णचन्द्रजीके रूपमें अवतार हुआ । श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण लङ्काकाण्डमें श्रीसीताजीकी अग्नि-परीक्षाके अवसरपर देवगणके सहित उपस्थित श्रीब्रह्माजीके समक्ष श्रीरामजीने कहा—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥
(युद्ध० ११७ । ११)

'मैं अपनेको दशरथ-पुत्र मनुष्य मानता हूँ, जो मैं हूँ और जो मेरा सम्बन्ध है तथा जिसलिये आया हूँ आप बताइये ।' तब ब्रह्माजीने कहा कि—**भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः** इत्यादि—'आप मनुष्य नहीं हैं, किंतु शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मको धारणकर सृष्टिके आदिमें श्रीमन्नारायणके रूपमें जलमें शेष-शय्यापर शयन करनेवाले भगवान् हैं ।' अगस्त्य-संहितामें इन्हें—**'सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः'** कहा है । वराहसंहितामें भी **'नारायणोऽपि रामांशः शङ्खचक्रगदाधरः'** कहा गया है । अर्थात् श्रीमन्नारायण भी श्रीरामजीके ही अवतार हैं । सनत्कुमारसंहितामें **'किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम् ।'** (रामस्तवराज) श्रीयुधिष्ठिरजीने श्रीव्यासजीसे पूछा कि मुक्तिके साधनके रूपमें कौन-सा तत्त्व जप करने और ध्यान करनेयोग्य है । उत्तरमें श्रीव्यासजीने कहा कि—

धर्मराज महाभाग शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम् ॥
तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम् ।
श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम् ॥

'कैवल्य-पदके कारणस्वरूप गुणातीत स्वयंप्रकाश-स्वरूप मङ्गलस्वरूप ब्रह्मपदवाच्य तारक भगवान् परमतत्त्व श्रीरामजी ही जप और ध्यान करनेयोग्य हैं ।'

श्रीनारदजीने भी कहा—

'तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम्'
—तथा **'मत्स्यकूर्मवराहादिरूपधारिणमव्ययम्'**
अर्थात् तत्त्वस्वरूप श्रीरामजी मत्स्य-कूर्मादि अनेक रूप धारण करनेवाले अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित करनेवाले पुराणपुरुष हैं । श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डमें 'अज अगुन अरूपा'को 'कोसलपुर भूपा' बतलानेका भी यही तात्पर्य है । वहाँ अवतार-निरूपण-प्रसङ्गके विष्णुपुराणीय आक्षेपका भी पूर्ण समाधान प्राप्त होता है और अन्तमें सेवा-विनयके बाद प्रार्थना करते हुए देवता भी कहते हैं—

तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी । सदा एकरस सहज उदासी ॥
मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥

अर्थात् आप ही अनेक रूपमें अवतीर्ण होते हैं, यह कहा ।

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

—के अनुसार भगवान्‌के सभी अवतार पूर्ण हैं, किंतु मत्स्यादि अवतारोंमें सर्वसत्त्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि गुण रहनेपर भी आवश्यकतानुसार ज्ञान, क्रिया, शक्तिका प्राकट्य हुआ है और भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान्

श्रीकृष्णचन्द्र इन दो अवतारोंमें पूर्ण गुणोंका आविष्कार होनेके कारण पूर्णावतार माने जाते हैं। मनीषियोंने दो श्लोकोंमें भगवान्‌के लक्षणोंका निरूपण किया है—

(१) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीर्यते॥
(२) उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(१) 'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—इन छः वस्तुओंको भग कहते हैं, इनका जो अधिष्ठाता है उसको भगवान् शब्दवाच्य कहा गया है।' परमात्माके अतिरिक्त संसारमें सम्पूर्ण ऐश्वर्यादि कहीं नहीं प्राप्त हो सकते। इसलिये अन्यत्र भगवान् शब्दका प्रयोग औपचारिक ही है। (२) 'और जो प्राणियोंके उत्पत्ति-प्रलय, गति, अगति, विद्या और अविद्याके तत्त्वको जानता है वही तत्त्वतः भगवान् पदवाच्य है।' इस प्रकार यहाँ भगवान्‌के **'भगवान् स्वयम्'** अंशपर अनेक आर्ष-ग्रन्थोंके अनुसार समन्वयात्मक संक्षिप्त तात्त्विक विचार किया गया।

अध्यात्मरामायण और रामचरितमानसमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी)

भगवान् जब किसीपर विशेष कृपा करते हैं तो अपने श्रीमुखसे उससे भक्ति, मुक्ति, आत्म-ज्ञान तथा योगका तत्त्व प्रकट करते हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके समक्ष आत्मतत्त्वको प्रकाशित किया है। इसी प्रकार मानसमें भगवान् राम लक्ष्मण, नारद, शबरी, तारा, भरत और अवधनागरिकोंसे भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, जीव-ब्रह्म एवं कर्मके विषयमें अपना मत उपदेशोंके रूपमें प्रकाशित करते हैं। यह मानसका भगवत्तत्त्व है। कहते हैं, मानसपर अध्यात्मरामायणका अधिक प्रभाव है। पर दोनोंमें अन्तर यह है कि तुलसीदासजी भगवान्‌की सगुण भक्तिपर बल देते हैं तो अध्यात्मरामायण निर्गुण-भक्तिका विस्तारसे विवेचन करता है। मानसमें भगवान् श्रीराम कर्ममार्गको सम्मिलितकर सुग्रीवको मित्रके लक्षण भी बताते हैं,[1] पर अध्यात्म-रामायणमें इसका उल्लेख नहीं है। भगवान् राम पञ्चवटीमें कुटी बनाकर निवास करते हैं। लक्ष्मणजी प्रश्न करते हैं—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥
(रामच० मा० ३। १४)

वे ज्ञान-वैराग्य, माया-जीव, ईश्वर तथा भगवान्‌की भक्ति-तत्त्वोंको जानना चाहते हैं। अध्यात्मरामायणमें भी वे एकान्तमें भगवान् रामसे पूछते हैं—प्रभो! मुझे मोक्षका साधन, विज्ञानसहित ज्ञान, वैराग्य और भक्ति बताइये—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मोक्षस्यैकान्तिकीं गतिम्।
ज्ञानं विज्ञानसहितं भक्तिवैराग्यबृंहितम्॥
(३। ४। १७-१८)

मानसमें भगवान् राम पहले मायाके रूपकी व्याख्या करते हैं, मायाके दो भेदोंको स्पष्ट करते हैं, फिर ज्ञान-वैराग्य बतलाकर ईश्वर-जीवके अन्तरको प्रकट करते हैं। अन्तमें भक्तिको विस्तारसे समझाते हैं। मानसकी प्रायः पूरी शक्ति भक्तिके स्वरूप-वर्णनमें ही संलग्न है। रामका स्पष्टीकरण है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

'अध्यात्मरामायणमें भगवान्‌का कथन है—शरीर आदि आत्मा नहीं हैं। शरीर, इन्द्रिय-मन आदिमें आत्मबुद्धि

---

[1] १—रामच० मा० ४। ६। १ से ९ तक।

रखना ही माया है। मायाके द्वारा ही संसारकी रचना या कल्पना की गयी है। मायाके दो रूप हैं—(१) विक्षेप और (२) आवरण। विक्षेपके द्वारा महत्-तत्त्वसे लेकर ब्रह्मातककी सारी स्थूल और सूक्ष्म सांसारिक कल्पना हुई है। स्थूल या सूक्ष्मरूपमें जो कुछ संसार हमसे चिपटा है, वह विक्षेप-मायाका ही कार्य है। दूसरी आवरणरूपा माया ज्ञानपर पर्दा डाले हुए हैं। इसीके कारण बिल्कुल असत्य होते हुए भी संसार हमें रज्जु-सर्पके समान सत्य प्रतीत होता है। विचार करनेपर संसारका तत्त्वतः कोई अस्तित्व नहीं दीखता। मनुष्य जो कुछ भी करता, देखता, सुनता या स्मरण करता है, वह सब स्वप्नके समान मिथ्या है। इस संसार-वृक्षकी जड़ हमारा मन है। इसीसे स्त्री, पुत्र तथा हमारे सभी सम्बन्ध जुड़े हुए हैं, नहीं तो वास्तविकता यह है कि ये कुछ नहीं हैं। ये आत्मा नहीं हैं। आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। स्थूल पञ्च-भूत (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु); पञ्च तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध); अहंकार, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, चिदाभास, मन तथा मूल प्रकृति—इन पचीसोंके समन्वित रूपको क्षेत्र या शरीर कहा गया है।'

मानसकार पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज अत्यन्त संक्षेपमें ग्यान-बिराग, जीव और ईश्वरकी व्याख्या करते हैं, वह क्रमशः यों है। ग्यान—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥

बिराग—

कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

योग और ज्ञान—

धर्म ते बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना।

जीव और ईश्वर—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥
(रामच० मा० ३। १५)

अध्यात्मरामायणकार विस्तारसे ज्ञानकी विवेचना करते हैं तथा जीव और ईश्वरको अभिन्न मानते हैं। साथ ही अध्यात्मकार ज्ञान-प्राप्तिके कई साधन बताते हैं, जिसमें भक्ति भी सम्मिलित है। उनका कथन है—'जीव और परमात्मा एक हैं। जिन साधनोंसे ज्ञान प्राप्त होता है—वे हैं (१) मानेच्छाका अभाव, (२) दम्भ, हिंसा आदिका त्याग, (३) दूसरोंके कटु-वचनोंका सहन, (४) सर्वत्र सरलभाव रखना, (५) मन, वाणी और शरीरद्वारा भक्तिपूर्वक सद्गुरुकी सेवा, (६) शरीर और मनकी शुद्धि, (७) सत्कार्य आदिको स्थिरता-पूर्वक करना, (८) मन, वचन, शरीरका संयम, (९) विषयोंसे विराग, (१०) अहंकारहीनता, (११) जन्म, मरण, बुढ़ापा, दुःख, जीवन आदिका विचार करना, (१२) आसक्तिहीनता, (१३) स्त्री-पुत्र, धन आदिसे स्नेह न करना, (१४) प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख-प्राप्तिमें समान भाव, (१५) राम सर्वत्र हैं, सबमें हैं—ऐसी बुद्धि, (१६) भीड़-भाड़रहित शून्य स्थानमें वास, (१७) सांसारिक स्त्री-पुरुषादिसे अरति, (१८) आत्म-ज्ञान-प्राप्तिमें सदा उद्योग एवं (१९) वेदान्त-विचार।

आत्मा, बुद्धि, प्राण, मन, देह, अहंकारसे अलग नित्य शुद्ध-बुद्ध है। इसका निश्चय करना ही ज्ञान है। वह सर्वत्र, पूर्ण, चिदानन्दरूप, अविनाशी, बुद्धि, मन आदि उपाधिरहित तथा परिणामादिसे रहित है। आत्मा ही देहादिको प्रकाशित करता, चलाता है। वह आवरणशून्य, अद्वितीय, सत्य, ज्ञानस्वरूप, असङ्ग स्वप्रकाश, द्रष्टा तथा विज्ञानसे जाना जाता है। आचार्य और शास्त्रके उपदेश तथा अध्ययनसे ज्ञात होता है कि आत्मा और परमात्मा एक हैं; यही ज्ञान है। ऐसा ज्ञान हो जानेपर मूल अविद्या कार्य-कारणसहित परमात्मामें विलीन हो जाती है, यही मुक्ति है। आत्मा वैसे सदा ही मुक्त

१—अध्यात्मरामायण ३।४।२१ से २९ तकका सारांश।

है। लक्ष्मण! ज्ञान और विज्ञान, वैराग्यसहित मैंने परमात्मा (आत्मा)का स्वरूप बताया है। जैसे रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे सब कुछ दिखायी पड़ता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही ईश्वर-भक्तिसे ही आत्माका साक्षात्कार प्राप्त होता है।

अब परमात्मामें भक्ति कैसे उपजती है, वह भक्ति बताता हूँ। भक्तिके नौ साधन हैं (१) भक्तोंका सत्सङ्ग, (२) मेरी सेवा, (३) एकादशी आदिका उपवास, (४) पर्व-त्यौहारोंको मनाना, (५) मेरी कथाका श्रवण, पाठ और (६) उसकी प्रेमपूर्वक व्याख्या करना, (७) निष्ठापूर्वक मेरी पूजा, (८) मेरे नामका कीर्तन और (९) सदा मेरा ध्यान। इनसे मुझमें अविचल भक्ति वृद्धिगत होती है। मेरी भक्तिसे जो युक्त है, वह ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यको शीघ्र प्राप्त कर लेता है।[1]

अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डकी 'रामगीता'में पुनः भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको विस्तारसे[2] आत्मा और परमात्माके अभेद-ज्ञानको समझाया है। लक्ष्मणका प्रश्न है—मैं अज्ञानके पार जाना चाहता हूँ। अतः मुझे ज्ञान दीजिये, भगवान् राम कहते हैं—'लक्ष्मण! जो ज्ञानको प्राप्त करना चाहता है, उसे समस्त कर्मोंका त्याग कर देना चाहिये। ये कर्म ही संसार-चक्रको चलाते हैं। ज्ञान ही जीवनका लक्ष्य है। ज्ञान स्वतन्त्र है, वह कर्मत्याग आदिके अधीन नहीं है। कर्म चाहे शास्त्रविहित हो चाहे अन्य, सभी त्याज्य हैं। आत्मा देहादिसे भिन्न है, जो न कभी मरता है न जन्मता है, न क्षीण होता है, न बढ़ता है। सदा अपनेको संसारसे भिन्न आत्मरूप जानना चाहिये। मेरे दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। सदा निर्गुण रूपका ध्यान करे, हाँ, कभी-कभी सगुणका भी करे[3]। वह मेरा ही रूप बन जाता है। वह अपनी चरणरजसे सूर्यके समान समस्त लोकोंको पवित्र कर देता है। श्रीभगवान्के इस प्रवचनमें ज्ञान और निर्गुणकी प्रधानता है, सगुणकी नहीं। भक्तिका संकेतमात्र है। उधर गोस्वामीजी ज्ञान और निर्गुणको स्वीकार करते हुए भी इनको प्रधानता प्रदान नहीं करते। वे सगुण और उसकी उपासनाको ही प्रतिष्ठित करते हैं।

भक्ति-तत्त्व

शबरी-प्रसङ्गमें भगवान् राम, रामचरितमानस तथा अध्यात्मरामायणमें नवधाभक्तिका उपदेश देते हैं। यह भागवतकी नवधाभक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

—इत्यादिसे सर्वथा भिन्न है।[4] रामचरितमानस तथा अध्यात्मरामायणकी यहाँ वर्णित नवधाभक्ति बहुत कुछ साम्य लिये है। रामचरितमानसकी नवधा भक्ति इस प्रकार है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

(मानस ३)

भगवान् रामका आश्वासन है कि जिसके पास इनमेंसे एक भी भक्ति है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। उधर अध्यात्मरामायणकी नवविधा भक्ति है—सज्जनोंकी संगति

१—अध्यात्मरामायण ३।४।३० से ५२ तकका सारांश, २—अध्यात्मरामायण ७।५।४ से ६२ तकका सारांश।

३—यः सेवते मामगुणं गुणात्परं हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन् पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ (अध्या० रामा० ७।५।६१)

४—इसका उल्लेख मानसमें—'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं' (३।१०।८)में हुआ है।

'सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ।' मेरी कथाका श्रवण, पाठ या संवाद **'द्वितीयं मत्कथालापः ।'** मेरे गुणोंका गान **'तृतीयं मद्गुणेरणम् ।'** (३।१०।२३)

मेरी कही वाणीकी व्याख्या करना तथा ईश्वर-बुद्धिसे आचार्यकी उपासना चौथी भक्ति है ।—**'व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्'** (३ । १० । २३), **आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा ।** पवित्र स्वभाव और यमनियमादिका पालन पाँचवी—**'पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ।'** (३ । १० । २४) । तथा मेरी पूजामें नित्यनिष्ठा छठी साधना है—**'निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।'** (३ । १० । २५) मेरे मन्त्रके साङ्गोपाङ्ग जपमें निष्ठा, सातवाँ साधन है—**'मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ।'** (३ । १० । २५)

आठवाँ साधन है—मुझसे अधिक मेरे भक्तोंकी पूजा, सब प्राणियोंमें मैं ही हूँ—यह भावना, संसारके पदार्थोंसे विराग तथा शम-दम आदिका धारण—

मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥
(३ । १० । २६)

ईश्वरतत्त्व-विचार—नवम साधन है—**'(अष्टमं) नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।'** (३ । १० । २७) । भक्ति-प्राप्तिकी सहज साधना सत्-सङ्गति है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सत संगति संसृति कर अंता ॥

रामका भक्त शिवका विरोधी नहीं हो सकता । देवोत्तम शिव तो भगवान् रामके परमभक्त हैं । भगवान् रामका निर्देश है कि मेरी भक्ति उसे सुलभ होगी, जो शंकरका भजन करेगा । भगवान् राम कहते हैं—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥
(रामच० मा० ७ । ४५)

फिर राम-भक्तिकी सुगमता और भक्तोंके लक्षण बताते हुए कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ॥
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥
(रामच० मा० ७ । ४६)

इस प्रकार अध्यात्मरामायणमें भक्ति और ज्ञानका महत्त्व प्रायः समान ही है ।

जगत्तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—) 'जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाशके समान निर्मल है, वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि सबमें सत्तामात्रका ही तो बोध होता है । रघुनन्दन ! मैंने सोनेके कड़ेमें बहुत विचार करनेपर भी विशुद्ध सुवर्णके सिवा कहीं कोई कड़ा नामकी वस्तु नहीं देखी । जलकी तरङ्गमें मैं जलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरङ्ग नहीं दिखायी देती, वहाँ भी जल ही है । अतः जहाँ तरङ्ग है, वहाँ भी जलके अतिरिक्त कुछ नहीं है । वायुके अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन (गतिशीलता) नामकी कोई वस्तु नहीं है । स्पन्दन सदा वायुरूप ही है । अतः इन दृष्टान्तोंके अनुसार यह जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । जैसे आकाशमें शून्यता है, मरुभूमिमें ताप ही जल है और प्रकाशमें सदा तेज स्थित है, उसी प्रकार ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं ।'

(योगवासिष्ठ ३ । ९)

परमात्मा और जीवात्मा

(लेखक—स्व० आचार्यवर्य पं० आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डकोप० ३ । १ । १)

भावार्थ—'एक वृक्षपर सदा साथ रहनेवाले और एक-दूसरेके मित्र—ये दो पक्षी बसते हैं। उनमें एक मीठे फल खाता है और दूसरा बिना खाये देखता रहता है।'

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।' (बृहदा० उप०)

भावार्थ—'जो सर्वभूतोंमें रहता हुआ, सर्वभूतोंका आत्माराम है, जिसे सभी प्राणी नहीं जानते, सर्वभूत जिसका शरीर है, पर जो सबके अन्तरमें रहकर सब प्राणियोंका नियमन करता है, वही तेरा अन्तर्यामी और अमर आत्मा है।'

पूर्वोक्त श्रुतियोंके उपदेशकी आलोचना करते हुए डाक्टर भाण्डारकरने लिखा है—'जिन श्रुतियोंमें 'सख्य' और 'अन्तर्यामित्व' का प्रतिपादन किया गया है उनका अद्वैतवादमें सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। अद्वैत-वेदान्तमें ये दोनों ही पक्ष माने गये हैं। यदि सख्य-सम्बन्ध तथा नियम्य-नियामक-भावका विशेषरूपसे विश्लेषण किया जाय और उन भावोंमें निगूढ़ सिद्धान्तको खोज निकाला जाय तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि **'तत्त्वमसि'** ही परम सत्य है।······तत्त्वदृष्ट्या खोज करते हुए भी यही सम्बन्ध सुश्लिष्ट प्रतीत होता है।'

जीव और ईश्वरके परस्पर सम्बन्धके विषयमें यहाँ कुछ सविस्तर विचार करना उचित है।

जीव और ईश्वरका 'सख्य' क्या वस्तु है—उन दोनोंकी मित्रताका क्या अभिप्राय है? जगत्‌के व्यवहारके अनुसार 'तुम' और 'मैं' एक दूसरेसे भिन्न होते हुए मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किंतु जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध इस प्रकारका नहीं हो सकता, यह सर्वसम्मत है। द्वैतवादी मानते हैं कि परमात्मा जीवात्माके अन्तर्‌में रहता है—घट-घटमें राम रम रहा है। किंतु वे 'अन्तर्' के शब्दके गम्भीर अर्थपर विशेष मनन नहीं करते। अद्वैतवादी इस विषयमें केवल इतना ही कहते हैं कि 'अन्तर्' शब्दके अर्थपर विचार करनेसे जीव और ईश्वरका तादात्म्य इस शब्दसे फलित होता है। एक चैतन्य दूसरे चैतन्यके अन्तर्‌में तादात्म्य-सम्बन्धके अतिरिक्त और किस रीतिसे रह सकता है? जड़ और सावयव पदार्थके सम्बन्धमें अन्तर् शब्दका उसके वाच्यार्थमें प्रयोग किया जा सकता है, किंतु चैतन्यके सम्बन्धमें जहाँ 'अन्तर्' और 'बहिर्' शब्दोंका व्यवहार किया जाता है, वहाँ हम देखते हैं कि इन शब्दोंका अर्थ 'तत्त्व' (Reality) और 'अतत्त्व' (Appearance) किया जाता है। एक सरल उदाहरण लीजिये। 'अमुक मनुष्य भीतरसे—अन्तर्‌से—बुरा नहीं है' यह प्रायः कहते हैं। यहाँ अन्तर् शब्दका क्या अर्थ है? अन्तर्‌से बुरा नहीं—इसका अर्थ यही है कि उसका तत्त्व—यथार्थस्वरूप—सौजन्ययुक्त है, किंतु उस मनुष्यका अतत्त्व—बाह्यरूप—निरर्थक है।

आत्माको ज्ञान, इच्छा, भाव आदि वृत्तियोंसे जुदा समझना वर्तमान मानस-शास्त्र (Psychology)के प्रतिकूल है। आत्मा एक अखण्ड वस्तु है, जो ज्ञानादि-वृत्तिरूपसे प्रकट होता है। यही आज-कलका सर्वसम्मत मानस-शास्त्रका सिद्धान्त है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि जीवात्मामें परमात्मा है तब इस कथनका यही तात्पर्य समझना चाहिये कि जीवात्मा परमात्माका

ही आभास है—उसका स्वकीय स्वाभाविक—आगन्तुक, उपाधिकृत नहीं—स्वरूप ही परमात्मा है। यही उसका भावार्थ समझना चाहिये।

यदि पूछो कि परमात्मा किसकी आत्मा है? इसका यही उत्तर है कि वह तो स्वयं ही आत्मा है, उसकी और आत्मा कैसे हो सकती है? परमात्मा अपनी ही आत्मा है अर्थात् अपने प्रकट स्वरूपकी आत्मा है। किंतु उसका प्रकट स्वरूप 'मैं' और 'तुम' सहित बाह्य और आन्तर विश्वके सिवा दूसरी क्या वस्तु हो सकती है? इस प्रकट स्वरूपका परमात्मा ही आत्मा है। इस सिद्धान्तसे अद्वैतवादीका कोई विरोध नहीं।

द्वैतवादी परमात्मा और जीवको परस्पर भिन्न समझते हैं। वे परमात्माको जीवात्माकी आत्मा नहीं मानते, किंतु परमात्माको जीवके ज्ञानका विषय बतलाते हैं। यदि परमात्माको अपने ज्ञानका विषय मान लिया जाय तो वह परमात्मा हमारे समक्ष विषयरूप होकर उपस्थित हो जाता है। यदि वह सामने विषयरूपसे उपस्थित हुआ तो वह हमारे अन्तर में किस रीतिसे रह सकता है? विषय (Object) और विषयी (Subject) एक लकड़ीके दो छोरकी तरह जुदे-जुदे हैं—एक छोर दूसरे छोरके अन्तर् में कैसे आ सकता है? द्वैतवादी इतना तो मानता ही है कि परमात्मा जीवात्माके अन्तर् में विराजमान है। अतएव परमात्मा जीवात्माके ज्ञानका विषय नहीं, बल्कि उसकी आन्तरतम आत्मा है।

अब दूसरी युक्तिपर विचार कीजिये। जीव एक वस्तु है और परमात्मा दूसरी—इस भाँति संख्या करनेपर यह प्रश्न उठता है कि उन दोनोंमें ऐसा कौन-सा तत्त्व अनुस्यूत है जो दोनोंको एक ही गणनामें अथवा वर्गमें रखता है? यदि कहा जाय कि उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ही दोनोंमें सामान्य है तो अद्वैतवादीको यह सर्वथा स्वीकार है। अनुपहित—शुद्ध-चैतन्यरूपसे ही वह तद् और त्वम्का तादात्म्य मानता है।

यथा यथा तत्त्वमसीति वाक्ये
विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा।
संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो-
रखण्डभावः परिचीयते बुधैः।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते
ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः॥

भावार्थ—'जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर सर्वज्ञ है। उनमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञतारूपी विरुद्ध धर्मोंको निकाल डालें तो दोनोंमें एक ही तत्त्व स्थित रहता है। ब्रह्म और आत्माका ऐक्य-प्रतिपादन करनेवाली 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिका यही तात्पर्य है।'

प्रसंगवश एक और प्रश्न भी विचारार्थ उपस्थित होता है। यदि उक्त विरुद्ध धर्मोंको निकाल डाला जाय तो फिर रहेगा क्या? इस प्रश्नके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि धर्मोंसे परे क्या कोई तत्त्व नहीं होता? यदि नहीं होता तो धर्मोंके अस्तित्व और स्वरूपका निरूपण भी किस प्रकार सम्भव हो सकता है? किसी भी आस्तिकने—आत्मवादी और ईश्वरवादीने—आजतक यह नहीं कहा कि धर्मोंसे परे तत्त्व होता ही नहीं। किंतु हमारे देशमें तथा यूरोपमें इस सिद्धान्तको नास्तिकोंने ही माना है। इस परिदृश्यमान जगत्के पीछे कोई वस्तु अवश्य है, इस सिद्धान्तपर ही ईश्वरवाद अवलम्बित है। इसी प्रकार आत्मवादीका भी यही निश्चय है कि सुख-दुःख-धर्मोंके पीछे आत्माकी सत्ता अवश्य है।

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार आप यदि यह कहें कि परमात्मा सगुण सिद्ध होता है तो इसपर निर्गुणवादी वेदान्तीको कुछ भी आक्षेप नहीं। जगत्का कारण निर्गुण है, यह वह नहीं कहता। जगत्का कारण तो हमेशा सगुण ही माना जाता है। निर्गुणवादमें सगुण नहीं माना जाता, यह कथन करनेके लिये शङ्कराचार्यने स्थल-स्थलपर जो यत्न किया है कि वह सगुणवादी गुण और गुणी इस प्रकारके दो तत्त्वोंको जैसे अन्तिम तत्त्व मान बैठते हैं, वैसे न मानकर उन

दोनों तत्त्वोंका निरूपण एक परमतत्त्वके द्वारा करना चाहिये। निर्गुणवादी यह नहीं कहते कि 'सगुण'— मनुष्योंके फुसलानेके लिये—शास्त्रकारोंने एक कल्पित पदार्थ रच डाला है। यदि गुण-जैसा कोई पदार्थ है तो सगुण भी हो सकता है; किंतु यदि गुणोंका परम तत्त्वरूप समझमें आ जाय और यदि वे गुण स्वतः स्वतन्त्र अस्तित्वरहित प्रतीत होने लगें, तो फिर सगुण नहीं रहता, यही निर्गुणवादका तात्पर्य है।

अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य तत्त्व

(लेखक—प्रो० चन्दुलाल व० डकराल, एम्० ए० (सं० अं०), काव्यतीर्थ)

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥
(महाभा० शान्तिपर्व ४७। ८४)

'जिनके भीतर सब कुछ वर्तमान है, जिनसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं सर्वस्वरूप हैं, सदा सब ओर जो व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्माको प्रणाम है।' यहाँ व्यासजीने वेदान्तसूत्र—**'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र १। १। २)की संक्षेपमें व्याख्या कर दी है। भगवान् शंकराचार्य इसे स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हैं कि परमतत्त्व निरञ्जन, निराकार एवं निर्गुण हैं। पारमार्थिक अवस्थामें ब्रह्म ही ऐसा है, इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु सामान्य लोगोंके लिये तो यह तत्त्व सर्वथा उनकी समझ-शक्तिसे परे ही रहता है। उन लोगोंके लिये तो सगुण-साकार-स्वरूप ही उपादेय रहा है। इसी तत्त्वका परिचय राम-कृष्ण, शिव, देवी आदि सगुण स्वरूपोंमें प्राप्त है। एक जगह श्रीरामका ध्यान इस प्रकार निर्दिष्ट है—

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम्।
राजेन्द्रं सत्यसंधं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम्॥
(श्रीरामरक्षास्तोत्र-२६)

श्रीकृष्णके विषयमें भी भारतीय मनीषियोंने अपने चिन्तनद्वारा अपनी लेखनीको सार्थक किया है। मधुसूदन सरस्वती-जैसे पण्डित जहाँ उनका दर्शन **'नीलं महः'**के रूपमें करते हैं; वहीं आचार्य शंकर उनका दर्शन—भजे **व्रजैकमण्डनं स्वभक्तचित्तरञ्जनम्**'के रूपमें करते हैं। अन्य तत्त्ववेत्ता उस परमात्माके विष्णुरूपको ही सर्वाधार और साध्य मानते हैं। जिनके तात्त्विक वर्णन और विवेचनोंसे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इसी प्रकार शिवके विषयमें भी मनीषियोंने भक्तिकी धारा बहाकर उसमें अपने-अपने भाव-प्रसून अर्पित किये हैं। शिवके समग्र परिवारका वर्णन, उनके वाहनरूप वृषभ, निवास-स्थान कैलास तथा शिवपार्षद और सेवकसमूह-गुणों इत्यादिका वर्णन बड़ा हृदयग्राही है। शिवतत्त्वका सभी वेद, उपनिषद्, शिव, स्कन्दादि पुराणों, 'शिवतत्त्व-रत्नाकर, 'शिवतत्त्व-सुधानिधि,' तथा रुद्रयामलादि तन्त्रों एवं शैवागमोंमें विस्तारसे उल्लेख है। इस तत्त्वके भिन्न-भिन्न पहलू हैं। इसका साधारण परिचय शिवकवच-स्तोत्रादिमें दिये गये उनके नामोंसे प्राप्त होता है। ये नाम हैं—सदाशिव, प्रणव, शशाङ्क-शेखर, कपालमालाधर, नागेन्द्रकुण्डल, नागेन्द्रहार, नागेन्द्रवलय, नागेन्द्रचर्मधर, मृत्युंजय, त्र्यम्बक और त्रिपुरान्तक आदि।

इसी प्रकार भगवत्तत्त्वको शक्तिके रूपमें देखनेवाले भक्तों और साधकोंने आद्याशक्तिके रूपमें देवीकी महत्ताका वर्णन भक्तिपूर्ण स्तोत्रोंमें किया है। यह भक्तिधारा लक्ष्मी, उमा, सरस्वती, वाराही, अन्नपूर्णा, दुर्गा, राधा, भवानी, काली, शीतला आदि देवियोंके गुण-कीर्तन तथा लीलाओंके रूपमें मार्कण्डेयपुराण, देवीभागवत आदि ग्रन्थोंमें सुलभ है। शक्तितत्त्वका

अतीव लोकप्रिय तात्त्विक वर्णन दुर्गासप्तशतीमें किया गया है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वदर्शी मनीषियोंने अपने-अपने भावके अनुसार इष्टदेवोंमें उस अनिर्वचनीय ब्रह्मरूप भगवत्तत्त्वका दर्शन किया है। जनमानसने भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उनमेंसे अपने प्रिय किसी एक स्वरूपको अपनाकर साधनाद्वारा अपने हृदयको शान्ति और विश्राम दिया है।

आजकी आवश्यकता है कि हम अपने दैनन्दिन जीवनमें सर्वत्र और सर्वव्याप्त भगवत्तत्त्वका अनुभव करें। जिस तत्त्वके उन्मेष और संकल्पमात्रसे दिन और रात्रि, सृष्टि और प्रलयका अस्तित्व है और जागतिक प्रत्येक क्रिया यहाँतक कि श्वासका आना-जाना भी जिसके अधीन है, ऐसा वह सर्वशक्तिमान् परमतत्त्व निश्चितरूपसे ध्येय और आराधनीय है। जो रात्रिमें सोनेकी, प्रातःकाल जागनेकी प्रेरणा देता है, जो तत्त्व हमारे खाये हुए अन्नका पाचन करता है, जिस तत्त्वके अनुग्रहसे हमें पवन, जल, प्रकाश आदिकी उपलब्धि होती है, उस सर्वोपरि तत्त्वके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिये। उसे जानने और प्राप्त करनेका सतत प्रयास करते रहनेमें ही इस जीवनकी सार्थकता है।

अपने विभिन्न रूपोंमें अस्तित्वका परिचय देनेवाली उस सर्वमयी शक्तिको हम चाहे जिस नामसे पुकारें; वह तत्त्व एक है। हमें अपने जीवनमें प्रतिपल यह अन्वेषण करते रहना चाहिये कि पारमार्थिक सत्तामें प्रवर्तमान परब्रह्म परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है और जगत्‌में दृश्यमान समस्त क्रिया-कलाप उसीका लीला-विन्यास या खेल है। इस प्रकार सर्वत्र उसी 'एक'का दर्शन करते हुए स्वधर्मका पालन करनेमें ही मानवकी समझदारी, संस्कारिता और सफलता है।
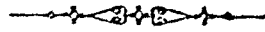
भगवत्तत्त्वका सामान्य परिचय

(लेखक—डॉ० श्रीरञ्जनजी एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

शास्त्रोंकी परिचर्चामें अनुबन्ध-चतुष्टयका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्तिशास्त्रमें ये अनुबन्ध इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—१—अधिकारी (जीवतत्त्व), २—सम्बन्ध-तत्त्व (भगवत्तत्त्व), ३—अभिधेय-तत्त्व (उपास्य-तत्त्व) और ४—प्रयोजन-तत्त्व (भक्तितत्त्व)। इस शास्त्रमें इस अनुबन्धचतुष्टयकी व्याख्या निम्नरूपेण की गयी है—

अधिकारी-तत्त्व

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवका कथन है कि भक्तिशास्त्रके प्रति श्रद्धावान् प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी (जीव) इसका अधिकारी है। जीव श्रीकृष्णका नित्य दास है। वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है और भेद-अभेदावस्थामें प्रकाशित होता रहता है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
(श्रीचैतन्यचरितामृतमें चैतन्यदेव)

भगवान्‌की तीन शक्तियोंकी परिणति इस अचिन्त्या भेदाभेदकी उत्पत्ति ही है—

कृष्णेर स्वाभाविक तीन भक्ति परिणति।
चित्-शक्ति, जीवशक्ति, आर माया-शक्ति॥
(चैतन्यदेव)

चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्ति—ये तीन प्रकारकी भगवान्‌की स्वभाविक शक्तियाँ हैं। इनमें जीव-शक्तिको तटस्था-शक्तिके नामसे अभिहित किया गया है। चित्त-शक्ति अन्तरङ्गा शक्ति है और माया-शक्ति बहिरङ्गा। नारदपञ्चरात्रके अनुसार चित् पदार्थ स्वयं सम्बन्धभूतरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है।

गुण-रागद्वारा रञ्जित होकर वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। गीताके अनुसार भी भगवान्‌की प्रकृति-भेदसे दो प्रकारकी हैं। (गीता ७।४-५)। अब प्रश्न उठता है कि तब फिर भगवत्तत्त्व क्या है? वस्तुतः पहले हमें आत्मतत्त्वको जानकर तब भगवत्तत्त्वका ज्ञान करना चाहिये। श्रीकृष्णने कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २।२९)

इसी प्रकार 'देवीपुराण'में भगवान्‌के भी अनेकरूप बतलाये गये हैं—

यथा तु व्यज्यते वर्णविचित्रे स्फटिको मणिः।
तथा गुणवशाद् देवी तात भावेषु वर्ण्यते॥
एको भूत्वा यथा मेघः पृथक्त्वेनावतिष्ठते।
वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशाद्यथा॥

(देवीपु० ३७।९४–९५)

'एक स्फटिकमणि जैसे भिन्न प्रकारके वर्णोंमें प्रकाशित होती है, उसी प्रकार देवी भगवती भी सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यके कारण नाना भावोंमें वर्णित होती हैं। एक ही मेघ अपने वर्ण और आकृतिके कारण पृथक्-पृथक् रूपोंमें दिखायी पड़ता है। ठीक उसी प्रकार देवी भी गुणोंके वशसे पृथक्-पृथक् अवस्थित होती है।' पाश्चात्त्य विद्वानोंकी मान्यता है कि वेदमें बहुदेवतावादका साम्राज्य है। पर हिंदूशास्त्र अनेकत्वमें भी एकत्वकी स्थापना करते हैं। वे कहते हैं—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

(निरुक्त, दैवतकाण्ड, अध्याय ७।४।८-९)।

विभि पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी महिमाका वर्णन है। पुराण-शास्त्र बार-बार इस बातपर जोर देते हैं कि एक ही परमतत्त्वके विविध प्रकाश हैं और वे स्वरूपतः अभिन्न हैं—

रजः सत्त्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकम्।
वदन्ति केचिद् ब्रह्माणं विष्णुं केचिच्च शंकरम्॥
एको विष्णुस्त्रिधा भूत्वा सृजत्यत्ति च पाति च।
तस्माद् भेदो न मन्तव्यस्त्रिषु देवेषु सत्तमैः॥

(पद्म० क्रिया० २।५–६)

'सत्, रज और तम—इन त्रिगुणोंको ही शरीरमें धारण करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका नाम निर्देश किया जाता है। फलस्वरूप सृष्टि, स्थिति और संहारका कार्य एक ही पुरुष जो सर्वव्यापी है अपने विविध रूपमें करता है। इसे ज्ञानी पुरुष भेदकी दृष्टिसे नहीं देखता।' विष्णुपुराणका कथन है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

(१।२।६२)

'एकमात्र भगवान् जनार्दन ही सृष्टि, स्थिति और संहाररूप क्रियाभेदसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञासे अभिहित होते हैं।' वेदादि समस्त भक्तिशास्त्र श्रीकृष्णके पारतम्यको स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार श्रीकृष्ण परतम हैं और उनके अतिरिक्त कोई उपास्य-तत्त्व नहीं। प्रायः सभी शास्त्र इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुकी स्वीकारोक्ति है—

कृष्णेर स्वरूप विचार सुन सनातन।
अद्वय ज्ञान तत्व ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व आदि सर्व अंशी, किशोर शेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

(सनातन-शिक्षा)

'कृष्ण अद्वय-ज्ञानतत्त्व और ब्रजमें ब्रजेन्द्र-नन्दन हैं। वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं। वे अंशी हैं, वे किशोर-विभोर-शेखर श्रीकृष्ण चिदानन्द-मूर्ति हैं, वे सर्वेश्वर हैं और सबके आश्रय हैं।'

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

'श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्द-विग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि मूलकारण हैं। गोविन्द

सब कारणोंके कारण हैं अर्थात् उनका कारण कोई नहीं।' श्रीमद्भागवतमें उसे ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—इन तीन शब्दोंसे अभिहित किया जाता है। तत्त्वदर्शी इसे अद्वय-ज्ञान-तत्त्व कहते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १।२।११)

एक ही अद्वय-तत्त्वके ये तीन रूप हैं। सर्वप्रथम जिज्ञासाके द्वारा शुद्ध-सात्त्विक हृदय-पटपर भगवद्विग्रहकी एक आलोक किरण प्रतिभासित होती है, जिसे देखना सम्भव नहीं होता। इस आलोक-किरणको निर्गुणमार्गी निर्गुण, निर्विकार, निराकार आदि नामोंसे विभूषित करते हैं। यही आलोक-किरण जब प्रकाशरूपमें साधकके हृदयाकाशमें फैल जाती है तो इसे परमात्माके नामसे पुकारा जाता है। योगी पुरुष इसे ही अन्तर्यामी कहते हैं। इससे ब्रह्मकी अनुभूति और परमात्मदर्शनका भाव स्पष्ट दीखता है, यही भगवत्तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व है। ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें उपनिषद्में कहा है—'एकमेवाद्वितीयम्' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

इसीके आधारपर श्रीकृष्णको अद्वय ज्ञानतत्त्व कहा गया है तथा वही परम ब्रह्म भगवान् हैं। उसमें ज्ञान, बल, क्रिया स्वाभाविक है और इसीके आधारपर संसारके समस्त क्रिया-व्यापार संचालित होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(६।८)

इसी बातको श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
(१०।१४।५५)

'श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवात्माओंकी आत्मा हैं। वे जगत्के हितके लिये अपनी योगमायासे सर्वसाधारणके सामने सांसारिक जीवके समान दीखते हैं और जगत्‌में उनका कोई स्वामी नहीं।' सभी उनके दास एवं सेवक हैं। उनका शासक उनपर आज्ञा चलानेवाला भी नहीं है। सब उन्हींकी आज्ञा और प्रेरणाका अनुसरण करते हैं और उनके नियन्त्रणमें रहते हैं। उनका कोई चिह्न-विशेष भी नहीं है। वे परिपूर्ण हैं, निराकार हैं, कारणोंके कारण हैं। न उनका कोई जनक है और न कोई शासक। वे तो अजन्मा तथा सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं—

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥
(श्वेताश्वतर० ६।९)

अथर्ववेदके ११ वें काण्डके ७वें 'उच्छिष्टसूक्त'में भी प्रायः यही बात कही गयी है। यहाँ उच्छिष्टका शब्दार्थ है—'अवशिष्ट पदार्थ।' दृश्य-प्रपञ्चके आत्यन्तिक निषेध करनेके बाद जो कुछ बच जाता है, वही है—उच्छिष्ट अर्थात् बाधरहित परब्रह्म। इसी परब्रह्मको उपनिषदें नेति-नेति कहकर निरूपण करती हैं—**आदिशो नेति नेति** (बृह० उप० २।३।११), **नेह नानास्ति किंचन** (बृह० उप० ४।२।२१)

यह 'उच्छिष्ट' ब्रह्मशब्दातीत है। इसीपर सारे नाम-रूप अवलम्बित हैं। यही लोकोंका आश्रय है। कार्य और कारण है। इसके अन्तर्गत इन्द्र और समस्त सम्यक्-रूपसे निविष्ट रहता है—

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥
(अथर्ववेद ११।७।१)

ऋग्वेद इसी तत्त्वको पुरुषके रूपमें व्याख्यायित करता है। उसका प्रसिद्ध पुरुषसूक्त निम्न प्रकारसे है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्॥
(ऋग्वेद १०।९०।२)

तात्पर्य यह कि पुरुष—**'पुरिषु शेते—पुरुषः'** अर्थात् शरीररूपी पुरमें रहनेवाला व्यक्ति। यही तत्त्व विश्वका सृजनकर इसमें प्रवेश कर लेता है और यही कारण है कि इसे हम पुरुषकी संज्ञासे अभिहित करते हैं, जो जगत्के अतीत, वर्तमान और भविष्यमें विद्यमान रहता है। ऋग्वेद आगे यह भी कहता है कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्णा, यम, मातरिश्वा आदि एक ही तत्त्वके अनेक नाम हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुवर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

उसकी स्पष्ट घोषणा है कि एक ही इन्द्र अनेक रूपोंमें अपनी शक्ति प्रकट कर रहा है—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (अथर्ववेद ९।१०।८०)

'देवीभागवत'में पराभक्तिके सहारे इस तत्त्वकी प्राप्ति निर्दिष्ट है। इस भक्तिमें साधक, साधना और साध्य—सभी एकरस हो जाते हैं—

अधुना तु पराभक्तिं प्रोच्यमानां निबोध मे।
मद्गुणश्रवणं नित्यं मम नामानुकीर्तनम्॥
कल्याणगुणरत्नानामाकरायां मयि स्थिरम्।
चेतसो वर्तनं चैव तैलधारासमं सदा॥
(देवीभागवत ७।३७।११-१२)

'अब मैं पराभक्तिके विषयमें कह रहा हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। जिसको पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, वह साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा मेरा नाम-कीर्तन करता रहता है। कल्याणरूप गुणरत्नोंकी खानके सदृश मुझमें ही उसका मन तैलधारा-सदृश सदा अविच्छिन्नभावसे स्थिर रहता है।'

भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं मतः॥
(देवीभागवत ७।३७।२८)

'ज्ञानी पुरुष भक्ति और वैराग्यकी चरम सीमाको ज्ञान कहते हैं; क्योंकि ज्ञानके उदय होनेपर भक्ति और वैराग्यकी सम्पूर्णता सिद्ध हो जाती है और आगे यह भी कहा गया है कि जिसको पराभक्ति प्राप्त हो गयी है, वह साधक आनन्दित होकर परम अनुरागपूर्वक मेरा ही चिन्तन करता रहता है और इस प्रकार चिन्तन करते-करते अन्तमें मुझको अपनेसे अभिन्न समझकर 'मैं ही सच्चिदानन्दविजयी भगवती हूँ' ऐसा मानता है।

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद्यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
(देवीभागवत ७।३७।१५)

'स्वाभेदेनैवेति अहमेव सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती अस्मीति भावयता इत्यर्थः।' (शैव नीलकण्ठ)

और फिर ज्यों-ही पराभक्तिका उदय होता है, वह तत्काल ही भगवान्में विलीन हो जाता है—

इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
(देवीभागवत ७।३७।२७)

'समोऽहं सर्वभूतेषु' इत्यादिकी जानकारी ही भक्तिशास्त्रका रहस्य है और यही भगवत्तत्त्वका मूल उत्स भी है।

भागवत-जीवन-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

वैष्णव-धर्मकी रूपरेखा विष्णु-चरितके आदर्शोंके अनुरूप विकसित हुई है। विष्णु वैदिक देवता हैं। ऐतिह्यविदोंका कहना है कि वैदिककालमें ही विष्णुकी ख्याति सर्वश्रेष्ठ देवके रूपमें हो चुकी थी। इस परिस्थितिमें इस धर्मका मूल विष्णु-सम्बन्धी वैदिकसूक्तों और कथानकोंमें माना जा सकता है। उदाहरणके लिये ऋग्वेदका १।११८का पाँचवाँ मन्त्र देखा जा सकता है।

उसमें विष्णुकी भक्तिका परम बीज है। इस धर्ममें ऋग्वेदमें वर्णित देवताओंकी पराक्रमशीलता, उपनिषदोंमें प्रतिष्ठित ज्ञान और दर्शन प्रधान अङ्ग हैं। वैदिक साहित्यमें प्रतिपादित याज्ञिक कर्मकाण्डको उपनिषदोंमें कोई विशेष मान्यता नहीं प्राप्त हुई। भागवतधर्ममें जो उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान प्रतिष्ठित हुआ, उसके प्रकाशमें याज्ञिक कर्मकाण्डका टिकना सम्भव न था। इस याज्ञिक कर्मकाण्डके स्थानपर सामाजिक परिस्थितियों और उपनिषदोंकी शिक्षाओंके अनुरूप भक्तिकी प्रतिष्ठा हुई।

भागवत-धर्मके आरम्भिक स्वरूपका परिचय महाभारतसे मिलता है। भागवत-धर्मका प्रमुख ग्रन्थ गीता है। इसके अतिरिक्त महाभारत शान्तिपर्वके नारायणीयोपाख्यानमें नारायणीयधर्मके नामसे भागवतधर्मका वर्णन किया गया है।[1] इसके अनुसार महर्षि नर तथा नारायण परब्रह्मके प्रतिनिधि हैं। ये इस धर्मके अवतार और मूल प्रवर्तक हैं। लोककल्याण-हेतु स्वयं भगवान्‌ने ही आरम्भमें इस धर्मका उपदेश दिया।[2]

समय-समयपर प्रमुख उन्नायकोंद्वारा वैष्णवधर्मका अभ्युत्थान हुआ। आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सात्वत जातिके लोगोंमें इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। उस युगमें श्रीकृष्णको विष्णुका अवतार मान लिया गया और उन्हींकी 'भगवान्' उपाधिके अनुरूप इसे भागवतधर्म कहा गया। सात्वत जातिमें इसका प्रथम प्रचार होनेके कारण इसे 'सात्वतधर्म' भी कहा गया। परवर्ती युगमें नारद और भागवतपुराणके रचयिता व्यासने इस धर्मकी प्रवृत्तियोंको स्पष्टरूप प्रदान किया।

श्रीकृष्णने भगवद्गीताकी शिक्षाओंके द्वारा भागवत-धर्मकी रूपरेखा स्थिर कर दी। इसमें वेदवाद, संन्यास और यज्ञविधानको गौण ठहराकर भगवदर्पणबुद्धिसे निष्कामकर्म करते रहनेकी प्रवृत्तिको सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। कृष्णके उपदेशका सार है कि भक्तिसे परमेश्वर-का ज्ञान हो जानेपर भगवान्‌के भक्तको परमेश्वरके समान जगत्‌के धारण-पोषणके लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। महाभारतके नारायणीय आख्यानके अनुसार नारायणीय या भागवतधर्मप्रवृत्ति-(कर्म-) प्रधान है।[3]

वैदिक विष्णुके विषयमें ऋग्वेद-(१।१५४।२) में कहा गया है कि—

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो
न भीमः कुचरोगिरिष्ठाः ॥

अर्थात्—'वह भयंकर वन्य पशुकी भाँति पर्वतपर विचरण करता है।' वैदिक युगमें विष्णुके व्यक्तित्वकी विशेषताएँ—उनकी सहनशीलता और अद्वितीय पराक्रम-परायणता है।[4] पौराणिक युगके विष्णु यथासम्भव सभी

१–नारायणीयोपाख्यानके लिये देखिये–महाभारत शान्तिपर्व ३२१–३३९ वें अध्यायतक। २–पद्मपुराण भूमिखण्ड ७१ वें अध्यायके अनुसार राजर्षियोंमें वैष्णवधर्मके प्रथम प्रवर्तक राजा ययाति हैं। ३–शान्ति पर्व ३३५–७५। ४–ऐतरेयब्राह्मण १।१ तथा शतपथब्राह्मण १४।१।१ के अनुसार विष्णु सर्वोच्च देव हैं। ऋग्वेदका पुरुष विष्णुका पुरातन महिमाका बीज है—पुरुषसूक्त।

गुणोंकी खानि हैं, जिनकी कल्पना मनुष्य कर सकता है। उपनिषदोंमें ब्रह्म या परमात्माके जिन गुणोंकी कल्पना की गयी है, वे प्रायः अपने मूलरूपमें अथवा संवर्द्धित रूपमें गीताके माध्यमसे पौराणिक विष्णुमें प्रतिष्ठित हैं।

विष्णुका व्यक्तित्व है—अतिशय शक्तिशालित्व, उपकारपरायणत्व और आनन्ददातृत्व। पौराणिक मान्यताके अनुसार विष्णु परमपावन, पुण्यस्वरूप, वेदके ज्ञाता, वेदमंदिर, विद्या और यज्ञोंके आधार, गीतज्ञ, गीतप्रिय सभी लोकोंके उद्भव और तारक, भवसागरमें डूबनेवालोंके लिये नौका-स्वरूप, महाक्रान्त, अत्यन्त उत्साही, महामोह-विनाशन, यज्ञवल्लभ, सभी भूतोंमें निवास करनेवाले, व्यापक, विश्ववेत्ता, विज्ञान, परमपद, शिव, मोक्षद्वार, सभी लोकोंका भरण करनेवाले, सबके आश्रय, सर्वमय, सर्वस्वरूप, शान्त, सुख, सुहृद्, ज्ञानसागर, सत्याश्रय, यज्ञस्वरूप और पुरुषार्थरूप हैं।[5]

विष्णुके व्यक्तित्वमें अतिशय लोक-प्रियता है। भागवत-(९ । ४ । ६३)में स्वयं विष्णुके मुखसे कहलवाया गया है कि—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

—'मैं भक्तके अधीन हूँ; पूर्णतया परतन्त्र हूँ। साधु-भक्तोंके द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं।'[6]

एक ओर विष्णुभगवान्‌की अप्रतिम लोकहितकारिणी कार्यक्षमता और दूसरी ओर उनकी अनुपम भक्तप्रियता है। ये विशेषताएँ उनकी ओर भक्तोंको आकृष्ट करनेमें पर्याप्त समर्थ हैं।

वैष्णव-धर्मके अनुयायी वैष्णवोंका व्यक्तित्व विष्णुके व्यक्तित्वके अनुरूप विकसित करनेकी योजना बनायी गयी है। उसके लिये सभी प्राणियोंके प्रति दयाभावकी प्रतिष्ठा इस आधारपर की गयी है कि भगवान् सभी प्राणियोंमें आत्माके रूपमें विराजमान हैं। इस प्रकार प्राणियोंका अनादर विष्णुका अनादर है। नियम था कि प्राणियोंसे वैर रखकर मन शान्त नहीं किया जा सकता। भक्त सभी प्राणियोंमें स्थित भगवान्‌को अपने हृदयमें देखते हुए सबके साथ अपनी एकसूत्रता स्थापित कर ले।[7]

भागवतकी दृष्टिमें आदर्श मानव श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाला, सभी प्राणियोंका मित्र, सेवक, आधिभौतिक वस्तुओंके प्रति विरक्त, शान्तचित्त, मत्सररहित, शुचि और भगवान्‌को प्रिय माननेवाला होता है।[8] ऐसे ही व्यक्तिको उच्च भागवततत्त्व सुननेका अधिकार होता है। सम्पत्ति और विपत्तिमें विकारका न होना और उत्तम, मध्यम तथा अधमको समान मानकर समभाव रखना आवश्यक है। भगवान् समचित्तवर्ती हैं।[9]

भागवतके अनुसार वैष्णवको काम और अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तियोंसे अलग रहना चाहिये; क्योंकि इनके चिन्तनसे मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंका नाश हो जाता है और वह इनकी चिन्तासे ज्ञान-विज्ञानसे च्युत हो जाता है।[10] मनमें कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा श्री, तेज, स्मृति और सत्यका नाश हो जाता है।[11] शरीर, स्त्री, पुत्र आदिके प्रति आसक्ति छोड़ना, देह और गेहका आवश्यकतानुसार सेवन, आवश्यकताकी पूर्तिमात्रके लिये अपेक्षित धनको अपना मानना, पशु-पक्षियोंको

५–पद्मपुराण ४भूमिखण्ड ९८ वाँ अध्याय। ६–इस भावके अन्य श्लोक भागवत ९ । ४ । ६४–६८ । ७–भागवत ३ । २९ । २१–२७ । ८–भागवत ३ । ३२ । ३९–४३ । ९–भागवत ४ । २० । १२, १३, १६ । १०–भागवत४ । २२ । ३३-३४ । ११–भागगवत ७ । १० । ८ ।

पुत्रवत् समझना, धर्म, अर्थ और कामके लिये अधिक कष्ट न उठाना, अपनी भोग्य सामग्रीको सभी प्राणियोंके साथ बाँटकर भोगना आदि भागवत-धर्मानुयायी गृहस्थकी प्रगति-दिशामें प्रकाश-स्तम्भ हैं।[१२] वैष्णवकी लोकोपकार-वृत्ति उसकी सर्वोच्च आराधना है।[१३] रन्तिदेव नामक वैष्णवका व्यक्तित्व आदर्श है। उसने कामना की है कि—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

'मैं ईश्वरसे परम-गतिकी कामना नहीं करता, जिसके द्वारा आठों ऋद्धियाँ अथवा मोक्षकी सिद्धि हो सकती है। मैं चाहता हूँ कि सभी प्राणियोंके अन्तस्में प्रतिष्ठित होकर उन सबके दुःखको अपना लूँ, जिससे वे दुःखरहित हो जायँ (श्रीमद्भा० ९। २१। १२)।'

विष्णुभगवान्के अवतार कृष्णकी इस योजनाका निर्देशन भागवतमें मिलता है, जिसके द्वारा वे वैष्णवोंके व्यक्तित्वका विकास करते हैं। जिस व्यक्तिपर कृष्णका अनुग्रह होता है, उसका सर्वस्व वे शनैः-शनैः अपहरण कर लेते हैं। ऐसे दुःखी व्यक्तिको उसके स्वजन छोड़ देते हैं। अपने उद्योगोंमें विफल होकर वह व्यक्ति कृष्णके अधिक अनुग्रहका पात्र हो जाता है। फलतः उसे परमब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। भागवतधर्मका यही सुपरिणाम है।

भारतीय जीवनमें भगवान् या ईश्वर

(लेखक—प्रो० श्रीरञ्जनसूरिदेवजी)

भारतीय जीवनमें भगवान्की व्यापक मान्यता है। शैवोंके लिये 'शिव' ही ईश्वर हैं तो वेदान्तियोंका ईश्वर 'ब्रह्म' है। इसी प्रकार बौद्धोंके लिये बुद्ध, नैयायिकोंके लिये 'सर्व-कर्ता' जैनोंके 'अर्हत्' या 'तीर्थंकर' और मीमांसकोंका 'कर्म' ही ईश्वर हैं। मुसलमान चिन्तकोंके लिये 'खुदा' तो पाश्चात्त्य दार्शनिकोंके लिये 'गॉड' ईश्वर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वके मानव-जीवनमें ईश्वरकी विभिन्न परिकल्पनाएँ दीखती हैं।

भग और भगवत्तत्त्व

भारतीय वाङ्मयमें 'भग' शब्दके अनेक अर्थ और उनकी विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। प्रकृत-प्रसङ्गमें ज्ञातव्य है कि अणिमा आदि ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—छः ईश्वरीय विभूतियोंको ही 'भग' कहा गया है। इस प्रकार षडैश्वर्य-सम्पन्न परमेश्वर ही 'भगवत्' शब्दसे वाच्य है। 'विष्णुपुराण'का कथन है कि विशुद्ध और सर्वकारणके कारण महाविभूतिशाली परब्रह्ममें ही 'भगवत्' शब्द प्रयुक्त होता है। विष्णु या श्रीकृष्णका विशेषण ही 'भगवान्' है।

पुनः ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तेज आदि 'भगवत्' शब्दके वाच्य हैं। यतः ब्रह्म शब्द आदिके अगोचर है, इसलिये उसकी पूजाके निमित्त 'भगवत्' शब्दद्वारा ही उसका कीर्तन किया जाता है। अतएव एकमात्र परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्दके अधिकारी हैं। पुराणकारोंने श्रीकृष्णको भगवान् शब्दसे अभिहित किया है; क्योंकि वे ऐश्वर्य-सम्पन्न थे—

> **परमात्मा परं ब्रह्म निर्गुणः प्रकृतेः परः।**
> **कारणं कारणानां च श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्॥**

इसी प्रकार 'श्रीमद्भागवतपुराण'में भी श्रीकृष्णको भगवान् कहा गया है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

१२—भागवत ७। १४। १—१३। १३—तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः। परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥ (श्रीमद्भा० ८। ८। ४४)

सब कुछको अर्थात् समस्त जागतिक उपादानको भगवन्मय समझना ही भगवत्तत्त्व है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।**' सांख्यके मतानुसार प्रकृति-पुरुष-तत्त्व ही जगत्का मूल कारण है । निष्कर्ष यह कि जगत्का मूल कारण निर्गुण-निर्विकार परब्रह्मका चिन्मयस्वरूप ही भगवत्तत्त्व है।

ब्रह्म या ईश्वर

वैदिक परम्परामें ब्रह्म या ईश्वरको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापी कहा गया है । साथ ही ईश्वरप्रणिधानको अतिशय महत्त्व दिया गया है । 'प्रणिधान'का अर्थ है—अच्छी तरह अत्यन्त प्रेमपूर्वक परम विश्वासके साथ ईश्वरकी शरण, ईश्वरकी प्रपत्ति या ईश्वरका आश्रय । दूसरे अर्थमें अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ सभी कर्मोंका प्रभु-चरणोंमें समर्पण भी ईश्वर-प्रणिधान है । महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रमें क्लेश, कर्मविपाक और आशयसे अस्पृष्ट रहनेकी विशिष्टता, सर्वज्ञता एवं कालातीत तत्त्व और परमगुरुत्वसे संवलित पुरुषको ईश्वर माना है—'**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः,' तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।**' इस परिभाषाके विवेचनमें महर्षिव्यास आदि पुरुषार्थवादियोंने भक्तोंको अमृतभोगभोगी बताया है—

शय्यासनोऽथ पथि व्रजन् वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभोगी ॥

'ईश्वरप्रणिधानी साधकके संसारके बीज-अविद्या आदि क्लेश बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं । उनके जन्म-मरणका चक्र समाप्त हो जाता है । वह नित्य परमात्मामें लीन हो जाता है, फिर चाहे वह बिस्तरपर पड़ा हो या रास्तेमें चल रहा हो ।'

सतयुगके लोग सूर्य, चन्द्र आदिको अपना आराध्यदेव स्वीकार करते थे । आगे चलकर यह स्थान इन्द्र, वरुण आदि देवोंको मिला, जिन्हें वे एक साथ या एक-एक करके जगत्के सृष्टिकर्त्ता मानने लगे । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें ईश्वरके सम्बन्धमें प्रजापतिके रूपमें उनका उल्लेख है । उन्होंने तप किया, जिससे क्रमशः पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई । पुनः ईश्वरके अश्रुबिन्दुके समुद्रमें गिर जानेसे पृथ्वी उत्पन्न हुई अथवा उनके तपसे ब्राह्मण एवं जलकी उत्पत्ति हुई, जिससे सृष्टिका विस्तार हुआ ।

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य और योगदर्शन सृष्टिकर्ताके रूपमें ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, परंतु न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता माना गया है। नैयायिकोंका कहना है कि सृष्टिका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये; क्योंकि सृष्टि कार्य है । कार्य बिना कारण रहे हो नहीं सकता । कुछ ईश्वरवादी पाश्चात्त्य विद्वान् कहते हैं कि 'यदि ईश्वर नहीं होता तो उसके अस्तित्वकी भावना ही हमारे मनमें नहीं आती ।' वैदिकोंका कथन है कि 'बिना किसी सचेतन नियन्ताके सृष्टिकी इतनी अद्भुत व्यवस्था सम्भव नहीं थी ।' इस प्रकार ईश्वर, परमात्मा या भगवान्के सम्बन्धमें सम्पूर्ण विश्वके दार्शनिकोंने अनेक प्रकारसे कल्पनाएँ की हैं ।

जैनदृष्टिमें भगवान् या ईश्वर—

जैनदृष्टिसे परमात्मा, भगवान् या ईश्वरकी सत्ता काल्पनिक है । वस्तुतः ये शब्द शुद्धात्माके लिये प्रयुक्त होते हैं । इस शुद्धात्माके दो रूप हैं—कारणरूप और कार्यरूप । कारणरूप परमात्मा देश-कालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व हैं, जो मुक्त तथा संसारी जीव पशु-पक्षी-कीट-पतंगतक सबमें अन्वयरूपसे पाये जाते हैं । कार्यरूप परमात्मा वह मुक्तात्मा है, जो पहले संसारी थे, बादमें कर्म-बन्धन काटकर मुक्त हुए हैं । अतः कारण परमात्मा अनादि और कार्य परमात्मा सादि हैं ।

कारणपरमात्माका ही दूसरा नाम 'सकलपरमात्मा' तथा कार्यपरमात्माका अपर नाम-'निकलपरमात्मा' है। एकेश्वर-वादियोंके सर्वव्यापक भगवान् या परमात्मा वास्तवमें कारणपरमात्मा हैं और अनेकेश्वरवादियोंके कार्यपरमात्मा। अतः दोनोंमें कोई विरोध नहीं है, अपितु दोनों वस्तुतः ईश्वरवादी ही हैं।

ईश्वरकर्तृत्ववादके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समन्वय किया जा सकता है। उपादान कारणकी अपेक्षासे सर्वविशेष जीवोंमें अनुगत रहनेके कारण उक्त कारणपरमात्मा जगत्के सर्वकार्योंके कर्त्ता हैं एवं निमित्तकारणकी अपेक्षासे मुक्तात्मा, वीतराग होनेके कारण किसी कार्यके कर्ता नहीं हैं। जैनदृष्टिवादी अपने विभावोंका कर्त्ता ईश्वरको नहीं मानते, अपितु कर्मको मानते हैं। अनेकान्तवादी वचोनंगीमें शुद्ध जीवात्मा कथंचित् (उपादान कारणापेक्षया) कर्त्ता और कथंचित् (निमित्त कारणापेक्षया) अकर्त्ता है। इस प्रकार जैनों और जैनेतरोंके ईश्वर-कर्तृत्वके सिद्धान्तमें नाममात्र-का अन्तर रहता है। जैनदृष्टिका निष्कर्ष यह है कि सबसे उत्कृष्ट आत्मा ही परमात्मा है। प्रामाणिक जैनग्रन्थ 'समाधिशतक'की टीकामें कहा गया है कि **'परमात्मा संसारिजीवीय उत्कृष्टआत्मा।'** इस प्रकार वस्तुतः अर्हत् और सिद्धपुरुष ही परमात्मा हैं।

जैनदृष्टिसे सामान्य आत्मा या जीव ही अर्हत् सिद्धरूप परमात्माकी उपासना करके उन्हींके समान परमात्मा हो जाता है—जैसे वैदिकमतमें शिवकी उपासना करनेवाले विशिष्टात्मा अपनेको **'शिवोऽहम्'** या ब्रह्मकी उपासना करनेवाले अपनेको **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहते हैं। सच पूछिये, तो सामान्य आत्माका विशेषीकरण ही परमात्मा है। जिस प्रकार चन्दन-वनमें उसके सम्पर्कमें रहनेवाला सामान्य काष्ठ भी चन्दनकाष्ठ बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा या सिद्ध अर्हत्के संसर्गमें रहनेवाला सामान्य आत्मा भी परमात्माका पद प्राप्त कर लेता है। यही वैदिकोंका भगवत्सायुज्य है। ज्योतिसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली वर्तिका ज्योतिकी उपासना-(सांनिध्य-)से स्वयं ज्योतिर्मय बन जाती है, उसी प्रकार परमात्माकी उपासना-(भगवत्सान्निध्य-)से आत्मा या जीव स्वयमेव परमात्मा बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो सामान्य आत्मा अपने चित्स्वरूपकी ही चिदानन्दमय रूपसे तपोध्यानद्वारा आराधना करके विशिष्टात्मा या परमात्मा हो जाता है—जिस प्रकार बाँस वायुके माध्यमसे अपनेको अपनेसे ही रगड़कर अग्निरूप हो जाता है।

जैनदृष्टिसे 'भगवान्' और 'ईश्वर'की परिभाषा भी अपनी मौलिकता रखती है। 'धवला' ग्रन्थमें निर्देश है कि ज्ञानधर्मके माहात्म्योंका नाम ही 'भग' है और जो भगसे सम्पन्न हैं, वेही भगवान् हैं— **'ज्ञानधर्ममाहात्म्यानि भगः,सोऽस्यास्तीति भगवान्।'** इसी प्रकार—'द्रव्यसंग्रह'की टीका-(१४ । ४७ । ७) में कहा गया है कि 'केवल ज्ञान आदि गुणरूप ऐश्वर्यसे युक्त होनेके कारण जिनके पदकी अभिलाषा करते हुए इन्द्र आदिदेव भी जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, वेही ईश्वर हैं'—**'केवलज्ञानादि गुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति।'**

जैनदृष्टिमें आत्माके सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकमें गमना-गमन किंतु, समस्त कार्य स्वयं आत्माके ही कर्मोंद्वारा होते हैं। यों, आत्मा तो तटस्थ या पङ्गुवत् है। वह स्वयं कहीं न तो आता है, न कहीं जाता है, अपितु कर्म ही उसे तीनों लोकोंमें भरमाता-भटकाता रहता है।

वास्तवमें, आत्मा ही परमात्मा है। 'ज्ञानार्णव'में कहा गया है—आत्मा जब विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्म-रूपी ईंधनको भस्मकर देता है, तब वह परमात्मा हो जाता है'—

अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चयः।
विशुद्धध्याननिर्धूतकर्मेन्धनसमुत्करः॥

(२१ । ७ । २२१)

भगवत्तत्त्व—एक विवेचन

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथजी, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

मनुष्य अपनी उन्नति और पारलौकिक कल्याणके लिये जिस तत्त्व या शक्तिका भजन-पूजन करता है, उसका नाम भगवान् है। भगवान् शब्दकी उत्पत्ति **'भज सेवायाम्'** धातुसे हुई है। भजनमें सेवाकी प्रधानता है। स्पष्टतया, जिस शक्तिके सम्मुख साधक आत्मसमर्पणकर उनका सेव्यके रूपमें पूजन-अर्चन करता है, वह शक्ति उसके लिये भगवान् है। ब्रह्मका वह रूप, जिससे जगत्का पालन-रक्षण होता है, वह तत्त्व भगवत्तत्त्व है।

सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व जो चेतनतत्त्व विद्यमान था, उसे ब्रह्म नामसे सम्बोधित किया जाता है। ब्रह्मका गुण है—बृहत्, वृद्धि एवं विशालता। जिस तत्त्वमें सब कुछ परिव्याप्त हो जाय अथवा जिससे सब कुछ व्याप्त हो रहा है या जो सबमें व्याप्त है, उसे ब्रह्म कहते हैं। ऐतरयोपनिषद्में आता है कि ईश्वरने जीवोंकी रचनाके बाद मूर्धाद्वारसे जीवोंके शरीरमें प्रवेश किया (१।३।११)।

भगवान् कृष्ण गीतामें भी कहते हैं कि वे सभी प्राणियोंमें विद्यमान रहते हैं (१०।३९)। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ भगवान् विद्यमान न हों। यह सकल जगत् उनके कारण ही क्रियाशील है। मनुष्य परमात्माके अभावमें कोई भी क्रिया करनेमें असमर्थ है। जीवधारियोंमें आत्माके रूपमें जो तत्त्व विद्यमान है, उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्मसे जुड़ा रहता है। ईश्वरांशके निकलते ही शरीरकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। यदि आत्मतत्त्वसे भगवत्तत्त्व भिन्न होता तो आत्माद्वारा शरीरका त्याग कर दिये जानेपर भी भगवत्तत्त्वकी पृथक् शक्तिसे शरीर क्रियाशील बना रहता है। किंतु ऐसा न होनेसे आत्मतत्त्व व भगवत्तत्त्वके पारस्परिक सम्बन्धोंकी पुष्टि होती है। ऐतरयोपनिषद्-(१।२।४)में ही आता है कि पुरुष-शरीरमें क्रियाशीलता लानेके लिये ब्रह्मने अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्पतियों, चन्द्रमा तथा जल आदि देवताओंको उसमें प्रवेश करनेका आदेश दिया। कहनेका तात्पर्य यह है कि इन देवताओंकी शक्ति पाकर मानव-शरीरकी इन्द्रियाँ क्रिया करनेमें सक्षम होती हैं। फिर भी पूर्ण क्रियाशील होनेके लिये शरीरको आत्मतत्त्वके रूपमें भगवत्तत्त्वके अंशकी आवश्यकता रहती है। इससे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि सृष्टिके विकासके साथ-साथ भगवत्तत्त्व भी व्यापक होता जाता है।

जगत्-उत्पत्तिके कारणोंपर चिन्तन-मनन करनेसे भी तीन तत्त्वोंका पता चलता है। ये हैं—प्रकृति, काल और ईश्वर। इनमें भी भगवान्की प्रधानता स्पष्ट है। जगत्के स्वरूपका अध्ययन करनेसे सृष्टि प्राकृतिक पञ्चभूतोंका पुञ्ज दिखायी देती है। वस्तुतः कोई भी ऐसा पिण्ड नहीं है, जिसकी रचनामें अग्नि, वायु, आकाश, जल और पृथ्वीका संयोग न हुआ हो। किंतु मात्र पञ्चतत्त्वोंके संयोगसे विभिन्न रूपोंकी रचना होना तथा उनमें चेतनाका संचार होना सम्भव नहीं है। लोकमें कलाकार अनेक सुन्दर मूर्तियोंकी रचना करनेके पश्चात् भी उनमें चेतनाका संचार नहीं कर पाते हैं और उनकी कलाकृतियाँ निर्जीव ही रह जाती हैं। प्रकृतिवादी विज्ञान इस बातका उत्तर देनेमें असमर्थ है कि पञ्चभूतोंद्वारा निर्मित शरीरमें किस प्रकार चेतनता आती है। पर ईश्वरवादी विद्वान् इसका उत्तर देनेमें समर्थ हैं कि

इसके लिये स्वयं ब्रह्म शरीरमें कैसे प्रवेश करता है। इस प्रकार प्रकृति अथवा पञ्चतत्त्वोंका संयोग तबतक कोई सजीव या निर्जीव रचना करनेमें सक्षम नहीं है, जबतक उन्हें किसी अलौकिक सत्ताद्वारा शक्ति नहीं प्राप्त होती है। यही अलौकिक सत्ता प्रकृतिमें भी भगवत्तत्त्वके रूपमें क्रियाशील रहती है।

कालतत्त्वके बारेमें विचार करनेपर यह पता चलता है कि यह जगत् समयद्वारा नियन्त्रित है। सभी सजीव, निर्जीव तथा वृक्षों आदिके उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका जो क्रम देखनेमें आता है वह जगत्के कालबद्ध सिद्ध करनेमें प्रमुख भूमिका निभाता है। लोकदृष्ट प्रमाणोंसे यह प्रमाणित होता है कि जीवोंकी उत्पत्ति किसी काल-विशेषके लिये होती है और समय पूर्ण हो जानेपर उनकी मृत्यु हो जाती है। वृक्ष और पौधोंकी भी समय पूरा हो जानेपर मृत्यु हो जाती है, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। सृष्टिका नियम भी यही है। ऋग्वेदमें आया है कि पूर्वकालमें अनेक सृष्टियाँ बीत चुकीं (वही १०।१९०।३)। इससे कालतत्त्वके स्वतन्त्र अस्तित्व होनेकी पुष्टि होती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या काल जगत्-उत्पत्तिका हेतु होनेमें सक्षम है? कालवादियोंकी दृष्टिमें वह ऐसा शक्तिमान् ही माना गया है। उसे शक्ति दूसरेसे नहीं प्राप्त करनी पड़ती। सृष्टि और जीवोंका जीवन-काल निर्धारित करनेकी शक्ति कालमें ही है। गतिमान रहना भी कालका गुण है, जिसमें परिवर्तन भी सम्मिलित है। जन्म-मृत्यु और रचना-विनाश कालके उक्त गुणके कारण ही होते हैं। इन गुणोंके आधारपर काल सर्वशक्तिमान् तत्त्व कहा गया है। अन्य मतमें कालको गति और शक्ति जिस तत्त्वसे ग्रहण करनी पड़ती है, उसे ईश्वर कहते हैं। यही ईश्वरतत्त्व प्रकृति और कालका ईश्वर अर्थात् शासक होता है।

जगत्-उत्पत्तिका हेतु वही तत्त्व हो सकता है, जिसमें पूर्ण तत्त्व हो। पूर्णतत्त्वका विवेचन करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा गया—'परमात्मा' पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, उसी पूर्ण परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, पूर्णमेंसे पूर्ण निकाल देनेपर परमात्मा पूर्ण ही बच रहता है। पुरुष शब्द भी पूर्णताका वाचक है। इसीलिये वंशजोंकी उत्पत्तिका हेतु पुरुष माना जाता है। पुरुषमें पूर्णता ईश्वरकी विद्यमानतासे आती है। सृष्टि-रचनामें ईश्वर नाम चेतन-तत्त्वने अपने गुणोंको भरसक प्रकट करनेका प्रयास किया है। उसने जीवोंको इस योग्यतासे युक्त रखा है कि वे अपने वंशजोंकी उत्पत्ति तथा पालन कर सकें। मनुष्यमें तो ईश्वरने वह गुण दिया है जिससे वह ब्रह्मके अति निकट पहुँच सकता है। मनुष्य-योनिको देखकर हमें भगवत्तत्त्वका सहज ही बोध हो जाता है।

यद्यपि सभी जीवोंमें भगवत्तत्त्वकी विद्यमानता है, तथापि मनुष्यमें वह तिर्यगादिसे अधिक रूपमें विद्यमान रहता है। तभी तो मनुष्य ईश्वरकी जानकारी तथा जगत्-उत्पत्तिके कारणोंकी मीमांसा करनेमें अधिक सक्षम है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यसे भिन्न योनिके जीव चेतन होनेपर भी पूर्ण नहीं है। पुरुष अर्थात् मनुष्यमें पूर्णताके सभी लक्षण दिखायी देते हैं। पुरुष और भगवत्तत्त्वकी पूर्णतामें यह अन्तर है कि मनुष्य ब्रह्म और उसके गुणोंकी जानकारी प्राप्त कर सकने तक ही पूर्ण है। मनुष्यमें सृष्टिरचना और संहार करनेकी पूर्णता नहीं है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्य और भगवत्तत्त्वकी पूर्णताका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इससे जगत्-उत्पत्तिका हेतु भगवत्तत्त्व ही सिद्ध है। इस प्रकार परम शक्तिका तीन रूप सामने आता है, यथा—ब्रह्म, ईश्वर एवं भगवान्। ब्रह्म चराचर जगत्का धाता और विधाता है। नाम-रूपादिसे रहित

होनेसे ब्रह्म केवल अनुभूतिका विषय है। इसे तप, योग और साधनसे जाना जा सकता है। ब्रह्मको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन ज्ञान है।

ब्रह्म तटस्थताका वाचक है। ईश्वर जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके लिये क्रियाशील रहता है। इसे उपासनाद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह उपासनाका विषय इसलिये बन जाता है कि ईश्वरके गुणों और रूपोंका वर्णन सम्भव है। जगत्‌के शासकके रूपमें ईश्वर मनुष्योंकी पहुँचके अंदर होता है। मनुष्योंके कर्मोंका साक्षी ईश्वर ही है। वह मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मोंका निर्णय भी करता है और मृत्यूपरान्त पुनर्जन्मके लिये योनियोंका निर्धारण भी करता है। पूजन-अर्चन करते समय त्रिशक्तिका ही आह्वान किया जाता है। मन्दिरोंकी मूर्तियोंमें भगवान्‌के रूपकी ही प्रतिष्ठा की जाती है। स्वरूपवान् होनेसे आधुनिक कालमें भगवान्‌रूप ही अधिक व्यापक हो गया है। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये श्रद्धा और भक्तिका मार्ग अपनाया जा सकता है। भक्तिद्वारा भगवान्‌की प्राप्तिका मार्ग सरल होनेसे वह अल्पज्ञोंद्वारा भी ग्राह्य है। इस प्रकार यह भगवान्‌के निर्गुणरूपका वर्णन हुआ। धर्मकी रक्षा एवं भक्तोंकी इच्छा-पूर्तिके लिये वे ही पुनः राम, कृष्णादि अवतारोंमें भी आकर अनेक लीलाएँ करते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

(लेखिका—श्रीमती राधादेवी भालोटिया)

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

उन अखिल ब्रह्माण्डनायक, विश्वात्मा, विश्वम्भर, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसमर्थ, सर्वान्तर्यामी, नित्य-ज्ञानानन्दघनके अपरिच्छिन्न स्वरूपका आकलन परिच्छिन्न मन, बुद्धिसे हो सके—यह सम्भव नहीं। शैव उन्हें शिव कहकर, वेदान्ती ब्रह्म मानकर, नैयायिक कर्ता मानकर, जैनी-बौद्धलोग अर्हन्त-बुद्ध आदि मानकर उपासना करते चले आ रहे हैं। अद्यावधि भगवान्‌के सम्बन्धमें जो कुछ और जितना वर्णन हुआ है, उसका सम्पूर्ण एकत्रीकरण हो जानेपर भी उन सर्वलोकमहेश्वर शुद्ध सच्चिदानन्दघनके सम्बन्धमें पूर्ण एवं यथार्थ निर्देश होना सम्भव नहीं है।

परमेश्वर अतर्क्य हैं। वे कभी मनबुद्धिके विषय नहीं बन सकते; तर्ककी कसौटीपर उन्हें नहीं कसा जा सकता। इस सम्बन्धमें आर्य मनीषियोंकी स्वसंवेद्य तथा अनिर्वचनीय आनन्दके हिल्लोलनसे पूर्ण परिचित, रसानुभूतिको ही अकाट्य प्रमाण मानकर उस दिशामें पद-विन्यास ही मङ्गलका सर्जक है। कोई कहता है भगवान् निर्गुण-निराकार शुद्ध-बुद्ध परब्रह्म हैं, पर इन्हीं 'वेदान्तसिद्धान्तः' (शुद्ध ब्रह्म)को व्रजपुररामाओंने सगुण रूपमें नृत्य करते पूर्णरूपसे देखा था। उन्होंने यह भी देखा कि नन्दगोपकुमारको, यशोदाके नीलमणिको माताने आज रज्जुसे बाँध दिया है। जिसने योगीन्द्र, मुनीन्द्र, देव-दानव सबको कर्मकी श्रृङ्खलामें बाँध रखा है, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक स्वयं बन्धनमुक्त होनेका प्रयास करनेपर भी असफल रह जाता है—

जिन बाँध्यौ सुर असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

'वेदान्तदर्शन' इस भागवती सत्ताको आनन्दमयी मानता है—**'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** कहकर। यह सर्वव्यापक जगच्चक्रपरिपालक सत्ता आनन्दमय है। यजुर्वेदमें इन्हीं श्रीहरिका घट-घटवासीके रूपमें निरूपण किया गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्

सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चके मूलाधार हैं सर्वान्तर्यामी प्रभु ही। कहीं कोई अन्य वस्तु तत्त्वतः नहीं है। वे ही प्रभु अणु-अणुमें व्याप्त हैं और कोई दूसरी सत्ता नहीं है——
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत।'
गीतामें भी स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे इसकी पुष्टि है——

'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
'मयि सर्वमिदं प्रोतम्', 'वासुदेवः सर्वमिति।'
इत्यादि।

जैसे नेत्रादिसे अगोचर होनेपर भी मन नामक वस्तु-को अस्वीकार नहीं किया जा सकता वैसे ही सम्पूर्ण जड़-चेतनमें व्याप्त विराट् अचिन्त्य चैतन्य शक्ति परमात्माका अपलाप नहीं किया जा सकता। हम उसे ही सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर कहकर पुकारते हैं। उस अनिर्देश्य, अचिन्त्य, अकाट्य, अगोचरकी तर्कसे किसी प्रकार थाह नहीं लग सकती। वेद भी नेति-नेति कहकर थक गये। तब भक्तवत्सल प्रभुने स्वयं कृपा की। अनादिकालसे जिसका अन्वेषण जारी था, वह रस स्वयं मूर्तिमान् होकर अदर्शनकी वेदना-ज्वालासे दग्ध प्राणोंके समीप आ पहुँचा और वेदस्तुति करने लगे——**'रसो वै सः।'** इस प्रकार उस सत्ताका नाम-रूपको स्वीकार कर भक्तोंकी भावनाका प्रतीक सगुण-स्वरूप प्रकट हो गया।

अगुन अमान अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई।

यह सारा प्रपञ्च उन प्रभुसे ही उत्पन्न होता है और पुनः उन्हींमें विलीन हो जाता है। सब कुछ उनका ही सनातन अंश है अतः इस अकाट्य ध्रुव सत्य-का खण्डन हो ही नहीं सकता कि जो कुछ भी हमें दीख रहा है, हम जिसे जगदाकार मानकर बैठे हैं, वास्तवमें वह सब भगवदाकारमात्र है। विश्वस्रष्टा प्रभुने सृष्टिके पूर्व संकल्प किया था **'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'** और इस चिन्तनका, इस संकल्पका ही परिणाम हुई यह विशाल सृष्टि। फिर अकारण करुणामय दीनवत्सल प्रभुने अपने अनन्त अपरिसीम प्यारसे स्नान कराकर हमें मानव देह प्रदान की और सुखकी सम्पूर्ण उपलब्धियोंके लिये सृष्टिमें विविध वैचित्र्य भर दिये। अब क्या हमारे लिये यह विधेय नहीं कि हम अपने उस असमोर्ध्वदाताके प्रति कृतज्ञ रहें। उसको क्षणार्द्धके लिये भी विस्मृत न करें।

जीवमात्र स्वभावसे सुखाभिलाषी होता है। दुःख, अपमानादिका भी स्वागत कर सके, ऐसी मानसिक स्थिति तो किसी विरलेकी ही होती है। ऐन्द्रादिपद मानवमनकी इस पिपासाके ही अभिव्यञ्जक हैं और मुक्ति भी इसीकी निर्देशिका है। मुक्तिका अर्थ है——मुक्त होना और मुक्त होनेका प्रश्न उठता है, तब जब हम बन्धनमें हों और हमें यह अनुभूति निरन्तर बनी रहती है कि हमें मुक्त होना है। हम किससे मुक्त होना चाहते हैं? इसपर हमारा उत्तर होगा दुःखोंसे। दुःखोंसे आत्यन्तिक छुटकारा पाना ही हमारा लक्ष्य है। परंतु वस्तुतः हमें मुक्त होना है——जागतिक पचड़ोंसे और पूर्णतः परिनिष्ठित होना है——प्रभु-प्रीतिमें; क्योंकि प्रभुप्रेम एक ऐसी स्थिति है जहाँ शेष सारी स्थितियाँ तुच्छ, नगण्य हो उठती हैं और अखिल रसामृत-सिन्धु आनन्दकन्द श्रीहरिके पादपद्मोंकी अनुरक्ति ही जीवनका चरम परम लक्ष्य रह जाती है। फिर तो तैल-धारावत् अखण्ड अविचल स्मरण-चिन्तन चलता रहता है। एक पलको विस्मरण भी आत्यन्तिक व्याकुलताका सृजन कर देता है——**'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'**। इस स्थितितक पहुँचनेके लिये आवश्यक है श्रद्धा और विश्वासकी भूमिका; क्योंकि श्रद्धावान्‌को ही सिद्धि मिलती है। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।'**

जब श्रद्धाके बीजकी हमारी खेती लहलहाने लगती है और विश्वासके फल उसमें फलने लगते हैं, तब हमारा कल्याण सुनिश्चित होता है। हम भगवान्‌का स्मरण करते हुए जितना उनकी ओर चलते हैं, प्रभुके द्वारा उतना ही उसका प्रतिदान हमें प्राप्त होता है। यदि हम

अपने मानसको विभिन्न कामनाओंके जंजालसे मुक्तकर, सब बाहरी पदार्थोंका बहिष्कारकर, उस एकमात्र प्रियतम प्रभुके लिये रिक्त कर देते हैं और विश्वासकी सज्जासे उसे सजाकर प्रभुके आगमनकी प्रतीक्षा करते हैं, तब प्रभु अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अनन्त शक्ति, अपरिसीम सौहार्द लिये वहाँ प्रकट हो जाते हैं और जीवन एक ऐसे विचित्र प्रवाहमें बह चलता है, जिसकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। परंतु हमारे मन-मन्दिरपर एकाधिकार है अहंकारका—जिसकी कालिमाके कारण प्रभुकी ज्योतिको प्रविष्ट होनेका अधिकार हम नहीं दे पाते और नानाविध दुःख-क्लेशोंको लिये जूझते रहते हैं। वस्तुतः **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या-'**के अनुसार हमारे भ्रमका निराकरण प्रभु-कृपा बिना हो नहीं सकता। गोस्वामीजीने कहा है—**'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'** और जो इस ज्ञानके आलोकसे आलोकित हो उठता है, उसके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा संशय नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(कठोप० २।३।१५, मुण्डकोप० २।२।८, योगवा० ३।७।१०,५।१३।१५, ६।२।२०।१७, भागवत १।२।२१, ब्रह्मपुराण १।३०।१० इत्यादि।)

जगत्का सम्पूर्ण आकर्षण उसके लिये समाप्त हो जाता है। श्रीहरिके प्रति उसके हृदयमें आत्यन्तिक भक्ति जाग्रत् हो उठती है। उसके रागके एकमात्र विन्दु रह जाते हैं—सच्चिदानन्दवपु सर्वेश्वर; और सोते-जागते, उठते-बैठते उसके प्राण सन्नद्ध रहते हैं—प्राणाराम परमेश्वरमें ही; क्योंकि उसके लिये वे ही सर्वत्र दीखते हैं—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति।

(छान्दो० ७।२५।१)

ऐसी भावना उसकी बलवती हो उठती है और फिर वस्तुतः वह उसी भूमिकामें प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे ही प्रेमी भक्तके प्रति प्रेमपरवशता स्वीकार करनी पड़ती है उन जगन्नियन्ताको। जो प्रभु सर्वत्र हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, वे ही प्रेमप्रतिमा गोपरामाओंके स्नेह-पाशमें बँधकर—**'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'**की स्थितिको स्वीकार करते हैं। पितामह ब्रह्मा भी व्रजपुरन्ध्रियोंके उस अपरिमित सौभाग्यकी कामना करते हैं।

ज्ञानकी सम्पूर्ण गरिमाके पर्यवसानके विन्दुपर ही उन्मेषित होता है, यह प्रेम। यहाँ एकमात्र प्रेष्ठको सुखदानकी अभिलाषा ही शेष रह जाती है। अन्य सभी वासना, कामना सर्वांशमें प्रशमित होकर मानस वासनाशून्य बन जाता है और तदनन्तर तो—

'फिर केवल वह प्रिय-सुखका ही, साधन बन रहता बड़ भाग।'

अनुभूति

(रचयिता—डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा, एम० ए०, पी-एच०डी०, साहित्यवाचस्पति, पद्मभूषण)

प्रथम स्वरमें सुन रहा हूँ कंठ तेरा।
देखता हूँ सृष्टिमें प्रति क्षण सृजनका ही सवेरा॥
समयके ये चरण चल कर भी कभी थकते नहीं हैं,
क्षितिजके उस पार क्या है, देख भी सकते नहीं हैं।
पर बना मोहक बना है, चार दिनका यह बसेरा॥प्रथम०॥
पुष्पमें यदि फिर सृजनका बीज-रूपी प्रण छिपा है,
तो मरणमें पुनः जीवनका कहीं क्या कण छिपा है?
चाहता हूँ, दूर कर दे, तू हृदयका सब अँधेरा॥प्रथम०॥

भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

(लेखक—श्रीकृष्णरामजी दुबे, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

जागतिक सम्बन्धोंकी सार्थकता परमात्मासे सम्बन्धकी स्थापनामें ही है। सबको भगवान्‌के नातेसे ही अपना मानना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

(विनयपत्रिका)

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। मानिअहिं सबहिं राम के नाते॥

(रामचरितमानस)

तुलसीदासजीकी यही याचना है। वे हाथ जोड़कर वरदान माँगते हैं—'हे शिव! मुझे जन्म-जन्ममें ऐसी स्थिति दीजिये, जिसमें भगवान् श्रीरामके नाते ही मेरा किसीसे नाता हो और श्रीरामके प्रेमके कारण ही मेरा प्रेम हो'—

नातो नाते रामकें, राम सनेह सनेहु।
तुलसी माँगत जोरि कर, जनम जनम सिव देहु॥

(दोहावली ८९)

जिन भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सब सम्बन्ध मान्य हैं, उसके स्वरूपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है। वह सबका आधार है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' वही सबकी जिज्ञासाका विषय है। श्रुतियाँ निर्विशेष और सविशेष ब्रह्मकी परिचायिकाके भेदसे दो प्रकारकी हैं—निर्विशेष-निर्देशक श्रुतियाँ—अस्थूल, अनणु, अह्रस्व आदि हैं। सविशेषलिङ्ग-श्रुतियाँ—सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस आदि हैं। वे ही सच्चिदानन्दघन भावस्वरूप हैं; वे ही ज्ञान, प्रेम, दया, समता आदि अनन्त गुणोंसे युक्त हैं और वे ही लोकका उद्धार करनेके लिये दिव्य लीलाओंसे सम्पन्न भी हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् शब्दका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥

(५। १२। ११)

'विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय, भीतर-बाहरके भेदसे रहित तथा परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु (ब्रह्म) है। वह सर्वान्तिर्वर्ती और सब प्रकार निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान्' है, जिसे पण्डितजन 'वासुदेव' कहते हैं।'

शुद्ध चेतन ब्रह्म प्रकाशमें छाया नहीं रह सकती, किंतु पुरुषमें प्रकृति स्थित है। शुद्ध प्रकृतिको माया या विद्या और मलिन प्रकृतिको अज्ञान या अविद्या कहते हैं। जो सत्त्वगुण किसी प्रकार रज-तमसे दब नहीं पाता, वह शुद्ध सत्त्व है। जो सत्त्वगुण रज-तमसे दबा है, वह मलिन सत्त्व या अविद्या है। मायाका अधिष्ठान और मायामें चेतनका आभास दोनोंको मिलाकर ईश्वर कहा जाता है। अविद्यामें चेतनका आभास और अविद्याका अधिष्ठान चेतन दोनों मिलाकर जीव कहलाता है। इस प्रकार सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर सृष्टि-स्थिति-लयका कर्ता है। जीव अन्तःकरणावच्छिन्न होकर परिच्छिन्न, देहाभिमानयुक्त और अल्पज्ञ है। परमात्मा और जीवात्माके सम्बन्धको प्रकाशित करनेवाले वेदवाक्योंको प्रमाण मानते हुए भी उनकी व्याख्याके भेदसे वादोंमें भेद दिखायी पड़ता है। इस सम्बन्धमें प्रमुख आचार्योंके मतोंकी कुछ चर्चा यहाँ की जा रही है। ये सभी आचार्य वेद-वाक्योंको प्रमाण मानते हैं और हमारे परम मान्य हैं।

(१) आद्यशंकराचार्य—आप ब्रह्म और जीवात्मामें अभेद-सम्बन्ध मानते हैं एवं अद्वैतवादी हैं। ये 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्-वाक्यका अर्थ इस प्रकार करते हैं—तत्—वह ब्रह्म, त्वम्—तुम, असि—हो अर्थात् तुम ब्रह्म हो। (२) रामानुजाचार्य ब्रह्म और जीवमें भेद-विशिष्ट अभेद सम्बन्ध मानते हैं। ये विशिष्टाद्वैतवादी कहलाते हैं। इनके मतमें जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है। इनके मतानुसार भी 'तत्त्वमसि'का अर्थ 'वह तुम हो'

है, किंतु जीवात्मा (तुम) अङ्ग है और परमात्मा (वह) अङ्गी। (३) मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं । माध्वमतका नाम 'ब्रह्मसम्प्रदाय' भी है । मध्वाचार्य ब्रह्म और जीवमें शाश्वत भेद मानते हैं। वह भगवान्‌को स्वामी और जीवात्माको सेवक मानते हैं । वे **'तत्त्वमसि'**की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—**तत् (तस्य)** उसके, **त्वम्**—तुम, **असि**—हो, अर्थात् तुम उसके सेवक हो। (४) निम्बार्काचार्य भेद तथा अभेद दोनों मानते हैं । अतः वे द्वैताद्वैतवादी कहे जाते हैं । इनके अनुसार जैसे स्फुलिङ्ग और अग्नि परस्पर अभिन्न और भिन्न दोनों हैं, वैसे ही जीव-ईश्वर भी भिन्नाभिन्न हैं—इनके अनुसार **'तत्त्वमसि'** की व्याख्या है 'वह तुम हो' किंतु इसका बोध वे पृथक् ढंगसे बताते हैं। (५) वल्लभाचार्यका मत शुद्धाद्वैत कहलाता है । इनके मतानुसार परमात्मा कारणरूपसे अपने कार्यरूप जीवात्मामें रहता है। जीवात्मा परमात्मासे उत्पन्न है, अतः दोनोंमें अभेद है । किंतु परमात्मा अनुत्पन्न है और जीवात्मा उत्पन्न, इसलिये दोनोंमें आत्यन्तिक अभेद नहीं है। इनके अनुसार **'तत्त्वमसि'**की व्याख्या है—**'तस्मात् त्वमसि'** है, अर्थात् तुम उससे हो। (६) चैतन्यके मतसे परमात्मामें अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, जिनमें मुख्य तीन हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थ-शक्ति (जीव-शक्ति) और मायाशक्ति। जीवात्मा परमात्माकी शक्ति है । जीवात्मामें भी अचिन्त्य शक्ति है । इस प्रकार परमात्मासे वह न तो बिल्कुल भिन्न है और न बिल्कुल अभिन्न है। चूँकि तर्कमें भिन्न और अभिन्न एक साथ माननेमें व्याघात दोष है, अतः उनमें 'अचिन्त्यभेदाभेद' मानना चाहिये ।

उपर्युक्त सभी आचार्योंने अपने मतके सम्बन्धमें यह स्पष्ट कर दिया है कि सभी रूपोंमें भगवान्‌से भक्तका प्रिय सम्बन्ध भक्ति है। भगवान्‌से अपने सम्बन्धकी अनुभूति प्राप्त करनेके मार्गमें कर्म, ज्ञान और भक्ति सभीकी गणना है; अतः ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति श्रेष्ठ है। इनके सामञ्जस्यमें कदाचित् निम्नाङ्कित दृष्टान्त सहायक हो।

एक बार श्रीरामचन्द्रके सामने ज्ञानी और भक्त ऋषियोंकी सभा लगी थी । उसीमें उन्होंने श्रीहनुमान्‌से पूछा कि तुम कौन हो ? श्रीहनुमान्‌ने अपनी धारणा बताते हुए उत्तर दिया—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः ।
वस्तुतस्तु तदेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥
(मौक्तिकोप०)

'मैं देहदृष्टिसे आपका दास हूँ, जीवदृष्टिसे आपका अंश हूँ, अर्थात् वास्तवमें और ज्ञानकी दृष्टिसे जो आप हैं वही मैं हूँ।'

भक्ति परमप्रेमरूपा है । जगत्‌के किसी प्राणीके प्रति अनुरक्ति परमप्रेमरूपा नहीं हो सकती । जगत्‌का जो कुछ प्रिय होता है, वह मनुष्यको अपने लिये प्रिय होता है, उस पदार्थके लिये नहीं । जागतिक दृष्टि वस्तुओं अथवा प्राणियोंको आत्मासे भिन्न जानती है । याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे कहा था—'**न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति** (बृह० उ० २ । ४ । ५)।' सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही (आत्माके ही) प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। भगवान्‌के प्रति परमप्रेमके तारतम्यसे ही भगवान्‌की पूजा, कथा आदिमें अनुरागको भी भक्ति कहना उचित जान पड़ता है—'**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। कथादिष्विति गर्गः।**' भगवद्भक्ति प्राणीके सन्तोष और सफलताकी आकाङ्क्षाकी ही पूर्ति नहीं करती बल्कि उसे वास्तविक तृप्ति, सिद्धि और अमरत्व प्रदान करनेवाली है—'**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।**' (भ० सू० ४)। गर्गसंहितामें भी भगवान् शिवके वचन हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।
(गर्गसंहिता०, अश्वमेधखण्ड ३९ । ४)

'नाथ ! मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं, क्योंकि तरंग ही समुद्रकी होती है, तरंगका समुद्र नहीं होता ।' प्रत्यक्ष नाम-रूपात्मक उपासनाके रूपमें भक्तिमार्गको भागवत-धर्मका बल मिलता है । भागवतधर्मके चार उपभेद ये हैं—(१) रामानुजाचार्यद्वारा संस्थापित श्रीसम्प्रदाय (२) मध्वाचार्यद्वारा संस्थापित ब्रह्मसमाज (३) विष्णु-स्वामीका रुद्रसम्प्रदाय और (४) निम्बार्काचार्यका सनकादिक सम्प्रदाय । वैष्णव-शास्त्रकारोंने भगवान्‌के प्रति रतिके पाँच भेद कर भक्तिके पाँच भाग किये हैं—शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और मधुर (या उज्ज्वल) । विविध सम्बन्धोंके रूपमें भगवान्‌के प्रति भक्ति उमड़ती है । स्वामीके रूपमें—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
(मानस ४ । ३)

सखाके रूपमें—

सखा प्यारे कृष्णके, गुलाम राधारानीके।

पतिरूपमें—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥

बालक रूपमें—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ॥
(मानस १ । १९८)
—इत्यादि

भक्तिके चाहे जिस मार्गपर चलें, जैसा कि ऊपर उद्धृत है, जो बात सबके लिये स्वीकार्य है उसे तुलसीदासजीने इस एक चौपाईमें कह दिया है—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते ॥

इसमें प्रस्थान-बिन्दु भगवान् हैं, भगवान्‌के अतिरिक्त जो कुछ दृश्यमान है—उसमें भगवान्‌की सत्ता ही देखना है—'एकोऽहं बहु स्याम,' 'एकमेवाद्वितीयम्' जगत्‌में भासमान छितराये हुए इन नातोंको भी तुलसीदासजीने जिस प्रकार उपसंहृत किया है उसे देखें, भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

इसमें प्रस्थान-बिन्दु जगत्‌के भासमान नाते—सम्बन्ध हैं, साध्य भगवान्‌का सच्चा सम्बन्ध है । इसके द्वारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'की रीतिसे अनुभूति होती है । तुलसीदासजी कहते हैं—

यहि जग में जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों, होहि सिमिटि इक ठाईं ॥

वे इसीको भ्रमजनित, व्यर्थ एवं दुःखद चेष्टाओंसे बचनेका मार्ग भी बताते हैं—

निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥

विश्वात्मा भगवान्‌के प्रति अर्पित होकर सभी 'मेरापन' (जागतिक सम्बन्धोंकी ममता) बहा देनेका अपना निश्चय दुहराते हैं—

नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥

भगवान्‌से भक्तके सम्बन्धकी सीमा नहीं—

मोहि तोहि नाते अनेक, मानिए जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन सरन पावै ॥

जबतक जीव भगवान्‌से अपना सच्चा सम्बन्ध नहीं पहचानता, तबतक वह जगत्-जालमें नाचता रहता है; जब पहचान लेता है, तब प्रेमभावनासे बँधे हुए भगवान् स्वयं नाचते दीख पड़ते हैं—

ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर-क्रूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई ॥

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—'हम भगतनके भगत हमारे ।'

'जैसे सरिता मिलै सिंधु को बहुरि प्रवाह न आवे हो।
ऐसे सूर कमल-लोचन ते चित नहिं अनत डुलावे हो।'
(सूरसागर)

भगवान् और भक्त-सम्बन्धके विषयमें हमें आश्वस्त करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी अपने रामको रीझ भजहु वा खीज।
खेत परे सो जामिहै उलटो सीधो बीज॥

अतः श्रीभगवान्का स्मरण सदा प्रेमभावसे करना चाहिये। 'रामे चित्तलयः सदा भवतु मे।'

ईश्वर और उसकी प्राप्ति

(श्रीआनन्दस्वरूपजी (साहेबजी महाराज) दयालबाग)

'ईश्वर है' यह विश्वास मनुष्यके हृदयमें इतनी गहरी जड़ जमाये हुए है और यह विश्वास इतना प्राचीन एवं विश्वव्यापी है कि हमें बरबस उस विज्ञ दार्शनिककी बुद्धिकी प्रशंसा करनी पड़ती है, जिसने मनुष्यकी परिभाषा करते हुए पहले-पहल इसे ईश्वरको खोजनेवाला प्राणी बतलाया था। यह सत्य है कि सब मनुष्योंकी ईश्वरके सम्बन्धमें एक-सी भावना नहीं होती, परंतु इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि कोई एक सर्वोपरि अदृश्य शक्ति—अज्ञात ईश्वरीय तत्त्व है। इस सम्बन्धमें छोटे-बड़े सभी श्रेणीके मनुष्य एकमत हैं। कहाँ तो वे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवं अनेक विद्या-विशारद दार्शनिक, जो देश-विदेशोंमें ख्याति एवं मान प्राप्त कर चुके हैं, इंग्लैण्डकी रायल सोसायटी (Royal Society) जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओंमें भाग लेते हैं और जिनके जीवनका अधिकांश भाग गहन तत्त्वोंके विचारमें ही बीतता है, और कहाँ भीषण अमेरिकाके वे असभ्य जंगली लोग जो उन घने जंगलोंमें निवास करते हैं, जहाँ आधुनिक सभ्यताका प्रकाश अभीतक नहीं पहुँच पाया है, तथा जो अपने अधिकांश जीवनको उदरदरीकी पूर्तिमें ही बिताते हैं; किंतु इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब उनका जी उस सर्वोपरि अदृश्य शक्तिके प्रभावके सामने नतमस्तक होना चाहता है। यह माना कि सभ्यताके अभिमानी मनुष्योंने ईश्वरमें जिन-जिन गुणोंका आरोप किया है, जंगली जातियोंको उन सबका ज्ञान नहीं है, परन्तु वे अपने दिलोंमें इस बातको खूब समझते हैं कि उनके जीवन, सुख तथा भोजनाच्छादनकी व्यवस्था किसी अलौकिक शक्तिके हाथोंमें है। हमलोग, जिनका जन्म ऐसे देशमें हुआ है जो आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वरीय ज्ञानमें बहुत बढ़ा-चढ़ा है, अपने उन भाइयोंकी धारणाओंकी भले ही दिल्लगी उड़ावें, जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है, परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि इन लोगोंके सरल हृदयमें ईश्वरकी जिज्ञासा उतनी ही मात्रामें है जितनी हमलोगोंके हृदयोंमें है। बात यह है कि मनुष्य यद्यपि ईश्वरकी सृष्टिमें सबसे उच्चकोटिका प्राणी है, फिर भी उसके अन्दर पाशविक वृत्तियोंकी प्रधानता है। जब कभी किसी कारणसे उसके कार्योंमें बाधा पहुँचती है अथवा असफलता होती है उस समय इसकी आध्यात्मिक भावनाएँ जागृत हो उठती हैं। यही कारण है कि वे असभ्य जातियाँ, जिनके जीवनका अधिकांश भाग पेट पालनेमें ही व्यतीत होता है, तथा सभ्य कहलानेवाले हमलोग, जिनकी वृत्तियाँ सांसारिक कामनाओंके बोझसे सदा दबी रहती हैं, ईश्वरकी ओर तभी झुकते हैं जब किसी शारीरिक वेदना, भय, आनन्द अथवा अन्य किसी कारणसे हमारे मनकी स्वच्छन्दगति एक प्रकारसे निरुद्ध हो जाती है। और, यही कारण है कि योगिजन आध्यात्मिक साधनाके द्वारा अपने मन और इन्द्रियोंको पूर्णतया वशमें करके निरन्तर ईश्वरका ध्यान कर सकते हैं।

संसारमें ऐसे सहस्रों मनुष्य हो चुके हैं और अब भी हैं जिनका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं है। अधिकतर मनुष्योंका ईश्वरमें विश्वास न होनेमें प्रधान हेतु यह होता है कि वे जिस रूपमें सांसारिक विषयोंको देखते, समझते और इसलिये उनमें विश्वास करते हैं; वे ईश्वरको उसी रूपमें देख और समझ नहीं पाते। इस प्रकार माननेमें वे यह कल्पना कर लेते हैं कि संसारमें उन्हीं पदार्थोंकी सत्ता है, जिनका बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण हो सकता है अथवा संसारका प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियग्राह्य है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इन्द्रियोंकी गति सीमित है तथा प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट क्षेत्र एवं निश्चित व्यापार है। उन्हें ज्ञात नहीं कि उनके अंदर पदार्थोंके ग्रहण करनेकी कुछ और शक्तियाँ भी हैं जो गुप्त होनेपर भी इन्द्रियोंसे कहीं अधिक सामर्थ्ययुक्त हैं। उनका ज्ञान वहींतक सीमित है जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच है अथवा जहाँतक उनकी तर्कबुद्धि ऊहापोह (तर्कवितर्क) कर सकती है। उन्हें अन्तर्ज्ञान (Intuition) अथवा 'धार्मिक अनुभव' (Religious experience)का ज्ञान नहीं। ये ज्ञान एवं अनुभवका आंशिकरूपसे ही उपयोग करते हैं।

राधास्वामीके मतके अनुसार मनुष्यके लिये ईश्वरका साक्षात्कार उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार हम नेत्रों-द्वारा सूर्यको देखते हैं; परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि हम पहले उस चक्षुका पता लगावें जिसके द्वारा हमें ईश्वरका दर्शन हो सकता है; फिर उसे जागृत कर उसके साथ उन दिव्य किरणोंका सम्पर्क होने दें, जो अखिल विश्वको प्रकाशित करती हैं। लोग कहते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जिसे 'दिव्यचक्षु' कहते हैं। परन्तु संसारमें बहुत थोड़े मनुष्य ऐसे हैं जो ईश्वरके दिये हुए इस सर्वोत्तम प्रसादका उपयोग करना अथवा उसकी कद्र करना जानते हों। मनुष्यके मनकी अधोगामिनी तथा बहिर्मुखी वृत्तियाँ इतनी बलवती हैं कि बहुतोंको प्रारम्भिक साधन भी असम्भव-सा ज्ञात होता है, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तिके अपव्ययको रोकने तथा ईश्वर-साक्षात्काररूपी महान् कार्यमें हाथ डालनेके लिये अपेक्षित आध्यात्मिकताको उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक है। हमारे शरीरोंमें आध्यात्मिकताकी जो सामान्य लहरें प्रवाहित होती रहती हैं, वे ही आध्यात्मिक साधनोंके अभ्याससे भीतर-ही-भीतर केन्द्रीभूत होकर महान् शक्तिशालिनी बन जाती हैं, जैसे बिखरी हुई सूर्यकी किरणें आतिशी शीशेके बीच एकत्र होकर शक्ति-सम्पन्न हो जाती हैं। जब साधक अपने ध्यानको अभीष्ट केन्द्रमें पूर्णरूपेण लगानेमें समर्थ हो जाता है तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि उसके अंदर विषयोंको ग्रहण करनेकी एक नवीन शक्ति जागृत हो रही है। इसके अनन्तर इस नवीन शक्तिके द्वारा जो आन्तरिक अनुभव उसे होने लगते हैं, उनसे उसका अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास बढ़ता है तथा उससे अगले आध्यात्मिक केन्द्र अथवा चक्रकी ओर बढ़नेके लिये उसे प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार जब प्रत्येक नया चक्र क्रमशः जागृत होता है तो उसके साथ ही एक नवीन चेतना प्रस्फुटित होती है, जो पूर्वचक्रकी जागृतिके समय अनुभूत हुई चेतनासे बिल्कुल विलक्षण होती है; तब उसे अनुभव होता है कि प्रत्येक मंजिलके तै होनेके बाद साधकके अंदर आध्यात्मिकताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। अन्तमें जाकर साधक उस अवस्थाको पहुँच जाता है। तब उस चक्रकी जागृति होती है, जिसके द्वारा ईश्वर या भगवत्सत्ताका साक्षात्कार हो सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी प्रत्येक इन्द्रिय-का एक निर्दिष्ट व्यापार है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रियमें पञ्चतन्मात्रामेंसे (जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म रूप हैं) एक तन्मात्रा अवस्थित है। इसलिये

प्रत्येक इन्द्रिय अपने तन्मात्राके अंदर होनेवाले स्पन्दन-को ही ग्रहण करने तथा उसके अनुकूल व्यापार करनेमें समर्थ होती है। उदाहरणार्थ—नेत्रमें अग्नि या तेजकी तन्मात्रा अवस्थित है, इसलिये हम नेत्रोंके द्वारा केवल प्रकाश अथवा रूपको ही देख सकते हैं। इसी प्रकार उस केन्द्र अथवा चक्रमें जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार होता है, आत्मतत्त्व अत्यन्त विशुद्धरूपमें अवस्थित है। और, इस चक्रके जाग्रत् हो जानेपर सारी आध्यात्मिक शक्तिके स्रोत—ईश्वरसे उद्भूत होनेवाली किसी आध्यात्मिक लहरके साथ इसका सम्पर्क होते ही चक्रमें उसके अनुकूल व्यापार होकर ईश्वर-दर्शन इसी प्रकार संघटित हो जाता है, जिस प्रकार हमारी आँखोंके साथ सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध हो जानेपर सूर्यके दर्शन होते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरके साक्षात्कारके लिये दो बातें आवश्यक हैं—

(१) मनका निग्रह और (२) अंदर सोयी हुई उदात्त शक्तियोंको जाग्रत् करना। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त आध्यात्मिक करणका उपयोग किये बिना ही ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करना उतना ही अनुचित है जितना आँखोंका उपयोग किये बिना ही सूर्यके अस्तित्वका निषेध करना है।

भगवत्तत्त्व—एक विचार

(लेखक—श्रीधीरजलालजी मादला)

भगवत्तत्त्व एक गूढ़ और रहस्यात्मक विषय है। परमात्माके रहस्यको जाननेमें देवता और ऋषि-मुनियोंकी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है! गीतामें स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है—

> न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
> अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
> (१०।२)

'मेरी उत्पत्ति (विभूतिसहित लीलासे प्रकट होने)को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन। कारण यह है कि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका जन्मदाता हूँ।' जब देवता और महर्षिगण भी इस तत्त्वतक नहीं पहुँच पाते, तब फिर तुच्छ मानवी बुद्धिद्वारा उसे समझना-समझाना एक बाल-चपलता-सी ही है! तथापि पुण्यकार्य होनेसे इसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्के स्वरूपका वास्तविक तत्त्वमय वर्णन वेदोंमें है—'सर्वज्ञानमयस्तु सः।' तत्त्वज्ञ लोग भी भगवान्की कृपासे उन्हें जानते हैं—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।' पर हम तो जिस प्रकार गूँगेके द्वारा खाये गये गुड़के स्वादको केवल गूँगा ही जानता है, उसके हाव-भावसे मात्र अनुमान ही लगाते हैं। जिसने भगवत्कृपासे 'भगवत्तत्त्व'का जितना अनुभव किया है और उसके वास्तविक स्वरूप और आनन्दको जान पाया है वास्तवमें श्रीभगवान् उससे भी विलक्षण हैं। जो जानने, मानने और साधन करनेमें आता है, वह तो परमात्माको बतानेवाला मात्र सांकेतिक लक्ष्य है। ऐसे दिव्य तत्त्व (भगवत्तत्त्व)का ज्ञान या प्राप्ति जितना परमात्म-कृपा-साध्य है, उतना साधन-साध्य नहीं है। परमात्माके अनन्त स्वरूप हैं। पर उनके तीन रूप मुख्य हैं—(१) निर्गुण-निराकार, (२) सगुण-निराकार और (३) सगुण-साकार। परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं तथा सगुण-निर्गुण भी हैं। निर्गुणके लिये ही 'नेति' अर्थात् 'न इति' कहा गया है। तात्पर्य यह कि—वे इतने ही नहीं, इससे परे और अकथनीय हैं।

१. निर्गुण-निराकार—

परमात्माका निर्गुण तत्त्व मन-वाणीका अविषय है। वह सत्-असत्से विलक्षण है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्ने कहा है—

ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३। १२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा, वह आदिरहित, परमब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही।' उस परमात्माका वह परम ब्रह्मरूप असीम, अपार, अनन्त और अखण्ड बतलाया जाता है। उसे निर्गुण-निराकार कहा जाता है। वह सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंसे परे है। उसकी कोई आकृति भी नहीं है और न कोई नाम ही है। वह तो इन गुणोंसे सर्वथा अतीत और नाम-रूपसे रहित ही है। उसका अनुभव तो किया जा सकता है, पर वर्णन करना सामर्थ्यके बाहरकी बात है।

२. सगुण-निराकार—

सच्चिदानन्दघन निर्गुण परब्रह्म परमात्माके किसी एक अंशमें प्रकृति है। उस प्रकृतिके प्रभावसे ही वह सृष्टिकी रचना करता है और इसी कारण सगुण चेतन सृष्टिकर्ता ईश्वर कहलाता है। वही आदि-पुरुष पुरुषोत्तम, माया-विशिष्ट ईश्वर आदि नामोंसे अलंकृत किया जाता है। प्रकृतिको लेकर ही उसमें समस्त जीवोंकी स्थिति है। गीतामें श्रीभगवान्का कथन है कि—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
(१०। ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरेसे ही सारा जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं।'

सम्पूर्ण वस्तुओंकी उत्पत्ति एवं प्रतीति ही अस्ति एवं भाति-तत्त्व है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें परमात्माकी ही सत्ता प्रतीत हो रही है। एक पदार्थका होना अस्तित्व है और उसका दीखना, अनुभव होना—'भानित्व' है। दूरकी वस्तुएँ हमें दृष्टिगोचर नहीं होतीं, पर 'वहाँ अमुक चीज है'—इस प्रकारका सामान्य भाव बुद्धिमें रहता है। इस प्रकार जहाँ सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। उसे 'भाति-तत्त्व' कहते हैं।

संसारके पदार्थोंका मनको अच्छा लगना 'प्रियता' है। संसारकी समस्त वस्तुओंमें एक प्रियता अनुभव होती है, क्योंकि वे सब किसी-न-किसी रूपमें किसी-न-किसीके लिये उपयोगी हैं। पदार्थोंमें यह जो सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण है, वह सब वास्तवमें उस परमपिता परमेश्वरसे ही है। उस परमात्माका सच्चिदानन्द-स्वरूप ही मायाशक्तिके साथ मिला हुआ होनेसे पदार्थ-मात्रमें प्रियता अनुभव होती है। वास्तवमें तो अस्ति, भाति, प्रिय ये तीनों नाम-रूपसे अलग भले ही दीखते हों, पर ये तीनों विशेषण एक शक्ति या तत्त्वके ही रूप हैं। जहाँ प्रियता है, वहाँ प्रतीति और अस्तित्व भी है। अतः ये तीनों कोई अलग-अलग विशेषण या शक्ति-विशेष नहीं हैं, किंतु ये सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही प्रकृतिको लेकर 'अस्ति-भाति-प्रिय' रूपमें प्रतीत हो रहे हैं।

३. सगुण-साकार—

परमात्माकी यही विलक्षणता है कि वे निर्गुण-सगुण, सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वदेशी, परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा वास्तवमें अजन्मा होते हुए भी जब-जब आवश्यकता समझते हैं, तब-तब अपनी दिव्य प्रकृतिका

आश्रय लेकर सगुण-साकाररूपमें अवतरित होते हैं। इस विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका कथन है—'मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है, मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् स्वयंको प्रकट या अवतरित करता हूँ।' (श्रीमद्भगवद्गीता ४। ६-८)।

श्रीभगवान् सर्व-सुहृद् और परम उदार हैं। वे भक्तोंकी मनःकामना पूर्ण करनेके लिये ही उन्हें दर्शन देते हैं। अनन्य भावसे जो जिस रूपका ध्यान करता है, परमेश्वर उसी रूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। अपने दिव्य गुण, प्रभाव, नाम, रूप, लीला, तत्त्व और रहस्यका विस्तार करके सम्पूर्ण लोगोंके लिये आत्मोद्धारका मार्ग खोल देते हैं। शास्त्रोंमें श्रवण, मनन, चिन्तन और निदिध्यासन आदि साधन बताये गये हैं, जिससे प्रभुकी सहज ही प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌का लीला-विग्रह बड़ा ही दिव्य, अलौकिक और अद्भुत होता है। वे परमात्मा मायाके वशमें होकर जन्म नहीं लेते, बल्कि अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्‌का प्रकट होना साधारण मनुष्यों तथा जीवोंके जन्मकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण और दिव्य है। वे अज, अव्ययात्मा, अगुण, अमान, अतीन्द्रिय होनेपर भी भक्तोंके प्रेमवश अवतीर्ण होते हैं। **'अगुन अमान अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥' 'राम सगुन भए भगत प्रेम बस' 'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं'** इत्यादि। पर उनका दिव्य देह सुविशुद्ध, अविकृत और परम मनोहर होता है। उनकी पद-रजमात्रसे अहल्या-जैसे कोटि-कोटि प्राणियोंकी सद्गति हो जाती है। भगवान्‌का स्वरूप सभी देवताओंसे भी अति दिव्य, विलक्षण और आकर्षक है। इसी प्रकार वे सपरिकर-सशरीर वैकुण्ठधाम पधारते हैं। श्रीवाल्मीकिरामायणमें स्पष्ट उल्लेख है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(उत्तरकाण्ड ११०। १२)

'महामति भगवान्‌ने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चयकर तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे वैष्णवतेजमें प्रवेश किया।' इसी तरह श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् श्रीकृष्णके लिये लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अतिमङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिके योगधारणा-जनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया।' इस प्रकार परमेश्वरकी सभी लीलाएँ अलौकिक, परम दिव्य, प्रकाशमय और आनन्दमय हैं। भगवान्‌के कर्म साधारण मनुष्यों और देवताओं तथा ऋषि-मुनियोंसे भी विलक्षण और अद्भुत हुआ करते हैं। कारण वे सर्वोपरि, सर्वसत्तावान् और चिन्मय परमात्मा हैं।

जिस प्रकार सूर्य, सूर्यकी किरण तथा सूर्यका प्रकाश समझनेके लिये तीन हैं, पर वास्तवमें ये सूर्यसे भिन्न नहीं हैं। उसी तरह सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों गुण अलग-अलग होनेपर भी एक ही परमात्मामें समाविष्ट हैं। इसी प्रकार निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार स्वरूप भी एक ही निर्देशक हैं।

'भगवान् या परमात्मा वास्तवमें भेदरहित हैं। जहाँ मन-बुद्धिकी गति नहीं, वहाँ भी परमात्मा हैं। इसीलिये जब कोई परमात्माके परम तत्त्वको समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये अनन्य भावसे उनके किसी भी रूपको लक्ष्य बनाकर साधना करता है तो उसे परमात्मा-की कृपासे वे उसी रूपमें प्राप्त होते हैं—**'यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।'** (श्रीमद्भा० ३। ९। ११)

भगवत्-प्रेम

हृषीकेशके निकटकी बात है कि गङ्गाके इस पार बहुत साधु रहते थे और उस पार एक मस्त रहता था। उसके रगोरेशमें 'शिवोऽहम्' (अनलहक) बसा हुआ था। रात-दिन यह आवाज आया करती थी—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' एक दिन वहाँ एक शेर आया। साधु इस पारसे देख रहे थे कि शेर आया और उसने महात्माकी ओर रुख किया। वह महात्मा शेरको देखकर उच्च स्वरसे कह रहा था—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' उसकी धारणामें यह जमा हुआ था कि यह शेर मैं ही हूँ, सिंह मैं ही हूँ, स्वयं केसरीके शरीरमें उर भर रहा हूँ—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' वनराजने आकर इनके कन्धेको पकड़ लिया तो वह (महात्मा) आनन्दके साथ सिंहके रूपमें नरमांसका स्वाद ले रहे थे और आवाज निकल रही थी—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' दीवालीमें खाँड़के खिलौने बनते हैं। खाँड़के हिरन और खाँड़के शेर। अगर खाँड़का हिरन अपने-आपको नामरूपरहित विशेषणके साथ समझे कि मैं हिरन हूँ तो क्या वह कहेगा कि खाँड़का शेर मुझको खा रहा है। यदि वह अपने-आपको खाँड़ मान ले तो खाँड़का मृग कह सकता है कि खाँड़के रूपमें मैं ही इधर हिरन और उधर शेर हूँ। इसी तरह जब तुम जानो कि तुम्हारी असलियत क्या है, वह इस खाँड़के अनुरूप ईश्वरका स्वरूप है। अतः इस खाँड़के शेरकी दशामें तुम ईश्वरकी हैसियतसे यह कह सकते हो कि मैं इधर हिरन और उधर शेर हूँ।

पगड़ी, पाजामा, दुपट्टा, अँगरखा गौरसे देखा तो सब कुछ सूत है।

> हुबाबको तोड़ तो दरियाको नक्श,
> पर निगाहे-हक़में वह भी थी तिला।

प्यारे! यह महात्मा वह दृष्टि रखते थे। जिस समय सिंह खा रहा था उस समय वह क्या-क्या स्वाद ले रहे थे। आज नररक्त हमारे मुँह लगा। टाँग खायी तो भी 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्।' पर्दा पहले ही पतला था, मगर सरकाया गया।

सिकन्दर जब भारतवर्षमें आया और उसने देखा कि जितने देश मैंने जीते, सबसे अधिक सचाईवाले बुद्धिमान् और रूपवान् भारतवर्षमें ही देखे। उसने कहा—'इस भारतवर्षके सिर अर्थात् तत्त्व-वेत्ताओं और ज्ञानियोंको देखना चाहता हूँ।' सिकन्दरको सिन्धुके किनारे ले जाया गया। वहाँ एक अवधूत बैठे थे। सिकन्दर सारे संसारका सम्राट् और वहाँ लँगोटी भी नहीं। सामना किस गजबका है! सिकन्दरमें भी एक प्रताप था। मगर महात्माकी निगाह तो यह थी—

> शाहोंको रोब और हसीनोंको हुस्नो-नाज़।
> देता हूँ, जबकि देखूँ उठाकर नज़रको मैं॥

सिकन्दरपर उस मस्तका रोब छा गया। उसने कहा—'महाराज! कृपा कीजिये। यहाँके लोग हीरेको गुदड़ीमें लपेटकर रखते हैं। पश्चिममें जरा-जरा-सी चीजोंकी बड़ी कदर की जाती है। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजपाट दूँगा, सम्पत्ति दूँगा, हीरे-जवाहिरात दूँगा, जो कुछ चाहो सब दूँगा, लेकिन मेरे साथ चलो।' महात्मा हँसे और बोले—'मैं हर जगह हूँ, मेरी दृष्टिमें कोई जगह खाली नहीं है।' सिकन्दर नहीं समझा। उसने कहा—'अवश्य चलिये।' और वही लालच फिर दिखलाया। मस्तने कहा—'मुझे किसी चीजकी परवा नहीं, मैं अपना फेंका हुआ थूक चाटनेवाला नहीं।' सिकन्दरको क्रोध आ गया और उसने तलवार खींच ली। इसपर साधु खिलखिलाकर हँसा और बोला—'ऐसा झूठ तो तू कभी नहीं बोला था। मुझको काटे, कहाँ है वह तलवार!'

बच्चे रेतमें बैठकर रेत अपने पैरोंपर डालते हैं। आप ही घर बनाते हैं और आप ही ढाते हैं। रेतका

क्या बिगड़ा ? जो पहले थी वह अब भी है। प्यारे! इसी तरह उस साधुकी दशा थी। यह शरीर उसको बालूके घरकी तरह है, जो लोगोंकी कल्पनामें उनकी समझका घर बना था। मैं तो बालू हूँ। घर कभी था ही नहीं। अगर तुम या जो कोई इस घरको बिगाड़ता है, वह अपना घर खराब करता है।

तारे क्या रोशनीसे न्यारे हैं।
तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं॥

उत्तर सुनते ही सिकन्दरके हाथसे तलवार छूट पड़ी।

एक भंगिन थी, जो किसी राजाके घरमें झाड़ू दिया करती थी। कभी-कभी उसको सोना या मोती पुरस्कारमें मिल जाता था। कभी गिरे-पड़े उठा लाती थी। उसका एक लड़का था, जो बचपनसे परदेश गया हुआ था। जब वह पन्द्रह वर्षका हुआ तो घर आया। देखा कि उसकी माँने झोपड़ीमें लालोंका ढेर लगा रखा है। उसने पूछा—'ये चीजें कहाँसे आयीं ?' मेहतरानीने कहा 'बेटा! मैं एक राजाके यहाँ नौकर हूँ, ये उनके गिरे-पड़े मोती हैं, जिनका यह ढेर है।' लड़का अपने मनमें कहने लगा, जिसके गिरे-पड़े मोती ऐसे उत्तम हैं, वह स्वयं कैसा रूपवान् होगा ? उसे यह ख्याल आया कि उसके मनमें प्रेम छा गया और अपनी माँसे कहने लगा कि 'मुझे उसके दर्शन कराओ। ये तारे-सितारे, यह चन्द्र-सूर्य, ये छलकती हुई नदियाँ, यह सांसारिक रूप-सौन्दर्य उस सचाईके गिरे-पड़े मोती हैं। अरे, जिसके गिरे-पड़े मोतियोंका यह हाल है तो उसका अपना क्या हाल होगा ?'

लगाकर पेड़ फूलोंके किये तकसीम गुलशनमें।
जमाया चाँद-सूरजको सजाये क्या सितारे हैं॥

जिस समय कन्याओंका विवाह होता है, उनके डोलपरसे रुपये-पैसे-अशर्फियाँ न्योछावर करते हैं और ऐ महात्माओ! तुम इन चीजोंको चुनो। रामकी आँख तो उस दुलहिनके साथ लगी। जिसका जी चाहे इन मोतियोंको भरे। रामके पास तो जामा भी नहीं है, फिर दामन कहाँसे लावे! ॐ! ॐ!! ॐ!!!

—स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थका आत्मावबोध

क्या ही अच्छा होता! वाणीमें यह शक्ति होती कि वह आपके गीत गा सकती। तुमने जाना नहीं कि तुम कौन हो ? तुमने अपने 'आप' पर ऊँघते-ऊँघते उम्र बिता दी। आँखें तो खोलो, जरा देखो तो।

वह हँसमुख नेत्र, वह तिरछी चितवन; नींदके परदेमेंसे प्रलय उपस्थित करती है। मेरे कृष्ण! मेरे राम! तुम सुषुप्तिके परदेकी ओटमें हमें टाले मत दो!

'मैं दीन दास हूँ। मैं बेबस और बेकस (निराश्रय) हूँ इत्यादि'—वह तुम्हारा बहाना किसी औरको भरमें लायेगा, जो जानता न हो। मित्रोंसे तो मुँह छिपाओ नहीं। तुम तो मेरे प्यारे कृष्ण हो। राम हो!

यह सब तुम्हारी स्वप्नकी करतूत कैसी परिहास निकली। तुम्हारी कृपणताएँ, जोड़-जमा, शेखी बघारना, अज्ञानका नाम विद्या रखना, बुद्धिके गोरखधंधे, प्रार्थनाएँ, विनतियाँ, बहानाबाजी, हीलासाजी, इन सबका परिणाम कोरा परिहास है। क्या कुछ और भी था ?

किंतु यह ठट्ठापन आप नहीं हैं।

इस ठट्ठेबाजीके भीतर नीचे घात लगाये बैठे आप दिखायी दे रहे हैं। आपकी खोजमें वहाँतक पहुँचूँगा जहाँ कोई न पहुँचा हो। मौनता, रोना-धोना, लेखन-भाषण, मेज-कुरसी, सुख-शय्या, दिनचर्या, रिजस्टर-पर्चे, दिन-रात चाहे आपको औरोंसे ढाँप रखें और अपने आपसे भी छिपा दें, किंतु मुझसे नहीं छिपा सकते। बिखरे हुए बाल, मुर्झाया हुआ चेहरा, घबराहट भरी आँखें, भयानक आकृति औरोंको चाहे आपसे हटा दें, मुझे नहीं हटा सकते।

भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिमें भक्तिका योग

(लेखक—श्रीउपेन्द्रजी पाण्डेय, शास्त्री)

श्रीमद्भागवतमें भक्तिका विशेष महत्त्व प्रदृष्ट है। यह ग्रन्थ अमलात्मा परमहंसोंके चित्तमें भक्तियोग प्रकट करनेके लिये ही बना है। महर्षि वेदव्यासको इसी पुराणकी अभिव्यक्ति होनेपर पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति हुई। परमविरागी श्रीशुकदेवजीके हृदयमें भी इसीके अध्ययनसे श्रीकृष्णभक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। निष्काम कर्मकी पूर्णता भी वस्तुतः भक्तियोगसे ही होती है श्रीमद्भागवतमें ही कहा गया है—'निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी कोई शोभा नहीं होती, फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही अवस्थाओंमें कल्याणदायक नहीं है, वह काम्यकर्म तथा जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है, ऐसा निष्कामकर्म कैसे सुशोभित हो सकता है।' इसलिये भक्तियोगसे ही ज्ञान और निष्कामकर्म परिपुष्ट होता है।'

महर्षि पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्तियोंका निरोध योग है। इस योगका सम्बन्ध कर्म, ज्ञान और भक्तिके साथ है। कर्म, ज्ञान और भक्तिसे चित्तकी एकाग्रतारूपी योगके साथ सम्बन्ध होनेपर ही उनमें निष्कामताकी सिद्धि होती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें **'समत्वं योग उच्यते'** (२। ४८) तथा **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (२। ५०) से योगकी महिमा प्रतिपादित है।

भक्तोंके लिये भगवान्‌का भजन ही परम लक्ष्य है। उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये वे बड़े-से-बड़े दुःखोंको भी सहन करते हैं। इसलिये अपने भक्तिसूत्रके प्रारम्भमें शाण्डिल्य मुनि पराभक्तिका लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'**[1]

सबसे उत्कृष्ट भक्ति तो परमेश्वरमें अनुराग ही है। उस अनुरागमें अपने सुखकी अभिलाषा नहीं रहती, बल्कि अपने इष्टदेव जिस प्रकार सुखी हों, यह कामना ही सदा रहती है। इसके उदाहरणरूपमें व्रज-गोपाङ्गनाओंकी भक्ति कही जाती है। इसका प्रतिपादन रासपञ्चाध्यायीमें स्पष्ट है। भक्तियोगके लिये अनन्यता आवश्यक है। बिना एकनिष्ठ हुए भक्तियोगकी सार्थकता सम्भव नहीं। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप[2]॥

भगवत्तत्त्वका परिचय तथा भगवत्स्वरूपका दर्शन और उनके साथ तन्मयता भक्तियोगसे ही सुलभ होती है। श्रद्धालु पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको भक्तियोगका सहायक मानकर निरन्तर भगवान्‌का भजन करते हैं। इसीलिये वे भक्त अत्यन्त श्रेष्ठ माने जाते हैं, जिसका समर्थन स्वयं भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार किया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः[3]॥

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ—गीता एवं विष्णुपुराणका उपबृंहण है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति इन तीनोंका दृष्टान्तोंके साथ प्रतिपादन किया गया है। उनमें भक्तियोगको ही सर्वजन-सुलभ और सरल बताया गया है। इसीलिये इन योगोंके अधिकारियोंकी चर्चा करते हुए भागवतकार लिखते हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः[4]॥

१—शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र २; २—गीता ११। ५४; ३—गीता ६। ४७; ४—श्रीमद्भागवत स्क० ११, अ० २०, श्लोक ७-८।

यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्तियोगकी चर्चा अलग-अलग की गयी है। उसमें भी मध्यम मार्ग ही भक्तियोगके अधिकारियोंके लिये विहित है। ज्ञानयोगके लिये सर्वथा कर्मसंन्यास आवश्यक है, तथा कर्मयोगके लिये कर्मफलकी आसक्ति अपेक्षित है, किंतु भक्तियोगके लिये न तो सर्वथा कर्मसंन्यास आवश्यक है, न कर्ममें अत्यन्त रागकी ही जरूरत है। इसीलिये संसारमें भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये भक्तियोग सर्वत्र व्यापक एवं सर्वजनोपकारक सिद्ध हुआ है।

वस्तुतः चित्तकी एकाग्रता जैसी भगवत्कथा-श्रवणसे तथा भगवान्‌की सेवासे अनायास उपलब्ध होती है, वैसी एकाग्रता कर्मयोग या ज्ञानयोगसे नहीं होती। इसीलिये भक्तियोगसे भगवत्तत्त्वको जाननेवाले भक्त भगवान्‌से भक्ति ही माँगते हैं, जैसा कि प्रह्लादके वरयाचनाके प्रसङ्गमें नारदजीने कहा है—

भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह[1]॥

प्रह्लादजीने बालक होनेपर भी यही समझा कि लौकिक विषयोंकी याचना भक्तियोगके लिये विघ्न है। इसलिये उन्होंने सस्मित भगवान्‌से कहा और आगे यही वर माँगा कि 'मेरे मनमें किसी वस्तुकी कामना न हो।' वस्तुतः बात यह है कि भगवत्तत्त्वकी उपलब्धिमें कर्म, ज्ञान और तप इत्यादि साधन अहंकारादि विघ्नसे युक्त रहते हैं, किंतु भक्ति ही एक ऐसी निर्मल चिन्तामणि है जो भगवत्तत्त्वको सर्वदा प्रकाशित करती रहती है। अतः भगवान् व्यासने स्पष्ट कहा है कि विष्णुभक्ति अनर्थोंकी शामिका है—

'अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे[2]।'

निष्कर्ष यह कि भक्तिके लिये किसी-न-किसी आश्रयकी आवश्यकता होती है; क्योंकि मनका यह स्वाभाविक धर्म है कि वह कभी भी निराश्रित नहीं रहता। अतः यदि मन भगवान्‌को अपना आश्रय बनाकर सदा उसीमें अनुरक्त हो जाय तो वह निरहंकारी मन भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारसे कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् उस प्राणीके लिये संसारमें किसी भी पदार्थकी कामना नहीं रहती। इसलिये भगवान्‌की प्राप्तिमें भक्तिका सम्बन्ध सर्वथा श्रेष्ठ है।

भक्तिकी भव्यता

सेवासे लेकर प्रपत्तितक भक्तिका क्षेत्र है। किंतु भक्तिकी भव्यता उसकी रसानुभूतिमें होती है—जहाँ मुक्तिका भी निरादर अवाञ्छनीय नहीं माना जाता। यही कारण है कि *'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने'* वाले भावुक भक्त ज्ञानकी गरिमा और कर्मके सौन्दर्यको मानते हुए भी साधनत्रयमें भक्तिको ही स्पृहणीय मानते और उसीकी याचना करते हैं। *'जनम जनम रति रामपद'* का वरदान माँगनेवाले किसी अन्य स्पृहासे लिप्त नहीं रहते। पर भक्तिकी भव्यताकी सिद्धि जिस प्रपत्ति—शरणागतिसे होती है उसकी प्राप्ति विना ज्ञान-निष्ठा और कर्मसौन्दर्यको साधना किये नहीं होती। फलतः भक्तिमें भी तत्त्व-ज्ञान—भगवत्तत्त्व-ज्ञान और उसके व्यावहारिक पक्ष कर्मकौशल (कर्मसौन्दर्य) अपेक्षित हो जाते हैं। वस्तुतः इसी स्तरपर ज्ञान, कर्म और भक्तिका सामञ्जस्य हो जाता है और उस सामञ्जस्यसे भगवत्तत्त्वदर्शनकी दूरदृष्टि प्राप्त हो जाती है। यहीं भक्तिकी भव्यता निखर उठती है—जब कि भक्त *'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* हो जाता है।

१-श्रीमद्भागवत ७। १०। १, २-श्रीमद्भागवत १। ७। ६।

सगुणोपासना—भारतीय दृष्टिकी अनुपम उपलब्धि

(लेखिका—कु० श्वेताम्बरी सहगल)

> वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
> पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
> पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
> कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

निर्गुणमतके प्रतिपादक 'अद्वैतसिद्धि'के प्रणेता श्रीमधुसूदन सरस्वतीका यह पद्य भारतीय दृष्टिकी सूक्ष्मता एवं व्यापकताका द्योतक है । भक्तिकालीन कवियों—सूर, तुलसी, मीराँ आदिके पदोंमें भगवान् कृष्ण एवं रामके सगुण-साकार-स्वरूपकी अगणित छटाएँ अपूर्व सौष्ठव एवं वैभव लिये विद्योतित हुई हैं । भक्त कवियोंकी मनोवृत्ति अपने इष्टके मनोहारी ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न-स्वरूपमें पूर्ण आश्रय पाकर आह्लाद-विभोर हो अपने अन्तर्हृदयके क्लेश, दैन्यादिको निःसंकोच व्यक्तकर, आराध्यके सूक्ष्म, व्यापक-स्वरूपकी अनिर्वचनीयताको शब्दबद्ध करनेके प्रयासमें कह उठती है—

> केसव कहि न जाय, का कहिये ।
> देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ॥

वस्तुतः भक्त और भगवान्के बीच एक विलक्षण आत्मीयताका सम्बन्ध है । भक्त माधुर्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य—जिस किसी भावनासे भगवान्का स्मरण करता है, उसी स्वरूपमें वे उसे संतुष्ट करते हैं । भक्तकी अनन्यता उसे भगवान्पर अपूर्व विशेषाधिकार भी दिलाती है । समराङ्गणमें क्रुद्ध हो पितामह भीष्म जब कह उठते हैं—

> आजु जौ हरिहि न सस्त्र गहावौं ।
> तौ लाजौं गंगा जननी को, सांतनु-सुत न कहावौं ॥

तब पार्थसारथी भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षाहेतु अपना प्रण त्यागकर रथाङ्ग धारण किये हुए शत्रुपक्षकी ओर दौड़ पड़ते हैं और प्रभुहीकी सौगंध खा जब भक्त हठ-कर अड़ जाता है—

> 'प्रन करि हौं हठि आज तें रामद्वार पर्यो हौं
> तू मेरो यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि ।'
> प्रभुकी सौं करि निवर्यो हौं ।

—तो भगवान्को भी हार माननी ही पड़ती है । 'अहीरकी छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै' नन्दलालाको नाच नचाती हैं । कोई उनकी बाँसुरी चुरा लेती है, कोई 'कामरिया' कहीं छुपाकर नटवरको नाचनेका आग्रह करती हुई—'कामर देऊँ नयो'का आश्वासन देती है । नित्य नये उलहने लिये वे 'यशोदा मैया'के आगे उनसे 'कन्हैया'की शिकायतें करती हैं और कन्हैया भी तो कुछ कम नहीं—माखन चुरानेपर मैयाहीकी सौगंध खाकर साफ मुकर जाते हैं । फिर कहते हैं कि 'माँ ! लोग तथा बलराम भी मुझे गालियाँ देते हैं, कहते हैं कि तुम नन्द-यशोदाके पुत्र नहीं हो । क्योंकि बाबा नन्द और यशोदा मैया तो दोनों ही गोरे हैं । तुम इतने साँवले, भला उनके पुत्र कैसे हो सकते हो ? बालमित्र कन्हैयापर चुटकी दे-दे हँसते हैं । बेचारे कहाँतक सहन करें ? मैयाके लिये भी तो 'मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीजै' की स्थिति है । अब फरियाद करें भी तो कहाँ !

जन-साधारणके मूलभूत जीवनसे अभिन्नरूपसे जुड़ी भगवान्की ऐसी अगणित लीलाएँ, अपूर्व छटाएँ अनिर्वचनीय रसधाराकी अगाध संचार करती हैं । भक्तके लिये भगवान्की यह निकटता उनकी सर्वशक्तिमत्ताके साथ मिलकर एक ऐसा सुदृढ़ आधार उपस्थित करती है, जो उसे जीवनके सभी संघर्षोंका स्थिरचित्तसे सामना करनेका सामर्थ्य देते हुए अन्ततः संसारसागरसे 'गोपद इव' पार करा देती है । भगवान्की अपार करुणा, पतितपावनता, परमहितैषिता, सामर्थ्य-पराकाष्ठा भक्तको आत्मसमर्पण करनेके लिये प्रेरित करती है—

मान राखिबो माँगिबो, पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं, जब चातक मत लेहु॥

अपने बुद्धिचातुर्यसे कल्पना करता हुआ भक्त कभी सोचने लगता है—तऊ न मेरे अघ-अवगुन गनिहैं।
जौं जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं।

तब तो—

'चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जनिहैं॥
देखि खलल अधिकार प्रभूसों मेरी भूरि भलाई भनिहैं॥'

और फिर भगवान् भी—

'हँसि करिहैं परतीति भगतकी, भगत-सिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं॥'

(विनयपत्रिका ५)

ऐसे सुदृढ विश्वाससे निश्चित हो भक्तकी हर क्रिया, हर वृत्ति, हर क्षण भगवान्‌में ही होने लगती है। यहाँतक कि—

'सोइबो जो राम के सनेह की समाधि सुख,
जागिबो जो जीह जपै नीके रामनाम को।'

(विनयपत्रिका)

भक्तिके फलस्वरूप अपार संयम, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य आदि भक्तको भगवत्कृपासे प्राप्त हो जाते हैं। भक्तके क्लेश-बीज, मोहमूल 'अहम्'को नाम शेष करना भगवान्‌का व्रत है, जिसके पालनमें वे निष्ठुर एवं वज्रादपि कठोर भी प्रतीत हो सकते हैं, परंतु अन्ततः भक्त भी स्वयं ही यह अनुभव कर लेता है कि—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भक्तिपथ सुगम, निष्कण्टक राजमार्ग है। योग, जप, तप, उपवास, तीर्थाटन इसके अंग बन जाते हैं। यथा-लाभ-संतुष्ट, परदोष स्वप्नमें भी न देखनेवाला, अधिक कर्मोंसे विरक्त, सज्जन-धर्मरत, जो सभी स्नेहियोंका 'ममताताग' बटोरकर, उसकी एक ही डोरी बनाकर, अपने मनको प्रभुके चरणोंसे बाँध लेता है, जिसके लिये 'चातक जिमि जलधर नेहू' ही हो जाता है, उसका सुख केवल वह स्वयं ही जान सकता है। स्वयं रमापति उसके परम रक्षक हो जाते हैं। वह तो बस 'फिरत सनेह मगन सुख अपने।' अनन्य भक्ति भौतिक सुखोंको तो क्या, मोक्षको भी तुच्छ समझती है। गोपियाँ जब उद्धवजीके ब्रह्मको कन्हैयाके आगे नगण्य ठहराती हुई कहती हैं—

ब्रह्म मिलिबे तो कहा मिलिबे बतावौ हमैं
ताको फल जबलौं मिलै न नन्दलाला हूँ ?

तो उद्धवजीकी 'ज्ञान-गठरी' क्षणभरमें खुलकर गिर जाती है। गोपियाँ कष्टसे नहीं डरतीं, उद्धवजीकी बतायी योगकी कठिनतम क्रिया करनेके लिये वे सुकुमारियाँ प्रस्तुत हैं, पर शर्त यह है कि उन्हें ब्रह्म नहीं, कन्हैया मिलना चाहिये—

'सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस,
पुनि कहि देहु कि कन्हैया मिलि जाइगो।'

सगुण ब्रह्मकी उपमा गहन अर्थपूर्ण दृष्टिसे सरोवरमें खिले कमलसे दी गयी है—

फूले कमल सोह सर कैसे। निरगुन ब्रह्म सगुन भए जैसे॥

भक्तकी यह गति, यह स्थिति देखनेपर कोई संदेह नहीं रह जाता कि मनोवृत्तियोंके लिये भगवान्‌के संनिकट, परम आत्मीय, सर्वैश्वर्य-सामर्थ्य-सम्पन्न स्वरूपका किसी भी व्यक्तिके जीवनमें अपूर्व परिवर्तन एवं उत्थानका कारण बन सकता है। भक्तिरसका माधुर्य केवल वैयक्तिक सुखका ही कारण न होकर सम्पूर्ण समाजके लिये एक महान् प्रेरणास्रोत बन सकता है। परंतु सगुणोपासना केवल अपने इष्ट मनोवैज्ञानिक परिणामोंके आधारपर ही भारतवर्षमें सुदीर्घकालसे इतने व्यापकरूपसे चली आ रही है, ऐसा नहीं है। सगुणोपासनाका दार्शनिक आधार भी अत्यन्त सुदृढ और सूक्ष्म है, जिसका अवलोकन विस्तृत रूपसे करना है। भगवान्‌के अवतरणका कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार दिया गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(४ । ७-८)

'रामचरितमानस'में भगवान् शंकर इसके अतिरिक्त भक्तका प्रेम भी भगवान्के अवतरित होनेका कारण बताते हैं—

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटहिं जिमि आगी॥

स्वायम्भुव मनुके भगवान्-जैसा पुत्र माँगनेपर प्रभु कहते हैं—

आप सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

भगवान्का यश गाकर ही भक्त तरते हैं—'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥' अतः सिद्ध होता है कि स्वयशःरक्षा ही भगवदवतारका मुख्य कारण है। परंतु इतनेहीसे अवतरण कारणोंकी इयत्ता नहीं हो जाती। अतः पहले यह देखना होगा कि अवतारकी यथार्थताके सम्बन्धमें 'रामचरितमानस'में कहाँ संदेह उपस्थित हुआ है और उसका क्या उत्तर दिया गया है तथा आगेके युगमें यह उत्तर कहाँतक प्रामाणिक माना जा सकता है ? 'परम रम्य गिरिबर' कैलासपर जहाँ 'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद' 'सिव सुखकंद' की आराधनामें लीन रहते हुए 'नित नूतन' वनश्रीमण्डित विशाल वट-वृक्षकी 'सुसीतल' छायामें मृगचर्मपर भगवान् आशुतोष सुखस्थ हैं। उनके 'कुंद इंदु दर गौर' शरीरपर मुनिचीर सुशोभित हो रहा है और 'भुजगभूतिभूषण' के आननकी 'सरद चंद छबि हारी' शोभा वर्णनातीत है, मानो साक्षात् शान्तरस ही देह धारण कर स्थित हो—

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल ।
नील कंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल ॥

योग्य अवसर जानकर उसी समय भगवती श्रीगिरिजा उनके चरणोंमें आकर प्रणाम करती हैं। उनके आदरपूर्वक वामासन देनेपर गौरीजीके हृदयमें पूर्वजन्मकी बातें स्मरण हो आती हैं। अत्यन्त विनम्रभावसे भगवान् शंकरकी स्तुति कर वे उनसे अपना अज्ञान नष्ट करनेकी प्रार्थना करती हैं। भगवान् शंकरके हृदयमें भी 'रामचरित'का स्फुरण होता है और कुछ देरतक ध्यान-मग्न रहकर हर्षसे अपने इष्टदेवकी वन्दना कर विश्व-स्वरूपका वर्णन करते हैं—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

यहाँ वे विख्यात दृष्टान्त सर्प-रज्जु तथा स्वप्न-सृष्टिका उल्लेखकर पुनः बालरूप रामकी वन्दना करते हैं। साथ ही सगुण-निर्गुणकी अभिन्नता भी प्रतिपादित करते हैं और पुनः कहते हैं—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

तथा—

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

इन उक्तियोंमें पुनः सगुण-निर्गुणकी एकता प्रतिपादित की गयी है। भगवान् शंकरद्वारा रजत-शुक्त्यध्यास, स्वप्नवत् सृष्टिका निर्देश करनेपर—श्रीशंकरजीके **'भ्रमभंजन'** वचनोंसे तत्काल पार्वतीजीके हृदयके कुतर्क नष्ट हो गये। 'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥' विचारणीय बात यह है कि रामकथाका तो अभी प्रारम्भ भी नहीं हुआ, परंतु श्रोताका संदेह नष्ट होकर उनका समाधान हो गया। यहाँ स्पष्टतः ही 'अधिकार'का महत्त्व ज्ञात होता है। वक्ता स्वयं 'जोग ग्यान बैराग्यनिधि प्रनत कलपतरु' जगद्गुरु श्रीशंकरजी हैं और श्रोता साक्षात् श्रीजगज्जननी तपःपूता भगवती गिरिजा। अतः वेदान्त-शास्त्रकी मार्मिक युक्तियोंके निर्देशमात्रसे अज्ञानावरण तुरंत नष्ट हो गया।

वेदान्त-शास्त्रानुसार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंमें 'त्वं' पदका 'शोधन' करनेपर एक संवित् चिन्मात्रकी सत्ता प्रमाणित होती है। 'विश्वदर्पण'में दृश्यमान-

नगरीके तुल्य सिद्ध होता है, जो पुनः 'निजान्तर्गत' है, परंतु स्वप्नसृष्टिकी भाँति बाह्यस्थ प्रतीत होता है। यह चित्तत्त्व सृष्टिका आधार एवं मायाके अध्यासका आश्रय है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका कथन है—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्,' 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन'** तथा—**'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्'**

चिन्मात्र 'सत्' है, फिर अनात्म क्या है? अनात्म केवल अविद्यामूलक अज्ञान दृष्टि ही है। प्रातिभासिक सत्तासे शुद्ध चैतन्यका अविद्याद्वारा अभेद माननेमें ही अनात्मकी प्रतीति होती है। प्रतिपल परिवर्तनशील संसारको शाश्वत मानकर उसमें चञ्चल चित्तका परमात्माके आसक्त होना ही अज्ञान है। परमात्माके यथार्थ अस्तित्व एवं शाश्वत-स्वरूपको समझकर एक तत्त्वमें निष्ठावान् होना भक्ति है, ज्ञान भी वही है। वस्तुतः 'दृश्य' और 'द्रष्टा' अभिन्न होनेपर भी अहं तथा ममतासे आबद्ध चित्तमें ये तथा अन्य प्रत्येक पदार्थ भी भिन्न दीखते हैं। अतः चित्तशुद्धि ही साध्य है। चाहे वह ज्ञानसे, चाहे कर्मसे, चाहे भक्तिसे हो।

जड़-चेतनकी ग्रन्थि आज भी विज्ञानके लिये एक दुरूह पहेली बनी हुई है; क्योंकि पाँच महाभौतिक इन्द्रियोंद्वारा भौतिक जगत्का बोध मायिक है, अर्थात् वह जगत् वैसा नहीं है, जैसा प्रतीत हो रहा है। परंतु साधारण बुद्धि इस तथ्यको कैसे समझ सकती है?—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

भौतिकवादीकी संकुचित दृष्टि उसके अन्तःकरणरूपी दर्पणपर जो मलावरण डाल देती है, वही उसके सत्-दर्शनमें बाधक होता है। बुद्धिद्वारा **'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः'** अथवा **'न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्'** एवं **'न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यम्'** (दशश्लोकी, सिद्धान्तबिंदु) का साक्षात्कार ही कर्तव्य है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

यह निम्नलिखित श्लोकके भावसे भी मिलता है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२।५)

निर्गुण-मतावलम्बी जीवनको निषेधात्मकदृष्टिसे देखता है। उसके लिये 'दृश्य' मात्र मिथ्या है, आभास 'बदर समाना' है। परंतु सगुणाराधकके लिये सम्पूर्ण सृष्टि आराध्यदेवका मूर्त विराट् विग्रह है, जिसकी प्रत्येक छटा उसके हृदयमें अनुराग, उल्लासका संचार करती है। आनन्द उसके रोम-रोममें टपकता है, परंतु आसक्तिकी शृङ्खलाएँ उसके हृदयको कभी बाँध नहीं पातीं, चाहे वह अपार जनसमूहमें कर्मरत हो, चाहे नीरव एकान्तमें ध्यानमग्न, अपूर्व समर्पणमें उसका हृदय सदा एकरस रहता है—गूँगेका गुड़। वह किसीको समझा नहीं पाता—न इसकी आवश्यकता ही होती है। सम्पूर्ण सृष्टिका विधान उसके लिये मङ्गलमय है—सच्चिदानन्दकी आनन्दमयताकी अभिव्यक्ति है—दिव्य वीणाकी मोहक झंकार, श्यामसुन्दरकी वेणुकी अपूर्व ध्वनि, अखण्ड रासलीलाकी अनवरत गति—भगवान्का 'प्रसाद' है। सरोवरमें खिले अरुण-कमल जैसे उसकी शोभामें चार चाँद लगा देते हैं, वैसे ही 'निर्गुण ब्रह्म' रूपी सरोवरमें 'सगुण' कमलकी भाँति सुशोभित होता है। 'साकार' ही सच्चिदानन्दकी आनन्दमयताका मूर्त प्रमाण है। इसीलिये जिन धर्मप्रवर्तकोंने मूर्तिपूजाका तीव्र विरोध किया, कालान्तरमें उन्हींके अनुयायियोंद्वारा उन्हींकी प्रतिमाएँ पूजित होने लगीं, पर भारत तो इस तथ्यको निम्नरूपमें पहलेसे ही स्वीकारकर सबकी आराधना करता आ रहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(गीता १०।४१)

भगवान् विष्णु

(लेखक—श्रीबाबूरामजी अवस्थी, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भारतीय वाङ्मय एवं जनजीवनमें भगवान् विष्णुको सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। वेदोंसे लेकर सामान्य साहित्यतकमें भगवान् विष्णुके अनन्त नामों-रूपों, चौबीस अवतारों और लीलाओंका विशद वर्णन मिलता है। वस्तुतः विष्णु वह परम सत्ता है, जिससे पृथक् किसीकी कोई सत्ता नहीं। समस्त चराचर जगत् उनके विराट् रूपका साकार विग्रह है। विष्णु शब्द व्याप्त्यर्थक 'विश्' धातुमें **'विषेः किच्च'** इस औणादिक सूत्रसे 'नु' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। सर्वत्र व्याप्ततत्त्वका नाम ही विष्णु है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गतक विष्णुकी व्यापकता प्रसिद्ध है—

यस्माद्विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥
(विष्णुपुराण)

उन भगवान् विष्णुकी शक्तिसे ही यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है। गीतामें भी कहा गया है—**'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप,'** तथा **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।'** वेदोंमें तीनों लोकोंके नापनेके कारण वे 'त्रिविक्रम' कहलाते हैं। विस्तृत गतियुक्त—होनेसे वे ही **(उरु—गच्छति)** उरुगाय कहे गये हैं—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥
(ऋ० २ । १५४ । १)

'मैं विष्णुके उन वीरतापूर्व कर्मोंका वर्णन करता हूँ, जिन्होंने पृथ्वीसम्बन्धी कणोंको अथवा तीनों लोकोंको नाप लिया और उन्होंने विस्तृत गतिशील होकर तीन डगोंमें ही स्वर्गको नाप लिया। इनमें दो पादविक्षेप मनुष्योंद्वारा देखे जा सकते हैं, परंतु तीसरा क्रम मर्त्योंकी पहुँचसे परे है।' विष्णुका ऊर्ध्वतम विक्रम स्वर्गमें स्थिर है, जो नीचेकी ओर बड़ा ही चमकता हुआ प्रकाश देता है और वही स्वर्ग वह स्थान है, जहाँ विष्णु रहते हैं तथा जहाँ पुण्यात्मा मनुष्य और देवता आनन्द भोगते हैं—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥
(ऋ० १ । १५४ । ५)

इस मन्त्रमें सूर्यके तीन मार्गके ही विष्णुके तीन विक्रम माने गये हैं। निःसंदेह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग ये उनके तीन पादविक्षेप स्थल हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमव भाति भूरि॥
(ऋ० १ । १५४ । ६)

'हम तुम्हारे उन निवासस्थानोंको जाना चाहते हैं, जहाँ बड़ी सींगोंवाली उत्तम गायें अथवा विशाल किरणें हैं। वहीं विस्तृत गतिवाले अभीष्ट वर्षी विष्णुका विशाल परमपद शोभित होता है।' वेदोंमें विष्णुका अर्थ सूर्य भी है।

सौरचक्रकी नब्बे गतियाँ और तीन सौ साठ दिन ही उनका चक्र माना गया है। यह प्रकाशपूर्ण तीव्र सौर-गति समस्त विश्वको व्याप्त कर लेती है, अतः सूर्य विष्णु हैं। पुराणोंमें बारह आदित्योंमेंसे एक विष्णु माने गये हैं, विष्णुकी दूसरी विशेषता है—इन्द्रकी मित्रता। वृत्रवधमें ये दोनों इतने घनिष्ठ हैं कि 'इन्द्राविष्णु'का द्वन्द्वसमास प्रयोग हुआ है। कोशोंमें विष्णुके पर्यायवाची शब्दोंमें 'उपेन्द्र' शब्द भी आता है, जो दोनोंका साहचर्यसूचक है—**उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः,'**
(अमर० स्वर्ग० २१)

❋

भगवान् विष्णु

पुराणोंमें विष्णुके अगणित नाम-रूपों और लीला-धामोंकी कल्पना की गयी है। उनका वर्ण उज्ज्वल तथा श्याम बतलाया गया है—

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥
मेघश्यामं पीतकौशेयवासं
श्रीवत्साङ्कं कौस्तुभोद्भासिताङ्गम्।
पुण्योपेतं पुण्डरीकायताक्षं
वन्दे विष्णुं सर्वलोकैकनाथम्॥

वे चतुर्भुज, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, मुकुट-कुडण्ल-कौस्तुभ-मणिमण्डित, पीताम्बरसुशोभित, श्रीवत्सपद-लाञ्छित, वनमालाविभूषित तथा सर्वाङ्गसुन्दर हैं। वे कृष्णरूपसे राधाके साथ गोलोकमें, रामरूपसे सीताके साथ साकेतमें, विष्णुरूपसे लक्ष्मीके साथ वैकुण्ठमें विराजमान रहते हैं। उनके शङ्खका नाम पाञ्चजन्य, चक्रका नाम सुदर्शन, गदाका नाम कौमोदकी, खड्गका नाम नन्दक, मणिका नाम कौस्तुभ, धनुषका नाम शार्ङ्ग है और उनके वाहन गरुड़ हैं—

शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्।
कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः॥
चापः शार्ङ्गं मुरारेस्तु श्रीवत्सो लाञ्छनं स्मृतम्॥
(अमर० स्वर्ग० ३१)

भगवान् विष्णुके ये शङ्ख, चक्रादि आयुध कोई जड पदार्थ नहीं हैं, बल्कि मूर्तिमान् चेतना-शक्ति-स्वरूप हैं। वे निरन्तर उनकी जयशब्दादि द्वारा स्तुति करते हुए उपासना करते रहते हैं—

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम्॥
(रघु० १०। १२)

उनका चतुर्भुज रूप बड़ा सौम्य एवं मनोहर है। अर्जुन विराट्रूपसे भयभीत होकर उसीके दर्शनार्थ प्रार्थना करते हैं—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।
(गीता ११। ४६)

भगवान्के इस रूपमें अर्जुनकी विशेष भक्ति होनेका अभिप्राय यह है कि इस दिव्य स्वरूपमें उपासकको अलौकिक गुणोंके दर्शन होते हैं। उनके मस्तकपर मुकुट सब प्रकारके ऐश्वर्य तथा परहित-एकता, अनुभवका चिह्न है। शङ्ख सब प्रकारकी विद्याओंका प्रतीक है; क्योंकि शङ्ख शब्दात्मक है और विद्याएँ प्रायः शब्दरूप ही हैं। किसी भक्तने कहा है—

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निःसरेत्।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यदुपते लक्ष्मीपते केवलं
त्वत्पादाम्बुजसेवनेन सततं कालो मया नीयते॥
(चाणक्यनीति)

गदा शारीरिक महाप्राणता तथा मानसिक शक्तिका चिह्न है—**'कुं पृथ्वीं मोदयति इति कौमोदकी'** अर्थात् समस्त पृथ्वीको प्रमुदित करनेवाली कौमोदकी गदाको धारण करनेवाले भगवान् विष्णु अत्यन्त परोपकारी और निर्भय हैं, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

चक्र आयुध पापियोंके लिये भयंकर कालके समान संहारक है, किंतु भक्त सज्जनोंके लिये 'सुदर्शन' है। वह उनकी रक्षा करता है। दुर्वासाके क्रोधसे उत्पन्न 'कृत्या'का संहारकर अम्बरीषके रक्षाका कार्य सुदर्शन-हीने किया था। साथ ही वह कार्यकौशल अथवा कर्मशीलताका प्रतीक है; क्योंकि चक्र विषम धारवाला और गोलाकार होता है। जिस प्रकार किसी यन्त्रके चक्के एक दूसरेसे शृङ्खलाबद्ध जुड़े हुए चक्कर काटते रहते हैं, तभी वह यन्त्रालय भी चलता है, उसी प्रकार सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यताके कर्म कुशलतासे करते हुए परस्पर शृङ्खलाबद्ध और एक दूसरेके सहायक होते हैं, तभी संसार-चक्र भलीभाँति चलता है। विष्णुके हाथमें ऐसा ही चक्र है। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण जगत्का संचालन उनके ही हाथमें है। पद्म

अनासक्तिपूर्ण स्नेहका प्रतीक है। वह सदा पानीमें रहता हुआ भी उससे पृथक् रहता है, भीगता नहीं। वह सदा सुरभित सौन्दर्यमय रहता है। भगवान्के हाथमें पद्म है, अर्थात् संसारमें अवतार लेकर सब कर्म करते हुए भी वे निर्लिप्त रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मुझे कर्म लिप्त नहीं करते और कर्मफलमें भी मेरी तृष्णा नहीं है।' इस प्रकार जो कोई मुझे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता। जो पुरुष सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है, वह जैसे कमलका पत्ता जलमें रहकर भी उससे अलग रहता है, वैसे ही पापसे लिप्त नहीं होता। (गीता ४। १४, ५। १०) पद्ममें सुगन्ध होती है। इससे यशका बोध होता है। भला भगवान्से अधिक यशस्वी और कौन होगा? उनका सौन्दर्य, जिसके कणमात्रसे जगत्की अनोखी रमणीयताकी सृष्टि होती है, सर्वथा अवर्णनीय है।' विष्णुके शुभ्र-पीत वस्त्र उनकी निर्मलता तथा सत्त्वके प्रतीक हैं। वे देवत्रयीमें भी जगत्-रक्षक सत्त्वगुणात्मक शक्तिस्वरूप हैं—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये
स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे॥
(कादम्बरी १)

उनकी चार भुजाएँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी ओर संकेत करती हैं। चारों पदार्थ उनके अङ्ग बने हैं। अतः वे पुरुषोत्तम कहलाते हैं। वैकुण्ठ आदि सर्वोच्च स्थानोंमें निवासकी कल्पना उनकी सर्वश्रेष्ठताका सूचक है।

पुराणोंमें वर्णित मत्स्य, कूर्म, वराह आदि दस अवतारोंको धारण करनेवाले विष्णु ही हैं। वैसे अंशावतार, आवेशावतार और पूर्णावतार आदि भेदसे उनके अवतारोंकी संख्या अनन्त है। इन अवतारोंके आधारपर इनकी अनन्त गाथाएँ पुराणोंसे लेकर आधुनिक साहित्यतक बिखरी हुई हैं। पाञ्चरात्र, वैष्णव, सात्वत, वैखानस एवं भागवत आदि अनेक धर्म, मत, सम्प्रदायादि विष्णुकी उपासनाको लेकर प्रकट हुए। ज्ञानीजन समस्त जड-चेतन और अखिल ब्रह्माण्डमें उसी सत्ताके दर्शन करते हैं। वे यज्ञपुरुष हैं। दया, दाक्षिण्य, सहिष्णुता आदि समस्त गुण उनमें वर्तमान हैं। चञ्चल लक्ष्मी उनके चरणोंका सामीप्य नहीं छोड़ती—**'चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्।'** (श्रीमद्भा० ३)

वेदोंके अनुसार विष्णुकी दो पत्नियाँ—श्री और लक्ष्मी—सदैव दिन-रात उनके पास सेवामें उपस्थित रहती हैं—**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे**...।*
(यजुर्वेद०, पुरुष० ३१। २२)

नमस्तुभ्यमनन्ताय

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे। निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम्॥
(ब्रह्माकी प्रणति, श्रीमद्भा० ८। ५। ५०)

'जो तीनों काल और उससे परे भी एकरस स्थित हैं, जिनकी लीलाओंका रहस्य तर्क-वितर्कके परे है, जो स्वयं गुणोंसे परे रहकर भी सब गुणोंके स्वामी हैं तथा इस समय सत्त्वगुणमें स्थित हैं—ऐसे आप भगवान् विष्णुको हम बार-बार नमस्कार करते हैं।'

* यह मन्त्र तैत्तिरीय, काण्व, काठकादि कई संहिताओंमें है। वाजसनेयिसंहिताके अतिरिक्त अधिकांश अन्य स्थलोंपर 'ह्रीश्च'का पाठ है।

परम शिव-तत्त्व

(लेखक—श्रीराजिन्द्रसिंहजी 'मान', एम्० ए०, बी० एड्०)

वेदोंमें मूल तत्त्वके लिये शिव, विष्णु, इन्द्र, वरुण आदि—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** (ऋ० १। १६४। ४६) अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में यह तत्त्व शिव नामसे अभिहित है। उसके अनुसार शिवकी उपासनासे पूर्ण शान्ति मिलती है—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। १२)

'एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा जो बहुत-से जीवोंके अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस सर्वशक्तिमान् परम सहृदय परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परम आनन्द (नित्य सुख) प्राप्त होता है, औरोंको नहीं।' वे सभी ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता—
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। ७)

मनु इन्हें एकाक्षर ब्रह्म—'ॐ' कहते हैं। विष्णु भगवान्‌ने लक्ष्मीसहित शिव-पूजनकर अत्यन्त तेज प्राप्त किया। ब्रह्मादिक देवता उनके ही प्रचारक हैं—

तत्कृतं हि जगत् सर्वं ब्रह्माद्यास्तस्य किंकराः।
(शि०पु० वायवीय सं० अ० ३४। ३८)

रामायणके सभी पात्र शिवकी आराधना करते हैं। पद्मपुराणमें श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई शत्रुघ्नसे कहते हैं—'मैं महेशकी चरणरजको धारण करता हूँ।'

शिवे विष्णौ न वा भेदो न च ब्रह्ममहेशयोः।
तेषां पादरजः पूतं वहाम्यघविनाशनम्॥
(४। २५०)

महाभारतमें युग-युगमें श्रीकृष्णके द्वारा शिवपूजनका वर्णन मिलता है—

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः।
(महाभारत० अनु० १४। १३)

यजुर्वेदमें शिवकी उपासनासे सम्बद्ध—**'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।'** (१६। ४१) इत्यादि ६६ मन्त्र 'शतरुद्रिय'नामसे उपलब्ध हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें श्रीकृष्णजी राधाजीको शिव-महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—'जो महादेवका नाम लेता है, मैं उसके पीछे नाम-श्रवणप्रलोभनसे चलता रहता हूँ।'—

महादेव महादेव महादेवेति वादिनः।
पश्चायामि भयत्रस्तो नामश्रवणलोभतः॥
(ब्रह्मवै० पुराण, कृष्ण-जन्मखण्ड)

श्रीमद्भागवतमें भगवान् रुद्रको जगदीश्वर तथा शिवपूजकको ही श्रेष्ठ बतलाया गया है—

त्वमेकः सर्वजगतामीश्वरो बन्धमोक्षयोः।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्॥

भगवान् शंकराचार्य भी कहते हैं—

'त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्यः'

पुष्पदन्तकी भी स्तुति है—

'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'

'जैसे अनेक नदियोंका जल भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सीधा या टेढ़ा घूम-फिरकर अन्तमें एक समुद्रमें ही जाकर शान्त होता है, वैसे ही आप ही सबके प्राप्य हैं।' आगमोंपर आधृत शैवधर्ममें कई साम्प्रदायिक मत

और दर्शन हैं। इनमें आगमोक्त शैवधर्म वैदिक परम्पराके अधिक अनुकूल है, किंतु पाशुपतधर्ममें कालक्रमसे कई अवैदिक तत्त्व आ गये। श्रीकण्ठाचार्यने वेद और शिवागममें भी भेद नहीं माना है।

पाशुपतआगम या सम्प्रदायका मूल ग्रन्थ 'पाशुपतसूत्र' है। इसपर कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्थीभाष्य' है। इसके अनुसार संसारके पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जीव और जड़को कार्य, परमात्माको कारण, या पति कहा जाता है। जीवको पशु और जड़को पाश भी कहते हैं। चित्तद्वारा पशु और पतिके संयोगको 'योग' कहते हैं। पतिको प्राप्त करानेवाले मार्गको 'विधि' कहते हैं। साधकको पतिकी पूजाके समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालुके संयोगसे बैलकी आवाजके समान हुड़-हुड़ शब्द करना, नमस्कार आदि करना ही 'विधि' है। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। संत अप्पार, संत ज्ञानसम्बन्ध, संत सुन्दर तथा संत माणिक्क वाचक—ये इसके चार प्रमुख आचार्य हुए हैं, जो तमिळ देशमें शैवधर्मके चार प्रमुख मार्ग—क्रिया (सत्पुत्रमार्ग), योग (सहमार्ग), चर्या (दासमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग)के संस्थापक रहे हैं। कश्मीर शैवमतकी भी दो शाखाएँ हैं—स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा।

कर्नाटकमें प्रचलित वीरशैवमतके संस्थापक 'बसवराज' हैं। इसमें सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति और स्थूल-चिदचिद्विशिष्ट शक्ति दो भेद हैं। इसमें पहली शक्तिसे 'पर-शिव'का ग्रहण है और दूसरीसे जीवका। परमतत्त्व शिव पूर्णाहंतारूप या पूर्णस्वातन्त्र्यस्वरूप हैं। उनकी पारिभाषिकी संज्ञा स्थ है। इसे लिङ्गायतमत भी कहते हैं। शिवलिङ्ग पहने रहते हैं। शैवागमके विद्या, क्रिया, योग और चर्या—ये चार पाद हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

विद्यापाद—इस पादमें पति, पशु और पाशके स्वरूपकी व्याख्या तथा मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर एवं मुक्तके महत्त्वका निरूपण है। (१) पति—नित्य-मुक्त, निर्गुण, निर्मल, सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमसर्वज्ञ करने-न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ, अनन्त ऐश्वर्यमय, सब प्रकारसे स्वतन्त्र और सबपर अनुग्रह करनेवाले महेश्वर परमशिव ही पति हैं। उनपर शिवके पाँच मुख्य मन्त्र हैं। ईशानमन्त्र[२] उनका मस्तक है, तत्पुरुष[३] मुख है, घोर[४] हृदय, वामदेव[५] गुह्य और सद्योजात[६] उनका पाद है। पशुपतिके पाँच कार्य प्रसिद्ध हैं—(१) सृष्टि (उद्भव-लक्षण), (२) स्थिति (स्थिति-लक्षण), (३) संहार, (४) तिरोभाव (आवरण) और (५) अनुग्रह (प्रसाद)।

रत्नत्रयीमें पति, कर्ता, करण, शक्ति तथा बिन्दु—भेदप्रधान दृष्टिवाले शैव-सिद्धान्तमें शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न माने गये हैं। ये ही समस्त

---

(१) भगवान् शिवके सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान—इन पाँचों मुखोंसे निःसृत तथा अट्ठाईस शिष्योंको उपदिष्ट 'कामिकादिक' आगम प्रसिद्ध हैं। इनका प्रभाव नाटक, शिल्प, वास्तु, संगीत, शब्द-शास्त्र, योग, न्याय एवं सांख्यवैशेषिक सभीपर पड़ा है। कालिदासके नाटकोंके मङ्गलश्लोक शैवागमसे प्रेरणा ग्रहण करके लिखे गये हैं।

(२) मस्तक (ईशान–मन्त्र)–
ॐ ईशानः सर्वविद्यानां ईश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणो ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदा शिवाम् ॥

(३) मुख–ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥

(४) हृदय–ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥

(५) गुह्य अङ्ग–ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कालविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूत-दमनाय नमो मनोन्मथाय नमः ॥

(६) पाद–ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥

तत्त्वोंके अधिष्ठाता और उपादानरूपसे प्रकाशमान होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्ध जगत्‌के कर्ता शिव, करण, शक्ति तथा बिन्दु हैं। इसीका नाम महामाया है। यही बिन्दु शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम—इन विचित्र भुवन तथा भोग्यरूपमें परिणत होकर शुद्ध जगत्‌की सृष्टि करता है। क्षुब्ध होनेपर इस बिन्दुसे एक और शुद्ध देह, इन्द्रिय-भोग और भुवनकी उत्पत्ति होती है, दूसरी ओर शब्दका भी उदय होता है।

बिन्दुसे उत्पत्ति—

जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यः नादविन्द्वर्णकारणम्॥
(रत्नत्रय, का० १२)

सूक्ष्म, बिन्दु-नाद (शब्द), अक्षर—बिन्दु, भेदसे तीन प्रकारका होता है। यह कारणभूत सूक्ष्म बिन्दु जड़ होनेपर भी शुद्ध है। जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ पशु है। वह अज्ञ, अणु, परिच्छिन्नरूप, सीमित शक्तिसे समन्वित, एक न होकर अनेक तथा क्रियाशील है। शिवपुराणकी वायवीयसंहिताके अनुसार ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त जो भी संसार-वशवर्ती चराचर प्राणी हैं, वे सब-के-सब भगवान् शिवके पशु हैं। पाश हटा दिये जानेपर वे नित्य एवं निरतिशय ज्ञान-क्रिया-शक्तियोंसे सम्पन्न हो चैतन्यरूप शिव बन जाते हैं। नित्यमुक्त शिवकी अनुकम्पासे जीव मुक्त होते हैं। यद्यपि मुक्त होकर जीव शिव हो जाते हैं तथापि वे स्वतन्त्र न होकर शिवके अधीन रहते हैं।

पशुके प्रकार—पाशोंके तारतम्यके कारण पशु तीन प्रकारके होते हैं—१—विज्ञानाकल, २—प्रलयाकल और ३—सकल।

(१)विज्ञानाकल—जो परमात्माके स्वरूपको पहचानकर जप, ध्यान, योग, संन्यास या भोगद्वारा कर्मोंको क्षीण कर डालता है और कर्मोंके क्षय हो जानेके कारण जिसके लिये शरीर और इन्द्रिय आदिका कोई बन्धन नहीं रहता, उसमें केवल मल (आणव) रहता है। ये मल तीन प्रकारके होते हैं—'आणवमल' 'कर्मजमल' तथा 'मायीयमल'। विज्ञानाकल विज्ञान (तत्त्वज्ञान) द्वारा अकल—कलारहित (कलादि भोग-बन्धनोंसे रहित) हो जाता है, इसलिये उसकी विज्ञानाकल संज्ञा होती है। विज्ञानाकलके दो भेद हैं—(क) 'समाप्त-कलुष' और 'असमाप्त-कलुष'।

(क) 'समाप्त-कलुष'—जीवात्मा जो कर्म करता है, उस हर एक कर्मकी तहपर मल जमती रहती है। इसी कारण उस मलका परिपाक नहीं होने पाता, किंतु जब कर्मोंका त्याग हो जाता है, तब तह न जमनेके कारण मलका परिपाक हो जाता है और जीवात्माके सारे कलुष समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये यह 'समाप्त-कलुष' कहलाता है। ऐसे जीवात्माओंको परमेश्वर अपने अनुग्रहसे 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं। तन्त्रशास्त्रमें विद्येश्वरोंकी संख्या आठ मानी जाती है—१—अनन्त, २—सूक्ष्म, ३—शिवोत्तम, ४—एकनेत्र, ५—एकरुद्र, ६—त्रिमूर्ति, ७—श्रीकण्ठ तथा ८—शिखण्डी।

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्तिकः॥
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे।

(ख) 'असमाप्त-कलुष'—'असमाप्त-कलुष' वे हैं, जिनकी कलुष-राशि अभी समाप्त नहीं हुई है। ऐसे जीवात्माओंको परमेश्वर 'मन्त्र' स्वरूप दे देता है। कर्म तथा शरीरसे रहित किंतु मलरूपी पाशमें बँधे हुए जीव ही मन्त्र हैं और इनकी संख्या सात करोड़ है। ये सब अन्य जीवात्माओंपर अपनी कृपा करते रहते हैं। ये विद्यातत्त्वके निवासी हैं—

पशवस्त्रिविधाः प्रोक्ता विज्ञानप्रलयाकलौ सकलः।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात्

मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः।
आद्यः समाप्तकलुषः समाप्ताकलुषो द्वितीयः स्यात् ॥
आद्याननुगृह्य शिवो विधेयशत्वे नियोजयत्यष्टौ।
मन्त्रांश्च करोत्यपरान् ते चोक्ताः कोटयः सप्त ॥
(तत्त्व-प्रकाश)

२-प्रलयाकल--जिस जीवात्माके देह-इन्द्रियादि प्रलयकालमें लीन हो जाते हैं, इससे उसमें 'मायेय' मल तो नहीं रहता, परंतु 'आणव' और 'कर्मज' ये दो मलरूपी पाश रह जाते हैं, प्रलयकालमें ही अकल (कलरहित) होनेके कारण 'प्रलयाकल' कहलाता है। 'प्रलयाकल' भी दो प्रकारके होते हैं—(क) 'पक्वपाशद्वय' और (ख) 'अपक्वपाशद्वय'। (क) 'पक्वपाशद्वय'--जिनके मल तथा कर्मरूपी दोनों पाशोंका परिपाक हो गया है, वे पक्वपाशद्वय होकर मोक्षको प्राप्त होते हैं। (ख) 'अपक्वपाशद्वय'—जीव पर्युष्टकमय (पञ्चभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार आठ तत्त्वमय) शरीर धारण करके नाना कर्मोंको करते हुए अनेक जन्म ग्रहण करता है। पर्युष्टकयुक्त पशुओंमें जो पुण्यसम्पन्न विशिष्ट पशु हैं, उन्हें भगवान् महेश्वर भुवनेश्वर या लोकपाल बना देते हैं, अर्थात् उनको भुवनपतित्व प्रदान करते हैं।

३-सकल--पशुकलादिसे लेकर भूमिपर्यन्त सारे तत्त्वसमूहोंसे बँधा होता है, अर्थात् वह मल, माया तथा कर्मत्रिविध पाशोंसे बँधा हुआ बताया गया है। इस 'सकल' जीवके दो भेद हैं—(क) 'पक्वकलुष' और (ख) 'अपक्वकलुष'। (क) 'पक्वकलुष'—कलुष परिपक्व हो चुका होता है। जैसे-जैसे जीवात्माके मल, कर्म तथा माया—इन पाशोंका परिपाक बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ये सब पाश शक्तिहीन होते जा हैं। तब वे पक्वकलुष जीवात्मा 'मन्त्रेश्वर' कहलाते हैं। जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, उन सात करोड़ मन्त्ररूपी जीव-विशेषोंके अधिकारी ये ही मण्डली आदि ११८ मन्त्रेश्वर होते हैं। रोधशक्ति सर्वथा विनाश हो जानेपर परमेश्वर आचार्यरूपमें प्रविष्ट होकर दीक्षाके द्वारा उनको मोक्ष प्रदान करते हैं।

(ख)-'अपक्वकलुष'—कलुष परिपक्व नहीं हुआ। ये जीव (अणु) बद्ध हैं, उन्हें परमेश्वर कर्मोंके कारण भोग भोगनेमें लगाये रहता है और ये भवकूपमें गिरते हैं। (क्रमशः)

प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम्

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं निरीहं निराकारमोंकारवेद्यम्।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥
न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायुर्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेषो न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम्।
तुरीयं तमः पारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ (आचार्यशंकर

'जो परमात्मा हैं, एक हैं, जगत्‌के आदिकारण हैं, इच्छारहित हैं, निराकार हैं और प्रणवद्वारा जाननेयोग्य हैं तथा जिनसे सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति और पालन होता है और जिनमें उसका फिर लय हो जाता है, उन परमेश्वरको मैं भजता हूँ। जो न पृथ्वी हैं, न जल हैं, न अग्नि हैं, न वायु हैं और न आकाश हैं, न तन्द्रा हैं, न निद्रा हैं, न ग्रीष्म हैं और न शीत हैं तथा जिनका न कोई देश है, न वेष है, उन मूर्तिहीन त्रिमूर्तिकी मैं स्तुति करता हूँ। जो अजन्मा हैं, नित्य हैं, कारणके भी कारण हैं, कल्याणस्वरूप हैं, एक हैं, प्रकाशकोंके भी प्रकाशक हैं, अवस्थात्रयसे विलक्षण हैं, अज्ञानसे परे हैं, अनादि और अनन्त हैं, उन परमपावन अद्वैतस्वरूप शिवको मैं प्रणाम करता हूँ।'

भगवत्तत्त्व और शक्तितत्त्व

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

तत्त्वतः एक ही अव्याकृत ब्रह्मतत्त्व रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदित्य, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, बुद्धिशक्ति तथा सर्वशक्तिमयी महामाया कुण्डलिनीशक्तिके रूपमें अभिव्यक्त एवं अभिहित होता है—**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः।'** (ऋग्वेद १। १६४। ४६, अथर्ववेद ९। १०। २८, निरुक्त ७। १८)। **कथमेकस्य नानात्वमित्युच्यते। ब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्यमुक्तं भवति।** (सायणभाष्य)

देवीभागवत, त्रिपुरारहस्य एवं देवीमाहात्म्यके मध्यम चरित्रमें इन सभी देवताओंके शरीरसे तेज निकलने तथा उसके एकत्र होकर महाशक्तिका रूप धारण करनेकी बात आती है—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
(देवीमाहात्म्य २। १३)

पश्यतां तत्र देवानां तेजःपुञ्जसमुद्भवा।
बभूवातिवरा नारी सुन्दरी विस्मयप्रदा॥
(देवीभागवत ५। ८। ४३)

देव्यथर्वशीर्ष, देवीगीता (देवीभागवत तथा कूर्मपुराण), भावनोपनिषद्, त्रिपुरातापिनी एवं भुवनेश्वरी उपनिषद्में स्वयं देवी अपनेको परब्रह्म बतलाती हैं। **साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्॥** (देव्यथर्वशीर्ष ३-४), **'स्वात्मैव ललिता'** (भावनोपनिषद्), **'तुरीयया माययान्त्यया निर्दिष्टं परमं ब्रह्मेति'** (त्रिपुराता० ५। १), **'ब्रह्मरन्ध्रे ब्रह्मरूपिणीमाप्नोति'** (भुवनेश्वर्युपनिषद्), **'त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा।'**

शृण्वन्तु निर्जराः सर्वे व्याहरन्त्या वचो मम।
यस्य श्रवणमात्रेण मद्रूपत्वं प्रपद्यते॥
अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैकनामकम्॥
(देवीभाग०, देवीगीता ७। ३२। १-२, कूर्मपुराण १०)

अन्यत्र इस तत्त्वको परब्रह्मकी शक्ति कहा गया है। इसका महर्षियोंने ध्यानयोगद्वारा साक्षात्कार किया था—

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'
(श्वेताश्वतर० ६। ८)

'तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषी।'
(सौन्दर्यलहरी)

किंतु इस प्रकार भी यही सब कुछ है; क्योंकि इस शक्तिके बिना वह परब्रह्म सृजन-पालन-संहार कुछ भी नहीं कर सकता। अधिक क्या, वह हिल-डुल भी नहीं सकता—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
(सौन्दर्यलहरी १)

चन्द्रमाकी चन्द्रिका, सूर्यका प्रकाश, पुरुषकी चेतना (चिति-शक्ति), पवनका बल, जलकी स्वादुता, अग्निकी ऊष्मा तथा परब्रह्मकी प्रकाशिका भी यही है—

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनापि पुरुषे पवने बलं त्वम्।
त्वं स्वादुतासि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा
निःसारमेतदखिलं त्वदृते यदि स्यात्॥
(कालिदासकृत अम्बास्तोत्र)

शक्त्या विरहितं चैतत् स्थितिं न लभते जगत्।
(अरुणामोदिनी)

भावुक भक्तोंने इस शक्तितत्त्वमें तथा उसकी समस्त क्रियात्मक हलचलोंमें एकमात्र कृपाको ही हेतु माना है। इनका शरीर कृपापरिपूरित मात्र है। इनके कोपमें भी कृपा छिपी रहती है—

चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा॥
(देवीमाहात्म्य ४। २२)

एक भक्त कहता है—'माँ ! भगवान् विष्णु समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं और तुम उनके हृदयमें विराजती हो, पर तुम्हारे हृदयमें भी करुणा विराजती है, हम तो तुम्हारा ही आश्रय लेते हैं'—

शौरिर्यदेकास्ति हृदयेषु शरीरभाजां
तस्यापि देवि हृदये त्वमनुप्रविष्टा ।
पद्मे तवापि हृदये प्रथते दयेयं
त्वामेव जाग्रदखिलातिशयां श्रयामः ॥

'माँ ! तुम्हारे समक्ष ही उन प्रभुकी कृपा अभिव्यक्त होती है । तुम्हारे अभावमें तो वह कृपालु परमात्मा भी निष्ठुर हो जाता है । तुम्हारे न रहनेसे ही बेचारा निरपराध वाली मारा गया और अधिक क्या, एक स्त्री (ताड़का) भी हत हुई । किंतु तुम्हारे सामने तो भीषण अपराधी तुम्हारे ही अङ्गोंमें चोट पहुचानेवाला अविवेकी काक भी कृपाका ही पात्र बना'—

त्वय्येवाश्रयते दया रघुपतेर्देवस्य सत्यं यतो
वैदेहि त्वदसंनिधौ भगवता वाली निरागा हतः ।
निन्ये कापि वधूर्वधं तव तु सांनिध्ये त्वदङ्गव्यथां
कुर्वाणोऽप्यभितः पतन्नशरणः काकोऽविवेकोजितः ॥

(श्रीगुणरत्नकोश ४)

इसलिये माँ ! एकमात्र तुम्हारी ही उपासना, सेवा-परिचर्या करनी चाहिये; क्योंकि पुराण स्थाणु जिससे कभी भी फलकी आशा नहीं की जा सकती, तुम्हारे आश्रय-सम्पर्कसे वह भी कैवल्य (मोक्ष) फल देने लग जाता है—

अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः ।
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम् ॥

(आनन्दलहरी—७)

चिता-भस्मका आलेपन करनेवाले, विषभोजी, दिगम्बर, जटाधारी, कपाली, भूतेश्वर, सर्पोंकी माला पहने पशुपतिने भी जो भगवान् जगदीश्वरकी पदवी प्राप्त की, इसमें अम्ब ! केवल आपके पाणिग्रहणमात्रका ही माहात्म्य है—

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः ।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम् ॥

(अपराधक्षमापनस्तोत्र)

चर्माम्बरं च शवभस्मविलेपनं च
भिक्षाटनं च नटनं च परेतभूमौ ।
वेतालसंहतिपरिग्रहता च शम्भोः
शोभां बिभर्ति गिरिजे तव साहचर्यात् ॥

(अम्बास्तव ९)

इन महाशक्तिकी उपासनाका भारतमें बड़ा भारी प्रसार था और है। गायत्री एवं गीताके दूसरे अध्यायमें निर्दिष्ट 'बुद्धियोग' की बुद्धि ये ही हैं—'त्वं बुद्धिर्बोध लक्षणा' सभी सम्प्रदायोंमें ज्ञानरूपा कुण्डलिनी शक्तिकी उपासना चलती है । 'पञ्च-स्तवी'में कुण्डलिनीको देवीका ही पर्याय माना गया है । शाक्ताद्वैत आदि स्वतन्त्र सम्प्रदाय तो हैं ही, शांकर-वेदान्त-जैसे विरक्त सम्प्रदायमें भी षोडशी आराधना चलती है । 'प्रपञ्चसार', 'रुद्रयामलादिमें कुण्डलिनीकी आराधना-पद्धति है । 'शाक्तप्रमोदादि'में दस महाविद्याओंकी विस्तृत आराधनाविधि है । कालिकापुराण, देवीपुराण, महाभागवत, त्रिपुरारहस्य आदि कथा-ग्रन्थोंमें भी इनकी कथाका विस्तार है । इनकी कथाएँ बड़ी ललित हैं और भाषा भी बड़ी सरल । त्रिपुरोपासनापर असंख्य ग्रन्थ हैं । गायत्री एवं सरस्वती आदिके रूपमें पवित्र ब्राह्मणोंद्वारा ये ही उपास्य हैं । इनकी महिमा अवाङ्मनसगोचर है । इनकी उपासनापद्धति-प्रदर्शनके लिये संस्कृत-वाङ्मयमें बड़ी भारी साहित्यराशि है । इनके तत्त्वनिरूपक, स्तोत्रात्मक अनुष्ठान-पद्धति, कथानिरूपक आदि अनेक प्रकार हैं । कुण्डलिनी शक्ति एवं गायत्रीपर विशद विचार तथा पञ्चाङ्गादिका सविधि निरूपण विश्वामित्र-वसिष्ठादि स्मृतियों, शारदातिलक तथा गायत्रीपुरश्चरण-पद्धति, प्रपञ्चसार, गायत्री-पञ्चाङ्गादिमें अनुष्ठानके प्रकार एवं सभी विधियाँ वर्णित हैं । 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स'

तथा शक्तियामलादिसे इन बातोंका पता चलता है कि पहले सम्पूर्ण विश्वमें ही देवीकी आराधना प्रचलित थी।

धर्म, ब्रह्मचर्य, उपासना, ज्ञान-वैराग्यादिमें कुण्डलिनी जाग्रत् होकर शक्ति एवं ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। उस समय विशुद्धदिव्य ज्ञान एवं आनन्दकी अनुभूति होती है। जगन्मातादेवी तो अत्यन्त कृपामयी हैं ही, आवश्यकता है—न्याय-धर्म, श्रद्धाभक्तिपूर्वक इनकी शरणागति ग्रहण-पूर्वक उपासना-आराधना की।

तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-निष्ठा

(लेखक—डॉ० श्रीभवानीशंकरजी पंचारिया, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरताकी ओर चलना ये मानव-जीवनके तीन लक्ष्य बताये गये हैं— **असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय'**—श्वास-प्रश्वासके साथ जीवन क्षीण होता जाता है। अतः आत्मोद्धारके लिये शीघ्र ही परमात्माकी शरण जाना चाहिये। बहिर्मुखी मन हमारे लक्ष्यमें बाधक हो रहा है। मनका स्वभाव है कि वह जिस भी वस्तु या विषयका व्यसनी हो जाता है उसीका अहर्निश चिन्तन करता रहता है। यदि इसे हम अपने नियन्त्रणमें नहीं रखते तो यह निरङ्कुश होकर चाहे जिधर ले जा सकता है। जैसे वेगसे दौड़ते हुए घोड़ेपर बैठे हुए सवारके हाथसे लगाम छूट जाय तो उसपर नियन्त्रण करना जटिल समस्या होती है, वैसे ही इस मनरूपी कुरङ्गपर सवार यात्रीको इन्द्रियरूपी लगामोंपर नियन्त्रण करना आवश्यक है। मानवके पतन और उत्थानके मूलमें मानव-मनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। काकभुशुण्डिने तत्त्वनिष्ठ गरुड़जीको मानवकी अकथनीय दशाका चित्रण करते हुए कहा था—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होहिं सुखारी॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥

(रामच० मा० ७ । ११७ । १—४)

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

'जीवात्मा ईश्वरका अंश, अविनाशी, चेतन और निर्मल है। वह स्वभावसे ही सुखकी राशि है, किंतु वह तोते एवं वानरकी तरह अपने-आप ही बन्धनमें पड़ गया है। इस प्रकार चेतनको जड़ ग्रन्थि पड़ गयी है। इस चिज्जड़ग्रन्थिका छूटना कठिन है। वेद, संत, पुराण अनेक उपाय बतलाते हैं, पर वह छूटती नहीं, वरन् अधिक-अधिक उलझती ही जाती है; क्योंकि जीवात्माके हृदयमें अज्ञानरूपी अन्धकार विशेषरूपसे छा रहा है, इससे गाँठ दिखलायी ही नहीं पड़ती। जब कभी ईश्वर ऐसा संयोग करे कि जीव तत्त्वनिष्ठ या आत्मदर्शी हो, तभी इस ग्रन्थिसे मुक्ति मिल सकती है।'

तत्त्वदर्शियोंने जीवात्माके उद्धारहेतु दो निष्ठाओंका उपदेश किया है। इसी ज्ञानका उपदेश कर्तव्य क्षेत्रमें किंकर्तव्य मुग्ध अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रमें दिया है, जिसे सांख्ययोग अध्यायके नामसे जाना जाता है। इसमें मोहग्रस्त अर्जुनको, जो व्यक्तिनिष्ठ हो गये थे, भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें तत्त्वनिष्ठ और आत्मनिष्ठ होनेका उपदेश दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने

अर्जुनको आत्माके अमरताके सिद्धान्तका तथा आत्मा-के स्वरूपका बोध कराया और कहा—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(गीता २ । २०)

यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न आत्मा हो करके फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता। यह आत्माके संदर्भमें कही बातें तब भी सत्य थीं और हमेशा सत्य रहेंगी। पर आज मानवकी दृष्टि संकुचित हो चली है। आज परिवार, राष्ट्र, समाज और विश्वमें प्रेम नामकी वस्तु दिखलायी नहीं पड़ रही है। सर्वत्र स्वार्थ-ही-स्वार्थ नजर आता है; क्योंकि आत्म-निष्ठात्मक दृष्टिकोणके बदले देह-निष्ठात्मक दृष्टिकोण सबके मस्तिष्कपर हावी है। विश्वमें आणविक अस्त्र-शस्त्र विश्वके ध्वंसकी तैयारी हेतु तैयार होते हुए भी विश्व बचा हुआ है, इसे आश्चर्यजनक घटना ही मानना होगा। अन्तर्यामीरूपसे सबको सुमति प्रदान करते हुए ईश्वर ही इस समय सबकी रक्षा कर रहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गीता १८ । ६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी योगमायासे भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

तत्त्वनिष्ठ बननेके लिये सर्वप्रथम स्वरूपबोध करना होगा, विचारना होगा कि जीवनका ध्येय क्या है? आत्मा एवं शरीरका स्वरूप क्या है? इसमें परिवर्तन क्यों होते हैं? चेतनतत्त्वके अभावमें इसकी क्या स्थिति हो जाया करती है? परमात्माका साक्षात्कार कैसे सम्भव है? आत्मस्वरूपबोधके कौन-कौनसे उपाय हैं? इन प्रश्नोंके चिन्तन-मननके साथ इसके विशेषज्ञोंसे परामर्श, सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंका अध्ययनकार्य हमें करना पड़ेगा।

संसार कर्मोंका बना हुआ एक जाल है। यह अनित्य, विकारयुक्त, प्रकृति-निर्मित और परिवर्तनशील है। मानव पूर्वकर्मोंसे निर्मित प्रारब्धवश, स्वकर्मोंकी प्रतिकृति हुआ करता है। वह वस्तुतः अपने ही संस्कारोंका पुञ्ज है। उसमें सूक्ष्मरूपसे अच्छे-बुरे जैसे भी संस्कार होते हैं, उसीके अनुरूप वह होता है। इस जीव और जगत्का संचालक न्यायप्रिय परमात्मा है। वह प्रत्येकको कर्मानुसार फल देता है। जो उसकी शरणमें एक बार चला जाता है, वह उसे सदा-सदाके लिये अपना लेता है, यह उसका प्रमुख सिद्धान्त है। गीतोक्त सार-रूप निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

'हे अर्जुन! मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि तू सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् कर्मोंके आश्रयोंको त्यागकर केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तेरे सम्पूर्ण पापोंसे तुझे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।' तत्त्वनिष्ठाकी ओर अर्जुनको संकेत करते हुए श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता १३ । २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाश-रहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वही तत्त्वदर्शी है।' तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति ब्राह्मण, गौ, चाण्डाल, कुत्तेमें कोई भेददृष्टि नहीं रखता, वह तो सर्वत्र ही समभावसे संयुक्त होकर सबमें चैतन्य, अज, नित्य,

शुद्ध-बुद्ध आत्माका ही प्रकाश देखता है। सच्चा तत्त्वदर्शी वही है जो प्रत्येक समय पृथक्-पृथक् भावोंको एक ही परमात्माके संकल्पके आधारपर अवस्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है और ऐसा अभ्यास करते-करते वह सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है (गीता १३ । ३०)।

आत्म-परमात्मतत्त्वका बोध अन्तःकरणकी शुद्धिपर अवलम्बित है। बिना सत्त्वशुद्धिके अन्तर्दर्शन होना सम्भव नहीं है। तत्त्वनिष्ठ जो भी वस्तु देखता है, उसमें वह आत्म-अनात्म विवेचन करता है। वह अनात्म वस्तुको असत् मानकर उसकी ओरसे मनको खींच लेता है। इस संदर्भमें तत्त्ववेत्ता महर्षि अष्टावक्र और कर्मयोगी महाराज जनककी यह कथा स्मरणीय है।

महाराज जनककी ज्ञान-सभामें एक अद्भुत बालक, जो आठ वर्षका रहा होगा—किसी कारणवश शास्त्रार्थ-हेतु उपस्थित हुआ। बालकको द्वारपर ही रोक दिया गया। इसपर उस बालकने कहा—'जनकको कहो अष्टावक्र उनकी सभामें शास्त्रार्थहेतु आना चाहता है।' जब वे ज्ञानसभामें पहुँचे और विद्वानोंने देखा तो उनके अष्टावक्र शरीरको देखकर हँस पड़े। इसपर उस बालकने जनकको फटकारते हुए कहा—'क्या यही तेरी ज्ञानसभा है ? मैं तो समझता था मुझे पण्डितोंका दर्शन होगा, पर यहाँ तो सब-के-सब चर्मकार प्रतीत होते हैं, जो तत्त्वके बजाय तनको देखकर हँस रहे हैं, इन्हें तो चमड़ेकी ही परख है।' बालकने उस ज्ञानसभाको तत्त्वदर्शनकी ओर संकेत कराते हुए कहा—'इस नाशवान् जीर्ण-शीर्ण शरीरपर दृष्टि क्यों रखते हो ? आप लोगोंको तो इसमें चेतन तत्त्वका बोध करना चाहिये।' कहनेका आशय है कि तत्त्वदर्शी सर्वत्र केवल तत्त्वको ही देखता है और निस्तत्त्वको व्यर्थ समझकर उससे प्रयोजन-पूर्तिमात्रका सम्बन्ध रखता है।

समस्त विश्व उसी एक वासुदेवका लीला-विलास मात्र है। यह बात वेद, शास्त्र, पुराण और संतगण भी निरूपित करते हैं। वही एक ब्रह्म ही सर्वत्र अनेक रूपोंमें व्यक्त एवं साकार हुआ है। भगवान् कहते हैं—'मैं बर्फमें जलके समान सब जगत्में ओत-प्रोत हूँ।' बर्फ जलका ही परिवर्तित रूप है, पर देखनेमें जलसे भिन्न प्रतीत होता है, किंतु वह जलके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वस्तुतः ब्रह्म ही सबका आदि कारण, मूल तथा आदि, अन्त और मध्य है। **'मम'** ये दो अक्षर ही—'यह मेरा है', ऐसा भाव ही मृत्यु है और तीन अक्षर **'न मम'** यह मेरा नहीं है, ऐसा भाव अमृत सनातन ब्रह्म है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसकी विवेचना करते हुए कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

इसके अनुसार मनःस्थिति बना लेने तथा सर्वत्र तत्त्वदर्शन करते रहनेपर ही हम संकुचित दृष्टि त्यागकर मायाके भवजालको छोड़कर भव-बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

माया क्या है ?

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

(विवेक-चूडामणि ११०)

'जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वरकी परा शक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्यसे ही इसका अनुमान करते हैं।

भगवत्तत्त्व

(लेखक—शा० रा० शारङ्गपाणि, एम्० ए०)

'भगवान्' शब्दकी परिभाषा पुराणने इस प्रकार की है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(विष्णुपुरा० ६ । ५ । ७४)

समस्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य,— इन छहोंका समग्र नाम है 'भग'। इन छः गुणोंसे युक्त विभूतिको 'भगवान्' कहा जाता है। इस दृष्टिसे ईश्वर, परमपुरुष, परमात्मा, ब्रह्म आदि नाम भी भगवान्के पर्याय माने जाते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि जो परम ज्ञानी भूतोंकी उत्पत्ति और विनाश, गति और अगति, विद्या और अविद्याको जानता है, वह भगवान् है—

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
(वही)

ईशावास्योपनिषद्के अनुसार ब्रह्मज्ञान ही विद्या है, अन्य ज्ञान प्रायः 'अविद्या'के अन्तर्गत हैं। अतएव विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ परमज्ञानियोंको भी 'भगवान्'की उपाधिसे विभूषित किया जाता है। महर्षि वाल्मीकि भी महर्षि अगस्त्यके लिये 'भगवान्' शब्दका प्रयोग करते हैं—

दैवतैश्च समागम्य द्रष्टुमभ्यागतो रणम् ।
उपागम्याब्रवीद् रामं अगस्त्यो भगवान् ऋषिः ॥
(वाल्मी० युद्धकाण्ड, आदित्यहृदयस्तोत्र १० । ३)

अतएव विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदिको भगवान् और लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदिको भगवती कहते हैं। लोग प्रायः तत्त्वज्ञानी शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बुद्ध आदिको भी भगवान् शब्दसे अभिहित करते हैं। लौकिक व्यवहारमें महात्माओंको भी आदरभावसे भगवान् कहते हैं, तथापि मुख्यतया यह उपाधि परब्रह्म या उसके पर्यायों अथवा सगुण रूपों, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदिके सत्यार्थमें व्यवहृत होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'तत्त्व' एक है। योगी उसीको 'आत्मा', 'ज्ञानी', 'ब्रह्म' और भक्त—'भगवान्' कहकर पुकारते हैं। पदार्थ एक ही है, नाम भिन्न-भिन्न।' उपनिषदोंका भी यही मत है—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।'** भगवान्की सत्ता ही उनका तत्त्व है और यह सत्ता प्रायः अवर्णनीय है। उपनिषद् कहती है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**, यह सत्ता मनोवाक्की पहुँचके बाहर है। 'श्रीविष्णु-सहस्रनाम'के अनुसार उसका आभासमात्र **'योगिभि-र्ध्यानगम्यं'**, योगियोंको ध्यानावस्थामें प्राप्त होता है। इसका विवेचन भगवान् कृष्ण गीतामें स्वयं करते हैं—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(२ । २०; ४ । ६)

भगवत्तत्त्वोंमें भगवान्का अनादि एवं अनन्त होना और अज एवं सर्वभूतेश्वर होनेपर भी साधुरक्षण, दुष्टनिग्रह, धर्म-संस्थापन आदि कार्योंके लिये अपनी ही माया और प्रकृतिके सहारे उनका जन्म लेना प्रसिद्ध है।

गीताके अनुसार इसका ज्ञान हो जानेपर संसारमें और कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(७ । २)

भगवान्से परे कोई तत्त्व नहीं, वे समस्त जीवों और प्रकृतिको धारण करते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

जीवोंके हृदयोंमें रहकर वे ही सबको संचालित करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गीता १८ । ६१)

जीवोंकी बुद्धि, शक्ति, तेज आदि अव्यक्त एवं श्रेष्ठ गुणोंके रूपमें वे स्वयं विद्यमान हैं । वे ही सबके कर्ता हैं, सनातन पुरुष हैं—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥
(गीता ७ । १०)

पर अभक्त मूढ़जन उनके परम भावको न समझकर उन्हें साधारण मानवमात्र समझते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायमें आत्मविभूतियोंके भगवत्तत्त्वका विस्तृत विवेचन भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे ही मिलता है । अर्जुनके कथनका सार है कि भगवान् ही सबसे श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठता उन्हींके कारण होती है । वे ही शाश्वत पुरुष, आदि देव, अज और विभु हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
(गीता १० । १२)

वेदोंका यह वाक्य भी है—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे ।'

वेदोक्त ये महापुरुष—भगवान् स्वच्छ, स्वयं प्रकाशमान अर्थात् निर्मल ज्ञानस्वरूपी हैं । संक्षेपमें कहा जाय तो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः गुणोंका निरतिशय, नित्य एवं समग्ररूप भगवत्तत्त्वमें पाया जाता है ।

भगवत्तत्त्व और अवतारवाद

(लेखक—डॉ० श्रीविश्वम्भरदयालजी अवस्थी, एम्० ए० [हिन्दी, संस्कृत], पी-एच्०डी०, डी०लिट्)

'ईश—ऐश्वर्ये' धातुमें 'वरच्' प्रत्ययका योग करनेपर ईश्वर शब्द सिद्ध होता है । ईश्वरका अर्थ होता है—ऐश्वर्य-से युक्त । ईश्वर संकल्पमात्रसे ही सम्पूर्ण जगत्का उद्धार कर सकते हैं[1] । ईश्वरमें षड् भग (शक्तियाँ) हैं । इसीलिये उन्हें भगवान् कहा जाता है । ये षड् भग हैं—धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति । इन शक्तियोंकी आंशिक स्थिति जीवोंमें भी होती है, किंतु भगवान्में ये सब पूर्ण रूपमें होते हैं । भगवान्को सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय, जीवोंके जन्म और मरण तथा विद्या-माया और अविद्या-मायाका ज्ञान होता है ।[2] जब भक्त भगवान्का प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हैं, तब वे शीघ्र ही प्रकट होकर भक्तोंको दर्शन देते हैं । भगवान्के जन्म और कर्म दोनों दिव्य होते हैं । इसलिये श्रीराम और श्रीकृष्ण आदि अवतारोंके प्रति की गयी भक्ति भी मुक्तिदायिनी होती है ।

भगवान्के अवतार

'अवतार' शब्द 'अव' उपसर्गपूर्वक **'तॄ प्लवनतरणयोः'** धातुसे घञ् प्रत्ययका योग करनेपर निष्पन्न होता है । अवतारका अर्थ है, उतरकर नीचे आना अपने अवतार धारण करनेके प्रयोजनोंका उल्लेख करते हुए स्वयं भगवान्ने कहा है कि साधु पुरुषोंकी रक्षा करने तथा धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार धारण करता हूँ । शास्त्रोंमें भगवान्के अवतारका एक प्रयोजन लीलाका विस्तार करना भी

१–ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः ईश्वरः ।
२–ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसःश्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४)

बतलाया गया है। भागवतके अनुसार प्रभुका अवतार जीवोंका कल्याण करनेके लिये होता है।

वेदोंमें अवतारवाद—

वैदिक संहिताओंमें 'अवतार' शब्दका स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता। किंतु अवतृसे बननेवाले 'अवतारी', 'अवत्तर' और 'अवतर' आदि शब्दोंके प्रयोग मिलते हैं। तथापि पौराणिक साहित्यमें अति प्रसिद्ध अवतार शब्दके अर्थका मूल वैदिक साहित्यमें उपलब्ध होता है। निम्नाङ्कित मन्त्रमें 'अवतारी' शब्दका प्रयोग हुआ है— **आभिर्विदिवा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽवतारीर्दासीः।** (ऋग्वेद ६। २५। २)

सायणके मतसे यहाँ 'अवतारी'का अर्थ विघ्न है— **यज्ञादिकर्मकृते यजमानायावतारीः विनाशाय।**

अवत्तर शब्दका प्रयोग अथर्ववेदके निम्नाङ्कित मन्त्रमें हुआ है—**उपद्यामुप वेदसम् अवत्तरो नदीनाम्। अग्ने वित्तमयामसि।** (अथर्व० १८। ३। ५)। सायणके अनुसार रक्षणमें समर्थको अवतार या अवत्तर कहा जाता है—**अवत्तरः अतिशयेन अवन रक्षणसमर्थः सारभूतांशो विद्यते। अवत्तर इति अवरक्षणे इत्यस्मात् लट्शत्रादेशः। ततः प्रकर्षार्थो तरप्।** ऋग्वेदमें 'अवतरम्' पदका प्रयोग हुआ है—**अवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत्** (ऋ० १। १२९। ६)।

भाष्यकार सायणके मतसे यहाँ अवतरम्का अर्थ अत्यन्त निकृष्ट है—**अवतरम् अत्यन्तनिकृष्टम्।** शुक्ल यजुर्वेदमें भी अवतर शब्दका प्रयोग हुआ है—**उप ल्यन्नुप वेतसे वतरः नदीष्वाः।** (यजु० १७। ६)

महीधरभाष्यके अनुसार अवतरका अर्थ आगमन होता है—**पृथिव्यामुपावतर आगच्छ।** वेदोंमें कुछ अवतारोंके सम्बन्धमें सूत्ररूपमें संकेत उपलब्ध होते हैं।

मत्स्यावतार—

शतपथब्राह्मण (१। ८। १। १—६)में मनुकी कथा आयी है। जब अत्यधिक बाढ़में मनुकी नौका डूब रही थी, तब मनुने एक सींगवाले मत्स्यके सींगमें नौकाको बाँध दिया था। इस प्रकार मत्स्यने जलप्रलयसे मनुकी रक्षा की थी—**मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे।** (शतपथब्राह्मण १। ८। १। १)

'स होवाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद्यावद्यावदुदकं……गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे।' (शतपथब्राह्मण १। ८। १। ६)

वराहावतार—

वैदिक साहित्यमें वराह-अवतारके सम्बन्धमें निम्नाङ्कित उद्धरण प्राप्त होते हैं—

१—प्रजापतिने वराहका रूप धारणकर जलके भीतर निमज्जन किया। वे पृथ्वीको नीचेसे ऊपर ले आये—

वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय विजिहीते मृगाय।
(अथर्ववेद १२। १। ४८)

'स वराहो रूपं कृत्वा अप्सु न्यमज्जत्। स पृथ्वीमधः आर्च्छत्।' (तैत्तिरीय ब्राह्मण १। १। ६)

२—पृथ्वीके स्वामी प्रजापति वराहका रूप धारण कर पृथ्वीको नीचेसे ऊपर ले आये—

'इतीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः।'
(शतपथब्राह्मण १४। १। २। ११)

३—वराहके द्वारा पृथ्वीका उद्धार हुआ—

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।
भूमिर्धेनुर्धरणी धरित्री लोकधारिणी इति॥
(तैत्तिरीय आरण्यक १। १। ३०)

कूर्म-अवतार—

शतपथब्राह्मणमें कूर्मावतारका सूत्र उपलब्ध होता है—

स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजाः असृजत। यत् असृजतः अकरोत् तत्, यत्

अकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। (शतपथ-ब्राह्मण ७।५।१।५) 'तैत्तिरीय आरण्यक'में भी कूर्मावतारका संकेत मिलता है—**'अन्तरतः कूर्मभूतः तमब्रवीत् मम वै त्वङ्मांसात् समभूत्। नेत्यब्रवीत् पूर्वमेवाहमिहासमिति। तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्।'** (तैत्तिरीय आरण्यक १२३।३)

नृसिंहावतार—

'तैत्तिरीय आरण्यक' तथा नृसिंहतापनीमें नृसिंह-अवतारका वर्णन मिलता है—**'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नरसिंहः प्रचोदयात्।'** (तैत्तिरीय आरण्यक १।१।३१)

वामन-अवतार—

ऋग्वेदमें कहा गया है कि विष्णुने वामनावतारमें तीनों लोकोंको नापा था—उन्होंने तीन बार पाद-विक्षेप किया था—**'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।'** (ऋग्वेद १।२२।१८) **'यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे।'** (ऋ० ८।१२।२७), तैत्तिरीयसंहिता (११।१।३।१) में वामनद्वारा तीन पगोंसे तीनों लोकोंको जीत लेनेका उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदमें कहा गया है—'विष्णुने अकेले ही एकत्र अवस्थित और अतिविस्तीर्ण लोकत्रयको तीन बारके पदक्रमण द्वारा मापा था'—

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥
(ऋग्वेद १।१५४।३)

'शतपथब्राह्मणमें वामन और उनको यज्ञमें प्राप्त होनेवाली भूमिका वर्णन किया गया है—**'वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वैनोदुर्यै नो यज्ञसम्मितमदुरिति।'** (शतपथब्राह्मण १।२।३।५)

श्रीरामावतार—

ऋग्वेदमें दुःशीम और वेनके साथ एक अतिशय प्रतापी नरेशके रूपमें श्रीरामका उल्लेख हुआ है—

प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्॥
(ऋ० १०।९३।१४)

'जैसे सब देवता पाँच सौ रथोंमें घोड़े जोतकर यज्ञमें जानेके लिये मार्गमें जाते हैं, वैसे ही मैंने दुःशीम, पृथवान्, वेन और बली राम आदि धनपति राजाओंके पास उनके प्रशंसायुक्त स्तोत्रका पाठ किया है।' अगले मन्त्रमें उपर्युक्त नरेशोंके दानकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि इन राजाओंसे तान्व, पार्थ्य और मायव आदि ऋषियोंने शीघ्र ही सतहत्तर गायें माँगीं—

अधीन्न्वत्र सप्ततिं च सप्त च। सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः।
(ऋग्वेद १०।९३।१५)

ऋग्वेदके पूर्वोद्धृत मन्त्रोंके ऋषि पृथुके पुत्र तान्व हैं। ऋग्वेदके निम्नाङ्कित मन्त्रमें 'रामम्' शब्द देखकर कतिपय विद्वान् इसमें सम्पूर्ण रामकथाका मूलरूप खोजनेका प्रयास करते हैं—

भद्रो भद्रया सचमान आगात्
स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्
रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्॥
(ऋग्वेद १०।३।३)

'शतपथब्राह्मण'में अंशुग्रहके प्रसङ्गमें उपतस्विनिके पुत्र औपतस्विनि रामके मतका उल्लेख किया गया है। ये राम याज्ञवल्क्यके समकालिक थे—**'तदु होवाच राम औपतस्विनिः। काममेव प्राण्यात् काममुदन्याद्धद्धे तूष्णीं जुहोति तदेवैनं प्रजापतिं करोतीति।'** (शतपथब्राह्मण ४।५।३।७)

ऐतरेयब्राह्मण (७।२४—३४)में जनमेजयके समकालिक भृगुवंशी श्यापर्णकुलके ब्राह्मण भार्गवेय रामका उल्लेख हुआ है। जैमिनीय ब्राह्मण (३।७।३।२ और ४।९।१।१)में शंख शात्यायनि आत्रेयके शिष्य और शंख बाभ्रव्यके शिक्षक तथा क्रतुजात एवं व्याघ्रपद नामक आचार्योंके वंशज 'क्रातुजातेय'

वैयाघ्रपद्य रामका एक दार्शनिकके रूपमें उल्लेख किया गया है।[3] 'तैत्तिरीय आरण्यक'में सायणके मतसे रमणीय पुत्रके अर्थमें राम शब्दका प्रयोग हुआ है— **'संवत्सरं न मांसमश्नीयात्। न रामामुपेयात्। न मृण्मयेन पिबेत्। नास्य राम उच्छिष्टं पिबेत्। तेज एवं तत्संश्यति।'** (तैत्तिरीय आरण्यक ५ । ८ । १३)

इसके अतिरिक्त जामदग्न्य राम नामक एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं, जो ऋग्वेद ९ । ६५ एवं ९ । ६७के मन्त्रद्रष्टा हैं। इन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें उल्लिखित औपतस्विनी राम, और क्रतुजातेय वैयाघ्रपद्य राम तथा मन्त्रद्रष्टा भार्गवेय जामदग्नि रामका रामकथाके नायक दाशरथि रामसे ऐक्य न होनेपर भी यहाँ परशुराम-राम-संवादका संकेत उपलब्ध है।

वेदोंमें रामकथाकी स्थितिके सम्बन्धमें दो प्रकारकी विचारधाराएँ हैं। कतिपय विद्वानोंके मतसे वैदिक मन्त्रोंमें सम्पूर्ण रामकथाका प्रतिपादन किया गया है[4]। पर कुछ दूसरे विद्वान् वेदोंमें निर्दिष्ट दशरथ और राम आदि ऐतिहासिक नामोंकी यौगिक व्याख्या करते हैं। इन विद्वानोंके मतसे वेदोंमें ऐतिहासिक व्यक्तियों (दशरथ और राम आदि)का उल्लेख माननेसे वेदकी नित्यता समाप्त हो जायगी[5]। इनका विचार है कि वेदोंमें प्रयुक्त संज्ञाओंके आधारपर ही परवर्ती व्यक्तियोंके नाम रखे गये हैं[6]। मेरे मतसे पूर्वोक्त दोनों विचारधाराएँ अतिवादी हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र,[7] वसिष्ठ[8] और जामदग्न्य, परशुराम[9], दशरथ और रामके समकालिक थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद (१० । ९३ । १४)में श्रीरामके साथ वेन और पृथवान्‌का उल्लेख हुआ है। वेन[10] और पृथवान्[11] या पृथु मन्त्रद्रष्टा भी हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद (१० । ११९)के मन्त्रद्रष्टा लव हैं। जब वेदोंमें शन्तनु और देवापिके इतिहासकी मान्यता प्राप्त है,[12] तब मन्त्रोक्त दशरथ[13] और रामको[14] ऐतिहासिक दशरथ और रामका सूचक न मानना न्यायसंगत नहीं है। इस प्रकार वैदिक मन्त्रोंमें राम-कथाके सूत्र बीजरूपमें अवश्य वर्तमान एवं सुसिद्ध हैं।

श्रीकृष्णावतार

वैदिक साहित्यमें कृष्णावतारका भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदमें एक मन्त्रद्रष्टा कृष्णका उल्लेख हुआ है, जो ऋग्वेद (८ । ८५, ८ । ८६, ८ । ८७, १० । ४२, १० । ४३, १० । ४४) का मन्त्रद्रष्टा ऋषि है। इस मन्त्रद्रष्टा कृष्णको आङ्गिरस कृष्ण कहते हैं।[15] यह कृष्ण अश्विद्वयको सोमपानके लिये आमन्त्रित करता है[16]। ऋग्वेदमें कृष्णके विश्वक नामक पुत्रका भी उल्लेख हुआ है।

३—(अ) रामकथा—उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ २-३ (ब) प्राचीन चरित्रकोश—पृष्ठ ७२४-७२५

४—मन्त्ररामायण—श्रीनीलकण्ठ, वेदोंमें रामकथा—पं० श्रीरामकुमारदासजी, अयोध्या; ५—परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम् (मीमांसादर्शन १ । ३१) उक्तश्च नित्यसंयोगः। (मीमांसादर्शन १ । ५०)

६—सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनुस्मृति १।२१)

७-ऋग्वेद—तृतीय मण्डल; ८—ऋग्वेद—सप्तममण्डल; ९—ऋग्वेद—१०।११०; १०—ऋग्वेद—१०।१२३; ११—ऋग्वेद—१० । १४८; १२—तत्रेतिहासमाचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणः शंतनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। (निरुक्त २ । ३ । १)

१३—चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति। मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः ॥ (ऋग्वेद १ । १२६ । ४)

१४—प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु। ये युक्त्वाय पञ्चशतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ॥ (ऋग्वेद १० । ९३ । १४)

१५—'कृष्णो नामाङ्गिरस ऋषिः' ऋ० (८ । ८५) के सायणभाष्यका उपोद्घात।

१६—अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू। मध्वः सोमस्य पीतये। (ऋ० ८ । ८५ । ३)
शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा। मध्वः सोमस्य पीतये। (ऋ० ८ । ८५ । ४)

*

जो ऋग्वेद ६ । ८६ के ऋषि कृष्णके साथ मन्त्रद्रष्टा है। कृष्णपुत्र ऋषि विश्वक अपने पुत्र विष्णाप्वकी स्तुतियोंका उल्लेख करता है।[१७] अश्विनीकुमारोंने विश्वकके नष्टपुत्र विष्णाप्वकी रक्षा की थी और उसके पिता विश्वकसे उसे मिलाया था।[१८] ऋग्वेद १ । ११७ । ७ और ऋ० १ । ११६ । २३ में भी विष्णाप्वका उल्लेख हुआ है।[१९] कौषीतकिब्राह्मणमें घोर आङ्गिरसके साथ ही आङ्गिरस कृष्णका भी उल्लेख किया गया है।[२०] ऐतरेय आरण्यकमें कृष्णहारीत[२१] नामक एक उपदेशकका उल्लेख मिलता है, जिसने अपने पुत्रको वाणीरूपी ब्राह्मणके उपासना-सम्बन्धी विधानका कथन किया था। तैत्तिरीय आरण्यकमें वासुदेव (कृष्ण)का नाम आया है।[२२] छान्दोग्य उपनिषद्में कहा गया है कि घोरआङ्गिरस नामक ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको अन्य विद्याओंके विषयमें तृष्णाहीन बनानेवाला यज्ञदर्शन सुनाया। इस यज्ञदर्शनमें दक्षिणाप्रधान द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा अहिंसाप्रधान यज्ञका प्रतिपादन किया गया है और तप, दान तथा सत्यको इसकी दक्षिणा कहा गया है।[२३] गीतामें भी द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञको उत्तम कहा गया है।[२४] डॉ० मुंशीराम शर्माके मतसे छान्दोग्य उपनिषद् और गीतामें उल्लिखित शिक्षाओंके साम्यसे सिद्ध होता है कि छान्दोग्य उपनिषद्के देवकीपुत्र कृष्ण गीताके प्रवचनकर्ता वासुदेव कृष्ण ही हैं।[२५] इस यज्ञदर्शनको सुनाकर घोर ऋषिने कृष्णसे कहा कि 'अन्तकालमें निम्नाङ्कित तीन मन्त्रोंका जप करना चाहिये—[२६] १—तू अक्षय है। २—तू अच्युत है। ३—तू अति सूक्ष्म प्राण है।'

घोर आङ्गिरस मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे।[२७] इस प्रकार ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा आङ्गिरस कृष्णकी छान्दोग्य उपनिषद्में उल्लिखित देवकीपुत्र कृष्णसे एकता सिद्ध हो जाती है।[२८] ऋग्वेदके निम्नाङ्कित मन्त्रमें अर्जुनके साथ कृष्णका उल्लेख हुआ है—**'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजा अवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥'**(ऋग्वेद६।९।१) किंतु सायण और यास्कके[२९] मतसे मन्त्रोक्त कृष्ण और अर्जुन क्रमशः रात्रि और दिनके प्रतीक हैं।

१७—युवं हि ष्मा पुरुभुजेममेधतुं विष्णाप्वे ददथुर्वस्य इष्टये। ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ (ऋग्वेद ८ । ८६ । ३)

१८—कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः। (ऋग्वेद १० । ६५ । १२)

१९—युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय। घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥ (ऋग्वेद १ । ११७ । ७)

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः। पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय॥ (ऋग्वेद १ । ११६ । २३)

२०—कृष्णो ह तदाङ्गिरसो ब्राह्मणाच्छंसीय तृतीयं सवनं ददर्श। (कौषीतकिब्राह्मण ३० । ९ । ७)

२१—ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । ६ ।

२२—नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। (तैत्तिरीय आरण्यक १० । १ । ६)

२३—अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। (छान्दोग्य उप० ३ । १७ । ४)

२४—श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। (गीता ४ । ३३)

२५—भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ १३९।

२६—तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति। (छान्दोग्य उप० ३ । १७ । ६)

२७—ऋग्वेद ३ । २६ । १०के मन्त्रद्रष्टा 'घोर आङ्गिरस' हैं। २८—सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा—पृष्ठ ११८। २९—'कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनम्।' (निरुक्त २ । ६ । ३-४)

ऋग्वेदके निम्नांकित मन्त्रमें बड़ी सींगोंवाली गायोंके साथ भगवान्‌के परमधाम (गोलोक) का संकेत किया गया है—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमव भाति भूरि॥
(ऋग्वेद १।१५४।६)

निम्नाङ्कित मन्त्रमें गायोंके साथ व्रजका उल्लेख हुआ है—**गवामपव्रजं वृधि।**(ऋग्वेद १।१०।७)

इसी प्रकार निम्नांकित मन्त्रमें यमुनाके साथ ही गो और राधाका उल्लेख हुआ है—

यमुनायामधि श्रुतमुद् राधो गव्यं
मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे।
(ऋग्वेद ५।५२।१७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक साहित्यमें श्रीकृष्णावतारके सबल सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

भगवत्तत्त्व और जीव-जगत्‌का दार्शनिक विवेचन

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

कोसलदेशके राजकुमार हिरण्यनाभने मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजके पुत्रसे प्रश्न किया —'क्या आप सोलह कलावाले पुरुषको जानते हैं?' सुकेशाने कहा—'मैं इसे नहीं जानता।' राजकुमार हिरण्यनाभ निराश होकर अपने स्थानपर चला आया। फिर सुकेशाने यही प्रश्न कालान्तरमें मुनिप्रवर पिप्पलादसे पूछा। पिप्पलादजी बोले—**'स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते'** (प्रश्नोपनिषद् ६।५)। 'अपने गन्तव्यकी ओर प्रवाहित होनेवाली सरिताएँ जैसे सागरमें पहुँचकर लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार सर्वद्रष्टाकी सर्वाधिष्ठान पुरुषमें लीन होनेवाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुषको प्राप्तकर लीन हो जाती हैं। उन कलाओंके नामरूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'पुरुष' नामसे पुकारी जाती हैं।'

महर्षि वेदव्यासने भी इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। भागवतके पुरञ्जनोपाख्यानके अनुसार पञ्चतन्मात्राओंसे निर्मित तथा सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिङ्ग (शरीर) है। यही चेतना शक्तिसे युक्त होकर जीव कहा जाता है—

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥
(श्रीमद्भा० ४।२९।७४)

क्या हम दार्शनिक संत व्यासके या पुरंजनीके प्रति कहे गये नारायणके इस सम्बोधनको सुन पायेंगे जो वे हमें अपने पात्रोंके माध्यमसे 'मित्र'शब्दसे सम्बोधितकर उद्बोधित कर रहे हैं? मित्र! जो मैं हूँ, वही तुम हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो। और तुम विचारपूर्वक देखो मैं भी वही हूँ, जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष कभी हम दोनोंमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते—

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ४।२८।६२)

भगवान् वेदव्यास जीव और परमात्माको पर्यायवाची मानते हैं— **'जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः।'** (अ० रा० सर्ग ४।३१)

अपने **'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्'**के मूलभावके पोषक मानसके रचयिता भी प्रायः यही कहते हैं—'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'। उनकी दृष्टिमें **'विश्वमखिलम्'**को समझनेके लिये **'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः'**का ज्ञानसम्पादन अत्यावश्यक है। ज्यों-ज्यों जगत्‌के स्वरूपका ज्ञान बढ़ेगा, त्यों-त्यों धर्म बढ़ेगा, ज्ञान

अर्थात् धर्म-पालनकी क्षमता भी बढ़ेगी । 'धर्म' साधन न रहकर साध्य बन जाय, यह संस्कृतबुद्धिकी पहचान है और बुद्धिमें 'जिज्ञासा' स्वाभाविक प्रक्रिया है—मैं क्या हूँ ? जीव और जगत् क्या है ? मेरे अतिरिक्त भी कोई चेतन व्यक्ति हो सकता है ? या नहीं ? इन प्रश्नोंकी उत्कट अभिलाषा तथा उसके परम पुरुषार्थको 'नित्यानन्द' या 'मोक्ष' कहा गया है जो पुरुषार्थचतुष्टयकी अन्तिम उपलब्धि है । वेदोंका डिण्डिम घोष है—**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥** (वाजसनेयि सं० यजु० सं० ३२ । १)

इस विश्वमें अग्नि, वायु, जल आदि जो नाना पदार्थ हैं, वे सब-के-सब ब्रह्मके रूप हैं । तैंतीस देवता अंशरूपमें इसमें आकर रहते हैं और इन सभीके साक्षी रूपमें—**'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'** (गी० १५ । १४) यह पर्याप्त संकेत है । **'सोमः कलशे शतयामना पथा'** (अथर्व० १८ । ४ । ६०) 'शतधाराओंवाले मार्गसे अमृत भरनेवाले इस मानव-कलशको यथार्थरूपमें जान लेना चरम उपलब्धि है ।' इस निकटतम सत्यको भी दूर जाकर पूजनेकी वैज्ञानिक पद्धति जीव और जगत्‌के रहस्य अभीतक नहीं खोज पायी । भगवत्तत्त्वकी खोजके लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ । ज्ञानका मूल स्रोत है—भारतीय सनातन वाङ्मय । इसीमें गहराईसे गोता लगाना है ।

भगवत्तत्त्व और माया

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

कहते हैं, एक बार अद्वैत-मतकी प्रचार-यात्रामें दिग्विजय करते हुए आद्य शंकराचार्य शाक्त मत-वादियोंको परास्त करनेके लिये काश्मीर चले । मार्गमें वे अतिसारसे कुछ दुर्बल हो गये । इसी बीच उन्हें एक कन्या मिली । पूछा—'महाराज ! आपका मन खिन्न-सा क्यों है ?' आचार्यने कहा—'शाक्तोंपर विजयके लिये काश्मीर जा रहा था, पर अतिसारसे बड़ी अशक्ति हो गयी ।' कन्या बोली—'स्वामिन् ! आप तो केवल ब्रह्मको सत्य मानते हैं, पुनः 'अशक्ति'की आवश्यकता भी स्वीकारते हैं । ये परस्परविरोधी विचार कैसे ?' आचार्य शंकरको मानो किसीने सोतेसे जगाया । वे आँखें बंदकर विचार करने लगे । ध्यानमें उन्हें आदिशक्ति भगवती महाशक्तिका दर्शन मिला । जब वे आँखें खोलकर कन्याकी ओर देखने लगे तो वहाँ कुछ न मिला ।

वस्तुतः भगवान्‌की 'माया' या योगमाया ही महाशक्ति है । इस प्रसङ्गको स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भागवतकारने कहा है—'महाप्रलयके बाद सृष्टि-रचनाके पूर्व, समस्त आत्माओंके आत्मा, एक पूर्ण आत्मा 'ब्रह्म' (भगवत्तत्त्व) ही था । उस प्रलयका न तो कोई स्रष्टा था, न द्रष्टा ही । सृष्टिमें जो अनेकता दिखायी देती है, वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है । भगवान्‌की इच्छासे 'योगमाया' सो जाती है । उस समय केवल अद्वितीय परमात्म-तत्त्व ही प्रकाशित रहता है । द्रष्टा भी वही, दृश्य भी वही । संसार-रचनाके लिये वही 'योगमाया' स्वयंकी कारणरूपा बनकर सृष्टिकी प्रेरणा करती है—

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः ।
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ५ । २३–२५)

ईश्वरत्वकी शक्ति माया ब्रह्माण्डमें स्थापिका, जगद्धात्री है। महाप्रलय-समाप्तिके बाद 'शक्ति' की लीला चलती रहती है। ब्रह्मको यदि ब्रह्माण्डका 'वृक्ष' माना जाय तो 'शक्ति' उसकी 'लता' है। यदि भगवत्तत्त्वको 'पुष्प' माना जाय तो शक्ति उसकी 'गन्ध' है। इस प्रकार उस ईश्वरकी सत्तारूपी माया भगवत्तत्त्वकी प्रकाशिका—'ज्योति' है। भगवान्‌की यह 'शक्ति' विभिन्न नामोंसे प्रख्यात है। उसे महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती भी कहा जाता है। कुम्भकार जैसे नाना प्रकारके मिट्टी-बर्तनोंका निर्माण करता है, उसी प्रकार 'आदिशक्ति' 'भगवत्तत्त्व'-को प्रकाशित करती है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने 'भक्ति'को मायासे भिन्न मानकर भक्तिके महत्त्वको बढ़ाया है। ज्ञानके पथमें माया बाधा पहुँचा सकती है। भक्तिके पथिकका माया कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती है। विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार ईश्वर, जीव और माया—तीनों सत्य हैं। ईश्वर-जीवमें अन्तर नहीं। हाँ, जब जीव ईश्वरसे पृथक् होता है, तब वह बेचारा मायाके चक्करमें पड़ जाता है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाँई। बँध्यो कीट मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जो जीव 'ईश्वरत्व'का अविनाशी 'तत्त्व' है, वह उससे पृथक् होते ही मायासे पृथक् नहीं हो पाता, अर्थात् मायाके चक्करमें पड़ जाता है। मायाके चक्करमें पड़-कर वह संसारी हो जाता है। 'जड़' और 'चेतन' नामक गाँठोंमें बँध जाता है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्षादि योनियोंमें पड़कर नाना प्रकारके क्लेशोंमें पड़ जाता है। यह '**मम माया दुरत्यया**'का साधारणीकरण—सरल व्याख्या है।

तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥
(मानस उत्तर० दोहा ११८)

सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक श्रीकपिलने पुरुष और प्रकृतिके परस्पर सम्बन्धसे सृष्टि माना है। माता देवहूतिने उनसे पूछा—'भगवन्! पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं, सत्य हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। प्रकृति पुरुषको नहीं छोड़ती। भगवन्! जिस प्रकार पाँचों पदार्थोंके मूलतत्त्व अर्थात् रस, रूप, गन्ध, स्पर्शादि जलादिसे पृथक् नहीं, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष भी एक दूसरेसे भिन्न नहीं। अतः प्रभो! जिनके आश्रयसे अकर्ता 'पुरुष'को यह 'कर्मबन्धन' प्राप्त हुआ है, उन प्रकृतिके गुणोंको रहते हुए उसे 'कैवल्य-पद' कैसे प्राप्त होगा?'[1] कपिलजीने कहा—'माँ! अरणिसे अग्नि उत्पन्न होकर अरणिको भी जला देती है। इसी प्रकार अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर जीवात्माकी मेरी भक्तिसे, ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे, व्रतादि नियमोंके पालनसे, धारणा-ध्यान, समाधि आदिसे, प्रगाढ़ एकाग्रता प्राप्त होकर क्रमशः क्षीण होती हुई 'अविद्या' प्रकृति समाप्त हो जाती है या पुरुषमें ही लीन हो जाती है[2]।' प्रसङ्गके अन्तमें भगवान् कपिलने कहा—माँ! यदि साधक (योगी)का चित्त योगसाधनासे प्राप्त अनेकानेक सिद्धियोंमें नहीं फँसता तो उसे मेरा अविनाशी परम पद प्राप्त हो जाता है। ऐसे योगियोंकी मृत्यु भी कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इस प्रकार भगवान्‌की महाशक्ति या प्रकृतिकी प्रधानताको सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक कपिलभगवान्‌ने भी स्वीकार किया है।

१-देखें—श्रीमद्भागवत ३। २७। १७-१९। २-(श्रीमद्भागवत ३। २८)

भगवत्तत्त्वकी व्यापकता

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड़)

भारतीय संस्कृति अध्यात्मसे अनुप्राणित है। जगत्के मूलमें व्याप्त अलक्ष्य, निरञ्जन, अव्यक्त, परात्पर परब्रह्मकी सत्ता, जो सबका सूत्रधार है, सूत्रमें मणियोंकी भाँति जिसमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अनुस्यूत है, मान्य है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः गुणोंका नाम भग है। अथवा उत्पत्ति, विनाश, जीवोंका आना (जन्म), जाना (मरण), विद्या और अविद्याका जो अधिपति है, वह भगवान् है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(विष्णुपु० ६।५।७८)

प्रलयकालमें भगवान् अपने भग (षड्गुणों)का संहार भी करते हैं, अतः वे 'भगहा' भी हैं*—**'भगवान् भगहानन्दी'** (वि०सं०७३)। श्रीमद्भागवतमें उन्हें ब्रह्म, शिव, परमात्मा आदि कहा गया है— **'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'** (१।२।११)। वस्तुतः जिस तत्त्ववेत्ताने जिस रूपमें इस तत्त्वको जाना, उसने उसका उसी रूपमें वर्णन किया। भगवत्तत्त्व निर्गुण और सगुण, साकार और निराकार, व्यक्त और अव्यक्त, स्थूल और कृश, एक और अनेक, नेदिष्ठ और दविष्ठ, अणीयान् और महीयान्, कहीं अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ग, चक्षु-श्रोत्ररहित और पाणि-पाद-रहित है तो कहींपर वह मूर्तिमान्, महामूर्ति, दीप्तिमूर्ति, शतमूर्ति, अनेकमूर्ति, विश्वमूर्ति, सहस्रमूर्धा, सहस्रपाद, और सहस्राक्ष है। वस्तुतः अपने तत्त्वको ठीक रूपसे भगवान् ही जानते हैं। भगवत्तत्त्व सर्वविलक्षण, अनिर्वचनीय और विरोधी भावोंका समन्वित रूप है। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र'में इसे विश्व, विष्णु, कामहा, कामकृत्, नर-नारायण, क्रोधहा, क्रोधकृत, भगवान्, भगहा, अर्थ-अनर्थ, नय-अनय, करण-कारण, कर्ता-विकर्ता, सत्-असत्, क्षर-अक्षर, नन्द-नन्दन, दर्पहा और दर्पद भी कहा गया है। यह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, स्तव्य-स्तोत्र-स्तोता, कार्य-कारण-कर्ता, हविष्य-हवन-होता सब कुछ है। वास्तवमें भगवत्तत्त्व जितना गूढ़, सूक्ष्म और अनिर्वचनीय है, उतना ही प्रत्यक्ष, स्थूल और अनिर्वचनीय है। यह समस्त दृश्य चराचर प्रपञ्च भी भगवत्तत्त्व ही है! परंतु यही सब कुछ नहीं, इसीमें उसकी इतिश्री नहीं समझनी चाहिये। यह सब तो उसी तत्त्वका एक अंश है। श्रुति कहती है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाꣳश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(यजुर्वेद ३१।३)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
(गीता १०।४१)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥
(गीता १५।७)

मानव-जीवनमें यही तत्त्व ज्ञेय, श्रोतव्य, मन्तव्य, द्रष्टव्य, निदिध्यासितव्य है। इसके जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी ज्ञेय शेष नहीं रहता, हृद्ग्रन्थि खुल जाती है, मानस-रोग कट जाते हैं, अज्ञान, भ्रम, संशय, मायाका आवरण दूर हो जाता है। जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे मुक्तिका यही श्रेष्ठ उपाय है। वेदवाणी पद-पदपर यही संदेश दे रही है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति। आत्मनो वा अरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥'** (बृहदारण्यक २।४।५)

तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(यजु० ३१।१७)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥
(श्रीमद्भा० १।२।२१)

---

* दक्षयज्ञमें 'भग' देवतापर भीषण प्रहार करनेवाले शिवसे ऐकात्म्य होनेके कारण भी वे 'भगहा' हैं।

इस अध्यात्मतत्त्वकी उपलब्धि मन, बुद्धि, तर्क-वितर्क, इन्द्रिय और बहुश्रुतमेधासे सम्भव नहीं है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, इनसे सूक्ष्म है मन, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे भी आत्मा सूक्ष्म और रहस्यमय है। इसको वही जानता है, जिसपर उसकी कृपा होती है। श्रुति कहती है—

'यन्मनसा मनुते येनाहुर्मनो मतम्'
'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

मूलतः भगवत्तत्त्व एक ही है। स्वरूपसे तो वह निर्विशेष है, पर उपाधिभेदसे सविशेष। वैष्णव उसे ब्रह्म, योगी परमात्मा, अर्थार्थी, हिरण्यगर्भ, ज्ञानी भक्त भगवान्, शैव शिव, जैन अर्हत्, मीमांसक कर्म और नैयायिक कर्त्ता मानते हैं—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।

कोई विरला भाग्यवान् उसका कृपापात्र साधक ही उसके स्वरूपके किसी एक अंशको जान पाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

जिज्ञासुको इसे जाननेके लिये विनीतभावसे, आत्मसमर्पणकी भावनासे समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके चरणोंमें जाना चाहिये। ऐसे तत्त्वज्ञानी इस तत्त्वका उपदेश करते हैं—

तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
(कठ०)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
(गीता ४।३४)

भगवत्तत्त्वके संदर्भमें संक्षिप्त विचार कर लेनेपर अवतारवादपर कुछ चर्चा कर लेनी अप्रासङ्गिक न होगी। भगवत्तत्त्व तो एक विज्ञान है, शास्त्रीय सिद्धान्त है और उसकी प्रयोगशाला, अवतारवाद, उसकी कसौटी है—अवतारवाद। अवतारवादके बिना निर्गुण अध्यात्म, तत्त्व पङ्गु एवं निष्क्रिय है। आत्ममाया अर्थात् अवतरण-शक्तिके माध्यमसे ही भगवत्तत्त्व सार्थक, ग्राह्य और ज्ञेय है। सामान्य प्रश्न है—अवतारसे क्या तात्पर्य है—अवतरति इति (अव-तॄ-घञ्) अवतार, अवतरण अर्थात् ऊपरसे नीचे उतरना। इस नीचे उतरनेकी भी एक प्रक्रिया है—कारणसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे स्थूलकी वैज्ञानिक प्रक्रिया, यथा पार्थिव परमाणु (कारण)से कपास एवं उससे वस्त्र (स्थूल)की प्रक्रिया। इसी भगवत्तत्त्वको अध्यात्मक्षेत्रमें योगमायाशक्तिसे अवतरितको अवतार कहते हैं। जैसे वस्त्रसे भिन्न सूत्र नहीं, सूत्रसे कपास, कपाससे पार्थिव परमाणु भिन्न नहीं है, वैसे ही अवतरित श्रीविग्रहसे अव्यक्त, निर्गुण ब्रह्म भिन्न नहीं। दीपक प्रकाश, ज्योति (ब्रह्म) श्वेतकाँचमें स्थित ज्योति (लैम्प) और रंगीन आवरण (त्रिगुणात्मक प्रकृति, योगमाया)से अधिष्ठित तत्त्वको अवतार कहते हैं। भगवान्ने गीतामें यही तो कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

वेद जिसे अनादि, अनन्त, अभेद्य, अगम्य, अगोचर और नेति-नेति कहकर पुकारते हैं, वही तत्त्व व्रजमें छाछके लिये नाचता फिरता है—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

इन सब पूर्वापर विरोधाभासोंका समाधान स्वयं भगवान्ने गीतामें किया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४।९)

वास्तवमें उनके जन्म, कर्म दिव्य या लीलामय हैं। उनका जन्म और मरण नहीं होता, बल्कि प्राकट्य और तिरोधान होता है। भगवान् संत-महात्मा, गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षार्थ, पापियोंके विनाशार्थ और धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें अवतरित होकर पाप-भारसे कराहती पृथ्वी माँका भार दूर करते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।७-८)

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
(मानस)

मानव-शरीर पाञ्चभौतिक है। इसमें पार्थिव तत्त्व प्रधान है। यह पूर्व-कर्मानुसार उद्भिज्ज, जरायुजादिके रूपमें निर्मित होता है। इसमें खान-पान, स्वेद, मल-मूत्र, भूख-प्यास आदि सभी व्यसन होते हैं। जन्म-मरण, जरा-व्याधि उसके धर्म हैं। मनुष्य भूमिको स्पर्श करता चलता है। उसके शरीरकी छाया पड़ती है, पलक ऊपर-नीचे होती है। देवताओंकी नहीं। उसके शरीरको छूनेसे फूल कुछ कालमें मुरझा जाते हैं। उसकी आयु सीमित होती है। पर मानव अपने शरीरसे शुभ-कर्म करके देवत्व भी पा सकता है। यौगिक क्रियाद्वारा मनुष्य अपने आत्माको शरीरान्तरमें प्रवेश भी कर सकता है। मानव-शरीर जरायुमें लिपटकर मल-मूत्रसे आवृत रोते-रोते जन्म लेता है। देवशरीर तैजस होता है। उसमें भूख-प्यास स्वेद-निद्रादिका अभाव होता है। वह सदा कुमारावस्थामें ही रहता है, उसे मूँछ-दाढ़ी नहीं आती। शरीरपरकी फूलमाला कभी नहीं मुरझाती। वह योगसे नहीं, स्वेच्छासे भी शरीरान्तर-प्रवेशकी शक्ति रखता है—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** के अनुसार अनेक शरीर धारण कर सकता है। देवशरीरकी अवधि समाप्त होनेपर मनुष्य-शरीरादि मिलता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(गीता ९।२१)

अवतरित ईश्वर-शरीरको शरीर ही नहीं कहा जाता है। शरीर तो क्षीण (नाश) धर्मवाला होता है, अतः उसके लिये श्रीविग्रहका प्रयोग करना उचित है। ईश्वरका श्रीविग्रह भूतभावन ब्रह्माजीके शब्दोंमें—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

प्रभुकी एक स्वाभाविकी इच्छा—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**की है। उनका श्रीविग्रह वस्तुतः स्वेच्छामय, लीलामय, आनन्दमय, षाड्गुण्यमय, शुद्धतत्त्वमय, सन्मय, चिन्मय, आनन्दमय और नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। वे धर्म-संस्थापनार्थ लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये नर-लीला करते हैं। वे रोते हैं, हँसते हैं, गाते हैं, नाचते हैं, खाते हैं, पीते हैं, देते हैं, माँगते हैं, बन्धनमें भी बँधते हैं; सब कुछ करते हैं, पर तत्त्वतः कुछ नहीं करते—अतत्त्वज्ञजनोंको वे कर्म करते हुए दिखायी देते हैं। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(गीता ४।१४)

अतः भगवत्तत्त्वको आत्मसात् करनेके लिये अवतारवादकी प्रक्रियास्वरूप प्रयोजन और जन्म-कर्मकी दिव्यताका ज्ञान आवश्यक है।

भगवत्तत्त्व और उसकी उपादेयता

(लेखक—श्रीहर्षदराय प्राणशंकरजी बधेका)

पुराणपुरुषके विराट्रूपका प्रतिपादन **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** आदि श्रुतियोंमें हुआ है । विशिष्टाद्वैतमें निरवधि आनन्दसे विभूषित भगवत्स्वरूपको ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेजसे परिपूर्ण होनेके कारण षाड्गुण्य-विग्रह कहा है । **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेष ईश्वरः'** अर्थात् क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पुण्य-पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पापरहित), विपाक (कर्मफल) एवं आशय (कर्म-संस्कारयुक्त हृदय)से परे पुरुष-विशेषको पतञ्जलिने 'ईश्वर' नामसे निर्दिष्ट किया है । ईश्वर-तत्त्वका निरूपण श्वेताश्वतर-उपनिषद्के इस मन्त्रमें भी हुआ है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

'समस्त मुख, समस्त शिर और समस्त ग्रीवाएँ भगवान् शिवकी ही हैं । यह सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है और सर्वव्यापी है, अतः शिव सर्वगत हैं । गीताका भी यही कथन है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(१३ । १३)

'वह सब ओरसे हाथ, पैर, नेत्र, शिर तथा मुखवाला है । सब ओरसे कानवाला है । ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं, जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसे वह न देखता हो ।' ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह ग्रहण न करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न पहुँचता हो । वह बिना नेत्रके देखता है, बिना कानोंसे सुनता है, बिना पैरके चलता है, बिना हाथोंके ग्रहण करता है, वही सबका वेद्य है, कोई उसका दूसरा यथार्थवेत्ता नहीं—**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।** श्रीगोस्वामीजी इस व्यापक अविनाशी चेतनघन आनन्दराशिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी।महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

ब्रह्मका लक्षण बतलाती हुई उपनिषद् कहती है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म'** (छान्दोग्य०) । 'प्राणिवर्ग जिससे पैदा होकर जीवित रहते और जिसमें लीन हो जाते हैं, वही जिज्ञास्य ब्रह्म है ।' श्वेताश्वतर—'एक ही रुद्र, जो सब लोगोंको अपनी शक्तिसे वशमें रखता है, वही ईश्वर है । शिव या ब्रह्म सभी लोगोंको उत्पन्न कर अन्तकालमें संहार करता है । वही सभीके भीतर अन्तर्यामीके रूपसे स्थित है । वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अव्याकृत प्रकृतिके मध्यमें स्थित है ।' अथर्ववेद (१३ । ४ । ४)का भी प्रायः यही कथन है । पुनः उसका (१० । ८ । १६) कथन है—जिससे सूर्य उत्पन्न होता है और जिसमें लयको प्राप्त होता है, उसको ही मैं बड़ा मानता हूँ । यह बात निश्चित है कि कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, कोई उससे बढ़कर नहीं है, अर्थात् वही सर्वश्रेष्ठ है । अथर्ववेद परमात्माकी स्तुति इन शब्दोंमें करता है 'भगवन् ! तुम स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी हो, तुम ही बूढ़े हो, दण्ड लेकर चलते हो, तुम ही सर्वव्यापी होकर सर्वत्र प्रकट होते हो । जैसे अग्निमेंसे विस्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी प्रकार इस परमात्मामें सब प्राण, सब लोक-लोकान्तर, सर्वभूत, सर्वदेव पैदा होते हैं । वह प्रकाशस्वरूप है, अणु-से-अणु है, उसीमें सभी

लोक, लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं। वह अक्षर है, तीनों कालोंसे अपरिच्छिन्न सर्वेश्वरसे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है।' (१० । ८ । २७) वह सबका अधिपति, रचयिता, पालयिता, संहर्ता, सत्-चित् एवं आनन्दाम्बुनिधि, विज्ञानानन्दघन है । श्रुतिकी परिभाषामें—**'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सो पिपासः सत्यसंकल्पः सत्यकामः।'** 'यह पुरुष पुण्यापुण्यरहित, जरारहित, नित्य, शोक-संसर्गशून्य है, क्षुधा-तृषारहित है और सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है । महर्षि याज्ञवल्क्य गार्गीसे कहते हैं—**'तस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'** (बृहदारण्यक-उपनिषद्) 'गार्गि ! इसी अक्षर-पुरुषके नियन्त्रणमें सूर्य और चन्द्रमा ठहरे हैं।' इसीके भयसे पवन चलता है और इसीके भयसे सूर्य भी उदय होता है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
(कठोपनिषद्)

तुलसीदासजी कहते हैं कि वे परमात्मा—

'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।'
(रामच० मा० २ । २९०)

और **'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के।'** है (मानस २ । ७३ । ३) केनोपनिषद्‌के शब्दोंमें **'स उ प्राणस्य प्राणः'** (१ । ८) एवं कठोपनिषद्‌के अनुसार **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'**—'वह परमात्मा श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वाणियोंकी वाणी, प्राणोंका प्राण, चक्षुओंका चक्षु है। उसी परमात्माके स्वरूपको न आँखोंसे कोई देख सकता है, न वाणीसे वर्णन कर सकता है, न मनसे उसकी कल्पना कर सकता है और न वह समझमें आता है। उसका न तो कोई करण है न कार्य है और न कोई उसके समान है। वह महान् शक्तिशाली एवं अद्वितीय है, उसकी शक्ति अप्रतिम है। विविध शक्तियाँ उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। तुलसीदासने कितने मधुर एवं प्रासादिक शब्दोंमें परमात्माकी महिमा गायी है—

रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास॥
बिष्नु कोटि सत पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥
भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥

कितने मधुर शब्दोंमें गोस्वामीजीने प्रभुका वर्णन किया है। जीवन्मुक्त महात्मा परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं और जगत्-प्रपञ्चको लाँघकर मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकते हैं, पर जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेकी शक्ति परमेश्वरमें ही है। ब्रह्मसूत्रके जगद्व्यापार-वर्जन (४ । ४ । १७) सूत्रके भाष्यमें आचार्यशंकर कहते हैं—'जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं; परंतु जगद्व्यापारकी, जगत्प्रवर्तनकी शक्ति एकमात्र नित्यसिद्ध परमेश्वरमें ही है।' इसी तरह जीव और ईश्वरके भेदका निरूपण करते हुए भगवान् श्रीरामने कहा है—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥
(रा० च० मा० ३ । १५)

'लक्ष्मण ! जो माया, ईश्वर और अपने स्वरूपको नहीं जानता उसे जीव कहना चाहिये और (कर्मानुसार) बन्ध और मोक्ष प्रदान करता है, सबसे परे तथा मायाका प्रेरक है, वह ईश्वर है।' ऋग्वेदने ईश्वरकी महिमा ऐसे गायी है—आश्चर्य-स्वरूप देवोंके बलस्वरूप सूर्य, चन्द्र तथा अग्निका मार्गदर्शक परमात्मा हमारे बाहर-भीतर प्रकट हुआ है। उसने अपने प्रकाशसे पृथ्वी और अन्तरिक्ष भर दिया है, वह विद्वानोंके प्राप्त करनेयोग्य जङ्गम और स्थावरका आत्मा है (ऋ० १ । ११५ । १),

जिसने द्यौःको तेजवाला बनाया है और भूमिको दृढ़ बनाया है, जिसने सूर्य और चन्द्रको रोक रखा है। हम सब उस स्वामी देवकी हविष्से पूजा करते हैं। परमात्माकी मायाके द्वारा आगे-पीछे ये दो बालक (चन्द्र-सूर्यरूप) अन्तरिक्षमें विचरते हैं। एक बालक (सूर्यरूप) समस्त भुवनोंके पदार्थोंको देखता है, दूसरा बालक (चन्द्ररूप) वसन्तादि ऋतुओंको रस-प्रदानद्वारा धारण करता है। चन्द्र और सूर्य उस भगवान्की आज्ञासे समयपर उदय और अस्तको प्राप्त होते हैं (ऋ० १० । ८५ । १८)। श्रुतिने कहा है कि वही प्रभु सर्वत्र है—**'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमिति ।'** (छान्दो० उप० ७। २५ । १)

सांसारिक सुख अनात्म पदार्थके योगसे उत्पन्न होता है और इसी कारणसे प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभावसे ग्रस्त हो जाता है। भगवद्गीताने संसारको 'अनित्यम्' 'असुखम्' 'दुःखयोनि' शब्दोंसे निर्दिष्ट किया है। भौतिक सुख नाशवान्, असार, अनित्य, क्षणभङ्गुर होनेसे उसमें अतृप्ति, असुख और अशान्तिहीकी अनुभूति होती है। उससे पूर्णानन्द, नित्यानन्द और अखण्डानन्द प्राप्त नहीं होता। मानव आत्माकी सिसृक्षा और आरजू सर्वकालीन, सर्वदेशीय और सार्वजनिक, देशकालातीत, जराव्याधि-विनाशादिरहित, अखण्ड एवं अचल शान्तिका अनवरत आस्वाद पानेकी है। इसके लिये साधकको ज्ञानयोगके साधनचतुष्टय, भक्तियोगकी षड्विध शरणागति और महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगदर्शनके अष्टाङ्गयोगका आश्रय लेकर त्रिविध दुःखहरणपटु परमात्माकी कृपाका साक्षात्कार करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—'जो आनन्दके समुद्र और सुखके खजाने हैं, जिस समुद्रके बिन्दुमात्रसे त्रैलोक्य आनन्द-प्राप्त होता है, वे ही सुखधाम श्रीराम हैं। उनके द्वारा ही समस्त लोकमें सुख और शान्ति मिलती है, त्रिविध तापसे व्याकुल जीव आनन्दसिंधु परमात्माको प्राप्तकर सांसारिक सुखोंसे मुक्त होकर आनन्दसागरमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है। उपनिषद्में कहा है कि जो व्यक्ति एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा जो समस्त प्राणियोंके भीतर आत्मारूपसे वर्तमान है और एक ही रूपसे अनेक रूपको धारण करता है, जो अपने अन्तःकरणमें स्थित है, उसको जो धीर पुरुष देखता है, उसीको नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में ध्यानसे आत्मदेवका साक्षात्कार हो जानेपर तृतीय देह अविद्या-तमका नाश, सर्वक्लेशोंका क्षय, अहंता-ममतादि पाशोंकी हानि, मृत्युका आत्यन्तिक विनाश, विश्वैश्वर्यकी प्राप्ति, कैवलता और आप्तकामता प्राप्त हो जाती है। जिस समय यह चेतन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगोचर, अशरीर, प्राकृतिक रूपसे अनिर्वचनीय, अनाधार, जगदीश्वरके भीतर अभयरूपमें प्रतिष्ठित होता है, तदनन्तर वह भयरहित हो जाता है। इस भय और क्लेशकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? श्रुतिके अनुसार **'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।'** परमात्माके अतिरिक्त भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी अनुभूति होनेपर ही भय होता है। अथवा **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति । तस्येत्थं भयं विदुषो मन्वानस्य ।'** जब कोई परमात्मामें थोड़ा-सा भी भेद दर्शन करता है, उनके अतिरिक्त अन्य सत्ताका अनुभव करता है, तब उसे भय होता है। भेददर्शन करनेवाले विद्वान्के लिये वह परमात्मा ही भयरूप बन जाता है यही बात भागवतके—**'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्'**—'देहादि अनात्म पदार्थमें अभिनिवेश होनेसे ही भय उत्पन्न होता है' इत्यादिमें कही गयी है। यदि हम एकमात्र प्रभुकी सत्ताका ही सर्वत्र अनुभव करने लगेंगे, परमात्मामें स्थित होंगे, हमारा भय सदाके लिये नष्ट हो जायगा। वास्तवमें तो प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई चीज है ही नहीं। हमें जो अन्य रूप

प्रतीत होते हैं उन सभी रूपोंमें एकमात्र सर्वसत्ताधीश परमात्मा ही अभिव्यक्त हो रहा है।

'योगभाष्यकार कहते हैं कि सभी प्राणियोंकी यह इच्छा बनी रहती है कि उसका नाश न हो। यद्यपि मृत्युका भय केवल प्रधान अभिनिवेशरूप क्लेश ही है। उसी तरहसे अन्यान्य प्रकारका भी अभिनिवेश होता है। जैसे राग सुखानुशायी (सुखका स्मरण दिलानेवाला) और द्वेष दुःखानुशायी (दुःखका स्मरण दिलानेवाला) क्लेश हैं, वैसे ही विवेक-ज्ञान-शून्य मोहरूप क्लेश-भयका नाम अभिनिवेश है। इन अभिनिवेशोंकी निवृत्तिके लिये भगवत्तत्त्वकी अविलम्ब प्रपत्ति ही अनिवार्य है।' क्योंकि **'दुःखक्लेशविहीनमक्षरसुखं'** दुःख-क्लेशरहित अविनाशी तथा सदा सुखमय तो अच्युत-नाम-पद ही है। श्रीसदानन्दने 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थमें विक्षेपकी परिभाषामें बताया है कि **'अखण्डवस्त्वलम्बेन चित्तवृत्तेः अन्यावलम्बनं विक्षेपः।'** यह अवलम्बन दुस्तर मायाके कारण होता है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार त्रिगुणमयी माया लीलामय भगवान्‌की रचना है और उसके दो कार्य हैं—(१) जीवको भगवान्‌से तिरोहित करना और (२) अचेतन पदार्थोंमें भोग्य-बुद्धि करना। इसी मायाको भगवान्‌ने गीतामें दुस्तर कहा है—**'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।'** साथ ही अभय भी किया है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'**, जो पुरुष निरन्तर मेरी प्रपत्तिमें रहता है, वह इस मायाका उल्लङ्घन कर जाता है, अर्थात् संसार-सागरको पार कर जाता है। परमेश्वर मायातीत और मायाका नियन्ता है इसीलिये मायानिवृत्तिके लिये भगवच्छरणागति नितान्त आवश्यक है। आचार्य निम्बार्कके मतसे गीताका उपक्रम शरणागतिसे आवृत्ति शरणागतिको और पर्यवसाय शरणागतिमें ही हैं। उनके मतसे उपक्रम—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** से आवृत्ति **'निवासः शरणं सुहृत्, तमेव शरणं गच्छ, मामेव ये प्रपद्यन्ते'** आदिसे और उपसंहार **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**···'से है।

वस्तुतः भगवत्तत्त्वकी विमुखता असीम दुर्भाग्यका द्योतक है। अतः श्रुति प्रार्थना करती है—**'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।'** 'प्रभो! मैं आपका निराकरण न करने लग जाऊँ या आप स्वयं मेरा निराकरण न कर दें।' भोग और मोक्षको श्रुतिने क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा है तथा घोषित किया है कि उनमेंसे श्रेयको स्वीकार करनेवालेका कल्याण होता है और जो प्रेयके पीछे दौड़ता है, वह अपने वास्तविक हितसे वञ्चित रह जाता है। श्रेयोमार्गका वरण करनेपर मनुष्यकी कोई अभिलाषा शेष नहीं रहती। उसे जो पाना होता है, वह सब मिल जाता है।

इस परमपदके साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और सभी कर्मजाल क्षीण हो जाते हैं। गीताके शब्दोंमें यही 'भगवत्प्राप्ति' है और इस लाभसे बढ़कर दूसरा कोई भी लाभ नहीं। (६ । २२)

सनातन परमपदकी आकाङ्क्षा

गन्तुमिच्छामि परमं पदं यत्ते सनातनम्। प्रसादात् तव देवेश पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥

(ब्रह्मपुराण १७८ । १८३)

(कण्डुमुनि श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—) 'सुरेश्वर! मैं आपकी कृपासे आपके ही सनातन परम पदको प्राप्त करना चाहता हूँ। वह पद ऐसा है, जहाँ जानेसे फिर इस संसारमें आना नहीं पड़ता।'

भगवत्स्वरूपकी भजनीयता

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

भावुक भक्तोंके अनुसार भगवत्स्वरूप या भगवत्तत्त्वके चिन्तन-स्मरण, ध्यान-मनन और दर्शनसे कहीं अधिक श्रेयस्कर उनकी भक्ति या भजन है। भजनमें सम्पूर्ण निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार भगवत्ताका रसास्वादन अपने मधुरतम स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यही भगवत्स्वरूपकी भजनीयताका मौलिक और अलौकिक स्वारस्य अथवा अप्रतिम अनुभव है। भगवद्भक्तिकी मूर्तिमत्ता श्रीकृष्णके प्रति गोपिकाओंकी प्रीतिकी प्रतिष्ठा है। तप, वेद, ज्ञान अथवा कर्मके अनुष्ठानकी अपेक्षा हरिकी प्राप्ति भक्तिसे होती है—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

(भागवतमाहात्म्य २। १८)

भगवान्‌का भजन या भक्ति, परमेश्वरके प्रति प्रेम—प्राणियोंका परम धर्म है। यह साक्षात् अमृत-स्वरूप है। इसकी प्राप्तिसे मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है—अमृत हो जाता है। भक्तिके आचार्य देवर्षि नारदके वचन हैं—**'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।'** (नारदभक्तिसूत्र १। ४) भगवान्‌के भजनमें निर्वाणपद प्रतिष्ठित है। बिना भगवान्‌के भजनके जीवोंका क्लेश नहीं मिट सकता। भगवत्तत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप है, यह अनन्तशक्तिसे सम्पन्न है। जिस प्रकार रूप-रसादि गुणोंका आश्रय एक पदार्थ—दूध भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा भिन्न-भिन्न दीख पड़ता है, उसी प्रकार उपासनाभेदसे एक ही परम तत्त्व विभिन्न रूपोंमें अनुभूत होता है। भक्तिके मध्यकालीन आचार्य रूपगोस्वामीने भगवत्तत्त्वका प्रतिपादन किया है—

तत्तच्छ्रीभगवत्येव स्वरूपं भूरि विद्यते।
उपासनानुसारेण भाति तत्तदुपासके॥
यथा रूपरसादीनां गुणानामाश्रयः सदा।
क्षीरादिरेक पदार्थो जायते बहुधेन्द्रियैः॥

(लघुभागवतामृतम्)

भगवत्स्वरूपकी रूपाभिव्यक्ति भक्तिके ही राज्यमें होती है। भगवान्‌के भजनका रसास्वादन भक्त करता है और उसकी भजनीयताका आनन्दभोग स्वयं भगवान् करते हैं। निराकार चिन्मय होकर भी भगवान् भक्तके लिये अभिव्यक्त होते हैं—

भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥

(भागवतमाहात्म्य ३। ५८)

भगवान् भक्तकी प्रसन्नताके लिये 'निज इच्छानिर्मित तनु'से अवतरित होते हैं। उनका श्रीविग्रह मायातीत, गुणातीत और इन्द्रियातीत होकर भी सगुण-साकार-रूपमें अभिव्यक्त होता है। महाप्रभु वल्लभाचार्यने अविकृत परिणामवादके सिद्धान्तके धरातलपर यह मत व्यक्त किया है कि निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अविकृत-भावसे जगत्‌में परिव्याप्त होता है। 'सुबोधिनी'में उनकी स्वीकृति है कि प्राणिमात्रको मोक्ष देनेके लिये (भक्ति-राज्यमें प्रतिष्ठित करनेके लिये) ही भगवान् अभिव्यक्त होते हैं—**'प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः।'** मोक्षदानार्थका तात्पर्य है पराभक्तिमें प्राणिमात्रका भगवान्‌द्वारा प्रतिष्ठापन, जो भजनका ही सुफल अथवा परिणाम है; यह भजन ही परमोत्कृष्ट भागवतधर्म है। भजन भगवत्प्राप्तिका राजमार्ग है, यह राजमार्ग ही हमारे शास्त्रोंमें भक्तियोगके रूपमें विहित है। इस भक्तियोगकी तीव्रतासे मन भगवान्‌में अर्पित हो जाता है, यही प्राणियोंका निःश्रेयसोदय कहा गया है और यही भगवत्स्वरूपकी भजनीयताका मुख्य तात्पर्य है। यह भजन ही भगवत्पातिव्रत है, सर्वोपरि भगवत्सम्बन्ध है। भजनसे ही भगवान्‌की महिमाका

ज्ञान होता है। भजनके प्रतापसे ही भक्त भगवान्‌की दुस्तर मायासे अप्रभावित रहता है, यह माया शिव और ब्रह्माको भी मोहित अथवा विमुग्ध कर लेती है, इसलिये मुनि निरन्तर परमात्माके मननमें लीन प्राणी मायापति भगवान्‌का ही भजन कर स्वरूपमें अवस्थित रहते हैं—

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥
(मानस ७। ६२ ख)

द्वैतमतके आचार्य मध्वने ब्रह्मको सगुण और सविशेष कहा है। उनके सिद्धान्तानुसार जीव अणु एवं भगवान्‌का दास है। श्रीभगवान्‌के प्रति दास्यपूर्वक भजनमें ही उसकी मुक्ति है। उन्होंने भक्तिको परममुक्तिका साधन कहा है। सत्य बोलना, हितकी बात कहना, प्रिय भाषण, स्वाध्याय, सत्पात्रको दान, दीनका उपकार, शरणागतकी रक्षा, दया, स्पृहा और श्रद्धा उनके द्वैतवादमें भगवद्भजन है। महाराज एकनाथकी विज्ञप्ति है—

हो का वर्णमाजी अग्रगणी। जो विमुख हरिचरणीं ॥
त्याहुनि श्वपच श्रेष्ठ। जो भगवद्भजनीं प्रेमल ॥
(एकनाथी भागवत ५। ६०)

कोई सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हो और हरिके चरणोंसे विमुख हो तो उससे वह श्वपच श्रेष्ठ है, जो भगवान्‌के भजनका प्रेमी है। जीव भगवान्‌के स्वतः शरणागत है, भक्त है, यही भगवान्‌की अचिन्त्य-अपार और असीम विभुता है। भगवान्‌के अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे वस्तुतत्त्व कहा जाय। वास्तवमें वे ही सब हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं—

विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः।
(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४३)

वही प्राणी सुन्दर और पुण्यवान् शरीरवाला है, जो दुर्लभ-शरीर प्राप्तकर भगवत्स्वरूपका प्रीतिपूर्वक सेवन-भजन करता है। भगवत्स्वरूपकी अनन्तता, अखण्डता, व्यापकता और अनिर्वचनीयताकी शरणागति ही मायावश परिच्छिन्न जड़-जीवका स्वाभाविक भजन है, जिसके द्वारा दुस्तर संसार-सागरका संतरण सहज सुलभ हो जाता है। सेवक-सेव्यभावमें दृढ़ आसक्ति ही भजनका सिद्धान्त है। यही आसक्ति सुखदायी भक्ति है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
(रामचरित० ७। ११९ क)

भगवान्‌की अनन्य प्रेममयी भक्तिको संसारचक्रमें ग्रस्त प्राणीके लिये प्राप्त करानेका साधन भगवान्‌का एकमात्र भजन है, यही कल्याणमार्ग है। भक्तिसे ही भगवान्‌की कृपा-प्राप्तिका निश्चय किया जाता है। भक्तितत्त्व ही भगवत्तत्त्व अथवा भगवत्स्वरूप है, यह स्वतःसिद्ध है। जिस तरह भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ-साथ तुष्टि, पुष्टि क्षुधानिवृत्तिका अनुभव होता जाता है, उसी तरह मनुष्य जब भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है तो उसे प्रत्येक क्षण भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और अन्य वस्तुओंमें वैराग्यकी वृद्धि होती जाती है। भजनकी यही सार्थकता है। यही भगवत्स्वरूपकी भक्तिमयी भावना अथवा भजनीयता है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४२)

भगवत्स्वरूपकी भजनीयताके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भक्तिके अन्यान्य शास्त्र और भक्तिके आचार्योंने जो साधनक्रम व्यक्त किये हैं, उनमें सम्पूर्ण अभिन्नता अथवा समरसताका ही दर्शन होता है; क्योंकि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूतिका एकमात्र प्रतिपाद्य एकरस भगवद्भक्ति ही है। भगवद्गीतामें—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'**के साधनकी सिद्धिमें भगवान्‌की विज्ञप्ति है—

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता ९ । ३४, १८ । ६५)

श्रीमद्भागवतमें मधुर भक्तिकी प्राणेश्वरी गोपिकाओंके प्रति उद्धवको निर्देश देते हुए भगवान्‌ने मन, प्राण, शरीर और आत्माके समर्पणपूर्वक साधनक्रमके स्तरपर भजनीयताका प्रकाशन किया है, जिसमें भगवत्स्वरूपकी सम्पूर्णतम प्राप्ति अथवा सिद्धि अभिव्यक्त है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्राणः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४, ६)

समस्त कामनाओंकी अन्तर्लीनता और निष्काम भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्ति भगवान्‌के भजनमें ही संनिहित है। भवके भयका नाश भजनसे ही होता है— **'राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।'** और **'बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥'** (रामचरित० ७ । ८९ । १, ४)

भगवान्‌के स्वरूप भाव और लीलामें एकरसमयता और अभिन्नता है। भगवान्‌के अनुग्रह और कृपासे ही भक्ति मिलती है, भक्ति अथवा भजनीयता साधनरूपा नहीं फलरूपा है। भगवान्‌की प्राप्ति—भगवत्स्वरूपकी भक्तिरसमयी अनुभूति भावनागत है। भगवत्तत्त्व स्वरूप-भावना और लीलाभावनासे भगवत्कृपाके सहारे अनुभवमें प्रकाशित होता है। स्वरूप-भावनाकी सिद्धि अनुभव और श्रवणसे होती है। भगवान्‌की लीलाभावनासे भक्त भजनमें तल्लीन प्राणी उनके लीला-चिन्तनसे अभिन्न लीलास्वरूप हो जाता है, ऐसा होनेपर भक्तकी सारी क्रियाएँ अनायास भावनागत हो जाती हैं। भावकी भावनाद्वारा यह सिद्धि ही भगवत्स्वरूपकी भजनीयता है। स्वरूप-भावनाके भगवान् जड़को चेतन और चेतनको जड़ीभूत करनेमें समर्थ हैं। यही भगवत्स्वरूपकी महिमा है। संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासका वचन है—

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥

स्वरूप-भावनामें जड़-चेतन सब कुछ चैतन्य हैं। भगवत्स्वरूपमें चिन्मयता ही चिन्मयता है। जड़-चेतनमें भगवान्‌की चिन्मयता आकारित हो उठती है। अखण्ड एकरस आनन्द ही स्वरूप-भावनामें अभिव्यक्त हो उठता है। लीलाभावनाके अन्तर्गत भक्तिके वैष्णव आचार्योंने लीलाके रसास्वादन और लीलास्वरूपताकी प्राप्तिके लिये शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावके प्रश्रय-ग्रहणपर ही बल दिया है। इस लीलाभावनाके परिप्रेक्ष्यमें संत तुकाराम महाराजने अनुभव व्यक्त किया—

सगुण निर्गुण जयाचीं हीं अंगें ।
ते चि आम्हां संग क्रीडा करी ॥

सगुण-निर्गुण जिनके अङ्ग हैं, वे श्रीनारायण भगवान् हमारे साथ क्रीड़ा करते हैं। ऐसे ही लीला-भावनाभावित भगवान्‌के लिये गीताकी गूढार्थदीपिकामें मधुसूदन सरस्वतीकी विज्ञप्ति है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

राघवचैतन्यके अनुसार भावभावित भक्तकी यही अभिलाषा होती है कि गोपियोंके पुञ्जीभूत प्रेम, यादवोंके मूर्तिमान् सौभाग्य तथा श्रुतियोंके गुप्त धन श्याम ब्रह्म श्रीकृष्णमें ही मेरा चित्त सांनिध्य प्राप्त करे—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे संनिधत्ताम् ॥
(राघवचैतन्य)

भगवान् भावके वशीभूत हैं। ममता, मद और मानका त्याग कर सुखनिधान, करुणास्वरूप, भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये—

भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रवन ॥
(रामच० मा० ७ । ९२ (ख))

सूरदासने भावभावक देव—भगवान्‌के ही भजनकी सीख दी है। भजन ही उनकी प्रसन्नताका कारण है।

भजि सखि ! भाव भावक देव ।
कोटि साधन करो कोऊ तऊ न माने सेव ।···
व्रजवधू बस किये मोहन 'सूर' चतुर सुजान ॥

नवधाभक्तिका अवलम्बन करनेसे स्वभावसे भी दोषयुक्त जीवका उद्धार हो जाता है। नवधाभक्तिका आश्रय-ग्रहण ही भजनमें प्रवृत्त होना है। आचार्य वल्लभने कहा कि 'सदा सर्वभावसे व्रजाधिप भगवान्‌का भजन ही जीवमात्रका कर्तव्य है। सदा सम्पूर्ण हृदयसे गोकुलाधीश श्रीकृष्णके युगल चरणारविन्दोंका चिन्तन और भजन कभी नहीं छोड़ना चाहिये, यही मेरा मत है।'

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥
(चतुःश्लोकी १ । ४)

भगवान्‌का यह 'निज सिद्धान्त' है कि जीवात्मा भगवान्‌से व्यतिरिक्त अन्य सभी कुछका त्यागकर उनका भजन करे। भगवान् रामने काकभुशुण्डिको अपने एकमात्र भगवत्स्वरूपके ही भजनका उपदेश दिया—

निज सिद्धांत सुनावउँ तोही । सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥
(रामच० मा० ७ । ८५ । १)

रामचरितमानसका समापन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासने मनको भजन करनेके लिये सीख देते हुए कहा है कि इस कलिकालमें रामका स्मरण, कीर्तन, रामगुणश्रवण ही भजन है—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि । संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई । राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥
(रामच० मा० ७ । १२९ । ३, ४)

'भक्तिरसायनकार'के अनुसार भगवत्स्वरूपके भजनसे मन भगवत्स्वरूप हो जाता है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ॥
(भक्तिरसायन १ । ३)

वास्तवमें बुद्धिमान् अथवा पण्डित वही है, जो भगवत्स्वरूपकी भजनीयताके रसमें निमग्न रहता है। भगवान्‌के भजनसे कितना आनन्द मिलता है, इसका वर्णन भक्तके ही अनुभवमें अभिव्यक्त हो सकता है।

भगवत्स्वरूप अविद्यासे सर्वथा परे है

जानन्ति नैवं हृदये स्थितं वै चामीकरं कण्ठगतं यथाज्ञाः ।
यथाप्रकाशो न तु विद्यते रवौ ज्योतिःस्वभावे परमेश्वरे तथा ।
विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात् परतः परात्मनि ॥
(अध्यात्मरा० १ । १ । २१)

(भगवती सीता हनुमान्‌जीसे कहती हैं—)—'अपने गलेमें पड़े हुए कण्ठेको न जाननेके समान अपने ही हृदयमें स्थित परमात्मा रामको अज्ञानी जन नहीं जानते (इसीलिये वे उनमें भी अज्ञानादिका आरोप करते हैं)। जिस प्रकार सूर्यमें कभी अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार प्रकृत्यादिसे अतीत, विशुद्ध विज्ञानघन, ज्योतिःस्वरूप, परमेश्वर परमात्मा राममें अविद्या कभी नहीं रह सकती।' (ऐसे शुद्ध-स्वयम्प्रकाश राम ही उपास्य एवं भजनीय हैं)।

भगवत्तत्त्व एवं सगुणोपासना

(लेखक—पं० श्रीरवीन्द्रकुमारजी पाठक, साहित्याचार्य)

भगवत्तत्त्व एवं उसके साथ उपासनाके सम्बन्धको यथातथ्य निरूपित करना अत्यन्त दुःसह कार्य है; क्योंकि परमतत्त्व कुछ प्रतीकोंके द्वारा ही समझा जा सकता है और उपासना क्रियारूप होती है।

'भगवत्तत्त्व क्या है'—इस विषयमें अनेकों मतान्तरोंके होनेपर भी 'मैं हूँ' यह अनुभूति सबको होती है। पुनः जिज्ञासा होती है कि व्यक्ति-विशेषको होनेवाले अहं-तत्त्वका स्वरूप क्या है? इस जिज्ञासाके बाद अन्तःकरण उस आत्मानुभूतिका जो स्वरूप निश्चित कर पाता है, व्यक्ति उसे ही आत्मा समझता है। यह स्वरूप व्यक्ति, मत, सम्प्रदाय, धर्मादि भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है। भारतीय परम्परामें हम शरीरको ही आत्मा माननेवाले चार्वाकोंसे प्रारम्भकर क्रमशः मन, बुद्धि तथा ज्ञानाधिष्ठाता, चैतन्य, आनन्द, विज्ञान आदितकको आत्मा स्वीकार करनेवाले मतोंका दर्शन करते हैं।

इस अनुभूतिके साथ ही दो और स्थितियाँ जुड़ी रहती हैं। (क)—जिस समय व्यक्ति अपने आत्मस्वरूपका निश्चय करता है, उसी समय उसके आत्मतत्त्वका प्रवेश एक सूक्ष्मतर एवं गम्भीरतर अवस्था या स्तरमें हो जाता है; यहीं अवस्थित होकर आत्मतत्त्व अन्तःकरणद्वारा प्रथम अवस्थामें निश्चित आत्मतत्त्वके स्वरूपका आधार बनता है। यह पहली स्थिति है।

(ख) व्यक्ति किसी लौकिक ज्ञानके साथ-साथ यह भी समझता जाता है कि 'मैं जो जान रहा हूँ, तदतिरिक्त कुछ और भी ज्ञातव्य है।' इस प्रकार एक अवस्थामें व्यक्ति स्वयं ही ससीमसे आगे बढ़ता हुआ असीमको मान लेता है। इस असीम एवं ज्ञेय पदार्थको ही भगवत्तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया गया है। यही दूसरी स्थितिका परिणाम है।

इस असीम ज्ञेयतत्त्वके साथ अन्तःकरणके सारे निश्चयोंके आधारभूत आत्मतत्त्वके बीच सम्बन्धके विषयमें पर्याप्त मतवाद हैं और उनकी व्याख्याएँ भी विभिन्न हैं; तथापि दोनों पदार्थोंकी एक अवस्थामें एकता स्वीकृत की गयी है। उस एकताको लौकिक शब्दों (वैखरी वाणी) द्वारा व्यक्त कर सकना सम्भव नहीं है; क्योंकि बातें हो रही हैं असीमकी और यह शब्द है ससीम। यह असीम या परमतत्त्व इतना तेज या बलयुक्त होता है कि व्यक्तिकी सीमाएँ उसे अन्तर्भुक्त करनेमें सक्षम नहीं होतीं; फलतः व्यक्ति उस परम तत्त्वको भग अर्थात् परम तेज बलवाले असीमके रूपमें भगवत्तत्त्व मान लेता है।

सगुणोपासना

'सगुणोपासना' शब्दके परस्पर मिलते-जुलते कई अर्थ जन-मानसमें प्रचलित हैं; जैसे देवी-देवताओंके विग्रहोंकी पूजा करना, अपने आराध्यको मानवोचित गुणों—जैसे दया, क्षमा आदि—से युक्त स्वीकार करना इत्यादि इत्यादि।

थोड़ी गहराईमें विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गुणोंका तात्पर्य अन्तःकरणके शब्द-(सामान्य भाषामें प्रचलित मध्यमा वाणी-) की सामर्थ्यकी सीमासे है, जिस सीमाके अनुरूप व्यक्ति उस परमतत्त्वको अपने अन्तःकरणमें निश्चित करता है या शब्दसे (**नामतः**) कहता है। सत्त्व, रज, तम एवं इनके सम्मिश्रण इत्यादिके रूपमें गुणोंकी यह प्रक्रिया अतिसूक्ष्म स्तरसे लेकर अति-

स्थूल स्तरतक चलती रहती है—ऐसा प्रायः सभी भारतीय आस्तिक मनीषियोंका मत है। इतना होनेपर भी गुणों एवं भगवत्तत्त्वके सम्बन्धको अनुरूप स्पष्ट करना सामान्य पदावलीके वशकी बात नहीं है; क्योंकि ये गुण या सीमाएँ ही माया, अज्ञान एवं अविद्या आदि नामोंसे जानी जाती हैं, जो व्यक्तिकी अन्तरिन्द्रियों या बहिरिन्द्रियोंकी क्षमतासे परे हैं। इस प्रकार व्यक्ति उस परमतत्त्व या भगवत्तत्त्वको जैसे ही अपने अन्तःकरणकी सीमित क्षमताद्वारा स्वीकार करता है, वैसे ही अपने अन्तःकरणके स्वभाव एवं संरचनाके अनुरूप भगवत्तत्त्वको प्रकाशयुक्त, गतियुक्त आदि मानने लगता है।

निर्गुण मतको स्वीकार करनेवाले भी यही कहते हैं कि जो हम कह रहे हैं वही भगवत्तत्त्व नहीं है, वह उससे भी परे है और सगुणस्वरूप माननेवाला भक्त भी कहता है कि 'मैं तुम्हारा वर्णन नहीं कर सकता।' जहाँतक उपासनाका प्रश्न है, सामान्यतः उपासनाका तात्पर्य भक्ति-पूजा, संध्या-ध्यान-व्रत-होम और स्तुति-वन्दनादिसे लिया जाता है।

संक्षेपमें उपासनाका तात्पर्य अपने अन्तःकरणकी सीमाको ज्ञात करने एवं उस असीमकी ओर बढ़नेसे है। थोड़े विस्तारमें कहा जा सकता है कि अपनी सीमाके ज्ञानके आधारपर तदतिरिक्त असीमको अन्तःकरणकी गहरी एवं सूक्ष्म पहलोंसे धीरे-धीरे सीमाओंका पर्यावरण चढ़ाता हुआ व्यक्ति उस तत्त्वको अन्तःकरणके बाहरी एवं स्थूलतर पहलोंमें लाकर रखता है तथा उसे ही भगवत्तत्त्व समझा करता है। इस प्रकार प्रथम कोटिके आत्मतत्त्व (पूर्वक्षणमें अनुभूत)से द्वितीय कोटिके आत्मतत्त्व (पूर्वानुभूतिका आधारभूत आत्मतत्त्व)—की ओर बढ़नेकी एवं अन्तःकरणकी ससीमतासे असीम भगवत्तत्त्वकी ओर बढ़नेका प्रयास ही उपासना है।

स्थूलतः दृष्टिगोचर होनेवाली संध्या, ध्यान, पूजा, स्तुति, शरीर-शुद्धि आदि सगुणोपासनाकी क्रियाओंका स्वारस्य इसीमें प्रतीत होता है कि व्यक्ति या साधक धीरे-धीरे अपनी सीमाकी संक्षिप्तताको हटाता हुआ अपने आत्मतत्त्व एवं भगवत्तत्त्वकी ओर बढ़े। शास्त्रानुसार एक अवस्थामें यह सीमा, अज्ञान या त्रिगुणका पर्यावरण जब हट जाता है, तब आत्मतत्त्व एवं भगवत्तत्त्वके बीच कोई भेद नहीं रहता।

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्'को मान लिया जाय तो स्पष्ट है कि उस परमतत्त्वको कृपालु, दयालु, सर्वसमर्थ आदि मानना तथा उसके प्रति तदनुरूप आचरण करना अन्तःकरणकी संकीर्णताकी सीमासे मुक्त करना है। वह परमतत्त्व सर्वसमर्थ होनेके साथ सर्वरूप है, यह मानकर पुनः उसे दयालु स्वीकारकर उस सर्वरूप जनार्दनके प्रति विश्वास करना एवं कृतज्ञता ज्ञापित करना किस समाजके लिये कल्याणकारी न होगा। एवमेव दान, होम आदि स्थूल पदार्थोंमें भ्रमवश आरोपित तादात्म्यापत्तिको हटाना है; स्तुति, ध्यान, मानस-पूजा, भगवन्नाम-जप, लीला-चिन्तन आदि बुद्धि आदिके विकारों एवं चाञ्चल्यको दूर करना एवं उनकी सामर्थ्य-वृद्धि करना है। इस प्रकार क्रमशः परमतत्त्वके साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी प्रक्रिया ही सगुणोपासना है।

हम देहधारियोंके लिये भगवत्तत्त्वकी सगुणोपासना स्वभावानुकूल एवं सर्वथा हितकारी होनेके साथ-साथ परमकर्तव्य भी है। निर्गुण और सगुणका मतवाद तो केवल नाम एवं रूपका मतवाद है; क्योंकि वह परम-तत्त्व न निर्गुण है न सगुण; वह तो केवल वही है। हाँ, उसे प्राप्त करने, अपने जीवनकी लक्ष्य-सिद्धि करनेके लिये सगुणोपासना ही सामर्थ्यशालिनी है और इसीलिये वह हमारे लिये अनुष्ठेय है।

भगवत्तत्त्व और मूर्तिपूजावाद

(लेखक—पं० श्रीआद्याचरणजी झा, व्याकरणसाहित्याचार्य)

निर्गुण-निराकार-सच्चिदानन्द परमात्माके ही ये सारे विस्तारवाद-सृष्टिक्रम एवं सम्पूर्ण दृश्य जगत् हैं, इसमें कोई वैमत्य नहीं, किंतु भगवदुपासना तथा भगवत्तत्त्वको समझनेके लिये एक कोई आधारभूत वस्तुकी अनिवार्य अपेक्षा है, जहाँ चित्तको एकाग्र किया जा सके। भारतीय-सनातन-विचारधारा ऐसी वैज्ञानिक पद्धतिपर आश्रित है, जिसके मार्गमें न कहीं अवरोध है न कोई विवाद। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुसार अपने किसी भी प्रियतम पदार्थ, पर्वत-नद-नदी-सरित, वृक्ष-गुल्म-लता, पशु-पक्षी (हिमालय, विन्ध्य, सुमेरु आदि; गङ्गा, गोदावरी, नर्मदा, यमुना आदि; अश्वत्थ, बिल्व, तुलसी आदि; गौ, गज, अश्व, सिंह आदि तथा गरुड़, नीलकण्ठ, क्षेमकरी आदि)से लेकर किसी भी अवतारको, किसी भी तीर्थ-स्थानको अपनी उपासना-एकाग्रताका साधन बनाकर अपने उच्चतम साध्यतक पहुँच सकता है।

इतना विशाल-उदार राजमार्ग अपने लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये शायद ही विश्वमें कहीं देखा गया हो। किसी भी मूर्ति (साकार रूप)में अपने ध्यानको केन्द्रित करते हुए उसी मूर्ति-सरणिद्वारा उस सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्मके समीपतक सरलतासे पहुँच सकता है। जो विभिन्न धर्मावलम्बी मूर्तिपूजावादके विरोधी हैं, वे भी गिरिजाघर आदिमें निश्चित दिशाकी ओर मुँहकर निश्चितरूपको लक्ष्य मानकर ही उपासना करते हैं।

यथार्थतः ईसाई आदि धर्मावलम्बियोंसहित विभिन्न समाजियोंका मूर्तिपूजाविरोध नितान्त हास्यास्पद ही है; क्योंकि ये लोग भी अपने श्रद्धेय पुरुषोंके चित्रों, मूर्तियोंकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं तथा उनका प्रचार भी करते हैं। परिणामतः मूर्तिपूजावाद ही भगवत्तत्त्वका सर्वप्रथम निरापद-ऋजु-सुदृढ़ सोपान है, जहाँ कोई तर्क-विवाद या वैमनस्य नहीं है।

भगवत्तत्त्व-प्राप्तिमें नामजपकी उपादेयता

(लेखक—डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश' शास्त्री)

इस जड जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली कोई सूक्ष्म, अव्यक्त, अक्षर और कूटस्थ महाशक्ति अवश्य विद्यमान है, जिसके कारण यहाँ चेतनाका साक्षात्कार हो रहा है; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रपुञ्ज और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका नियमन हो रहा है। दृश्यमान इस स्थूलका विलय आदिकारण, जगन्नियन्ता उसी सूक्ष्म तत्त्वमें हो जाता है, जहाँसे यह उद्भूत हुआ था। पृथ्वी अपने सूक्ष्म कारण जलमें, जल अपनेसे सूक्ष्म अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें विलीन हो जाती है। इसी प्रकार आकाश अव्यक्तमें और अव्यक्त परावर महाशक्तिमें विलीन हो जाता है। इसी महाशक्तिको निष्कल ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा इत्यादि अनेक अभिधानोंसे स्मरण किया जाता है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्वापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते॥
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते।
नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात्॥

(महाभारत १२ । ३३९ । २९–३१)

यह व्यक्तसे अव्यक्त और स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर जानेकी प्रक्रिया है। स्थूलके बिना सूक्ष्मतक पहुँचना दुःशक्य है। जड शरीरका आधार लेकर सूक्ष्म आत्माका ज्ञान एवं साक्षात्कार सम्भव है। सूक्ष्म तथा सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मके ज्ञानके लिये शब्दब्रह्म (शास्त्र)का आश्रय लेना आवश्यक है। पुराणोंमें कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

शब्दब्रह्ममें नैपुण्य-प्राप्ति अर्थात् शास्त्रपारंगत (विष्णु० ६।५।६४)के अनन्तर ही उस परब्रह्मका साक्षात्कार होता है, जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, पाणि-पादरहित, विभु, सर्वगत, नित्य, भूतयोनि, अकारण तथा सर्वत्र व्याप्त है। योगी ध्यानमें उसका साक्षात्कार करते हैं। वही भगवान् विष्णुका अति सूक्ष्म परम पद है। परमात्माका वही स्वरूप 'भगवत्' शब्दका वाच्य है। यह 'भगवत्' शब्द उस आद्य एवं अक्षय परमात्माके स्वरूपका वाचक है—

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥
(विष्णुपुराण ६।५।६९)

उक्त स्वरूपवाले उस परमात्माके तत्त्वका जिस विद्याके द्वारा वास्तविक ज्ञान होता है, वह परा विद्याके नामसे प्रसिद्ध है। त्रयीमय ज्ञान 'अपरा विद्या'के नामसे जाना जाता है। यद्यपि परब्रह्म शब्दका विषय नहीं है, तथापि उपासनाके लिये उसे 'भगवत्' शब्दसे अभिहित किया जाता है। त्रिविध गुण और उनके क्लेश इत्यादिको छोड़कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इत्यादि सद्‌गुण ही 'भगवत्' शब्दके अर्थ हैं—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
(विष्णुपुराण ६।५।७९)

भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारके लिये ध्यान लगाना आवश्यक है। भगवान् ध्यानगम्य हैं। किंतु प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्यान कहाँ और कैसे लगाया जाय? भगवन्नामके जप और भगवान्‌के स्वरूप-चिन्तनसे स्मरण बनता है। अतः शास्त्रोंमें स्मृति या स्मरणका अर्थ ध्यान किया गया है। भगवन्नाम-जप अथवा मन्त्र-जपके द्वारा साधक या भक्त क्रमशः स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर अग्रसर होता है। जपके चार प्रकार हैं—१-कीर्तन-या संकीर्तन (स्थूल जप), २-मालापर गुनगुनाते हुए जप (सूक्ष्म), ३-उपांशुजप (सूक्ष्मतर) तथा ४-मानसजप (सूक्ष्मतम)। पाणिनीय जप धातु दो अर्थोंमें दृष्टिगोचर होता है—१-जप व्यक्तायां वाचि तथा २-मानसे। व्यक्त वाणीकी कोटिमें कीर्तन संकीर्तन एवं मालापर गुनगुनाते हुए जप एवं उपांशु जप आते हैं। मानसजपसे मध्यमा वाणीकी स्थिति व्यक्त होती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें **'सततं कीर्तयन्तो माम्'** (९।१४)-के द्वारा स्थूल जपकी ओर संकेत किया गया है। श्रीमद्भागवतमें उसी वाणीकी प्रशंसा की गयी है, जिसके द्वारा भगवद्‌गुणोंका कीर्तन किया जाय—**'सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते** (श्रीमद्भा० १०।८०।३)।' गोपियाँ मन, कर्म और वचनसे भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करती हुई इस प्रकार तन्मय हो जाती थीं कि उन्हें अपने घर-द्वारका भी ध्यान नहीं रहता था—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्‌गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
(श्रीमद्भागवत १०।३०।४४)

जपकी यह विधा समष्टिकी उपकारक है। उपनिषद्, महाभारत, पुराण तथा तन्त्र-ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर इसकी विधि और महिमा बतायी गयी है। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (श्रीमद्भगवद्गीता १०।२५)-के द्वारा जपको भी यज्ञकी श्रेणीमें रखा गया है तथा अन्य यज्ञोंसे इस जपयज्ञको श्रेष्ठ बताया गया है। यह जप जैसे-जैसे स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होता जाता है वैसे-वैसे इसकी गुणवत्ता बढ़ती जाती है। मनुस्मृति-(२।८४)के अनुसार विधियज्ञसे जपयज्ञ दस गुना, उपांशुजप सौ गुना तथा मानसजप हजार गुना श्रेष्ठ माना गया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

अस्फुटोच्चारित वाणीद्वारा किया गया उपांशुजप ही सूक्ष्म होकर मानसजप बनता है। इसे शास्त्रोंमें 'स्मरण' कहा गया है। इसमें नाम अर्थके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। नवधाभक्तिके प्रकारोंमें यह अन्यतम है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इस श्लोकमें कीर्तनद्वारा वाणीके मुखोच्चरित स्थूल रूपका तथा स्मरणद्वारा वाणीके हृदुच्चरित सूक्ष्म रूपका संकेत दिया गया है। शतपथब्राह्मणके—**'मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती'** (७।५।१।३१)में स्थूल वाणीका हृदुच्चरित आधार दिखाया गया है। अथर्ववेदमें इसे **'यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा'** (५।७।५)के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

श्रुतिमें **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**के द्वारा १—कथा अथवा भगवद्गुणोंका श्रवण, २—मनन तथा ३—निदिध्यासनका क्रम बताया गया है। श्रीमद्भागवतमें श्रवणके अनन्तर कीर्तनको भी आवश्यक समझा गया है—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥
(२।२।३६)

मननका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकमें **'स्मर्तव्यः'**का प्रयोग किया गया है। निरन्तर मानस-जप करते रहनेवाले भक्तको भगवान् सुलभ हो जाते हैं। ऐसे जपकर्ताको नित्ययुक्त योगी कहा गया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके स्मरण अर्थात् मानस-जपसे तो अन्तःकरण-शुद्धि, भगवान्की भक्ति तथा विज्ञान-वैराग्ययुक्त ज्ञान प्राप्त होता ही है; इसके अतिरिक्त योगसाधनाके द्वारा जो 'सत्त्वशुद्धि' मिलती है, उसे वह भी अनायास उपलब्ध हो जाती है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रायः सर्वत्र भगवान्के स्मरण और अनुस्मरणपर बहुत बल दिया गया है, जैसे—**'मामनुस्मर युध्य च'** आदि। प्रह्लादने तो भगवत्स्वरूपके अनुस्मरणसे गद्गद होकर भगवान्से प्रार्थना की है कि अविवेकियोंकी जैसी अविचल प्रीति विषयोंमें बनी रहती है, आपका अनुस्मरण करते हुए आपके प्रति वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी न हटे—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णुपु० १।२०।१९)

नाम-स्मरण तथा अनुस्मरण करते-करते साधक ध्यानकी सहज अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। इसमें हृदुच्चरित वाणी क्रमशः सूक्ष्मतर होकर साधकमें भगवान्की दिव्य ज्योतिका आलोक भर देती है। नाम-जपकी यह स्थिति सबको सुलभ नहीं हो पाती। आंजनेय हनुमान् भगवान् रामके स्वरूपका सतत स्मरण किया करते थे। सीता-गवेषणाके प्रसङ्गमें जब तपःपुञ्जा नारीने वानरोंको **'मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू'** का आदेश दिया, तब नयन-निमीलन करनेपर हृदुच्चरित वाणीने क्रमशः सूक्ष्मतर होकर हनुमान्जीको ध्यानावस्थित कर दिया। उनका दैहिक कार्य यद्यपि यन्त्रवत् चल रहा था, तथापि बाह्यज्ञान न रहनेके कारण वानरों और सम्पातीके वार्तालापसे वे अनभिज्ञ बने रहे। फलतः सम्पाती-द्वारा संकेतित अशोकवाटिकामें न पहुँचकर 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा'के अनुसार वे लङ्काके

प्रत्येक घरमें सीताजीको खोजते रहे। हृदयदेशमें हो रहा नामजप सूक्ष्मतर होकर स्वरूपदर्शनमें परिणत हो गया। यह स्वरूपदर्शन नाभिदेशमें स्थित पश्यन्ती वाणीके माध्यमसे सम्पन्न होता है। पश्यन्तीका अर्थ है—दर्शन अथवा ज्ञानालोक बिखेरनेवाली वाणी। योगशास्त्रके अनुसार नाभिदेशमें अवस्थित समान वायुपर संयम-द्वारा विजय कर लेनेसे साधकमें प्रतिभाका प्रकाश फूट पड़ता है—**'समानजयाज्ज्वलनम्'** (योगदर्शन)

जिस प्रकार चलनीसे सत्तू छाना जाता है, उसी प्रकार धीर—ध्यानवान् व्यक्ति वाणीको छानते हैं—**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो धीरा मनसा वाचमक्रत'** (ऋ० ८। २। ३, निरुक्त ४। २)। ध्यानद्वारा छनी हुई नाभिदेशमें स्थित यही सूक्ष्मतर वाणी (नाद) भगवत्स्वरूपको प्रकाशित करती है। ऋषि इसीका आश्रय लेकर मन्त्रद्रष्टा बनते थे और मुनि ज्ञानकी अजस्र धारा बहाते थे। **'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'** के अनुसार साधक शब्दब्रह्ममें निष्णात होकर परा वाक्—परब्रह्मको प्राप्त करता है। जपसे भिन्न पूर्वजन्मके अभ्यासकी एक दूसरी भी अवस्था है, जिसमें साधक परामें अर्थात् शब्द-ब्रह्मसे परे चला जाता है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥
(गीता ६। ४४)

क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वकी ओर अग्रसर होनेके लिये भगवत्तत्त्व समझकर साधकको भगवन्नाम-जपके अभ्यासकी नितान्त आवश्यकता है। यदि उसे योग्य गुरुके निर्देशनके अभावके कारण इस जन्ममें भगवान्का साक्षात्कार हो सका तो इस जन्मके अभ्यासके कारण अगले जन्मोंमें सफलता अवश्य प्राप्त होगी। अतः प्रत्येक व्यक्तिको नामजप करना परम कर्तव्य है।

भगवत्तत्त्व और भगवन्नाम

(लेखक—श्रीकृष्णकान्तजी वज्र)

सृष्टिके प्रारम्भसे ही तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्राणी लालायित रहा है। स्वयं ब्रह्माजीने तत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्रयास किया और तपके द्वारा उन्हें भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति हुई। भागवत २। ९के अनुसार भगवान्ने उन्हें बताया कि मेरे अतिरिक्त जगत्में और कुछ नहीं है। अजन्मा, अजर, अनादि, अद्वितीय, विशुद्ध, सदा एक रूप, चिन्मय संकल्परहित, सत्यस्वरूप वस्तु परमात्मतत्त्व है। इसी तत्त्वकी पूर्ण जानकारीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। भगवती श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केनोपनिषद् २। ५)

इस जीवनमें मनुष्यने ज्ञानद्वारा यदि परमात्मतत्त्वको जान लिया, तब तो उसका जीवन सार्थक है, अन्यथा बड़ी भारी हानि है। वह परमात्मा ही सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है। उपनिषद्के वचन हैं—

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'
(बृहदा० ४। ५। ६)

निदिध्यासनको तत्त्व-साक्षात्कारका उपाय कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (२। ८। १४)में भी इस बातकी पुष्टि की गयी है। ईशावास्योपनिषद्के अनुसार—'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतन-स्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। अतः सांसारिक पदार्थोंका त्यागपूर्वक रक्षण-उपयोग करो, उनमें आसक्त न होओ; क्योंकि भोग्य-पदार्थ किसका है? अर्थात् किसीका भी नहीं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥
(ईशावास्योप० १। १)

होता और ब्रह्मसे ही जीवन धारण करता है। इस संकल्पमय जगत्का नाश संकल्प-त्यागसे हो जाता है। आत्माको आकाशके समान अनन्त और व्यापक जानकर परमात्माके वास्तविक स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मतमें कल्पनाका त्याग कहलाता है। इसीलिये तात्त्विक ज्ञानका आश्रय लेनेवाले आसक्तिरहित महात्माके हृदयमें सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तव्यापन नहीं होता। कर्तव्यमान न रहनेसे अभोक्तृत्वकी सिद्धि होती है और भोक्तृत्वके अभावसे समता और एकताकी सिद्धि होती है। उस समता और एकतासे अनन्तताकी सिद्धि होती है तथा उससे अनन्त नित्य विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

वासनाके द्वारा ही जीव बन्धनमें पड़ता है। वासनाएँ तीन प्रकारकी होती हैं। लोक-वासना, शास्त्र-वासना और देह-वासना। अन्तःकरणमें स्थित जो मनकी वृत्ति है, उसका यह निश्चय कि अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है; इसका विश्वास वासना कहलाता है। वह वासना ही कर्तव्य शब्दसे प्रतिपादित होती है, क्योंकि वासनाके अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टाके अनुसार ही वह फल भोगता है। तत्त्व-ज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञानमें जागता रहता है और वह जागता हुआ भी संसारसे उपरत रहता है। ब्रह्मतत्त्वको जान लेनेपर विद्वान्को पूर्ववत् संसारपर आस्था नहीं रहती। अतः साधक सबके साक्षी और ज्ञान-स्वरूप आत्मामें अपने शुद्ध चित्तको लगाकर धीरे-धीरे निश्चलता प्राप्त करता हुआ अन्तमें सर्वत्र अपनेहीको परिपूर्ण देखे। इसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर प्रयास करना मानवका कर्तव्य है। भगवत्-प्राप्तिके विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषद्के छठे अध्यायके १३ वें मन्त्रमें कहा गया है—**'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।'**

भगवत्प्राप्तिके साधन सांख्य और योग हैं, उनके द्वारा भगवत्तत्त्वको जानकर ही मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त होकर शान्तिको प्राप्त होता है। भगवद्गीता (३ । ३) में भी सांख्य और योगका दो स्वतन्त्र निष्ठाओंके रूपमें वर्णन किया गया है—श्रीमद्भागवतमें सांख्य और योगका समस्त सार बताते हुए हंसरूपमें भगवान् कहते हैं कि इस संसारमें मेरे सिवा कुछ नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे यों समझो कि मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा दूसरी इन्द्रियोंसे जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ वस्तु है ही नहीं। अतः भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये सर्वत्र भगवान्को या आत्मस्वरूपको देखना साधकका प्रथम कर्तव्य है। इस कार्यकी पूर्ति-हेतु भगवान् कृष्ण उद्धवसे कहते हैं 'समस्त कर्म मुझे समर्पित करनेसे और कर्म करते हुए मेरे नामका जप करनेसे इष्टकी प्राप्ति होती है' भगवान्के नामकी महिमा अपार है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल नाम सनेहू॥

मनुष्य भगवान्के नामके उच्चारण करनेमात्रसे ही कलिसे तर जाता है—**'भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति।'**
(कलिसंतरणोपनिषद्)

बृहन्नारदीय पुराणमें भी इस बातकी पुष्टि की गयी है कि भवसागर पार होनेके लिये नामजप ही आवश्यक है (३८ । १२७)। ऋग्वेद (१ । ८९ । ८) तथा सामवेद (उ० २१ । १ । २)में भी भगवन्नाम सुनने और कीर्तन करनेका महत्त्व बताया गया है—**'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम।'** अथर्ववेदमें भगवान्के यशको सुननेका आदेश दिया गया है—**'भद्रं श्लोकं श्रूयासम्'**। (१६ । २ । ४)

गीता (१० । २५)में भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं जपयज्ञ हूँ । अग्निपुराणमें जपकी व्युत्पत्तिमें कहा गया है—'जन्म और जन्मके हेतु पापका नाश करनेके कारण इसे 'जप' कहा जाता है ।' जपमें किसी मन्त्रको या नामको उसके अर्थकी भावना करते हुए बारंबार भीतर-ही-भीतर दोहराया जाता है । जपके द्वारा मनुष्य प्रभुको सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेता है ।

विष्णुपुराणमें कहा गया है कि जितने भी तपस्यात्मक और कर्मात्मक प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें भगवान् कृष्णका स्मरण ही महान् प्रायश्चित्त है । वामनपुराणमें जपकी महिमा बताते हुए बताया गया है कि जिस भाग्यशाली मनुष्यकी जिह्वापर हरि इन दो अक्षरोंवाला भगवान्का नाम विराजमान रहता है, उनके लिये गङ्गा, गया, सेतुबन्ध-रामेश्वर, काशी एवं पुष्कर तीर्थका कोई महत्त्व नहीं है । बाइबिलमें भी नामका महत्त्व है । दसवें रोमनकी तेरहवीं धारामें कहा गया है—'जो लोग प्रभुका नाम लेंगे, वे मुक्त हो जायँगे।' प्रत्येक नामका अर्थ वह परमात्मा ही है । प्रत्येक नाम उनका वाचक है और वे ही प्रत्येक नामके वाच्य हैं । नामोंका शाब्दिक अर्थ पृथक्-पृथक् प्रतीयमान होनेपर भी तात्पर्यार्थ वही एक अद्वितीय सर्वकारण सर्वमङ्गलालय, अनन्त गुणाधार, अनन्त करुणा-महार्णव, परम तत्त्व है । वे ही विश्वकी आत्मा हैं, सब जीवोंकी आत्मा हैं ।

नाम और रूपसे ही जगत्की समस्त वस्तुओंका बोध होता है । नाम और रूप प्रभुका ही स्वरूप है, इसीलिये गोस्वामीजीने कहा है कि—

'नाम रूप दोउ ईस उपाधी' आदिके अनुसार नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है । परब्रह्म परमात्मा राम जो काम नहीं कर सके, वह काम उनके नामके प्रभावसे हुआ है । नामकी ताकत ब्रह्मरूप होनेके कारण बहुत अधिक है । जपके द्वारा ही आजतक महापुरुषोंने भगवान्को पाया है और आत्मदर्शन किया है । जपके तीन प्रकार हैं, पर मानसिक जपका महत्त्व अधिक है । जप और ध्यानसे ही योगकी सिद्धि होती है । योगके द्वारा ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटिको नष्ट कर साधक अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है । सांसारिक और पारलौकिक सुखकी प्राप्ति भी जपके प्रभावसे सुलभ हो जाती है ।

जप करते-करते साधक जिस नामका जप करता है वह उसके तदाकार हो जाता है । भगवन्नामके जपका प्रभाव अनन्त है, इसके प्रभावसे, भगवान्के अनुग्रहसे साधकको यह ज्ञान होता है कि संसारमें प्रकृति कार्य करती है और भगवान् उस प्रकृतिको इच्छानुसार नचाते हैं । प्रकृति भी भगवान् है, प्रकृति और भगवान्में कोई अन्तर नहीं है । इसी बातको साधक अपने जपके रूपके अनुसार सीताराम, राधाकृष्ण, शिवाशिव या अन्य शक्ति और शक्तिमान्के रूपमें देखकर प्रसन्न होता है । सीयराममय जगत् देखनेके कारण साधक प्रकृतिको सीता और प्रकृतिप्रेरकको राम समझकर प्रसन्न हो जाता है । अपना अस्तित्व नष्ट कर प्रभुको आत्म-समर्पण करनेके बाद साधक इस स्थितिको प्राप्त हो जाता है । जपके प्रभावसे ही प्रभुकृपाके द्वारा साधकको यह ज्ञान होता है कि प्रकृति और पुरुषके रूपमें एक भगवान् ही विराजमान हैं । अतः वह अपने भगवान्की झाँकीको हर जगह निहारता है । संसारके प्रत्येक रूपमें, प्रकृतिके प्रत्येक कार्यकलापमें वह अपने प्रभुको निहारकर आनन्दित होता है । जपके प्रभावसे ही उसे यह भान होता है कि मैं स्वयं भगवान्का रूप हूँ, फिर तो वह मन-ही-मन अपने और भगवान्की एकताका अनुभव करता है ।

अतः आत्मानन्द प्राप्त कर परमानन्दके सागरमें अपना अस्तित्व समाप्त कर तल्लीन होनेके लिये जपकी विशेष आवश्यकता है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें अमृतमय जीवनका पथ

(लेखक—प्रो० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य, एम्० एस्० सी०, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न)

'तैत्तिरीय ब्राह्मण'में यह कथा आती है कि महर्षि भरद्वाजने अपना सम्पूर्ण जीवन वेदाध्ययनसे तपोमय बना लिया। उनके तपसे प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र प्रकट हुए और उन्होंने महर्षि भरद्वाजसे पूछा—'महर्षे! यदि आपका एक और जन्म प्राप्त हो तो आप क्या करेंगे? महर्षिने उत्तर दिया कि मैं उस जीवनमें भी तप और वेदाध्ययन करूँगा।' तब देवराज इन्द्रने पुनः प्रश्न किया कि 'महर्षे! यदि आपको तीसरा जन्म भी मिले तो आप क्या करेंगे?' भरद्वाजने कहा—'मैं फिर तप और वेदोंका स्वाध्याय करूँगा।' तब इन्द्रने भरद्वाजके समक्ष तीन पर्वत प्रकट किये। इन्द्रने प्रत्येक पर्वतसे एक मुट्ठीभर पत्थर लेकर कहा—भरद्वाजजी! आपने आजतक जो अध्ययन किया है और आगेके जन्म-जन्मान्तरोंमें जो कुछ अध्ययन करेंगे वह इन विशाल पर्वतोंकी तुलनामें इन लघु प्रस्तरोंके तुल्य हैं। वेद तो अनन्त हैं—**'अनन्ता वै वेदाः'** (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।११।४)।

तथापि वेदोंकी इस अनन्त ज्ञानराशिके मूलमें एक ऐसा सूत्र भी है; जिसके अनुसार आचरणसे मनुष्य एक ही जन्म क्या, एक क्षणमें ही समस्त वेदोंके सारको जान सकता है। वह सूत्र है—आत्माको ईश्वर जान लेना। वेद स्वयं कह रहे हैं कि परमात्माके यथार्थ स्वरूपको बतलानेके अतिरिक्त वेदोंका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है और जो पुरुष, चाहे वह वेदोंका कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, ईश्वरमें श्रद्धा नहीं रखता, उसका समस्त वेदाध्ययन निष्फल ही है—

'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋग्वेद १।१६४।३९)।

भारतके प्राचीन ऋषियोंने ज्ञानके महासमुद्रका विलक्षण मन्थन किया है; उन्होंने न केवल आध्यात्मिक दिव्य तत्त्वोंको, अपितु सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तनको तात्त्विक विवेचनका विषय बनाया। अतः इस देशमें धर्मानुसार अर्थ एवं कामकी प्राप्ति करते हुए आत्मिक आनन्द और शान्ति (मोक्ष)को प्राप्त करना ही जीवनका आदर्श तरीका माना गया है। आजके संघर्षमय जीवनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टयमें सामञ्जस्य रखनेके लिये सृष्टिकर्ता प्रभुकी शरणमें जाकर अहरहः शक्ति-सम्पादन करना आवश्यक है, नहीं तो जीवनके लिये आवश्यक वस्तुओंको प्राप्त करनेकी होड़में पाश्चात्त्य जीवनमें बढ़ रहे उतावलेपन, अशान्ति और भाग-दौड़के कारण हम भी भारी मानसिक तनावके शिकार बन जायँगे। पाश्चात्त्य संस्कृति केवल बाहरी चमक-दमक और भौतिक उन्नतिकी ओर दौड़ रही है, जिसके फलस्वरूप वहाँकी अधिकतर जनता संत्रस्त हो चुकी है। किंतु ऐसी एकाङ्गी लौकिक उन्नतिसे मनुष्य दुःखी हो रहा है। वस्तुतः मनुष्यकी बहुमुखी उन्नति तभी हो सकती है, जब उसमें लौकिक और पारलौकिक, सांसारिक और आत्मिक—दोनों प्रकारकी उन्नति समानरूपसे हो; अतः सच्चा धर्म तो वही है, जिसका उपदेश महर्षि कणादने किया है—**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'**

अर्थात्—'धर्म वही है, जिसमें मनुष्यकी सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति एक साथ हो।' ऋषियोंके इस आध्यात्मिक चिन्तनके मूलमें एक और सूत्र—**'यत्पिण्डे तदेव ब्रह्माण्डे'** विद्यमान है, जिसके अनुसार विश्वसृष्टिका जो सत्य है, वही मानवके अध्यात्मका सत्य है। इसी दृष्टिसे ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मन्त्रोंकी पृथक्-पृथक् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक व्याख्याएँ हैं और उनमें बतलाया गया है कि विराट् सृष्टिमें जो नैसर्गिक नियम कार्य कर रहे हैं वे ही इस वामनीभूत

नरदेहमें निष्पन्न हो रहे हैं। जो वामन (Microcosm) है, वही विष्णु (Macrocosm) भी है—

'वामनो हि विष्णुरास' (शतपथब्रा० १ । २ । ५ । ५)

अर्थात्—'जो वामनरूपसे दृष्टिगोचर हुआ वह यथार्थमें अपने विराट्रूपमें विष्णु था।' उदाहरणके लिये यदि हम परमाणुकी रचनापर आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो उसमें अनेक 'इलेक्ट्रान' विभिन्न कक्षाओंमें प्रोटान और न्यूट्रानोंसे बने एक केन्द्रक (Nucleus) के चारों ओर उसी प्रकार परिभ्रमण कर रहे हैं जिस प्रकार सौरमण्डलमें ग्रह अपनी-अपनी कक्षाओंमें सूर्यकी परिक्रमा कर रहे हैं। इस प्रकार परमाणुकी सूक्ष्मता या उसका बौनापन बाहरी दिखावट भर है, वस्तुतः वह अति शक्तिशाली है। उसके भीतर अपरिमेय शक्तिका स्रोत है जिससे आधुनिक वैज्ञानिक भीषण परमाणुकी विस्फोटों और विशाल बिजलीघरोंकी रचना कर रहे हैं। यही नहीं, इस वामनरूप परमाणुकी रचना या जीवनकी लघुतम ईकाईकोशिका (Cell) की रचना इतनी जटिल और सूक्ष्म है कि अनगिनत तारों, नीहारिकाओं और आकाशगङ्गाओंसे व्याप्त इस अनन्त-विश्वकी रचनाके समान वह भी इतनी जटिल और रहस्यमयी है। उसके यथार्थरूपको समझ पाना वैज्ञानिकोंके लिये आज भी असम्भव है। अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्डकी रचना और भौतिक जगत्के घटक एक परमाणु या सजीव जगत्की रचना की एक कोशिकामें घनिष्ठ सामञ्जस्य है; इसलिये सूक्ष्म दूरबीनसे भी न देखा जा सकनेवाला परमाणु भी मानो हाथ उठाकर घोषणा कर रहा है कि—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
(काण्वयजुः० ४० । १६)

अर्थात्—'जो पुरुष विराट् ब्रह्माण्डमें विद्यमान है, वही हमारे भीतर भी है।' इसी प्रकार विशाल सृष्टिका निर्माण कर रहे सभी विराट् देवोंके प्रतिनिधि मानवके इस वामन शरीरकी विभिन्न इन्द्रियों और अंगोंमें भी विद्यमान हैं। इसलिये मानव-शरीरको देवसभाकी उपमा दी जाती है; परंतु यह देवसभा भी इस शरीरके अधिपति इन्द्र-(आत्मा-)के बिना कार्य नहीं कर सकती। इस सुरपति-इन्द्रके बिना यह देवसभा निस्तेज और जड़ बन जाती है। दूसरी ओर जबतक इन्द्रको अपनी शक्तियोंका ज्ञान या आत्मज्ञान नहीं होता तबतक वह आसुरी पशुवृत्तियोंका दास बना रहता है और असुर इसे बराबर हराते रहते हैं—**'स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञौ, तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञौ, अथ हत्वासुरान् विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैति ॥'** (कौषीतकिब्रा० उ० ४ । २०)

अर्थात्—'जब इन्द्र-(आत्मा-) को अपना ज्ञान हो गया, तब असुरोंको हराकर वह सब देवोंके शरीरमें विद्यमान प्रतिनिधि इन्द्रियोंका अधिपति बन गया और उसने श्रेष्ठता एवं स्वाराज्य प्राप्त किया।' सच्चे अर्थमें इस आत्मिक स्वाराज्यको प्राप्त करनेके लिये आत्माको यह समझ लेना आवश्यक है कि वह उस सर्वशक्तिमान् ईश्वरका अमर पुत्र है, उसकी सहायता और शक्ति सदा उसके पीछे है। इन्द्रियोंके अतिरिक्त जीवको प्रभुने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—अन्तःकरण दिये हैं और अनन्त सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी उस अमृत ब्रह्मतेजके साथ अपने अन्तःकरणके सूत्रकी धाराको संयुक्त करनेको ही वैदिक साहित्यमें 'संज्ञान' कहते हैं। संज्ञान प्राप्त करनेपर ही 'हे आत्मन्! तू इन्द्र है, तू इस शरीरका स्वामी बन जाता है और इन देवों-(इन्द्रियों-) पर शासन करता है।' ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार सब देवोंमें इन्द्र सबसे अधिक ओजस्वी, बलवान् और साहसी है, वह सबसे ज्यादा दूरतक पार पहुँचानेवाला है—

स (इन्द्रः) वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः। (ऐत० ब्रा० ७ । १६)

यदि हम आत्माकी शक्तिको, अपने भीतर-बाहर अपरिमित, अनिर्वचनीय दिव्य भूमासे भरे अमृतमय समुद्रकी शक्तिसे सम्पन्न अनुभव करें तो कभी भी अपनेको दीन-हीन माननेका कोई कारण नहीं है; क्योंकि ब्रह्माण्डके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक कोशिकामें व्याप्त सर्वनियन्ता ब्रह्मपुरुषको जब इन्द्र इस शरीरमें अपने चारों ओर व्याप्त अनुभव करता है, तभी वह इस यथार्थ दर्शनके कारण 'इन्द्र' कहला सकता है। जीवनके संग्राममें और अध्यात्म-साधनाके पथमें हम तभी प्रतिदिन अग्रसर होते हुए मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, जब हम अपनेको अल्पता, जड़ता और मृत्युसे सर्वथा पृथक् मानकर अपने अन्तःकरणमें सतत अमृतत्वकी भावना करें। हमारे भीतर-बाहर निवास करती विराट् दैवी शक्तियोंके द्वारा हमारा सूत्र ज्ञानरूप चित्-शक्ति और आनन्दरूप अमृतब्रह्मके साथ मिला हुआ है। इसी भावनाको जाग्रत् करनेके लिये नित्यप्रति यह शिवसङ्कल्प करना चाहिये—

अग्निर्मे वाचि श्रितः। वाग्घृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ १ ॥ वायुर्मे प्राणे श्रितः। प्राणो हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ २ ॥ सूर्यो मे चक्षुषि श्रितः। चक्षुर्हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ ३ ॥ चन्द्रमा मे मनसि श्रितः। मनो हृदये। (शेषं पूर्ववत्) ॥ ४ ॥ दिशो मे श्रोत्रे श्रिताः। श्रोत्रं हृदये। (शे०पू०) ॥ ५ ॥ आपो मे रेतसि श्रितः। रेतः हृदये। (शे०पू०) ॥ ६ ॥ पृथिवी मे शरीरे श्रिता। शरीरं हृदये। (शे० पू०) ॥ ७ ॥'''पुनर्म आत्मा पुनरायुरागात्, पुनः प्राणः पुनराकूतमागात् ॥ वैश्वानरो रश्मिभिर्वावृधानः अन्तस्तिष्ठत्वमृतस्य गोपाः॥ (तैत्तिरीयब्रा० ३। १०। ८)

अर्थात्—'विराट् संसारमें जो अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी आदि देवता विद्यमान हैं, उन्हींके प्रतिनिधियों-वाक्, प्राण, चक्षु, मन, श्रोत्र, रेत आदिसे यह शरीर शोभायमान है। इन देवोंका विज्ञानात्मक अधिष्ठान बुद्धितत्त्व-(हृदय) में है। विज्ञानात्मक तत्त्व चैतन्य मुझमें अधिष्ठित है। शरीरको चैतन्य प्रदान करनेवाला आत्मा अमृत अर्थात् अविनाशी अक्षर परमात्मामें प्रतिष्ठित है। वह अमृत अक्षर ही ब्रह्म है। मेरे हृदय, आयु, प्राण, मन (आकूत अर्थात् संकल्प) सब पुनः सशक्त हों। उनकी खोयी हुई शक्तिको मैं अमृत-स्रोतके साथ एकत्व कर प्राप्त करूँ। अमृत सूर्यकी किरणोंमें वर्तमान मेरा वैश्वानर आत्मा अमृतत्वका रक्षक हो। मैं अमृतत्वका आकाङ्क्षी हूँ; मैंने मृत्युको परे ढकेल दिया है तथा इन शिवसङ्कल्पोंके दृढ़ पारायणसे मैं प्रतिदिन अमृतत्वकी ओर बढ़ रहा हूँ।

इस प्रकार जो व्यक्ति सतत जागरूक होकर अपने हृदयको दिव्य विचारोंके आशामय चिन्तनसे आलोकित करते रहते हैं, जो अहर्निश ईश्वरीय शक्तिसे अपने शरीर, मन और आत्माको पूर्णतः भर लेते हैं, उन्हें ही ईश्वरका सामीप्य प्राप्त होता है। उनके भीतर उदात्त विचार, उल्लास, साहस, निर्भीकता, पवित्र प्रेमकी धाराएँ हिलोरे खाती हैं और वे उन्नति, स्वास्थ्य, आरोग्य और दीर्घायुष्यको प्राप्त करते हैं। ऐसे पुरुषोंके लिये ही वेद भगवान्का उपदेश है कि 'प्रभुके अमरपुत्रो! अपने हृदयकी वाणीको सुनो और उससे रिस रहे अमृत ज्ञानरूपी रसका पान करो'—**'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥'** (ऋ० १० । १३ । १)

श्रद्धायुक्त ध्यान, प्रार्थना और आत्मसमर्पणकी भावनासे जब हम अपने मनको भक्तिपूर्वक ईश्वरीय शक्तिकोशसे जोड़ देते हैं, तब हमें दिव्य स्फूर्ति प्राप्त होती है। यह स्फुरण उनके लिये है जिनके हृदयमें देवका धाम है, जिन्हें अमृत और अनिर्वचनीय भावोंमें दृढ़ आस्था है। ईश्वरीय शक्ति और ज्ञान विश्वाकाशमें अनन्त और अनादिरूपसे भरी हुई है। वह नित्य, सर्वगत और सर्वव्यापी है। फिर भी हरेक व्यक्ति उससे

क्यों दूर है। उस ईश्वरीय-वाणीके मार्मिक स्वरोंको सुननेके लिये कुछ आन्तरिक साधना एवं पवित्र्यकी आवश्यकता है। जब इन्द्रियासक्ति और ईर्ष्या-द्वेषके कुसंस्कारोंका जंग हृत्तन्त्रीके तारोंसे दूर हो जाता है और उससे निःसृत रेडियोकी तरंगें विश्वात्माके रेडियोसे समस्वर और समताल हो जाती हैं तब वे स्वर हमें सहज सुनायी देने लगते हैं। उपर्युक्त वेदवाणीमें वर्णित अमृततत्त्वके साथ ध्यानशक्ति अनिवार्य है और उस ज्ञानसूर्यकी रश्मियोंको आत्मसात् करनेके लिये अपनेको दिव्य आचार-विचारमें ढालना आवश्यक है। इसी कारण वैदिक शब्दोंका निर्वचन करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर कहा गया है कि **'स एवं भवति, य एवं वेद'** अर्थात्—'जो ऐसा जान लेता है वह ऐसा ही बन जाता है।' ज्ञानके अनुसार आचरण ही जीवन है। ज्ञान और जीवनकी इस अभेद स्थितिके बिना सत्य और अध्यात्मकी प्राप्ति तो दूर रही, साधारण जीवनमें भी हमारी प्रगति नहीं हो सकती। करनी और कथनीके भेदके कारण ही हमारे नैतिक मूल्योंमें गिरावट आयी है। हमारे आदर्श और जीवनमें आकाश-पातालका अन्तर ही हमारी आत्मिक उन्नतिमें ही नहीं, हमारी सामाजिक और राष्ट्रिय समस्याओंके मूलमें भी विद्यमान है। क्या हम अपने ही जमानेमें आचार और विचारके एकीकरणका सच्चा आदर्श उपस्थित करनेवाले आत्मिक और राष्ट्रिय जीवनमें अन्तर्नाद अथवा 'भीतरकी आवाज' के अनुसार दृढ़ताके साथ चलनेवाले महात्मागाँधीके पदचिह्नोंपर चलनेका शिवसंकल्प कर सकेंगे! यदि हम ऐसा कर सकें तो निःसंदेह हमारा जीवन अमृतमय बन सकता है।

पाञ्चरात्र आगममें भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल, एम०ए०, पी-एच्० डी०)

भ्रमरूप अन्धकारको दूर करनेके लिये 'नारदपाञ्चरात्र' ग्रन्थ दीपकके समान है।[1] पाञ्चरात्र शास्त्रके क्षेत्रमें 'रात्र' शब्दका अर्थ ज्ञान है। यह ज्ञान पाँच प्रकारका है, इसीलिये यह भागवत-मत-पोषित ग्रन्थ 'पाञ्चरात्र' कहा जाता है। भगवान् 'आदिनारायण'ने ब्रह्माके माध्यमसे देवर्षि नारदको इसका व्याख्याता बनाया है। यह मूर्तिमान् भागवत-ज्ञान है। एक प्रकारसे यह ईशकृपाका ही वाङ्मय है। पाञ्चरात्र आगमके भक्ति-मूलक सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करनेवाले मानव-जन्म, जरा तथा आधि-व्याधिके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। यही प्रथम रात्रज्ञान है। दूसरा ज्ञान है मोक्ष-परायण मुमुक्षुओंकी भगवान्‌के भवभयहारी चरणोंमें एकान्त अनुरक्ति अथवा शरणागति। तीसरा रात्र है—मङ्गलमय श्रीकृष्णका भक्तिप्रद दास्यभाव। चौथा रात्र है—सर्वसिद्धिप्रद यौगिकज्ञान। पाँचवें रात्र या ज्ञानका रूप है—संसारका स्वरूप-विवेचन। इसके प्रति निर्वेद, विरक्ति एवं त्यागद्वारा भागवत-जीवनका अनुष्ठान[2] होता है अथवा यों कहें कि यह ब्रह्म, मुक्ति, भोग, योग और संसार—इन पाँच विषयोंका रात्र है। उपदेष्टा नारदने अपने जीवनमें उक्त धर्मका आचरण करते हुए आधि-व्याधि-

---

१-पाञ्चरात्रमिदं शुद्धं भ्रमान्धध्वंसदीपकम्। (नारदपाञ्चरात्र १।१।४३)

२-'ज्ञानं परमतत्त्वं च जन्ममृत्युजरापहम्। ज्ञानं द्वितीयं परमं शुद्धं मुक्तिप्रदं नृणाम्॥ ज्ञानं शुद्धं तृतीयं च यतो दास्यं लभेद्धरेः। चतुर्थं यौगिकं ज्ञानं सर्वसिद्धिप्रदं परम्॥ सर्वस्वं योगिनाम् .... । सिद्धानां च सुखप्रदम्, ज्ञानं च तद् वै वैषयिकं नृणाम्।'

(नारदपाञ्चरात्र, प्रथम रात्रके प्रथम-अध्यायके ४३वेंसे ५२वें श्लोकोंमें वर्णित है)।

पीड़ित विश्वके लिये भी इस श्रेष्ठ धर्म अथवा भागवत-ज्ञानका निर्वचन किया।

पाञ्चरात्र-शास्त्रके ज्ञानका सिद्धान्तरूपमें विस्तारसे विवेचन महाभारतके जनमेजय और वैशम्पायनके संवाद-रूपमें शान्तिपर्वके ३४८वें और ३४९वें अध्यायोंमें उपलब्ध होता है। इसके द्वारा पाञ्चरात्र तथा वैदिक परम्परापर भी प्रकाश पड़ता है। यह पाञ्चरात्र अथवा भागवतधर्म ऋग्वेदमें भी वर्णित है।[3]

भगवान्की कृपादृष्टि किं वा शक्ति, शरणागतिकी प्रपन्नताके तात्त्विक स्वरूपका भगवदनुग्रहकी अनुभूति एवं वैष्णवताका विवेचन पाञ्चरात्रमें है। भगवान् भक्तानुग्रह-कातररूपमें ही यहाँ देखनेको मिलते हैं। इस पाञ्चरात्रके प्रतिपाद्य नारायण अथवा वासुदेव श्रीकृष्ण हैं। यह विभु-परात्पर प्रभु भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये सदा विह्वल बने रहते हैं।[4]

नारद-प्रोक्त पाञ्चरात्रमें श्रीकृष्णकी भक्तवत्सलता, भावोद्रेककी तरलता एक साथ परिलक्षित होती है। जिसके रक्षक वे नित्य, सत्य, निर्गुण, ज्योतिरूप, सनातन प्रकृतिसे परे श्रीकृष्ण हैं, उसका सदा कल्याण होता रहता है।[5]

नारदपाञ्चरात्रमें भगवान्का भक्तानुग्रहकारक, सुखनिधान, सौन्दर्यनिधि 'शिव'स्वरूप ही निरूपित हुआ है।[6] भगवत्कृपाकी अनुभूतिके पथमें प्रपन्नता-अकिंचनता अक्षय पाथेय हैं। निष्काम 'भक्तियोग'से ही यह पाथेय मिलता है। अतः महादेवजी यहाँ नारदको 'राधापति', 'त्रिगुणातीत' श्रीकृष्णकी उपासनाका आदेश और उपदेश देते हैं।[7] नारदपाञ्चरात्रमें मुक्तिके अनेक साधन बताये गये हैं। उनमें हरिनाम-जप, हरिनाम-कीर्तन, कृष्णार्पण-कर्म, गुरुकृष्ण-पूजा, माता-पिता तथा गुरुकी सेवा, इन्द्रियनिग्रह, संन्यास, पाञ्चरात्र-श्रवण तथा नारियोंके लिये पतिसेवाव्रत प्रमुख हैं।[8]

नारदपाञ्चरात्रका एक असाधारण भक्तिपरक श्लोक इस संदर्भमें उद्धृत करनेका लोभ-संवरण नहीं हो रहा है; देखिये—

नाराधितो यदि हरिर्येन पुंसाधमेन च।
किं तस्य तपसा व्यर्थं निष्कलं तत्परिश्रमम्॥
भक्तप्राणो हि कृष्णश्च कृष्णप्राणा हि वैष्णवाः।
ध्यायन्ते वैष्णवाः कृष्णं कृष्णश्च वैष्णवांस्तथा॥[9]

सम्पूर्ण पाञ्चरात्रमें भगवान्के कृपावत्सल स्वरूपके दर्शन होते हैं।[10]

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नारदपाञ्चरात्रका वैष्णव साहित्यमें अन्यतम स्थान है और इस ग्रन्थमें भगवत्तत्त्वकी ही मीमांसा है।

३—'ऋग्वेदपाठपठितम्', महा० शान्ति० ३४९। २२।

४—वन्दे वन्द्यं च महतां परात्परतरं विभुम्। स्वात्मारामं पूर्णकामं भक्तानुग्रहकातरम्॥

५—'रक्षिता यस्य भगवान् कल्याणं तस्य संततम्।' (नारदपाञ्च० १। १४। ४)

६—'सुखं दृश्यं सुरूपं च भक्तानुग्रहकारकम्।' (तत्रैव १। ३। ७४)

७—'भज सत्यं परं ब्रह्म राधेशं त्रिगुणात्परम्।' (नारदपाञ्च० २। २। १००)

८—नारदपाञ्चरात्र २। ७। ५। ५०। ९.—नारदपाञ्चरात्र १। २। २७, २६।

१०—न त्वपरः सत्यवादी दयावान भक्तवत्सलः। (नारदपाञ्चरात्र २। ३। १०)

ज्योतिषशास्त्रमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीनागेन्द्रजी पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य (सिद्धान्त एवं फलित) स्वर्णपदकप्राप्त, विद्यावारिधि, पी-एच्० डी०)

वेद ज्ञानके सागर कहे गये हैं। अन्य समस्त ज्ञान-विज्ञानके स्रोत भी इन्हीं सारतत्त्वसे अनुप्राणित हैं। भगवान् वेदपुरुषके षडङ्गके रूपमें जिन छः वेदाङ्ग शास्त्रोंका वर्णन है, उनमें ज्योतिषशास्त्रको वेद पुरुषका नेत्र कहा गया है। सभी अङ्गोंमें नेत्र ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि मानवके समस्त व्यापार, नेत्रोंके सहारे ही सुचारु-रूपसे संचालित होते हैं। अतः चक्षुभूत ज्योतिषशास्त्रमें परम महत्त्वपूर्ण भगवत्तत्त्वका किस प्रकार विवेचन किया गया है, यह जानना आवश्यक है। यही प्रस्तुत निबन्धका प्रतिपाद्य विषय है।

ज्योतिषशास्त्रके सिद्धान्तग्रन्थोंमें 'सूर्यसिद्धान्त' विशेष प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें ईश्वरतत्त्वका विवेचन करते हुए स्वीकार किया गया है कि 'ब्रह्म'के द्वारा ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत् विश्व और ब्रह्माण्डका प्रादुर्भाव हुआ। ग्रन्थके प्रारम्भिक मङ्गलाचरणमें ही कहा गया है—

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने।
समस्तजगदाधारमूर्तये ब्रह्मणे नमः॥

(सूर्यसि० १-१)

'समस्त जगत्के आधारभूत अचिन्त्य, अव्यक्त और निर्गुण तथा सगुणरूप ब्रह्मको नमस्कार है।' इस प्रकार यहाँ वासुदेवको ही ब्रह्म एवं जगत्का आधार माना गया है। इसी ग्रन्थमें सृष्टिके रहस्यका वर्णन करते हुए भगवान् सूर्यने जिस अध्यात्मतत्त्वका उपदेश किया है, उसमें भी स्पष्ट कहा है—

वासुदेवः[1] परं ब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः।
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात् परोऽव्ययः॥

(सूर्यसि० १२। १२)

'वह परम ब्रह्म वासुदेवरूप प्रधान पुरुष (पुरुषोत्तम) अव्यक्त, निर्गुण, शान्त तथा पचीस तत्त्वोंसे परे हैं। आगे यह स्पष्ट किया गया है कि इसी ब्रह्मसे इस सृष्टिका सर्जन हुआ है। इसका क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

वासुदेव (स्वयं ब्रह्म),
सूर्य (अनिरुद्ध नामक वासुदेवांश),
ब्रह्मा (अहंकार तत्त्वसे जगत्स्रष्टा)।

इसी ब्रह्मासे चन्द्र सूर्य, पञ्चमहाभूत और समस्त चराचर विश्वका निर्माण हुआ है। (सूर्यसि० १२। १२। २१)

ज्योतिषशास्त्रके सुप्रसिद्ध विद्वान् भास्कराचार्य (द्वितीय) हुए हैं। उन्होंने इस चराचर विश्व और ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

यस्मात् क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भे-
ऽहंकारोऽभूत् खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च।
ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरञ्चे-
र्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत् तत्त्वमाद्यम्॥

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश २। १)

इसका तात्पर्य यह है कि 'आद्य तत्त्व वह परम ब्रह्म है, जिससे सभी तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। वह तत्त्व वासुदेवरूप है। जब उसकी सृष्टिकी इच्छा होती है, तब उससे संकर्षण नामक अंशकी उत्पत्ति होती है। यह संकर्षण प्रकृति और पुरुषमें क्षोभ उत्पन्न करता है। प्रकृति-पुरुषके क्षोभसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व बुद्धिरूप होता है और उसीका नाम प्रद्युम्न है। इस प्रद्युम्न नामक महत्तत्त्वसे अनिरुद्ध नामक अहंकारकी उत्पत्ति होती है। वैष्णवमतमें

१- वसति विश्वमखिलमस्मिन्निति वा विश्वस्मिन्नखिले वसतीति वासुः, दिव्यति—भासते स्वयमिति देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति— वासुदेवः—विश्वव्यापको विभुरित्यर्थः।

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन मूर्तिभेदोंका विशेष महत्त्व है। अहंकार गुणके विभागसे तीन प्रकारका होता है जिसमें सत्त्व, रज और तमसे क्रमशः वैकारिक, तैजस और भूतादिकी उत्पत्ति होती है। इस क्रमका विष्णुपुराणमें स्पष्ट वर्णन मिलता है।*

इस प्रकारसे विष्णुपुराणके अनुसार ही ब्रह्मतत्त्वका विवेचन ज्योतिषशास्त्रके अन्तर्गत है, जो सांख्यदर्शनसे प्रभावित है। आचार्य वराहमिहिरने जगदुत्पत्तिके सभी प्रचलित मतोंका उल्लेख करते हुए परम-तत्त्वका विवेचन प्राचीन दार्शनिकोंपर ही छोड़ दिया है। महर्षि कपिल-प्रतिपादित सांख्यतत्त्व, कणादप्रतिपादित पदार्थतत्त्व, (अणु) पौराणिक मतसे कालतत्त्व, लोकायतिक स्वभावतत्त्व तथा मीमांसकोंके कर्मतत्त्वका उल्लेख करते हुए विश्वके कारणभूत तत्त्वके निश्चयमें अपना कोई मन्तव्य नहीं दिया है।†

इस प्रकारसे ईश्वरतत्त्वके प्रतिपादनमें विष्णुपुराण, सांख्यमत इत्यादिके अनुसार ही ज्योतिषका मत है, जिसमें ब्रह्म इस निखिल ब्रह्माण्डका रचयिता एवं नियन्ता है।

दूसरा मत ज्योतिषके 'काल'के सम्बन्धमें है। कालको भी ईश्वरके रूपमें अनादि, अनन्त तथा व्यापक, विभु माना गया है। 'सूर्यसिद्धान्तकार' कहते हैं—**'लोकानामन्तकृत् कालः'**‡ अर्थात्—काल समस्त लोकोंका अन्त करनेवाला है। ज्योतिष-शास्त्रका एक अन्य प्रसिद्ध वचन इस प्रकार है—

कलाकाष्ठादिरूपेण निमेषघटिकादिना।
यो वञ्चयति भूतानि तस्मै कालात्मने नमः॥

'जो कला, काष्ठा, निमेष और घटीके रूपमें प्राणियोंको छलता जाता है—मृत्युके समीप पहुँचाता है), उस कालात्माको नमस्कार है। कालकी महत्तामें यह प्रमाण भी उपलब्ध होता है कि—

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव सहात्मना।
काले सपक्वस्तेनैव सहाऽव्यक्ते लयं व्रजेत्॥

इस प्रकार कालको भी एक विश्वनियन्ताके रूपमें प्रतिष्ठापित किया गया है। इसी कालको भगवत्तत्त्वके रूपमें देखते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ कालु जासु कोदंड॥

(श्रीरामचरितमानस लंकाकांड दोहा १)

भगवत्तत्त्वके विवेचनमें ज्योतिषका तीसरा पक्ष बहुत ही महत्त्वका है, जिसमें 'शून्य' को परमब्रह्म-तत्त्व या भगवत्तत्त्वके रूपमें अङ्गीकार किया गया है। 'शिव' धातुसे 'क्त' प्रत्यय लगकर 'शून' शब्द बनता है और इसी 'शून' से शून्य शब्द निर्मित है, जिसका अर्थ है—स्फीत, वर्द्धित, विस्तृत। इसी अर्थमें वेदका यह प्रयोग है—**'मा शूने अग्ने नृणाम्'** (७। १। ११) ब्रह्म शब्द भी बृह् (भ्वा०) धातुसे 'मनिन्' प्रत्ययकर इसी वर्धित अर्थमें बना है, जो शून्य शब्दके अर्थसे साम्य रखता है। शून्यके पर्यायवाची शब्द हैं,—ख, आकाश, व्योम, नभ, अनन्त और पूर्ण; और, ये ही शब्द ब्रह्मके लिये भी अनेक स्थानपर मिलते हैं; जैसे—बृहदारण्यक उपनिषद्में—**'खं ब्रह्म'**, तन्त्रग्रन्थमें—**'शून्यं तु सच्चिदानन्दं शब्दं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्।'** शून्यका गणितीय महत्त्व यह है कि—(क) शून्य वह है, जो स्वयं कोई संख्या नहीं, परंतु सभी संख्याओंका वर्द्धक एवं बौद्धोंकी दृष्टिमें आदि भी जैसे—१ के पूर्व शून्य होगा। (ख) शून्य'

* वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः। त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत॥ (विष्णुपुराण); तुलनीय सांख्यकारिका २२१

† कपिलः प्रधानमाह द्रव्यादीन् कणभुगस्य विश्वस्य। कालं कारणमेके स्वभावमपरे परे जगुः कर्म॥ (बृहत्संहिता १। ७)

‡ सूर्यसिद्धान्त–१

स्वयं कोई संख्या न होकर भी सभी संख्याओंको परिवर्धित कर देता है; जैसे एकके आगे शून्य रखनेसे वह क्रमशः १०, १००, १००० और अनन्ततक हो जायेगा।

इस प्रकार शून्य कुछ भी न होकर अनन्त-शक्तिकी सामर्थ्य रखता है। आज भी आधुनिक गणितमें अनन्त संख्या-(Infinite Number)के परिज्ञानके लिये दो शून्योंको संयुक्त मिलाकर एक चिह्न (००) बनाते हैं। शून्य रहकर भी अनन्त होगा, यही ब्रह्मका सगुण और निर्गुण रूप है। आचार्य भास्करने बीजगणितके प्रसङ्गमें 'ख हर' (शून्यविभाजित शून्य) राशिको अनन्तकी संज्ञा देते हुए कहा है कि—'ख हर' राशिमें कोई भी संख्या धन करें या ऋण करें, परंतु वह अविकृत ही रहती है—जिस प्रकार अनन्त सृष्टि एवं प्रलयके बाद भी वह परमात्मा अच्युत और अनन्त ही रहता है।* यही बृहदारण्यकोपनिषद्का भी कथन है, जो शून्यकी शक्तिको ब्रह्मशक्तिके सदृश सिद्ध करता है—

> ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

'पूर्णसे पूर्ण निकालनेके बाद भी पूर्ण ही बचता है।' 'यह ब्रह्मके पक्षमें कथन है' जो शून्यके गणितसे सिद्ध होता है। शून्यका कोई स्वरूप नहीं होता। हम व्यवहारके लिये एक बिन्दुके रूपमें उसको पहचानते हैं। वह भी काल्पनिक; क्योंकि रेखागणितमें बिन्दुकी परिभाषा है—जिसमें लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई न हो। किसी भी बिन्दुके किसी स्थानपर स्थित होनेसे यह परिभाषा उसमें घटित नहीं हो सकती है, परंतु व्यवहारतः हमें उसकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है; जैसे हम निर्गुण ब्रह्मकी पहचान सगुण रूपसे करते हैं। इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्म शून्य होता हुआ भी शून्यतामें स्थित है।†

बौद्धदर्शनमें तो शून्यवाद ही प्रख्यात है, जिसमें सभी कुछ शून्यसे प्रादुर्भूत और विलीन होना माना जाता है।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्रके अनुसार भगवत्तत्त्व तीन स्वरूपोंमें वर्णित है—(१) ब्रह्मपरक, (२) कालपरक और (३) शून्यपरक। भगवत्तत्त्व ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिमें वही है, जो पुराणोपनिषदादिमें स्वीकृत है। यह ज्ञातव्य है कि १८ महर्षि ज्योतिषशास्त्रके प्रवर्तक कहे गये हैं।‡ इनमें यवनको छोड़कर सभी पौराणिक और वैष्णवमतानुयायी हैं। उन महर्षियोंकी आध्यात्मिक अवधारणासे ज्योतिषशास्त्र पूर्ण प्रभावित और आप्लावित है। भारतीय वाङ्मयकी यह विशेषता है कि परमतत्त्वका विवेचन ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है। वे इसीकी सिद्धि विभिन्न स्वरूप एवं सिद्धान्तोंसे करते हैं। इस भगवत्तत्त्वका ज्ञान और उसकी प्राप्ति मानव-जीवनका चरम फल है।

---

*—अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकाले ऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्॥
(बीजगणित, खषड्विधान १२, श्लोक ४)

† शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते।' (मध्यान्तविभाग टीका, पृ० १०)

‡ सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः। कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः॥
लोमशः पौलशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः। शौनकोऽष्टादशश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥

*

विविध दार्शनिकोंकी दृष्टिमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी, व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्राचार्य)

'भग' शब्द विविध निरुक्ति और व्युत्पत्तिके द्वारा अनेक अर्थोंका वाचक है तथा तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त है। **'भज्यतेऽनेन, भज्यतेऽस्मिन्, भज्यतेऽसौ'** इत्यादि निर्वचनोंमें **भज्-सेवायाम्** (भ्वादि, उभयपदी, अनिट् ९९८) धातुसे **'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'** (पा० ३। ३। ११८) **'खनो घ च'** (पा० ३। ३। १२५) **घित्करण-मन्योऽप्ययमिति ज्ञापनार्थम्,** इस ज्ञापनद्वारा उक्त सूत्रसे भजनीय अर्थमें 'घ' प्रत्यय करनेपर 'भग' शब्दकी सिद्धि होती है। विभिन्न कोशों तथा शास्त्रों, पुराणोंमें भग शब्दका प्रयोग वराङ्ग (सिर), कलत्र, श्री, वीर्य, इच्छा, ज्ञान, वैराग्य, कीर्ति, माहात्म्य, ऐश्वर्य, यत्न, धर्म, मोक्ष, पुरुषका यश, सौभाग्य, कान्ति, सूर्य विशेष, चन्द्र, पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र, स्त्रीचिह्न, ऐश्वर्यादिषट्क, भाग्यभोगास्पद तथा स्थूल-मण्डलाभिमानी एक देवता आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ दीखता है। प्रकृत स्थलमें भग शब्दका तात्पर्य समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन्हीं छः पदार्थोंसे है, (विष्णुपु० ६। ५। ७४)।

इसीका पुँल्लिङ्गमें भगवान् और स्त्रीलिङ्गमें भगवती प्रयोग बनता है। इस प्रकार यह सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी संज्ञा है, जिसे परब्रह्म, परमात्मा, परमार्थतत्त्व, सत्य, विशुद्ध ज्ञान, वासुदेव आदि विविध संज्ञाओंसे भी अभिहित किया जाता है—

> **ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-**
> **मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।**
> **प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं**
> **यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति॥**
> (श्रीमद्भा० ५। १२। ११)

इस व्युत्पत्तिके अतिरिक्त विष्णुपुराणमें भगवत्-शब्दके तकारको छोड़कर शेष तीन वर्णोंका पृथक्-पृथक् अर्थ किया गया है। भकारके दो अर्थ हैं—एक पोषण करनेवाला दूसरा सबका आधार। गकारके अर्थ हैं—कर्मफल प्राप्त करानेवाला, लय करनेवाला और रचयिता। वकारका अर्थ है—अव्यय परमात्मा, जिसमें सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं तथा जो समस्त भूतोंमें विराजमान है—

> **सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः।**
> **नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने॥**
> **वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।**
> **स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥**
> (विष्णुपुराण ६। ५। ७३, ७५)

ये सभी अक्षरार्थ पूर्णतया परब्रह्ममें ही घटित होते हैं। अतः उसीके लिये इस पदका मुख्य प्रयोग होता है। ब्रह्मके मायाशबलित त्रिगुणात्मक त्रिविधरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा सभी राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अवतार भी भगवत्-पद वाच्य हैं; क्योंकि उस ब्रह्मके ही ये मूर्त रूप हैं—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (श्रीमद्भा० १। ३। २८) **'रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद् भरम्॥'** (श्रीमद्भा० १। ३। २३)। शक्ति तथा शक्त्यवतार—दुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वतीके लिये, भगवत् शब्दके स्त्रीलिङ्गरूप भगवती शब्दका प्रयोग होता है—

> **सेव्यते या सुरैः सर्वैस्ताश्चैव भजते यतः।**
> **धातुर्भजेति सेवायां भगवत्येव सा स्मृता॥**
> (देवीपुराण अ० ४५)

शेष देवी-देवता, ऋषि-मुनि, आचार्य, गुरु, माता, पिता, श्रेष्ठ, पूज्य व्यक्तियोंके प्रति प्रयुक्त भगवत्-पद औपचारिक है। इनके लिये पूजनीयता और समादर-द्योतनके लिये उसका प्रयोग होता है, न कि मुख्य वृत्तिके लिये। इस प्रकारके गौण प्रयोग प्रायः लोक और शास्त्र दोनोंमें देखे जाते हैं—जैसे—भगवदाज्ञा, **'तत्राह भगवान् जैमिनिः'** इत्यादि। अन्यत्र भी भग

शब्दार्थके अंशतः वर्तित होनेपर तदर्थ भगवत् शब्दके प्रयोगका औचित्य है। गीतामें भगवान् कृष्णकी उक्ति है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

ऐश्वर्य, लक्ष्मी, बलातिशयसे सम्पन्न प्राणीको मेरे अंशविशेषसे सम्भूत समझना चाहिये। यद्यपि परमेश्वर शुद्ध-बुद्ध अप्रमेय, अनिर्देश्य, अनौपम्य, अनामय, सर्वगत, नित्य, ध्रुव, अव्यय, स्वप्रकाश, आनन्दघन, स्थूल-सूक्ष्मादिरूपरहित, नानाविध विकल्पोंसे मुक्त वाङ्मनोऽतीत, नाम-गुण-क्रिया-धर्मादिविहीन चिन्मात्र है। वह कथमपि किसी संज्ञासे अभिधेय नहीं, किंतु योगवृत्ति (लक्षणावृत्ति)के द्वारा वह विष्णु, नारायण, ब्रह्म, ईश्वर, भगवान्, शिव आदि अनेक नामोंसे व्यवहृत होता है—

विकल्परहितं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमव्ययम्।
न च नामानि रूपाणि शिवस्य परमात्मनः॥
तथापि मायया तस्य नामरूपे प्रकल्पिते।
शिवो रुद्रो महादेवः शंकरो ब्रह्म तत्परम्॥
विष्णुनारायणादीनि नामानि परमेश्वरे।
कथंचिद्योगवशात्तु वर्तन्ते न तु मुख्यया॥
(स्कन्दपुराण, सूतसंहिता)

वह एक परमेश्वर ही कार्य, कारण आदि होनेसे विभिन्न नामोंसे सदा सर्वत्र विराजमान है—**'एको हि नामभेदैः स्थितः स परमेश्वरः।'** इतना ही नहीं, शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण, विचारसरणि, मार्ग, अधिकारी आदि भेदोंसे तथा विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गोंमें भिन्न-भिन्न उपास्य भावोंसे लोक सामान्यमें विभिन्न भावनाओंसे वह परमेश्वर अनेक रूपोंमें विशेष संज्ञाओंके द्वारा उपोष्य, सेव्य, आराध्य और भजनीय भी है। अद्वैतवादी वेदान्ती उसे निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म, विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवागमानुयायी सगुणसविशेष ईश्वर और माध्व, विष्णु, निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्यमतावलम्बी वैष्णवोंमें कृष्ण, षाड्गुण्यविग्रह, परब्रह्म, वैखानस—पञ्चमूर्ति नारायण, योगशास्त्रानुयायी क्लेश-धर्म-कर्मविपाकादि संस्कारोंसे रहित असङ्ग पुरुषविशेष, ईश्वर, भगवान् या परमतत्त्व कहकर पुकारते हैं। चार्वाकदर्शन यद्यपि ईश्वरको नहीं मानता, किंतु उसके यहाँ 'स्वभाव' ही सर्वश्रेष्ठ प्रेरक माना जाता है। सांख्य भी ईश्वरको नहीं मानता, किंतु वह प्रकृति और पुरुषको ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व और जगत्‌का कर्ता मानता है। प्राचीन मीमांसक इन्हें ही कर्म, अवान्तरवर्ती मीमांसक यज्ञपति, नैयायिक और वैशेषिक नित्य ज्ञान-प्रयत्न-इच्छा आदि गुणसम्पन्न जगत्कर्ता, हैरण्यगर्भ हिरण्यगर्भ, वैराजगण विराट्, चतुर्मुखोपासक चतुर्मुख, भागवत विष्णु, शैव शिव, गाणपत्य विनायक, सौर सूर्य, शाक्त शक्ति (दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती), बौद्ध बुद्ध, जैन अर्हन्, रामानन्दीवैष्णव राम, अष्टछाप कृष्ण, भैरवोपासक भैरव, नृसिंहोपासक नृसिंहभगवान् या परमेश्वर कहते हैं और उसी नाम तथा रूपमें उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न देवोपासक भिन्न-भिन्न देवोंको ईश्वर मानकर उपासना करते हैं। संसारमें ऐसे भी लोग हैं, जो स्थावर आदिको तथा व्यक्तिविशेष (जीवित या मृत)को भी सर्वश्रेष्ठ मानकर आराधना करते हैं। इस विषयमें आचार्य विद्यारण्यने बड़ा सुन्दर कहा है—

अन्तर्यामिनमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात्॥
ईशसूत्रविराड्वेधो विष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः।
विघ्नभैरवमैरालमारिका यक्षराक्षसाः॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवासीकुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः॥
(पञ्चदशी ६।१२१, २०६—२०८)

इनमें सामान्यजनोंको छोड़कर शास्त्रीय मतानुयायियोंने स्व-स्वमतानुसार अभीष्ट एवं उपास्य ईश्वरका जो-जो लक्षण

कहा है, वह सभी लक्षण प्रायः समानरूपसे एक प्रकारका ही प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध है कि सभीका अभीष्ट परमेश्वर एक है केवल नामोंका ही भेद है, जिस भेदसे उपास्यमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। उक्त विवेचनका फलतः यह निष्कर्ष है कि सभीके मतोंमें सर्वश्रेष्ठ सर्वशक्तिमान् तत्त्व भगवत्-पदवाच्य भगवान् हैं, जो अनेक नामोंसे गेय और उल्लेख्य है। भगवत् शब्दका संक्षेपरूपमें यह विचार प्रस्तुत कर अब तत्त्व शब्दपर विचार किया जा रहा है।

भगवत्तत्त्व

'भगवतस्तत्त्वम्—भगवत्तत्त्वम्' भगवान्के तत्त्वको भगवत्तत्त्व कहते हैं। भगवत्तत्त्वके निरूपणके पूर्व तत्त्व शब्दपर विचार करना आवश्यक है। 'तनु-विस्तारे' (तनादि उभयपदी) धातुसे क्विप् प्रत्यय तथा तुक्का आगम करनेपर तत् शब्दकी सिद्धि होती है। तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वका अर्थ ब्रह्म और नामका अर्थ संज्ञा है। इस प्रकार सर्वनाम ब्रह्मवाचक होनेके कारण तत् शब्द ब्रह्मवाचक है। उपनिषदोंमें तत् शब्दका प्रयोग ब्रह्म और आत्माके लिये प्रायः प्रयुक्त होता है। लोकमें भी तत् शब्द सर्ववाची है और सभीके लिये प्रयुक्त भी होता है। **'तस्य भावस्तत्त्वम्'** तत् शब्दसे त्व प्रत्यय करनेपर तत्त्व शब्दकी सिद्धि होती है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार तत्त्वका अर्थ ब्रह्मभाव होता है, किंतु इसका प्रयोग यथार्थस्वरूप, ब्रह्म, विलम्बितनृत्यवाद्यादि, सारभूत पदार्थ, सांख्योक्त प्रकृति आदि २५ तत्त्व आदि अर्थोंमें भी होता है। इन अर्थोंके अतिरिक्त प्रत्येक शास्त्रोंके पारिभाषिक तत्त्वस्वरूप भी हैं, जैसे शून्यवादी बौद्ध सदसदुभयानुभयात्मक—चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्यको ही तत्त्व मानते हैं। चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज, वायु चार भूतोंको तत्त्व कहते हैं। जैन जीवमतालम्बी और अजीव दो तत्त्व स्वीकार करते हैं। इनमें कोई एकदेशी पाँच और कोई सात तत्त्व भी अङ्गीकार करते हैं। द्वैतवादी पूर्णप्रज्ञानुयायी स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र दो तत्त्व, रामानुज-मतानुयायी चित्, अचित् और ईश्वर तीन तत्त्व, वल्लभमतानुयायी अट्ठाईस तत्त्व, पाशुपत नकुलीश और शैव छत्तीस तत्त्व, सांख्य पचीस और योगी छब्बीस तत्त्व स्वीकार करते हैं। शुद्ध वेदान्ती एक ब्रह्मको ही परमार्थ तत्त्व मानते हैं।

वस्तुतः भगवत्तत्त्व एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। इनकी पुनरुक्तिसे क्या लाभ है? वादियोंद्वारा पारिभाषिक अर्थ स्वीकार करनेपर सबका सामञ्जस्य और सम्बन्ध नहीं बनेगा, प्रत्युत वैषम्य होगा। दूसरी बात यह है कि कुछ वादियोंके यहाँ भगवान्की सत्ता ही नहीं स्वीकृत है और कुछ वादी अपने-अपने अङ्गीकृत तत्त्वोंके अन्तर्गत ईश्वरकी भी गणना कर लिये हैं, इन दो दृष्टियोंसे भगवत् और तत्त्व शब्दका परस्पर सम्बन्ध भी नहीं बनेगा। इसीलिये यहाँ तत्त्व शब्दसे भगवान्के स्वरूप, धर्म, गुण आदि ही अभिमत मानना होगा। फलतः प्रस्तुत अङ्कमें भगवत्तत्त्वका तात्पर्य भगवान्के स्वरूपादिसे ही समझना चाहिये।

भगवत्तत्त्व (भगवत्स्वरूपादि)का विवेचन महर्षियोंद्वारा वैदिक ग्रन्थोंसे लेकर पुराणोंतकमें साङ्गोपाङ्ग अनवरत हुआ है। तदनन्तर सूत्रोंसे लेकर ईसाकी सोलहवीं शताब्दीतकके आचार्योंद्वारा वह ऊहापोहात्मक विशदरूपमें बहुचर्चित हुआ। वैष्णवसम्प्रदायने इसे सर्वत्र वितानित कर दिया। इस स्वल्पकाय निबन्धमें सभी मतोंका देना असम्भव तो है ही, किसी एक मतका भी पूरा वर्णन दुष्कर कार्य है। मोनियर विलियम्स आदिने अपने दर्शन-संग्रहोंमें गीताको भी एक दर्शन माना है। गीता वेदान्तके प्रस्थानत्रयीका अन्यतम, समस्त उपनिषदोंका सारभूत, कृष्णके मुखारविन्दसे निःसृत अमृत, महाभारतका तत्त्व, सर्वसम्प्रदाय-मान्य, काण्डत्रयात्मक ग्रन्थ है। इसमें भी भगवत्तत्त्वका विवेचन भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें किया गया है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें गीताके वचनोंको

ग्रहण किया है। उसके तेरहवें अध्यायमें भगवत्तत्त्वका विशेष वर्णन है। भगवान्‌का विराट् व्यापक, सर्वमय स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(१३।१३)

भगवान् अपनी अचिन्त्य-शक्तिसे सर्वरूप हैं। वह सभी दिशाओंमें सर्वत्र बाहर, भीतर, पाणिपाद, अक्षि, सिर, मुख, कर्ण आदिसे युक्त लोकमें सब चराचरको आवृत (व्याप्त) कर विद्यमान है। गीता ब्रह्म (भगवान्)के सगुण सविशेष तथा निर्गुण निर्विशेष उभय रूपोंका परिचय कराती हुई दोनोंको एक ही अभिन्न तत्त्व मानती है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
(१३।१४)

वह परमात्मा (भगवान्) सभी चक्षुरादि इन्द्रियोंके रूपादिवृत्तियोंके आकारसे भासित होता है अथवा सभी इन्द्रियों और तद्विषयोंको आभासित करता है तथा सभी इन्द्रियोंसे रहित है। वह वस्तुतः देहेन्द्रियादि सम्बन्धशून्य है तथापि सबको धारण और पालन करता है। वह सत्त्वादि गुणसे रहित और सत्त्वादि गुण तथा उसके परिणामोंका भोक्ता है। भगवान् एक अभिन्न तत्त्व है और उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३।१५)

जिस प्रकार सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि आभूषणोंके और जल जलतरङ्गोंके बाहर तथा भीतर रहता है, उसी प्रकार परमेश्वर चर और अचर जगत्के बाहर और भीतर विद्यमान है; क्योंकि कार्य कारणरूप होता है। वह रूपादिरहित होनेसे अत्यन्त सूक्ष्म है, जिससे अविज्ञेय है अर्थात् इदम्, तत् इत्यादि स्पष्ट ज्ञानके योग्य नहीं। आत्मज्ञानसे शून्य प्राणियोंके लिये वह परमेश्वर करोड़ों कोस दूर है और हजारों वर्षोंमें भी वे उसे नहीं पा सकते। किंतु आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानोंके लिये वह अत्यन्त निकट है; क्योंकि वह प्रत्यक् (आत्म) स्वरूप है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
(१३।१६)

सब प्राणियोंमें वह परमेश्वर (भगवान्) विभागरहित एक है, न कि प्रतिशरीर भिन्न; क्योंकि वह आकाशकी तरह व्यापक है। किंतु शरीरभेदरूपसे प्रतीयमान होनेके कारण प्रति शरीर विभक्तकी भाँति स्थित है। अर्थात् उसमें औपाधिक भेदकी ही प्रतीति है, पारमार्थिक नहीं अथवा कारणरूपसे अभिन्न रहता हुआ कार्य-रूपसे भिन्न है। वह परमेश्वर स्थितिकालमें भूतों तथा प्राणियोंका धारक और पोषक है। वह प्रलयकालमें सबको ग्रसन करनेवाला है और उत्पत्तिकालमें नाना-रूपमें उत्पत्तिशील है। जिस प्रकार भ्रमजन्य सर्पका रस्सी आधार है, उसी प्रकार मायाकल्पित जगत्का परमेश्वर आधार है। अतः समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण परमेश्वर ही है और वही ज्ञेय है। यह परमात्मा स्वयम्प्रकाश और सबका प्रकाशक है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।१७)

वह ब्रह्म (भगवान्) बाह्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशकों तथा अभ्यन्तर प्रकाश करनेवाले बुद्धि आदि अन्तःकरणोंका प्रकाशक है। वह अविद्या (अज्ञान) तथा अविद्याकार्य समस्त जडवर्गसे परे है अर्थात् असंसृष्ट है। वही बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त ज्ञान और रूपादि आकारसे ज्ञेय तथा ज्ञान-द्वारा प्राप्य है। यह परमात्मा प्राणिमात्रके हृदयमें जीव तथा अन्तर्यामी रूपमें स्थित है। 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (१३।१२) अनादि, निर्विशेष देश-काल-वस्तु त्रिविध परिच्छेदोंसे रहित, सदसद्

विलक्षण ब्रह्म है। परमात्मा इस प्रकार ही सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आधार है। वह स्थावर-जङ्गम जगत् भी भगवदाकार ही है। यह जगत् तथा समस्त जीव उसके ही अंश हैं। उससे भिन्न या अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है, किंतु वह एतावन्मात्र ही नहीं है, अपितु अनन्त विश्वातिग भी है और सब प्राणियोंमें वास करता है। जब प्राणी जगत्को भगवदाकार समझ लेता है, तब वह राग-द्वेष, मान-अपमान, सुख-दुःख, स्वकीय-परकीय, शत्रु-मित्र, त्याज्य-उपादेय, प्रिय-अप्रिय, इदम्-अहम्, स्वत्व-परत्व आदि भावोंसे मुक्त होकर भगवन्मय हो जाता है। इसलिये वह भगवान् प्राणिमात्रके लिये सर्वथा आराध्य, ध्येय, श्रोतव्य, मन्तव्य, द्रष्टव्य और प्राप्य है। उसे प्राप्त करनेका भगवद्भक्त ही अधिकारी है, जो मान, दम्भ, हिंसा, कुटिलता आदि दोषोंसे रहित शान्त, दान्त, पवित्र, स्थिरचित्त, आचार्योपासनारत, एकान्तवासी और विरक्त है। ऐसे ही भक्तोंको स्थितप्रज्ञ, स्थितधी, स्थिरधी, ज्ञानी, भक्त, गुणातीत आदि नाना नामोंसे अभिहित करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
(१२।१३)

गीता भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म, ज्ञान, ध्यान, भक्ति, प्रपत्ति एवं योगादि साधनोंका उपदेश करती है। प्रत्येक मनुष्य इनके द्वारा परमपुरुषार्थरूप परमात्मतत्त्व प्राप्त करनेका अधिकारी है और तीव्र वेगाकर उसकी प्राप्ति शीघ्र करनी चाहिये। अन्तमें हम भगवत्तत्त्वके विषयमें आचार्य अभिनवगुप्तकी उक्तिका स्मरण दिलाकर इसे भगवदर्पित करते हैं—

पुमान् प्रकृतिरित्येष भेदः सम्मूढचेतसाम्।
परिपूर्णास्तु मन्यन्ते निर्मलात्ममयं जगत्॥

संत-मतमें भगवत्तत्त्वकी मीमांसा

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, धर्मरत्न, विज्ञानरत्न, आगम-वाचस्पति)

'संत' शब्दका प्रयोग पवित्रात्मा परोपकारी, सदाचारी पुरुष साधुओं एवं महात्माओंके लिये किया जाता है। उपनिषदोंके अनुसार यह ऐसे व्यक्तिका बोध कराता है, जिसने सत्-रूपी परमतत्त्वका अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो—**'अस्ति ब्रह्मेति यो वेद संतमेनं ततो विदुः'** (केनोप०)। 'संत'शब्दका व्यवहार उन आदर्श महापुरुषोंके लिये किया जाता है, जो पूर्णतः आत्मनिष्ठ होनेके अतिरिक्त समाजमें रहते हुए, निःस्वार्थ-भावसे विश्वकल्याणमें प्रवृत्त रहा करते हैं। यह शब्द आचार्य शंकरादि संन्यासी ज्ञानेश्वर आदि उन निर्गुण भक्तोंके लिये भी प्रयुक्त होता आया है, जो दक्षिणके विट्ठल या वारकरी सम्प्रदायके प्रचारक थे। उपनिषदोंकी परम्परा अविच्छिन्नरूपमें अबतक भी प्रचलित है। इसकी एक शाख 'निर्गुणमत' है, जिसे प्रसिद्ध वेदान्तसे अभिन्न समझा जाता रहा है (दे०—**'निरगुन मत सोई वेदको अन्ता'** (संत गुलाल, अठारहवीं शताब्दी), किंतु संत तुलसीसाहब (उन्नीसवीं शताब्दी)के समयसे इसका प्रयोग अधिक व्यापक रूपमें होने लगा (घटरामायण, पृष्ठ १४२)।

'संत-मत' स्वभावतः किसी सम्प्रदाय-विशेषके मूल प्रवर्तकद्वारा प्रचलित किये गये सिद्धान्तोंका संग्रहमात्र नहीं है और न यह किसी ऐसे पद्धतिविशेषका ही परिचायक समझा जा सकता है, जिसे विभिन्न संतोंके उपदेशोंके आधारपर निर्मित किया गया हो। ईश्वरका अनुभव दूसरोंके कहने-सुननेपर विश्वास कर लेनेपर निर्भर नहीं है और न उसे हम तर्क-वितर्कद्वारा सिद्ध करके समझ सकते अथवा हृदयङ्गम कर सकते हैं।

निर्गुण रामकी चर्चा सभी किया करते हैं, किंतु इसके रहस्यका परिचय जल्दी नहीं हो पाता। तात्पर्य यह कि शुद्ध स्वानुभूति ही उनके मतकी आधारशिला है और उनके ज्ञानको भी इसी कारण (सहज ज्ञान)का नाम दे सकते हैं।

संतोंने अपनी रचनाओंमें, परमतत्त्वके विषयमें कथन करते समय उसके अनेक नाम दिये हैं, जिनमेंसे कुछ तो व्यक्तिगत हैं और अन्य केवल भाववाचक हैं। इन दोनोंके उदाहरणमें हम क्रमशः 'राम' एवं 'सत'की चर्चा कर सकते हैं। 'सत' उसे इसलिये कहा जाता है कि उसके विषयमें हम विशुद्ध अस्तित्वसे अधिक कुछ भी नहीं कह सकते और उसे 'राम' भी केवल इसलिये कहा जा सकता है कि वह सारी वृत्तियोंके रमण करनेका परमोत्कृष्ट तत्त्व है। उसका तात्त्विक स्वरूप कैसा है, यह पूर्णरूपसे किसीको भी विदित नहीं हो सकता, किंतु उसे हम 'अद्वैत' शब्दसे व्यक्त कर सकते हैं और यदि उस 'अद्वैत' तत्त्वको किसी ईश्वरके रूपमें भी स्वीकार किया जाय तो उसे एकेश्वरवाद भी कह सकते हैं।

अद्वैतवादी वेदान्ती संतोंकी दृष्टिमें परमात्मतत्त्व एवं जीवतत्त्वमें मूलतः कोई भी अन्तर नहीं है। वे इन दोनोंको एक और अभिन्न ठहराते हैं। जीव उस परमात्माको तभीतक अपनेसे पृथक् मानता है, जबतक उसे उसका बोध नहीं होता। वस्तुस्थितिका परिचय पाते ही वह उसके साथ जलमें जलकी भाँति मिलकर एक और अभिन्न बन जाता है और फलतः एक ऐसी स्थितिमें आ जाता है, जिसमें उसे पूर्ण शान्ति एवं परमानन्दका अनुभव होने लगता है। इस दशामें ऐसे साधकको उस परमात्मतत्त्व और अपने आत्मतत्त्वसे पृथक् किसी भी जगत्तत्त्वका ज्ञान नहीं रह जाता। वह सर्वत्र केवल उसी अभिन्नरूपको व्याप्त पाता है। वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमें परमात्मतत्त्वका साक्षात् करता है और इसी कारण उसे अपनेसे भी कभी भिन्न नहीं समझता। ऐसी मनोदशा हो जानेपर उसका न तो कोई अपना निजी आत्मीय रह जाता है और न कोई ऐसा ही प्राणी मिलता है, जिसके प्रति वह द्वेषभाव प्रकट कर सके। संतोंके व्यापक प्रेम एवं 'निर्वैर' धर्मके लिये यह मनोवृत्ति महान् काम करती है और वे इसीके अनुसार विश्वकल्याणकी भावना भी प्रकट करते दीख पड़ते हैं।

संत-मत और सहज समाधि

संत-मतमें सिद्धान्तोंकी अपेक्षा साधनाओंका परिचय करानेकी ओर कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। उनकी धारणा है कि परमतत्त्वको अपने अनुभवमें लानेके लिये हमें अपनी वृत्तियोंको बहिर्मुखसे अन्तर्मुख कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। संत-मतकी साधना 'सहज साधना' कहलाती है। उसमें न तो किसी मार्गविशेषको ग्रहण करनेका आग्रह है और न वहाँ यही व्यवस्था दी गयी कि या तो अपने सांसारिक बन्धनोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय अथवा अपनेको प्रपञ्चोंमें आचूडमग्न कर दिया जाय। उसका अपना मार्ग विशुद्ध 'मध्यम' मार्ग है, जिसके अनुसार समाजमें रहते हुए या एकान्तमें रहकर किसी भी एक उपयुक्त साधनाको अपनाते हुए आत्मोपलब्धिकी दशातक पहुँच सकते हैं। संत-मतकी आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है, जो साधकोंके जीवनभर एकरस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तनकी आशङ्का न आने पाये। इसीलिये उसे 'सहज समाधि'का नाम दिया गया है।

सामान्य जीवनमें अनेक प्रलोभन आते हैं जिनकी ओर हमारी वृत्तियाँ स्वभावतः बाहरकी ओर खिंचने लग जाती हैं। बहुत-से ऐसे प्रतिकूल प्रसङ्ग भी आ जाते हैं, जिनके कारण पलायनकी प्रवृत्ति बल ग्रहण करने लगती है। राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकके भाव जाग्रत करनेवाले अवसर

प्रायः प्रत्येक क्षणमें आ जाया करते हैं और हमारे चित्तको विचलित कर देते हैं। संतोंने इसी कारण इस प्रश्न-पर बड़ी गम्भीरताके साथ विचार किया है और इसे सुलझानेके लिये कुछ उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। उनका सर्वप्रथम उपदेश यह है कि हम अपने मनको सदा 'नाम-स्मरण'में लगाये रहें और उससे एक पलके लिये भी विरत न हों। जिस प्रकार कोई माता अपने दैनिक कार्योंमें व्यस्त रहते हुए भी अपने बच्चेकी सुधि नहीं भूलती, कोई गाय चरागाहमें चरती हुई भी अपने बछड़ेका स्मरण करती रहती है तथा जिस प्रकार कोई पनिहारिन अपनी सखियोंके साथ हँसती-खेलती जाती हुई भी अपने सिरपर रखे घड़ेकी ओरसे ध्यान नहीं हटाती, उसी प्रकार हम 'सुमिरन'का स्वभाव डालकर भी कभी परमात्मतत्त्वसे विलग नहीं रह सकते और इस प्रकार यदि उसमें हमारी स्थिति सदा बनी रह गयी तो फिर हमारा संतुलन भी नहीं बिगड़ सकता। संतोंद्वारा निर्दिष्ट की गयी 'नाम-स्मरण' या 'सुमिरन'की साधनाको उनके पारिभाषिक शब्दोंमें, 'सुरतशब्दयोग'का भी नाम दिया गया मिलता है। 'सुरत'हमारी मूल-वृत्ति है, जो 'शब्द' अर्थात् हमारे शरीरमें उठनेवाले अनाहत नादसे बराबर जुड़ी रहा करती है और इस प्रकार उसके साथ तदाकारता ग्रहण किये रहनेके कारण इसके ऊपर किसी दूसरे रंगके चढ़नेका कभी कोई संयोग ही नहीं आ पाता।

संतोंने हमारी 'सुरत'को 'शब्द'की ओर प्रथम उन्मुख करनेके लिये किसी 'सतगुरु'के माध्यमकी भी आवश्यकता बतलायी है। ऐसा गुरु कोई विस्तृतरूपसे शिक्षा देनेवाला साधारण उपदेशक नहीं हुआ करता, प्रत्युत वह एक मार्गप्रदर्शकमात्र ही रहा करता है। वह केवल संकेत कर देता है और उसके शब्दोंमें निहित विलक्षण 'जुगुति'के सहारे साधक अपनी साधना आप-से-आप ठीक कर लेता है। इसके सिवा, ऐसे साधकके लिये 'संत-मत'में सत्सङ्गके वातावरणमें रहना भी अत्यन्त आवश्यक ठहराया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि उसका काम केवल अपनी साधनामें सिद्धि-लाभ कर लेनेसे ही नहीं चल सकता, प्रत्युत वह तबतक पूरा नहीं होता, जबतक उसे अपने सिद्धान्तको व्यवहारमें परिणत कर देनेकी क्षमता नहीं हो जाती। पहुँचे हुए साधु-संतोंके बीच रहकर ही वह अपनी अनेक रहस्यमयी गुत्थियोंको सुलझा पाता है और उनके आचरण एवं व्यवहारको निकटसे देखकर ही वह भली-भाँति समझ सकता है कि जिस आदर्शकी उपलब्धिके लिये वह प्रयत्नशील है, उसका वास्तविक रूप क्या हो सकता है।

सत्सङ्गके बिना भगवत्प्राप्ति सहज नहीं

बिना सतसंग ना कथा हरिनामकी,
बिना हरिनाम ना मोह भागै।
मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागै॥
बिना अनुरागके भक्ति न होयगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं जागै।
प्रेम बिनु राम ना, राम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान माँगै॥

—संत पलटूदास

सामाजिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमिमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

'जड़-चेतन सभी प्राणियोंके भीतर कहीं गुप्त और कहीं व्यक्त भावसे अवस्थित शक्तिरूपिणी देवीको हम वारंवार प्रणाम करते हैं ।'

सामाजिक संघटनके विश्लेषणमें जिन तत्त्वोंका योगदान है, उन सबमें अनन्तरूप श्रीभगवान्‌के रूपमें प्रकट होनेवाली शक्ति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसका केन्द्रबिन्दु सत्-चित्-आनन्दका एक ऐसा प्रकाशपुञ्ज है, जो सम्पूर्ण विश्वको आलोकित किये हुए हैं । इस शक्तिके प्रभावसे वटके बीजमें विशाल वृक्षके समान मांस-पिण्डरूप मानव-शरीरमें चैतन्यमयी बुद्धि तथा सूक्ष्म मनमें अनन्त ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित हैं । देश, महादेश, पृथ्वी, अनन्त जगत्, जाति, परिवार, समाज आदि अनादिकालसे इसी महाशक्तिसे प्रेरित होकर बनते-बिगड़ते रहते हैं । पञ्चेन्द्रियोंद्वारा हम जिसका स्पर्श करते हैं, मनके द्वारा जिसपर विचार किया जाता है, कल्पनाके द्वारा जिसका अनुमान लगाया जाता है वह सब इसी शक्तिसे सम्पन्न होता है—

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥

(ऋग्वेदीय देवीसूक्त)

श्रीरामानुजके मतानुसार ईश्वर चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्त्वोंसे युक्त है । वह एकमात्र सत्ता है, अर्थात् उससे पृथक् या स्वतन्त्र किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है । ब्रह्म और जगत्‌का कारण-कार्य-सम्बन्ध है, जैसे मकड़ी सतत अपने जालेके साथ रहती है । वह तत्त्व क्या है ? अद्वैतवादी समस्त विश्वको एक सामान्य रूप देना चाहते हैं, विश्वके एकमात्र तत्त्वको बतलाना चाहते हैं । उनके सिद्धान्तानुसार सारा विश्व एक है और एक ही सत् नाना रूपोंमें प्रतिभासित है । विश्वकी जितनी भी अन्य सत्ताएँ हैं, सभी भगवत्तत्त्वके भिन्न-भिन्न रूप हैं । परमतत्त्वके विघटनसे सांसारिक नाम-रूपोंके प्रतिभासित होनेके कारण मनुष्यका पारमार्थिक रूप छिप जाता है, परंतु उससे वास्तविक परिवर्तन कदापि नहीं होता । निम्न-से-निम्न जीवमें और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ मनुष्यमें एक ही आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है । जिस वस्तुमें अध्यास सबसे कम है, वह उतना ही उच्च कोटिका प्राणी है । प्रत्येक व्यक्तिको अभिन्न समझकर उसके साथ स्नेह करना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्‌का मौलिक सार एक है । दूसरेको कष्ट देना अपने-आपको कष्ट देना है । दूसरेसे प्रेम करना अपने-आपसे प्रेम करना है । मनुष्य जब एक छोटे-से कीड़ेके लिये अपना जीवन उत्सर्ग करनेके लिये तत्पर हो जाता है तो वह पूर्णत्वको प्राप्त कर लेता है । यही जीवनका अभीष्ट है । ईश्वरका अनन्त तत्त्व हम सबमें समाविष्ट है । व्यक्तित्वके निर्माणके लिये भौतिक अवयव (Orgons), समाज (Society) और संस्कृति (Culture) इन तीन तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है । इसी आधारपर समाजशास्त्री कहा करते हैं—'ईश्वर आत्मा है और आत्मा एवं सत्यके द्वारा ही उसकी उपासना होनी चाहिये । सम्पूर्ण जगत् एक ही सत्ता है । विभिन्नताओंके माध्यमसे हम इसी विराट् विश्वसत्ताकी ओर बढ़ रहे हैं । परिवारसे कबीले, कबीलोंसे गाँव, गाँवसे जनपद, प्रदेश, राष्ट्र और राष्ट्रसे मानवता । इसीकी अनुभूति ही सम्पूर्ण ज्ञान-

विज्ञान है। एकत्व ज्ञान है और अनेकता अज्ञान। जगत्के सृजन-पालन और संहारकी जिसमें शक्तियाँ हैं और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् जिसकी उपाधियाँ हैं, वह देवोंका भी देव परमेश्वर है। परमेश्वर सर्वव्यापी, अप्रमेय, निर्गुण, निर्विकार और जगत्का महाकवि है। सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र उसके छन्द हैं। जब वह सर्वव्यापी है तो फिर यह सत्य है कि सभी वस्तुएँ उसके तत्त्वरूपमें हैं। हमारे चारों ओर व्याप्त मायाका आवरण भी ईश्वरकी शक्ति है। किंतु माया ब्रह्म अनित्य स्वरूप नहीं है, बल्कि इच्छामात्र है, जिसको वह जब चाहे त्याग सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके बाद मनुष्य इस मायाके फंदेसे दूर हो सकता है। मायाके भी दो रूप हैं—शुद्ध सत्त्वा (विद्या) और मिश्र सत्त्वा (अविद्या)। शुद्ध सत्त्वनिष्ठ परमात्मा कहलाता है। वही जगत्का कर्ता-धर्ता है। अविद्या-निष्ठ आत्मा जीव कहलाता है। वह अल्पज्ञ, अशक्त, परिच्छिन्न और भोक्ता है। इन दोनोंसे जो परे है, वह शुद्ध ब्रह्म है। अविद्यामें लिप्त प्राणी परमात्माको भूल जाता है, अतः इस संसारचक्रमें घूमता रहता है। शास्त्रोंमें इसी अज्ञानी जीवके लिये ज्ञान और भक्तिका विधान किया गया है। ब्रह्म शुद्ध सत्त्वमें लीन अपने उपासकको अपना पद प्रदान करता है। जीव, माया और परमात्मा ये तीनों तत्त्व अपृथक्, अनादि और अनन्त हैं। ब्रह्म सदा जीव और मायाके साथ रहता है।

तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ईश्वर सर्वश्रेष्ठ सत्ता, सर्वश्रेष्ठ मूल्य और सर्वश्रेष्ठ साध्य है। उसकी सत्ता पारमार्थिक एवं आध्यात्मिक है। वह सभी प्रकारकी सत्ताओंका आधार है। उसका मूल्य चरममूल्य है और जितनी भी वस्तुएँ मूल्यवान् हैं, उनका मूल्य इसलिये है कि वह इस चरममूल्यसे सम्बद्ध हैं। ईश्वर अनन्त, पूर्ण और नित्य है। वह पुरुषोत्तम है और परम कल्याणमय, प्रेममय है। जगत्की सृष्टि और प्रलय जो कुछ भी है, उसीकी इच्छासे है। जिस प्रकार एक अच्छा राजतन्त्र होता है, उसी प्रकार ईश्वर और सृष्टि है। दया, स्नेह और उदारतासे पूर्ण वह एक आदर्श सम्राट् है; जो प्रत्येक प्राणीके कर्मफलका हिसाब रखता है। उसीके अनुसार सुख-दुःख तथा जीवन-मरण आदि सांसारिक क्रियाकलापोंको भोगना पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकारका कर्म करता है, उसको उसीके अनुरूप फल प्राप्त होता है। कर्मके महत्त्वको भारतीय दर्शनने बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे समझाया है। जिस किसी साधनके द्वारा उस ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर अपने कर्मोंपर नियन्त्रण रख सकते हैं। श्रीगीताके अनुसार भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारके मार्ग हैं। इनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईश्वर-लाभका सबसे सुगम उपाय है—भक्ति। भक्त वह है, जो सब कुछ त्याग कर भगवान्का ही नाम जपा करता है। वह निरन्तर स्नेहपूर्वक भगवान्की सेवा करता है। भक्त और परमात्माके साथ विश्वास और प्रेमका सम्बन्ध है।

भक्तिका मार्ग प्रत्येक वर्गके लिये खुला है और यह सरल भी है। भक्तको तो अनन्य मनसे भगवान्का ध्यान और स्मरण करना पड़ता है। कभी-कभी अत्यधिक कष्ट भी उठाना पड़ता है। नारदने भक्तिकी परिभाषा करते हुए उसे परमात्माके प्रति उत्कट प्रेम बताया है। यह भगवान्की करुणाके प्रति विश्वासपूर्ण आत्म-समर्पण है। मानवीय आत्मा परमात्माकी शक्ति, ज्ञान और अच्छाईके चिंतनद्वारा भक्तिपूर्ण हृदयसे उसके निरन्तर स्मरणद्वारा दूसरे लोगोंके साथ उसके गुणोंके विषयमें चर्चा करनेके द्वारा अपने साथियोंके साथ मिलकर उसके गुणोंका गान करनेके द्वारा और सभी कार्योंको उसीकी सेवा समझकर करनेके द्वारा भगवान्के निकट पहुँचता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भक्त अपने सम्पूर्ण अस्तित्वको भगवान्‌की ओर प्रेरित करता है। यथार्थमें श्रीभगवान् पूर्ण चिदानन्द-स्वरूपमें प्राणिमात्रके हृदय-देशमें प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान रहकर समस्त प्राणियोंको घुमाते-फिराते और विशेष उद्देश्योंके मार्गमें चला रहे हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

'आत्मामें परमात्मा'के निवासकी बात प्रत्येक धर्म स्वीकार करता है। आत्मा अनन्त-आनन्द-स्वरूप है, लिङ्गभेदरहित है। अज्ञान ही जीवके बन्धनका कारण है, ज्ञानसे अज्ञान दूर होता है। इस ज्ञानप्राप्तिका उपाय क्या है?—भक्तिपूर्वक ईश्वर-आराधन एवं सर्वभूतोंको परमात्माका मन्दिर समझ उनसे प्रेम करना। शास्त्रोंमें परमात्माके दो रूपोंका वर्णन है। सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वरके अर्थसे वे सर्वव्यापी हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता हैं। संसारके अनादि जनक एवं जननी हैं। उनके साथ हमारा नित्याभेद है। मुक्तिका अर्थ उनके सामीप्य और सालोक्यकी प्राप्ति है।

यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, दयापूर्वक प्राणियोंकी सेवा, सत्सङ्ग आदि आत्मबलके सहायक और विषयेन्द्रियोंके सहयोग बन्धनकी ओर घसीटनेवाले शरीर-धर्मके पोषक हैं। इनके माध्यमसे व्यक्ति इन्द्रियोंपर विजय पाकर अज्ञानसे दूर हो सकता है। अतः भगवद्-भक्ति मोह एवं अन्धकारसे दूर ले जाकर प्रभुका साक्षात्कार कराती है, जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न है। भोजन किया जाता है, शरीरको जीवित रखनेके लिये और शरीरका अस्तित्व रखा जाता है—भगवान्‌की सेवा अपनी बुद्धिके अनुसार करनेके लिये। जिन सौभाग्यशाली मनुष्योंके हृदयमें भगवान्‌का ध्यान निरन्तर बना रहता है, वे सब पापोंसे शनैः-शनैः छूटकर परमपदको प्राप्त होते हैं। अतः प्रत्येक कर्म करते समय उनका स्मरण-चिन्तन-ध्यान करते रहना चाहिये।

ऋषियोंने परब्रह्मके स्वरूपको उसके क्षर-अक्षर, व्यक्त-अव्यक्त, प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपमें समझा है। जड़ पदार्थ क्षर होनेसे रूपान्तरशील है, परंतु निर्विकाररूप अक्षर सदैव एक रस है। आत्मभावसे प्राणिमात्रमें नहीं, अपितु चातुर्वर्ण्य अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, खनिज पदार्थमें भी इस वेदान्तिक तत्त्वको अनुभव करके सत्य माना है। अव्यक्त आत्मा और उससे भी परे अव्यक्त पुरुषोत्तम यही ज्ञानीको सत्य रूप दीखते हैं। यही ज्ञानकी पराकाष्ठा है।

तत्त्वदर्शी इस सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन अपने पाँचों कोशोंके साधन एवं संयमद्वारा पूर्णरूपसे कर चुके हैं। पर वे भी उस (प्रभु)का वाणीसे वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। उसके अनन्त गुण गाते-गाते पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवाधिदेव, जगत्पते इत्यादि-इत्यादि कोटिशत नाम लेते-लेते जब थक जाते हैं, तब अन्तमें 'तत्सत्' वह है—बस, इतना ही संकेत करके मौन हो जाते हैं। इस परम तत्त्वकी प्राप्तिका मार्ग दिखानेवाले भगवान्‌के उच्चतम सत्य क्या संसारमें कोई है? 'तत्त्वकी प्राप्ति'का अर्थ ज्ञानचक्षुद्वारा परमेश्वरमें समझे हुए गुणोंको अभ्यास और वैराग्यद्वारा अपनेमें स्थापित करना है। श्रीगीतामें भगवान्‌ने कहा है कि दैवी प्रकृतिके महान् पुरुष अविनाशी परमेश्वरको सकल जगत्‌का उत्पत्तिकर्ता दृढ़तापूर्वक समझकर फलतः यह जानकर कि उनसे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु नहीं है, उसमें ऐसे संलग्न होते जाते हैं, जिससे उनका चित्त फिर किसी दूसरी वस्तुमें भटकने ही नहीं पाता।

अहंकारका त्याग, क्षमाकी वृत्ति धारण करना, सरलता, स्नेह, गुरुसेवा, शुद्धता (मन, वचन और

कर्मकी), आचार-विचारमें स्थिरता, इन्द्रियसंयम, भोगोंमें अरुचि, हिंसाका त्याग, अनासक्ति, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंमें समभाव रखना भगवान्‌की अनन्य एवं एकनिष्ठ सेवा (भक्ति) जनसमूहमें रहते हुए भी उसमें लिप्त न होना अर्थात् स्त्री-पुत्र-बन्धु-बान्धव आदिके प्रति अलिप्त रहना, सदा प्रभुके ध्यानमें लगे रहना, तत्त्वज्ञानके अर्थके रूपमें भगवान्‌को सर्वत्र देखना यही ज्ञान है। भगवत्तत्त्वके अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार चक्रीय परिवर्तनके सिद्धान्तमें बँधा है। बीजसे वृक्ष, वृक्षका बीजमें समा जाना, बीजसे फिर वृक्ष—संसारका यह खेल इसी प्रकार आदि-अन्तसे रहित उसके निर्देशनमें चलता रहता है। सम्पूर्ण सत्ताका अस्तित्व परमात्माके कारण ही है। परब्रह्म पुरुषोत्तम सारी वस्तुओंके भीतर व्याप्त है। मानवकी आत्मामें तो उसका निवास है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है, शास्त्र निर्दिष्ट साधनोंद्वारा परमात्मकृपासे उसे जानकर साधक कृतकृत्य हो जाता है—

'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'

जिसे ईश्वरकी चाह है, उसीको भक्तिकी प्राप्ति होगी, जिसमें दृढ़ भक्ति होगी, उसीपर भगवत्-कृपा होगी, उसे ही वे वरण करेंगे और वही उन्हें प्राप्त करेगा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

विनयपत्रिकामें भगवत्तत्त्व

(लेखक—श्रीविजयकुमारजी शुक्ल, एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

'विनयपत्रिका' भक्तिका एक अपूर्व काव्य है। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामको परात्पर-ब्रह्म मानकर उन्हें अपनी यह रचना अर्पित की है। 'भगवत्' शब्द भग (ऐश्वर्य) शब्दमें मतुप् प्रत्ययके संयोगसे बना है। इसका अर्थ है—षडैश्वर्यवान्। 'विनयपत्रिका'में गोस्वामीजी श्रीरामको जगन्नियन्ता, ईश, अव्यक्त, सच्चिदानन्द आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं और अपनी पत्रिका प्रेषित करनेसे पूर्व भगवान्‌के विविध रूप—गणेश, सूर्य, शिव आदिकी भी स्तुति करते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार है—

गणपति तत्त्व

भगवान् शंकरके गण भूत-प्रेतादि हैं, जो अत्यन्त क्रूर स्वभावके हैं और सभी कार्योंमें प्रायः विघ्न उपस्थित करते हैं। गणेश गणोंके स्वामी या ईश हैं। स्वामीकी वन्दना करनेपर वे गण विघ्नकारक नहीं रहेंगे, अतः विनयपत्रिकामें उनकी सबसे पहले वन्दना की गयी।[1] पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें व्यासजीने विघ्नोंको दूर करनेके लिये गणेशजीकी पूजाका विधान बताया है। गणेशके नाम-रूप-गुण आदिके विषयमें 'विनयपत्रिका'में इस प्रकार कहा गया है—श्रीगणेश शंकरजीके सुवन तथा भवानी-नन्दन हैं। शिवजीके पुत्र और भवानीके आनन्द-कर्ता कहनेका भाव यह है कि गणेशजीका आविर्भाव जगदम्बाके गर्भसे नहीं हुआ है। पुराणोंमें गणेशके नामसे अभिहित किये जानेवाले देव वेदोंमें 'ब्रह्मणस्पति'के नामसे अभिहित किये गये हैं। ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रसे यह स्पष्ट है—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे
कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ
नः श्रवणवन्नूतिभिः सीदसदनम्॥

१–प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ। (मानस १।१९।४)

उपर्युक्त मन्त्रमें गणेश 'ब्रह्मणस्पति' कहे गये हैं। 'ब्रह्मन्' शब्दका अर्थ वाक् (वाणी) है। अतः ब्रह्मणस्पतिका अर्थ वाणीका पति या वाणीका स्वामी हुआ। आरण्यक भी ब्रह्मणस्पतिके इसी अर्थका प्रतिपादन करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—**'एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म, तस्या एव पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः। वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः।'**

गणेशके जिस रूपका वर्णन पुराणोंमें मिलता है, उसकी पुष्टि भी वैदिक मन्त्रोंसे होती है। उनमें गणपतिके 'महाहस्ती', 'एकदन्त', 'वक्रतुण्ड' तथा दन्ती नामोंका उल्लेख है।[2] गणपति शब्द इस अर्थका द्योतक है कि गणेश समस्त देवसमूहके रक्षक, महत्तत्त्वादि समस्त सृष्टि-तत्त्वके स्वामी हैं तथा जगत्की उत्पत्तिके कारण भी हैं। मौद्गलपुराणमें मनोवाणीमय सर्व दृश्यादृश्य जगत्का वाचक 'ग' तथा मनोवाणी विरहित जगत्का वाचक 'ण' वर्ण बताया गया है। अतः सर्वजगत्के ईश होनेके कारण गणपति हमारे सर्वतोमहान् आराध्यदेव हैं। ऐसे परमात्माका समस्त कार्योंके आरम्भमें स्मरण और पूजन पूर्णतः युक्तियुक्त है। गणेशकी मूर्ति साक्षात् (ॐ) प्रणव-जैसी प्रतीत होती है। शास्त्रोंमें गणेश ॐकारात्मक माने गये हैं। एक बार शिव-पार्वती चित्रलिखित प्रणव (ॐ) पर ध्यानावस्थित दृष्टिसे देख रहे थे। अकस्मात् 'ॐ'कारकी भित्तिको भङ्ग कर गजमुख गणेशजी प्रकट हो गये। शिव-पार्वती इन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। गणेशके ॐकारात्मक होनेके कारण सब देवोंमें पहले उनका पूजन होना उचित ही माना जाता है; क्योंकि प्रणव (ॐकार) सब श्रुतियोंके आदिमें प्रभूत माने जाते हैं। इसी कथाके आधारपर शिव और पार्वतीके मानस-पुत्र गणेशके होनेकी पुष्टि होती है।

सूर्यतत्त्व

'विनय-पत्रिका'में गणेश-स्तुतिके पश्चात् सूर्यकी वन्दना की गयी है। सूर्य आर्योंके प्रमुख देवोंमें हैं। सूर्यको ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी माना गया है—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः।
(सूर्योपनिषद्)

सूर्य जगत्के प्रकाशक हैं। मत्स्यपुराणमें सूर्यकी प्रतिमाके विधानमें इनके एक चक्रवाले दिव्य रथका जिसमें सात घोड़े जुते हैं—वर्णन है[3]। वह दिव्य वस्त्र मुकुटादिसे भी मण्डित है। पुराणोंमें सूर्यको 'त्रिमूर्ति' कहा गया है। वे ब्रह्म-विष्णु-शिव रूप हैं।[4] सूर्यके सारथि अरुण पङ्गु है। यह उनकी अत्यधिक दयाका प्रतीक है कि सारथिको पङ्गु होनेपर भी उन्होंने धारण किया है। सामान्यरूपसे संसारमें मनुष्यकी कार्यशक्ति क्षीण हो जानेपर उसे सेवा-मुक्त कर दिया जाता है, पर सूर्यने पङ्गुको भी अपना रखा है। उनके रथकी दिव्यताका कारण है—उसका एक चक्रयुक्त होना तथा उसमें सात घोड़ोंका जुतना।[5] सूर्यकी दिव्य तेजोराशि, अलौकिक शक्ति और संसारके लिये उनका कल्याणकारी स्वरूप उनकी भगवत्ता ज्ञापित करता है। वेदोंमें सूर्यसे सौ वर्षतक देखने, बोलने, सुनने और अदीन होकर जीवित रहनेकी प्रार्थना की गयी है।[6] सूर्यका तेज मेघ-जलादिसे सम्बन्धित होकर सप्तरश्मियोंसे युक्त इन्द्रधनुष्का उत्पादक होता है। सूर्य अपनी किरणोंसे सात

२—आत् न इन्द्र क्षुभन्तं चित्रं ग्रामं संगृभाय महाहस्ती दक्षिणेन। एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्॥ (तैत्तिरीयारण्यक) ३—मत्स्यपुराण २६०। १—४।

४—उदये ब्रह्मरूपस्तु मध्याह्ने तु महेश्वरः। अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिस्तु दिवाकरः॥ (भविष्यपुराण)

५—कुछ लोगोंद्वारा संवत्सरको रथका एक चक्र तथा सात रङ्गोंमें अश्वत्वकी कल्पना की भी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

६—शुक्लयजुर्वेद ३६। २४।

रंगोंका निर्माता है। विश्वके विभिन्नरूपोंकी सृष्टि इसीके द्वारा होती है। इसके रसका भौतिक रूप वर्षा है। इससे अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सूर्य रसराशि भी है।[७] गोस्वामी तुलसीदासके इष्टदेव रामका जन्म सूर्यवंशमें हुआ है, अतः उन्होंने उपर्युक्त महिमा और दिव्य गुणोंसे मण्डित सूर्यकी वन्दना दूसरे स्थानपर की है। श्रीरामको भी उन्होंने दिनेश,[८] भानुकुलकानन-विकासी[९] आदि उपमाओंसे विभूषित किया है।

शिवतत्त्व

गणेश और सूर्यके पश्चात् गोस्वामीजीने शिवकी स्तुति की है। शिव संसारका कल्याण करनेवाले हैं। उनका नाम शंकर भी है—**'शं करोति इति शंकरः'**।[१०] समुद्रमथनके समय संसारका कल्याण करनेके लिये उन्होंने विषपान किया था। त्रिपुरासुरको उन्होंने मनोवाञ्छित वरदान दिया, अतः वे अवढरदानी हैं।[११] काशीमें मरनेवालोंको वे राम-नामका मन्त्र देते हैं, अतः वे मुक्तिप्रदाता हैं। वे कामदेवके संहारक हैं।[१२]

कामदेवका निवासस्थान मन है। कामको भस्म किये जाने और रतिके विलाप एवं देवताओंके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर उन्होंने उसे अशरीरी होनेका वरदान दिया था। काम (कामनाओं)के नष्ट हुए बिना मनकी शुद्धि या एकाग्रता नहीं हो सकती और मनके एकाग्र और कामनाशून्य हो जानेपर ही वह परम-तत्त्व या भगवत्-तत्त्वकी अनुभूतिके योग्य बनाता है।

'विनयपत्रिका'में गोस्वामीजीने अनेक पदोंमें शिवकी वन्दना की है। इसके दो कारण हैं—(१) शिवकी उपासना उन्होंने 'काम'के विनाशके लिये की है; क्योंकि 'काम' श्रीरामकी भक्तिमें बाधक है।[१३] वह भगवद्भक्तिसे मनको हटाता है तथा मनमें स्त्री-धनविषयक तथा यशोविषयक कामनाओंको उद्बुद्ध करता है। शिव कामके शत्रु हैं। अतः उनकी स्तुतिसे भक्तिमार्गमें आनेवाली बड़ी-से-बड़ी बाधाको भी दूर किया जा सकता है। (२) शिवकी स्तुतिमें मायाके भेद-भ्रम-रूपको दूर करनेकी भी प्रार्थना की है।[१४] शिव स्वयं श्रीरामके परम भक्त हैं। श्रीराम सदा शिवके हृदयमें निवास करते हैं।[१५] रामकी सेवाके लिये ही उन्होंने हनुमदवतार भी धारण किया। इसी प्रकार उन्होंने काली एवं सीताके रूपमें शक्तितत्त्वका भी वर्णन किया है।

भगवद्रूप राम

गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामको परब्रह्म मानते हैं। वेद-स्मृति-पुराणोंमें ब्रह्मके जितने विशेषण प्राप्त हैं, विनयपत्रिकामें तुलसीके राम उन सभी विशेषणोंसे विभूषित हैं। विनयपत्रिकामें रामके दो रूप हैं—(१) मानव और (२) ब्रह्म। राम यद्यपि मानवके रूपमें हैं, तथापि तुलसी बार-बार इस बातका ध्यान दिलाते हैं कि वे वस्तुतः साक्षात् ब्रह्म हैं और नर-रूप धारण कर लीला कर रहे हैं।[१६] नर-रूपमें आनेपर श्रीरामके लौकिक और अलौकिक गुणोंका समन्वय हो जाता है। श्रीराममें अलौकिक भक्तवत्सलता एवं शरणागत-वत्सलताके साथ अलौकिक सौन्दर्य-शील और शक्ति है। सीता और राम[१७] उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे वाणी और अर्थ तथा जल और लहर[१८]। अवतारी रामके भी दो रूप हैं—सामान्य और असामान्य। विनयपत्रिकामें श्रीरामके असामान्य चरित्रका सम्बन्ध रामके अवतारी-रूपसे जोड़ दिया गया है।[१९] अपने सामान्यरूपमें भगवान् राम पूर्ण मानव हैं। उनका स्वभाव सरल है तथा वे

७—रघुवंश १। ११। ८—विनयपत्रिका ४५।३। ९—विनयपत्रिका ४४।२। १०—विनयपत्रिका १२।१। ११—वही ६।२। १२—विनयपत्रिका ७।५। १३—जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम। १४—विनयपत्रिका ७।५, १०।९। १५—वही १४।९। १६—मानस १।१३।३-४। १७—वही २।१२६ छन्द। १८—वही १।१८। १९—वही ७।११९ ख।

निर्गुण दो रूपोंमें आभासित होता है। यथा—आँखमें अँगुली लगाकर देखनेसे एक ही चन्द्रमा दो दिखायी देते हैं[२५]। वेदों और उपनिषदोंने निर्गुण-ब्रह्मका सगुण होना बताया है[२६]। पुरुषसूक्तमें सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्मका शरीर कहा गया है। 'विनय-पत्रिका'में रामको सगुण-निर्गुण, सकल दृश्य-द्रष्टा[२७] बताया गया है। राम सच्चिदानन्दघन हैं[२८]। श्रीरामके गुणोंके ज्ञाता शिव, हनुमान्, लक्ष्मण और भरत हैं। षड्-दर्शन, अष्टादश पुराण तथा वेद—सभी उनके गुणोंका भिन्नरूपसे गान करते हैं। विनय-पत्रिकामें कहा गया है—

समुझि समुझि गुनग्राम रामके, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम-पसाउ॥
(विनयपत्रिका १०० । १०)

लीला—निर्गुण-ब्रह्म संसारके पाप-तापको दूर करनेके लिये सगुणरूप धारण करता है[२९]। सगुण भगवान् रामकी लीलाएँ भक्त, ब्राह्मण, देवता, धेनु तथा भूमिके कल्याणके लिये हुई हैं[३०]। विनय-पत्रिकामें श्रीरामके द्वारा की गयी लीलाओंका उल्लेखमात्र किया गया है—

सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर
ख्याल ही कृपालु कीन्हे तारन-तरन।
पीर-उद्धरन! सील-सिंधु ढील देखियतु
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन॥
(विनयपत्रिका २४८ । ४)

गोस्वामी तुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें अपने दैन्यको ही प्रधानता दी है। अतः भगवान्‌की इन लीलाओंका स्मरणकर उनके प्रति अपनी दास्य भावनाका प्राबल्य प्रदर्शित किया है।

धाम—साकेत एवं अयोध्या भगवान् रामके नित्य एवं लीलाधाम हैं[३१]। वन्द्य अयोध्या नगरी[३२] रामके परम धामको देनेवाली है[३३]। भगवान् श्रीराम स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि वेद-पुराणादिमें वैकुण्ठकी महिमाका बहुत अधिक वर्णन है, किंतु अवधपुरीके समान तो वह भी मुझे प्रिय नहीं है[३४]। श्रीराम अपने धाम अयोध्यामें जन्म लेनेवालोंको मुक्ति प्रदान करते हैं।

'विनय-पत्रिका'में चित्रकूटको श्रीरामका प्रिय विहार-स्थल बताया गया है। श्रीगोस्वामीजी अपने मनको संबोधित करते हुए मनसे चित्रकूट चलनेके लिये कहते हैं। वनवास-अवधिमें चित्रकूट ही रामका विहार-स्थल था। अतः उसकी महिमा किसी प्रकारसे कम नहीं है। चित्रकूटका कामदगिरि सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला चिन्तामणि और कल्पवृक्ष है[३५]।

इस प्रकार विनय-पत्रिकाके भगवान् श्रीराम समस्त हेय गुणवर्जित अनन्त गुणराशि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे परे पूर्ण परब्रह्म हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के नियन्ता हैं। भक्तोंके हितके लिये वे सगुण-रूप धारणकर अवतार ग्रहण करते हैं। सगुणरूपमें उनकी की गयी लीलाएँ अमित माधुर्यसे ओत-प्रोत हैं। वे शील-शक्ति-सौन्दर्यके भंडार हैं। जगत्‌में धर्म-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। उनका सबसे बड़ा गुण है—करुणा। अतः करुणासागर भी हैं। संसार-सागरसे पार पानेके लिये उनके चरण-कमल नित्य वन्दनीय हैं—

बन्दौं रघुपति करुना-निधान। जाते छूटै भव-भेद-ज्ञान॥

२५—मानस १ । ११७ । २, २६—शुक्ल यजुर्वेद ३१ । १९, २७—विनयपत्रिका ५३ । ७, २८—वही ५५ । १, २९—गीता ४ । ७-८, तथा मानस १ । १२१ । ३-४, ३०—विनयपत्रिका ४३ । १-२ । ३१—विनयपत्रिका ४४ २, ५० । ९, ३२—मानस १ । ३५ । २, ३३—वही १ । १६ । १, ३४—वही ७ । ४ । २, ३५—विनयपत्रिका ६६ । ४ ।

किसको भजूँ ?

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

इस विश्वका परम कारण कौन है ? इसका अन्वेषण अनन्तकालसे चल रहा है । यह विश्व कहाँसे आया, इसकी गति किस ओर है ? वृक्षादि मूढ योनियोंसे ज्ञानी मनुष्यका उत्कर्ष किस प्रकार सार्थक होगा ? ऋषि, मुनि, साधु, सज्जन, ज्ञानी, गुणी, विज्ञानी और कल्याणकामी लोगोंने कितनी ही बार इन सब बातोंपर विचार किया होगा । प्रगतिका पथ प्रशस्त और आलोकित करनेके लिये प्राचीन मनीषियोंका अनुसरण करना चाहिये । **'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'**—संसारका ज्ञानभण्डार व्यासका उच्छिष्ट-सा है—ऐसी प्रसिद्धि एवं मान्यता रही है । विश्वके कारणानुसंधानमें अग्रदूत, ज्ञान-विज्ञान-विग्रह व्यासकी बात सर्वप्रथम विचारणीय है । विरक्तके अनुसार संसारमें छः भावविकार हैं । वे हैं—(१) जन्म, (२) अस्तित्व, (३) वृद्धि, (४) विपरिणाम, (५) अपक्षय एवं (६) विनाश । ज्ञानी पण्डितोंने फिर यह भी स्थिर किया कि सभी कारणोंका कारण परमात्मा इन छः प्रकारके भावविकारोंके अधीन नहीं हो सकता । निश्चय ही वह इन सबसे अतीत है । पर कालकी गोदमें रहनेवाले सभी संसारी इन्हीं भावविकारोंके अधीन हैं । मात्र परम पुरुषोत्तम निश्चय ही इन भावविकारोंसे मुक्त है । 'वेदान्तसूत्रमें' व्यासजी कहते हैं—**'जन्माद्यस्य यतः ।'** इस विश्वगोचरका जन्म, स्थिति और प्रलय जिससे होता है, वह परमतत्त्व ही हमारे अनुसंधानकी वस्तु है । वही वस्तु आनन्दमय है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

भगवान्का शरीर प्राकृत नहीं है । वह कार्य भी नहीं है । कार्यका अभाव होनेके कारण उनकी प्राकृत इन्द्रियाँ भी नहीं हैं । उनके समान या उनसे अधिक भी किसीको नहीं कहा जा सकता । उनकी ये ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियाँ विचित्र, अगणित एवं अपनी स्वाभाविक हैं । विष्णु त्रिलोकके स्रष्टा हैं । अग्नि, वायु, आदित्य सभी उनकी सृष्टि हैं । प्रत्येक धूलिकण उनकी सृजनी-शक्तिका फल है । उनकी महिमाकी बात ऋग्वेद कहते हैं—

'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः
पार्थिवानि विममे रजांसि ।'
(ऋक्संहिता २ । २ । २४)

परम ईश्वर विष्णुके परमधाममें माधुर्यका उत्स निकलता है । इसी विष्णुलोकमें गमनकर मनुष्यगण पूर्ण तृप्तिलाभ करते हैं । विष्णुका प्रियधाम सबका ही सेव्य है । वह स्थान ही सबका अभिलषित है ।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥
(ऋक्संहिता १ । १५४ । ५)

—'जो लोग भगवान्के प्रति ऐकान्तिक भाव धारण करते हैं एवं सर्वदा प्रार्थनानिरत रहते हैं, वे ही सब भ्रान्तिहीन मानव विष्णुका परम पद लाभ करते हैं—'

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते
विष्णोर्यत् परमं पदम् । (ऋ० १ । २२ । २१)

—'हे स्तोतृवृन्द ! आपलोग विष्णुको ही प्रथम स्तवनीयके रूपमें समझें । वे ही अनादि, सिद्ध, यज्ञ एवं यज्ञेश्वर हैं । यज्ञ ही विष्णु हैं । उनकी महिमाके विज्ञानके लिये ही उनकी स्तुति करनेका प्रयोजन है । वे सर्वव्यापक हैं । उनका नाम नमस्य है और वे सर्वप्रकारकी

अभिलाषाओंका परिपूर्ण करनेमें समर्थ हैं।' विष्णुका नाम भी स्वयं विष्णुकी भाँति ही सर्वव्यापी है—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
यस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
(ऋ० २।२।२६)

'तुम उसका ही एक कथामें प्रसिद्धि-प्राप्त सर्ववेद-सुनिर्धारित परम देवताका ही स्तवन करो। वही सुनिर्धारित परम देवता भगवान् श्रीकृष्ण हैं'— इस मन्त्रके तात्पर्य-वर्णन-प्रसङ्गमें 'श्रीहरिभक्तिविलास'की टीकामें कई सुन्दर विषयोंका उल्लेख किया गया है। किस प्रकार उसकी स्तुति करनी होगी—यही लक्ष्य करके कहते हैं—**'यथाविद्'** अर्थात् जिस प्रकार एवं जितना जानो उसी प्रकार महिमाकीर्तन करो। उसके स्तोत्र-कीर्तनका कोई नपा-तुला नियम नहीं है। उनका क्या रूप है, यदि इस बातकी जिज्ञासा करते हो तो ऐसा होनेपर कहा जाता है 'पूर्व' पुरातन। अभी द्वापरमें, कलिमें अवतार हुआ है यह मानकर नूतन मत समझ लेना। वे सब अवतारोंका अवतारी हैं। **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥** वही वेदके गर्भ **'ऋतस्य गर्भम्'** या तात्पर्यगोचर सारस्वरूप सच्चिदानन्दघन मूर्ति हैं—**'तं देवं जनुषा पिपर्तन'** स्वच्छन्द चरित्रवाले उनके बहुविध मत्स्यादि अवतारोंकी लीलाकथाओंद्वारा परिपूर्णरूपमें उनका वर्णन करो। पण्डितगण! आपलोगोंने उनको सर्वोत्कृष्टरूपमें ही अवधारण (निश्चय) किया है। आप **'आ विविक्तन'**—सम्यक्-रूपमें उनकी महिमाका कीर्तन करें। भगवन्! हम आपको ठीक-ठीक जाननेमें भी असमर्थ हैं और स्तवनमें भी शक्तिहीन हैं। हमलोग आपके नामका ही भजन करते हैं। आपका नाम-सेवाद्वारा ही आपकी सम्यक् स्मृति, ज्ञान एवं कीर्तन सम्पन्न होगा। भगवान्के नामकीर्तनद्वारा ही उनके प्रति आसक्ति-अनुराग उद्भूत होता है। अतएव नाम ही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ अवलम्बन है। अर्जुन कहते हैं—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
(गीता ११।३६)

'हृषीकेश! आपकी महिमाके कीर्तनमें समस्त जगत् हर्षित और आपके प्रति अनुरक्त होता है, यह उचित ही है। क्योंकि आप ही सबके आदिदेव, पुराणपुरुष एवं विश्वके परम आश्रय हैं—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

श्रीसनत्कुमारजीने पृथुसे कहा था 'जिनके चरणोंकी भक्ति—भजनसे संत लोग कर्मग्रन्थिको छिन्न कर डालते हैं, वे भगवान् वासुदेव ही भजनीय हैं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
(श्रीमद्भा० ४।२२।३९)

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ही एकमात्र भजनीय 'तत्त्व' सिद्ध होते हैं।

श्रीकृष्णकी भक्ति ही श्रेष्ठ है

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० १।११)

'प्रपत्तिकी अनुकूल-भावनासे (प्रेमपूर्वक) श्रीकृष्णका तत्त्वतः अनुशीलनरूपी भजन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है, जिस भजनमें न तो कामना हो, न जिसपर ज्ञान-कर्म आदिका आग्रहावरण हो।'

सबमें रमता राम तुही

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

प्रकृतिकी रंग-बिरंगी फुलवारीको देखकर, मानव-पशु, पक्षी, कीट-पतंगों आदिकी अद्भुत सृष्टिको देखकर, सूर्य-चन्द्र-तारोंको, षड्-ऋतुओंको यथासमय चक्कर लगाते देखकर मानव सहज ही सोचने लगता है कि निश्चय ही इस सारे खेलके पीछे कोई परम कुशल मदारी है । बड़ा चतुर है वह मदारी—**'पत्ते पत्तेकी कतरन न्यारी, हाथ कतरनी कहीं नहीं ।'**

सृष्टिके सौन्दर्यको देखकर ऋषिलोग उस अनुपम स्रष्टाकी खोजमें लग गये । उनका चिन्तन-मनन, ध्यान, धारणा और समाधि—सबका लक्ष्य यही रहा कि उस परम ज्ञानी नियन्ताका पता लगे । 'कैसा है, वह ? कैसा है उसका स्वरूप ? क्या-क्या हैं उसमें गुण ?' आदि आदि । यह खोज चलती रही, शताब्दियों, सहस्राब्दियोंतक चलती रही । पर वह मदारी, जादूगर तो सहज पकड़में आनेवाला नहीं जो कोई उसे देख पाता है, समझ पाता है, उसमें यह शक्ति और सामर्थ्य नहीं कि उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर सके—**'जो जानै सो कहै नहिं कहै सो जानै नाहिं !' 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'** वाली स्थिति आ जाती है—गूँगेका गुड़ है, वह ।

× × ×

ऋषियोंने हृदयकी पावन-गुहामें समय-समयपर उस अनुपम रूपराशिके जो दर्शन किये, वे कभी-कभी वेदकी ऋचाओंके रूपमें मुखरित हो उठे । आइये, हम उन्हींके सहारे उस परमतत्त्वकी हलकी-सी झाँकी करनेका प्रयत्न करें । ऋषि कहते हैं—**'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥'** (शुक्लयजु० ४०।८)

तू अकाय अव्रण अस्नाविर परम शुद्ध है ब्रह्म तुही ।
कवि त्रिकालदर्शी सुमनीषी, सबका कर्ता एक तुही ॥
तू अकाम निष्काम धीर है, ज्योतिरूप है विश्वम्भर ।
अजर-अमर आनन्दपूर्ण है, देव दयामय एक तुही ॥
तू परिभू है तू ही स्वयंभू तू प्रकाश देता रविको ।
रससे रहता सदा तृप्त तू देवोंका भी देव तुही ॥

हे प्रभु ! तू सारे जगका रचयिता है, । तू कारण, सूक्ष्म और स्थूल-शरीरोंसे रहित है । नस-नाड़ीके बन्धनोंसे तू मुक्त है । तू शुद्ध है, पवित्र है, अपापविद्ध है । तू कवि है, मनीषी है, त्रिकालदर्शी है, सर्वव्यापी है, स्वयम्भू है । तू अनादिकालसे जीवोंको वेदोंद्वारा ज्ञान देता आया है ।'

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्ववेद १० । ८ । ४४)

'वह परमेश्वर परम प्रभु निष्काम है, धीर है, अमर है, स्वयम्भू है, अनादि है । वह रससे तृप्त है, आनन्दमय है । सर्वथा परिपूर्ण है । उस परमतत्त्वको जो लोग जान लेते हैं, उन्हें जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता ।' ऋषियोंने आँख खोलकर जब उस परम तत्त्वके दर्शन किये तो उन्हें लगा कि यह तत्त्व तो यत्र-तत्र-सर्वत्र फैला है । फिर तो भीतर-बाहर, ऊपर नीचे—उनका रोम-रोम पुकार उठा—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

(ऋ० १० । ९० । १)

और—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

(शुक्लयजु० १७ । १०)

कैसा अद्भुत है वह परम प्रभु ! वह परमपुरुष अनन्त सिरोंवाला, नेत्रोंवाला, अनन्त पग हैं उसके। वह सारी पृथ्वीको, सारी भूमिको, सारे ब्रह्माण्डोंको चारों ओरसे पूर रहा है। इतना होनेपर भी वह सबसे दस अङ्गुल ऊपर है अर्थात् वह हमारी दर्शन और परिगणनकी सीमासे कहीं परे है।

अनन्त नेत्रोंसे देखता है वह परमेश्वर, अनन्त मुखोंसे बोलता है। अनन्त भुजाएँ हैं उसकी—'दयालु दीनबन्धुके बड़े विशाल हाथ हैं।'—वह अनन्त बल और पराक्रमसे भरा है। सर्वव्यापी है, वह एक है, अद्वितीय है। वह स्वयम्प्रकाशरूप है। वह सूर्य और पृथ्वीको कार्यरूपमें प्रकट करता है। अनन्त बल-पराक्रमद्वारा वह सबको धारण करता है। अर्थात्—

सारे जगको है तू लखता नहीं छिपा तुझसे कुछ भी।
सबके घटमें तू बसता है, सबमें व्यापक एक तु ही॥
तू अनन्त बाहोंवाला है भरा पराक्रम औ बलसे।
द्यावा पृथिवीका प्रकाश तू भरता सबमें ज्योति तु ही॥

'त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः विश्वकर्मा विश्वदेवो महां असि।' (सामवेद उत्तर० १०। २६)

हे प्रभु ! तू सबसे महान् है, सबसे बड़ा है। तू सूर्यको प्रकाश देता है, तू विश्वकर्मा है, सारे विश्वका रचयिता है। तू विश्वदेव है। देवोंका भी देव है। तेरी महत्ताका पार नहीं।

वेदमें परमेश्वरके अनेक नाम मिलते हैं—अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, मातरिश्वा, मघवन आदि। और सभी एकसे-एक महान्। क्या है इसका रहस्य ? कि प्रभु एक, रूप अनेक, तो नाम भी अनेक। ऋषियोंने इस तथ्यको समझा और गहराईसे समझा। वे कहते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १। १६४। ४६)

ज्ञानीलोग एकमात्र सत्ताधारी परमेश्वरको अनेक नामोंसे पुकारते हैं। जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि। वही प्रभु दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण भी हैं, वे ही यम हैं, वे ही मातरिश्वा हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजुर्वेद ३२। १)

इन्द्र अग्नि सविता है तू ही मित्र, विष्णु और वरुण तुही।
पूषन मघवन जगन्नियन्ता रुद्र और शिव एक तु ही॥
तु ही बृहस्पति वाचस्पति है मघवा मंगलधाम तुही।
अदिती माता भूमिद्यावा सब रूपोंमें एक तु ही॥
कहें मातरिश्वा हम तुझको गरुत्मान या सोम कहें।
कह सुपर्ण हम तुझे पुकारें उत्तरदाता प्रभू तु ही॥

× × ×

ऋषियोंकी यह अनुभूति अद्वैतवादकी परम पवित्र और सर्वोत्तम भूमिका है। नानारूपोंमें उन्होंने एक ही परम प्रभुके दर्शन किये। विविधतामें एकताकी यह पृष्ठभूमि परम मंगलमय, आनन्दमय और शान्तिमय है। ऋषि कहते हैं—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय॥'** (ऋ० ६। ४७। १८)

परमेश्वरने नाना रूप धारण कर रखे हैं। यत्र-तत्र सर्वत्र हमें उसीके दर्शन होते हैं—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥
(ऋ० १०। ११४। ५)

तत्त्वदर्शीलोग परमेश्वरको एक होते हुए भी नानारूपोंमें कल्पित करते हैं। इसीलिये ऋषि सभी नाम-रूपोंकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या
नामानि देवा उत यज्ञियानि वः॥
(ऋग्वेद १०। ६३। २)

हे प्रभो ! तेरे सभी नाम आदरणीय हैं, सभी वन्दनीय हैं। आइये, हम भी उस परमतत्त्वके चरणोंमें यही निवेदन करें—

नाम रूप तेरे अनन्त हैं करते हम वन्दन तेरा।
कवि ज्ञानी कहते सम स्वरसे—सबमें रमता राम तु ही॥

प्रणव—भगवत्तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक एम्० ए० (द्वय), पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार प्र उपसर्गपूर्वक स्तुत्यर्थक नू धातुसे करणार्थक अप् प्रत्यय णत्वके द्वारा प्रणव शब्दकी निष्पत्ति होती है। 'प्रणूयतेऽनेन इति प्रणवः'का शाब्दिक अर्थ है—'वह साधन या करण जिससे भगवान्‌की स्तुति की जाय।'[1] प्रणवका दूसरा पर्याय 'ओम्' है। रक्षणार्थक 'अव्' धातु एवं 'मन्' प्रत्ययके योगसे 'ओम्' बनता है। इसका अर्थ है—त्राणकर्ता या रक्षक। कोशोंके अनुसार ये दोनों शब्द समानार्थक हैं।[2] ओम् पद अ, उ और म् इन तीन वर्णोंके योगसे बना है। प्रथम अक्षर 'अ' ब्रह्म, विष्णु, शिव, वायु और वैश्वानरका वाचक है। 'उ' शिव और ब्रह्मका वाचक है और अन्तिम अक्षर 'म' ब्रह्मा-विष्णु-शिव-यम आदि तत्त्वका अभिधायक है।[3] भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो मनुष्य (व्यक्ति) समस्त इन्द्रिय-द्वारोंको रोककर और मनको हृदय-देशमें स्थिरकर, प्राणको मस्तकमें स्थापित कर परमात्मसम्बन्धी योग-धारणामें स्थित हो 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ देहको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगति मोक्षको प्राप्त होता है।'[4] भगवान् कृष्णने ब्रह्म सच्चिदानन्दघनका नाम निर्देश तीन प्रकारसे किया है—(१) ॐ, (२) तत्, (३) सत्। इन्हीं तीन नामोंसे सृष्टिके आदिमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि तत्त्वोंकी रचना हुई।[5] इन तीन नामोंमें प्रणवका ही प्राथम्य है। ओंकारके महत्त्वके वर्णनमें उपनिषद्‌का प्रतिपादन है कि 'सम्पूर्ण वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तपस्याएँ जिसके अन्तर्गत हैं, जिसकी इच्छासे ब्रह्मचारी व्रतका परिपालन करते हैं, संक्षिप्त रूप 'ॐ' ही उसका पद है। अतएव इस अक्षर 'ॐ' प्रणवको जानकर जो पुरुष जो चाहता है, उसे वही प्राप्त हो जाता है। यह तत्त्व परम आलम्बन है, इसे जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महामहिमामय हो जाता है।[6]'

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो कुछ भूत-भविष्यत् और वर्तमान है यह सब व्याख्यारूप ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु हैं वे सब भी ओंकार हैं।[7] यह जितना भी प्रतिपाद्यरूप पदार्थसमूह है, वह अपने प्रतिपादकसे अभिन्न होनेके कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकारसे अभिन्न होनेके कारण यह सब कुछ अनुभूयमान पदार्थ ओंकार ही है। परब्रह्म भी वाच्य-वाचक उपायोंके द्वारा ही जाना जाता है, इसलिये यह भी ओंकार ही है। छान्दोग्य-उपनिषद्‌के अनुसार 'ॐ' यह पद परमात्माका निकटतम नाम है। इसके उच्चारणसे उपासक वैसा ही प्रसन्न होता है, जैसे अपने प्रेमीके नाम सुनकर सांसारिक जन प्रसन्नताका अनुभव करते हैं। आचार्य शंकरने प्रणवको ब्रह्मका अर्थरूप माना है और प्रतिपादन किया है कि प्रणवके द्वारा हृदयमें मन आदि इन्द्रियोंको

१–'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति प्रणवः' (पातञ्जलयोग-दर्शन १ । २७) २–अमर०, १ । ६ । ४ 'ओंकारप्रणवौ समौ'

३–संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ–पृ० १, २१८, २१९, ८४७ । ४–गीता ८ । १२, १३

५–ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ (गीता १७ । २३)

६–सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(कठोप० १ । २ । १५, १७)

७–ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । (माण्डूक्योप० १ । १)

संयमित कर विद्वान् साधक संसार-सरिताको अनायास ही पार कर जाता है।

प्रणवकी व्यापकता

पौराणिकमतसे भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—समस्त त्रिलोकी प्रणव (ॐ)से ओत-प्रोत है। प्रणव ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—लोक-चतुष्टयका प्रतीक है। प्रणव ब्रह्मको ही जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण माना गया है। शब्दशास्त्रके अनुसार अकार-उकार-मकार इन भिन्नाक्षरोंके योगसे 'ॐ' शब्द निष्पन्न हुआ है। इन तीन अक्षरोंसे भिन्न रहनेपर भी ॐकार ज्ञानियोंके लिये अभिन्न ही है। एक इसके अतिरिक्त किसी भी तत्व या पदार्थका अस्तित्व नहीं माना गया है।[8] ओंकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप धर्मोंसे युक्त होकर सर्वत्र विद्यमान भगवान् विष्णुका अभिन्न रूप माना गया है।[9] वह निखिल वाङ्मयोंका अधिपतिरूप घोषित किया गया है। सूर्य विष्णुके श्रेष्ठ अंश और निर्विकार, अन्तर्ज्योति हैं। ओंकार विष्णुका वाचक ही है।[10] स्वायम्भुव मनुने प्रणवके साथ भगवान्के नामजपके प्रणवसे त्रैलोक्यदुर्लभ अभिलषित सिद्धि प्राप्त की थी तथा सप्तर्षियोंके द्वारा उपदेश पाकर उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने इसी मन्त्र-जपके प्रभावसे तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट और अक्षयपद प्राप्त किया था, यह पौराणिक घोषणा है।[11]

उपर्युक्त विवेचनसे निष्कर्ष निकलता है कि विश्वमें कोई तत्व या पदार्थ ऐसा नहीं, जहाँ प्रणवतत्त्वकी व्यापकता न हो। सम्पूर्ण यज्ञाचरण, तपश्चरण आदि सत्कर्मोंकी सिद्धिमें ॐ (प्रणव) ही मूल कारण है और बिना प्रणवके किसी भी क्रियामें सिद्धि असम्भव है। अतएव ओंकारके साधनमें ही समस्त सत्क्रियाएँ निहित हैं।

भगवत्तत्त्व और नामतत्त्व

(लेखक—श्रीरामपदारथसिंहजी)

श्रीभगवान्की भक्तिसे भगवत्कृपाद्वारा आसक्तिरहित भक्तको भगवत्तत्त्वका अनुभव होता है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

(श्रीमद्भा० १।२।२०)

गीता भी यही कहती है—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'

(१८।५५)

रामचरितमानसका भी कथन है कि भगवान् कृपा करके अपने भक्तोंको अपने सम्बन्धमें जब जना देते हैं, तब वे उन्हें जानते हैं—

'तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उरचंदन॥'

(२।१२६।४)

भक्तिके विविध भेदोंमें भगवन्नाम-जप अग्रगण्य है—

भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२२)

दूसरे सभी साधन नामाधीन हैं—

भक्ति-बैराग्य-बिग्यान-सम-दान-दम, नाम, आधीन साधन अनेकं।

(विनय० ४६)

भगवत्तत्त्वबोधार्थ भगवन्नाम-जपकी सब साधनोंसे श्रेष्ठता शास्त्र-सिद्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजीका मत है कि नामके बिना रूपका ज्ञान नहीं होता—

रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना। (रामच० मा० १।२१)

व्यावहारिक जीवनमें देखनेमें आता है कि हथेलीपर भी प्राप्त पदार्थका ज्ञान नामके बिना नहीं होता—

रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने॥

(१।२१।५)

८–द्र०-विष्णुपुराण ३।३।२१-२२। ९–वही तथा माण्डूक्योपनिषद् १।८।११

१०–ओंकारो भगवान् विष्णुस्त्रिधामा वचसां पतिः। .... ॥
वैष्णवोंऽशः परः सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसम्प्लवम्। अभिधायक ओंकारस्तस्य तत्प्रेरकः परः॥
(विष्णुपु० २।८।५५-५६) ११–वही १।११-१२।

श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रसे भी यह बात सिद्ध होती है। स्वयं भगवान् श्रीहनुमान्‌जीके सम्मुख खड़े थे और वे विकल्पमें पड़े पूछ रहे थे कि वे कौन हैं। भगवान् श्रीरामने जब अपना नाम बतलाकर परिचय दिया, तब वे उन्हें पहचानकर उनके चरणोंमें गिरे—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥
प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

(रामच० मा० ४। २। १-३)

इस नामयुक्त परिचयसे श्रीहनुमान्‌जीको भगवान्‌के स्वरूपकी पहचान मिल गयी और उन्हें वह वर्णनातीत सुख प्राप्त हुआ, जो भगवान्‌के समक्ष रहनेपर भी बिना नाम जाने अप्राप्त था।

इस प्रसङ्गसे भगवान्‌के नामके महत्त्वका अनुमान किया जा सकता है। भगवत्तत्त्वका ज्ञान बहुत कम लोगोंको होता है। ज्ञान सर्वाधिक दुर्लभ वस्तु है—'नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।(रामच० मा० ७। ११४)। सामान्यतः यह निश्चित करना भी कठिन होता है कि भगवान् सगुण हैं या निर्गुण। जिन्हें निश्चय हो जाता है, उनमें भी वादालम्बन और पक्षपात पाया जाता है। रामचरित-मानसका लोमस-भुशुण्डि-प्रसङ्ग इसका उदाहरण है। पर श्रीभगवन्नाममें इन दोनों समस्याओंका समाधान है। नामद्वारा भगवान्‌के निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंका ज्ञान होता है। नामको निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंके बीचका सुसाक्षी और दोनों स्वरूपोंका प्रबोध करानेवाला चतुर दुभाषिया कहा गया है—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

(रामच० मा० १। २१। ४)

भगवन्नाम सुसाक्षीके समान है। वह निर्गुण-सगुण-सम्बन्धी उलझनको मिटाकर दर्शाता है—'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा'। एक नामाराधनहीसे निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंकी आराधना भी हो जाती है। नाम वह चतुर दुभाषिया है, जो निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंका प्रकर्ष बोध कराकर दृढ़ प्रीति करा देता है। इसीलिये भगवान्‌के रूपको न माननेवाले भी भगवान्‌के नामको जपते हैं। भगवान्‌के निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूप अनादि हैं, सनातन हैं—

'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

(रामच० मा० १। २३। १)

सगुण स्वरूप व्यक्त विश्वमें सदा व्यक्त नहीं रहता है। इसलिये वह ध्यानका विषय है। ध्यानमें प्रीतियुक्त रुचि विशेष सहायक है। निर्गुण स्वरूप मनसे दूर है, वह समझमें नहीं आता। अतः भगवान्‌के दोनों स्वरूप सबके लिये सुगम-सुबोध्य नहीं हैं, दोनों अगम हैं, पर नामसे दोनों सुगम हो जाते हैं—'उभय अगम जुग सुगम नाम ते' (रामच० मा० १। २३)। गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीमें दोनों स्वरूपोंकी उपासनामें आनेवाली कठिनाइयोंके परिहारके लिये एक ही अचूक औषध सुझाया है, वह है—भगवान्‌के नामका जप—

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु रामको नाम सजीवनि मूरि॥

(दोहा० ८)

भगवन्नाम सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपोंकी प्राप्ति ही नहीं कराता, अपितु दोनोंको वशमें कर लेता है—

'मोरे मत बड़ नामु दुहू तें। किये जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥

(रामच० मा० १। २३)

नामका पराक्रम अद्भुत है। वे भगवान्‌के अजित रूपको बिना किसी साहाय्यके अपने बलसे ही वशमें कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि बिना किसी अन्य साधनका अवलम्बन लिये केवल नाम-जपसे भगवान् वशीभूत हो जाते हैं। श्रीहनुमान्‌जी इसके प्रमाण

हैं, उन्होंने नाम-स्मरणद्वारा भगवान्‌को अपने वशमें कर रखा है—

'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
(रामच० मा० १ । २६)

आर्ष ग्रन्थोंके अनुसार भगवान्‌के नाम और रूपमें भेद नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌को 'मन्त्रमूर्ति' कहा गया है और नामद्वारा पूजनका परामर्श दिया गया है—

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥
(१ । ५ । ३८)

'इस प्रकार जो पुरुष भगवन्मूर्तियोंके नामद्वारा प्राकृतरूपरहित मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन करता है, उसीका ज्ञान यथार्थ है।' इससे यह सिद्ध होता है कि मन्त्र भगवान्‌की मूर्ति है। नाम तो महामन्त्र है। जिह्वापर नामका आना, वहाँ भगवान्‌का आना है। अतः भगवान्‌में जैसी आराध्य-निष्ठा होती है, वैसी ही निष्ठा नाममें भी होनी चाहिये। अनुभवी नामाराधकोंका अनुभव है कि नाममें आराध्य-निष्ठाका उदय होनेसे आराधकके हृदयमें नामीकी सम्पूर्ण लीलाएँ विशेष प्रभावी रूपमें प्रकट होने लगती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानस-(१ । २४-२५) में श्रीरामावतारमें भगवान् श्रीरामद्वाराकी गयी सम्पूर्ण लीलाओंको नामाराधनद्वारा आराधकके जीवनमें होते दिखाया है। भगवान् श्रीरामने अवतरित होकर साधु-संरक्षण, ससैन्यसुत-ताडका विनाशन, अहल्योद्धारण, श्रीशिवधनुष-खण्डन, दण्डकवन-सुहावनकरण, निशिचर-निकर-दलन, शवरी-गीध-सुगति-दान, सुग्रीव-विभीषण आश्रय-दान, सेतुबंधन, सकुल रावणवध, राज्यसंचालन-द्वारा प्रजापालन आदि प्रधान लीलाएँ कीं। पर—नाम-जपसे तो साधकके हृदयमें नाम अवतरित होकर अपार मोदमङ्गलका निधान बना देते हैं। नाम-निष्ठासे दास-दोष-दुःख-दुराशारूपी ससैन्यसुत ताडका विनष्ट होती है, और कुमति रूपी अहल्याएँ सुधर जाती हैं, जनमनरूपी अनेक दण्डकवन पवित्र होते हैं, सकल कलिकलुषरूपी निशिचर-निकरका अनायास दलन हो जाता है। शवरी-जटायु तो सुसेवक थे, नाम कृपाकर अनेक खलोंका उद्धार करते हैं। सुग्रीव-विभीषण तो दो थे, नाम उनके जैसे असंख्य दीनोंपर दया करते हैं। नाम लेनेसे संसार-सागर सूख जाता है, बड़े-बड़े अनुष्ठान-रूपी पुल बाँधनेके परिश्रमकी आवश्यकता नहीं होती। सेवक सप्रेम नामस्मरणसे मोहरूपी रावण और उसके दलको जीतकर स्वच्छन्द अपने सुखमें विचरते हैं। नामकी कृपासे उनको स्वप्नमें भी सोच नहीं सताता। इस प्रकार श्रीरामावतारके सभी प्रमुख कार्य श्रीरामनामा-राधनद्वारा सम्पन्न होनेका सुस्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसलिये नामको इष्ट मानकर नाम-जप करनेसे सब कुछ सुलभ होता है, इसमें संदेह नहीं। यह शास्त्रका संकेत है।

नाम-जपमें—**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (पा० यो० द० १ । २८)का भी विधान है, पर उसकी अनिवार्यता नहीं; केवल जप आवश्यक है। मनमें नामाक्षरकी भावना करके जप करना चाहिये अथवा केवल जप भी किया जा सकता है। नामस्मरणसे नामी खिंचा चला आता है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
(राम च० मा० १ । २०)

गोस्वामी तुलसीदासजीका अटल विश्वास है कि केवल नामाश्रयणसे भी श्रीभगवान् कभी-न-कभी अवश्य ढरेंगे।—

मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,
गति राम-नाम ही की विपति-हरनि।
राम-नामसों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि॥
(विनय प० १८४)

दम्भ साधकका शत्रु है। वह सत्कर्मोंको उड़ा ले जाता है और साधकके हाथों कुछ नहीं लगता। 'विनयपत्रिका'में दम्भके दुष्कार्यको दिखाया गया है—

करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत उँजोरि॥
(विनयप० १५८)

मनमें कोई बुरी बात रखना और बाहर लोगोंको नवीन क्रिया दिखाना दम्भ है। दम्भीका विश्वास नहीं। परमोदार भगवान् श्रीराम भी दम्भी-कपटीको पसन्द नहीं करते हैं। उनका कहना है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(रामच० मा० ५। ४४। ५)

लेकिन उनके नामका औदार्य और शक्ति आश्चर्यमय है। नामका द्वार दम्भीके लिये भी खुला है। दिखावेके लिये किया गया नाम-जप भी निष्फल नहीं होता। दम्भ उसे उड़ा नहीं सकता है। दम्भपूर्वक जप भी सोच-सागरको सोखनेके लिये अगस्त्यजीके समान बन जाता है। नामके ऐश्वर्यका उद्घाटन नामके प्रभावका उत्तम ज्ञान रखनेवाले भगवान् शिवने किया है—

संभु सिखवन रसन हूँ नित राम-नामहि घोसु।
दंभहू कलि नाम कुंभज सोच-सागर-सोसु॥
(विनयप० १५९)

मन और मन्त्रके योगका नाम जप है। मनसे न बन पड़े तो केवल जिह्वासे जैसे-तैसे भी नाम-जपका माहात्म्य है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
(रामच० मा० १। २८)

इसका तात्पर्य यह नहीं कि नाम दम्भ-कुभावादिसे जपे जायँ, बल्कि किसी भी प्रकारसे जपना न जपनेसे अच्छा है। प्रतीति, प्रीति और सुरीतिसे किया गया नाम-जप आदि-मध्य-अन्त तीनों कालोंमें कल्याणकारी है। ऐसा एक बारका नामोच्चारण भी तरनेवाला ही नहीं, तारनेवाला बना देता है—

बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥
(रामच० मा० २। २१५)

गजराज तो आधा नाम ही बोल पाया था, पर उसका उद्धार हो गया—

तर्‌यो गयंद जाके अर्द्ध नायँ (विनयप० ८३)।

भगवान‌्के नाम अनन्त हैं। सभी अनन्त महिमामय हैं, पर श्रीरामनामकी एक स्पष्ट विशेषता सबकी समझमें आनेयोग्य है। वह है—उसका सुमधुर उच्चारण। मुँहको खोलकर पुनः बंद कर लेनेमात्रसे श्रीराम-नामका उच्चारण सुखपूर्वक हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इस विशेषताकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है—

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। (रामच० मा० १।२०।२)

कलियुगके लोग स्वल्प सामर्थ्यवाले हैं। इन्हें स्वल्पायाससे सिद्ध होनेवाली साधना चाहिये। इस दृष्टिसे श्रीरामनाम सर्वाधिक सरल और सुखोपास्य है। देवर्षि नारदने वरदान माँगकर श्रीरामनामको अन्य नामोंसे बड़ा करवाया—

तब नारद बोले हरषाई। अस बर मागउँ करउँ ढिठाई॥
जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह तें अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥
(रामच० मा० ३। ४२। ६—८)

ऐसा प्रतीत होता है कि नारदजीने लोगोंद्वारा श्रीरामनामके प्रति अनादरकी भावना निराकरण कराया है। छोटे आकारको देखकर भगवन्नामको छोटा समझना भी स्वयं घाटेमें रहना है। नाम देखनेमें छोटा होनेपर भी महान् है। जैसे पृथ्वी बीजमय है और आकाश नक्षत्रमय, वैसे ही नाममें सभी छोटे-बड़े धर्म समाये हुए हैं—

यथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास ।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास ॥
(दोहावली २९)

अविश्वास, आलस्य, प्रमाद आदि नाम-जपमें बाधा हैं । इन्हें प्रयत्नपूर्वक छोड़कर जपका अभ्यास करना चाहिये । अन्तकालकी असमर्थताकी स्थितिमें भगवान्‌के नाम ही सहारा होते हैं । इन्हें उच्चारण करते हुए मरनेवालोंकी मुक्ति सुनिश्चित है । बोलनेमें भी असमर्थ मुमुक्षुको भगवान्‌के नाम सतत सुनाना भी श्रेयस्कर है ।

कर्मतत्त्व और भगवत्तत्त्व

(लेखक—याज्ञिक सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

वेदोंके अनुसार देवताओंके राजा इन्द्र हैं । वे समस्त देव-देवियोंको अपने-अपने पद-मर्यादाके कार्योंमें लगाते हैं एवं उनका निरीक्षण करते हैं । वेदोंमें वे ईश्वर कहे गये हैं । इन्द्रके द्वारा ही विश्व संचालित, सुरक्षित एवं नियन्त्रित होता है । अग्नि, वायु आदि देवता इन्हींकी आज्ञाके अधीन रहकर अपना-अपना कार्य सम्पादन करते हैं । ब्रह्माण्ड-सृष्टिकी तरह ही पिण्डसृष्टिमें भी परमेश्वरका नियन्तृत्व वेदशास्त्रोंमें स्वीकृत है एवं अन्तर्मुख व्यक्तिगण प्रत्येक कार्यमें इस सत्यका अनुभव करते हैं । कर्म स्वभावसे ही जड है, अतः मनुष्य जो कर्म करता है, उसका वह स्वयं फल नहीं उत्पन्न कर सकता । जड़ कर्मसमूह चेतन भगवान्‌की प्रेरणासे ही यथासमय यथावत् फलोत्पादन करते हैं और अपने कर्मोंके अनुसार जीव पाप-पुण्यका उपभोग नरक अथवा स्वर्गमें करता है । न्यायदर्शनके चौथे अध्यायके प्रथम आह्निकमें इस आशयका एक सूत्र है—**'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।'**

जीव कर्मोंके करनेमें स्वाधीन अवश्य है, परंतु उसका फल भोगनेमें वह स्वाधीन नहीं है । क्योंकि कर्म जड़ होनेसे फल नहीं दे सकते । नियन्ता चिन्मय ईश्वरकी प्रेरणासे ही कर्मफल उत्पन्न करता है और उसीसे कर्मानुसार जीव ऊँच-नीच गतियोंको प्राप्त करता है । इससे कर्मोंको फलोत्पत्तिमें भी ईश्वरकी निमित्तकारणता प्रमाणित होती है । यदि प्राक्तन पुण्य-पापमय कर्म स्वीकार न किया जाय तो अनन्त वैचित्र्यपूर्ण इस जगत्‌में भोगवैचित्र्यरूपी समस्याकी कोई भी दूसरी मीमांसा नहीं हो सकती । कई मनुष्य जन्मसे ही लँगड़े-लूले पैदा होते हैं । कोई सदा स्वस्थ—सबल रहता है । किसीको साधारण निमित्तमात्रसे ही चिरकालके लिये तीव्र वैराग्य एवं संसारसे विरक्ति होती है । किसीको लाख उद्योग करनेपर एवं संसारके नाना प्रकारके बार-बार धक्के लगनेपर भी विषय-विरक्ति उत्पन्न नहीं होती । किसीकी प्रतिभा स्वाभाविक ही बड़ी तीव्र होती है, किसीको जीवनपर्यन्त परिश्रम करनेपर भी प्रतिभा प्राप्त नहीं होती । प्राक्तन कर्मका अस्तित्व यदि स्वीकार न किया जाय तो इन प्रश्नोंका समाधान होना कथमपि सम्भव न होगा, अतः इन वैचित्र्योंका कारण पूर्वजन्मोपार्जित कर्म ही मानना होगा । भगवान् पतञ्जलिने इसी कारण प्राक्तन कर्मोंको सिद्ध किया है ।

भगवान्‌को परम करुणामय, परम प्रेममय, परम वात्सल्यमय, ज्ञानका आधार, न्यायका आगार एवं प्राणिमात्रके प्रियतमरूपसे मानकर ही हम उनकी शरण आते हैं एवं अपने त्रितापजर्जरित प्राणोंको शीतल करते हैं । भगवान्‌के इन परम शान्तिप्रद एवं मधुर भावोंकी जगह यदि हम उन्हें अहैतुक केवल अपनी इच्छापूर्तिरूप लीला-विलासके लिये मनमाना कार्य करनेवाले महानिष्ठुर एवं स्वार्थपूर्ण मान लें, तभी यह युक्ति आश्रय पा

सकती है। अन्यथा केवल अपनी लीलाके लिये स्वयं इच्छारहित, पक्षपातशून्य, सर्वोपरि उदार ईश्वर इस जगत्को ऐसा विषमतापूर्ण बना किसीको दुःखी, किसीको सुखी करके इस प्रकार अनन्त प्राणियोंको अनन्त दुःख-सागरमें क्यों गोता लगवायेंगे? वे क्यों किसीको अत्यन्त सुख-सम्पत्ति एवं वैभवका अधिकारी और क्यों किसीको आजन्म महादरिद्र बनायेंगे? यह असम्बद्ध लीला ईश्वरकी कैसी मानी जा सकती है? मायाके नियामक, स्वयं मायाके प्रभावसे अतीत, निरन्तर ज्ञानमय **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'** की घोषणासे पक्षपातराहित्यका परिचय देनेवाले परमेश्वरके लिये ऐसी कल्पना महापाप है। भगवान् श्रीकृष्णने इस विषयको गीता (५। १४। १५)में स्पष्ट किया है। तात्पर्य यह कि—

'परमात्मा किसीके पाप अथवा पुण्यके लिये उत्तरदायी नहीं हैं। वे मनुष्योंके कर्तृत्वकर्मका कर्मफलभोग आदि कुछ भी नहीं बनाते। अज्ञानद्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इस कारण जीव विमोहित हो रहे हैं, और इसीलिये जीव अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं एवं उनका फल भी भोगते हैं।' ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसा अवैज्ञानिक महान् भ्रमपूर्ण विचार करना अनुचित है। कर्म जड़ होनेसे, ईश्वरकी प्रेरणासे उसमें फलोत्पत्ति होती है। इसीलिये वेदान्तदर्शनने जैवकर्मोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध निम्नलिखित ढंगसे दिखलाया है— **'फलमत उपपत्तेः', 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः', 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।'**

ईश्वर कर्मफलके दाता हैं, किंतु कर्मोंके वैचित्र्यके अनुसार ही वे जीवोंको भिन्न-भिन्न प्रकारका फल प्रदान करते हैं। यदि ऐसा न हो तो शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। जीवोंके कर्मानुसार ही ईश्वर विभिन्न प्रकारकी सृष्टि-रचना किया करते हैं। जिसका प्राक्तन पुण्य है, उसको सुख-समृद्धिशाली एवं जिसका प्राक्तन पाप है, उसे हीन प्रारब्ध एवं दुःखी बनाते हैं। वे जगदीश्वर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें देवता, ऋषि, अर्यमा आदि नित्य पितर तथा अन्यान्य नाना देवपदाधिकारियोंके द्वारा ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड इन दोनोंकी कर्मशृङ्खलाकी सुव्यवस्था कराते हैं। इसी तरह सूक्ष्म दैव जगत्द्वारा भौतिक स्थूल जगत्की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था होती है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्य उपर्युक्त सूत्रके भाष्यमें ईश्वरके विषयमें लिखते हैं—**'ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनिर्घृणाभ्यां दुष्यति।'**

सृजन-कार्यमें ईश्वरको मेघके समान समझना चाहिये। जैसे मेघ व्रीहि, यव, धान्य आदिकी उत्पत्तिके विषयमें साधारण कारण होता है, किंतु व्रीहि, यवादिकी उत्पत्ति जो विभिन्न प्रकारकी होती है, उसका कारण मेघ नहीं है, किंतु उन-उन वस्तुओंके बीजगत असाधारण पृथक्-पृथक् शक्ति ही उसका कारण होती है। ठीक इसी प्रकार देव-मनुष्यादिसृष्टिमें ईश्वर साधारण कारण है। इसमें पृथक्-पृथक् जीवोंके पृथक्-पृथक् सुख-दुःखके कारण उनके पृथक्-पृथक् असाधारण कर्म ही होते हैं। मेघ जल तो सभीके लिये समान है, परंतु उन-उन वृक्षोंके पृथक्-पृथक् बीजके अनुसार पृथक्-पृथक् रसके फल उत्पन्न होते हैं।

ईश्वरकी अपनी इच्छा कुछ भी नहीं है। वे गुणधर्मरूपी इच्छासे परे हैं। इस प्रसङ्गमें यह शङ्का हो सकती है कि ईश्वर यदि केवल जीवोंके कर्मके अनुसार ही फल दिया करते हैं, तब उनकी सर्वशक्तिमत्त्व एवं ऐश्वर्यशक्ति ही क्या रही? इसका समाधान यह है कि ईश्वर शुभाशुभ कर्मोंका यथायोग्य जो फल प्रदान

करते हैं, वही उनके सर्वशक्तिमत्त्व एवं ऐश्वर्यशक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि अग्निमें दाहिकाशक्ति न हो तो वह दाह्यवस्तुको किस प्रकार जला सकती है? जहाँ दाह्यवस्तु ही नहीं है, वहाँ अग्निमें दाहिकाशक्ति भी नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है। दाह्यवस्तुको एकमात्र अग्नि ही जला सकती है, उसे जल या वायु या पृथ्वी नहीं जला सकती, क्योंकि इनमें अग्निकी तरह दाहिकाशक्ति नहीं है! राजामें दण्ड देनेकी शक्ति है। इसे वह दुष्टोंको दण्ड दे सकता है और सज्जनोंको सम्मान देता है। राजाके अतिरिक्त दूसरेमें यह शक्ति न होनेसे दूसरा कोई इस कार्यको नहीं कर सकता। इसी तरह ईश्वर अनन्त शक्तिशाली एवं अनन्त ऐश्वर्यवान् हैं, अतएव वे जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उन्हें शुभाशुभ फल प्रदान कर सकते हैं। यदि उनमें यह शक्ति न होती तो वे जीवोंके कर्म करनेपर भी उनको फल कदापि नहीं दे सकते थे। इससे ईश्वरके सर्वशक्तिमत्त्वमें कोई भी बाधा नहीं आती। कर्मोंके यथायोग्य फलप्रदानसे परमेश्वरके सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्रभावमें भी कोई बाधा नहीं हो सकती। शुभाशुभ कर्मोंका पुरस्कार तथा तिरस्काररूप शुभाशुभ फलप्राप्तिके अलङ्घनीय नियमसे ही ब्रह्माण्डकी समताकी दशा होती रहती है। इससे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सर्वशक्तिशाली शास्ता परमेश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता एवं स्वतन्त्रता और भी पुष्ट है। अतएव विचार एवं शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌की इच्छासे अतीत एवं मायाराज्यसे परे होनेपर भी समष्टि और व्यष्टि दोनों ही सृष्टिक्रियामें उनके नियन्तृत्वकी अपेक्षा है। उन्हींकी अलौकिक नियामिकाशक्तिके अधीन कोटिग्रह उपग्रहोंसहित यह ब्रह्माण्डभाण्ड अनन्त शून्यमें भ्रमण कर रहा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि भगवत्तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है।

भगवत्तत्त्वके महत्त्वका गीत

निरखत जित तित ही तुम व्यापक।
भुविसों नभ लों प्रति पदार्थ तव कार्यकुशलता-ज्ञापक॥
संध्या प्रात रैन दिन षट् ऋतु क्रमसों सब चुपचाप।
आवत जात जगत अभिनय-थल अविकल अपने आप॥
गिरि उत्तुंग शृंग नभ-चुम्बत प्रकृति मनोहर वेश।
हिममंडित रविकररंजित नित करत उमंग अशेष॥
शस्य श्याम अभिराम शेष बहु सजल सरित जल पावन।
मलयज शीतल ही तल सुखप्रद धीर समीर सुहावन॥
सुभग स्वच्छ स्वच्छन्द द्रुमावलि नम्र लता मृदु काया।
अचरज सरसावत हरसावत दरसावत तव माया॥
रवि शशि आदि दारु-योषित सम करत स्वकाज निरंतर।
अद्भुत अमित परत नहिं तामे तिल भरहूको अंतर॥
अकथ प्रदर्शन पुण्य पंक्तिमें नित-नव नाचनहारे।
विहसत अधर प्रमोद चमत्कृत चंचल चारु सितारे॥
जगमगात प्रतिपल मुखमंडल अनुपम परम पुनीत।
गावत जन अव्यक्त सुध्वनिसों विश्वरूप तव गीत॥

—गोलोकवासी पं० सत्यनारायण 'कविरत्न'

भगवद्भावनासे हीन मनुष्य शून्यवत् है

(लेखक—आचार्य श्रीशिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०)

भगवत्तत्त्वपर कल्याण-सम्पादकके अनुरोधपर जब मैं कुछ लिखनेकी बात सोचने लगा तो सहसा मुझे आलवन्दार-मुनिका यह पद्य ध्यानमें आया—

तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः
शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः।
कर्तुं तदीयमहिमस्तुतिमुद्यताय
मह्यं नमोऽस्तु कवये निरपत्रपाय॥
(स्तोत्र-रत्ना० ५)

'अहो! ब्रह्मा, शिव आदि भी जिनके तत्त्व या महिमासिन्धुके एक बिन्दुतकका भी अनुमान एवं वर्णन न कर पाये, उनकी स्तुति करने या तत्त्व-वर्णन करनेके लिये तत्पर मुझ निर्लज्ज कवि या पण्डित नाम-धारी व्यक्तिको नमस्कार है। (यहाँ आत्म-नमस्कारमें जुगुप्सा अभिव्यञ्जित है)। वास्तवमें यह तो एक प्रकारसे निर्लज्जताकी सीमा ही है।'

फिर दूसरे ही क्षण मुझे यह लगा कि अरे, मैं भी कैसा मूर्ख हूँ, जो इस प्रकार हताश हो रहा हूँ। वे कृपालु परमात्मा जो निर्गुण एवं सर्वव्यापक होकर भी भक्तानुग्रहके लिये स्वेच्छापूर्वक विग्रहतक धारण कर लेते हैं, जो मेरे भी स्वामी, पालक और निर्माता हैं और जो सब कुछ कर-करवा सकते हैं, वे मुझसे भी तो अपना कुछ यश एवं तत्त्वादि लिखवा सकते हैं। कहा भी गया है—

ज्ञानं च शक्तिमपि धैर्यमथो विवेकं
त्वद्दत्तमेव सकलं लभते मनुष्यः।
किं मेऽस्ति येन भवतो विदधामि चर्यां
स्वेनैव तुष्यतु भवान् करुणागुणेन॥

'प्रभो! कोई भी ज्ञान, शक्ति, धैर्य, विवेक या अन्य पदार्थ आपके द्वारा दिये जानेपर ही मनुष्य प्राप्त करता है। इसलिये मेरी कोई अपनी वस्तु नहीं है। मैं आपकी क्या सेवा करूँ? बस, आप अपने द्वारा दिये गये पदार्थसे ही और अपने करुणागुणके द्वारा ही मुझपर प्रसन्न हो जायँ।'

शास्त्र भी भगवान्की ही वाणी है। ये निर्गुण-निराकार भगवान्के सगुण एवं साकारताके प्रमाण हैं। ये अदृश्यको दृश्य रूपमें, अप्रकटको साक्षात् रूपमें तथा अवाच्यको मधुर वचनके रूपमें, अप्रमेयको ससीम रूपमें प्राप्त करा देते हैं।

कुछ महान् विद्वानोंने जो उच्चकोटिके भक्त भी रहे हैं, भगवान्के प्रेम, करुणा, मैत्री, दया, अप्रतिहत शक्ति, ज्ञान, गाम्भीर्य आदिका वर्णन किया है। पर इतने मात्रसे भगवत्तत्त्वकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। भगवान् क्या हैं और कैसे हैं, इस बातको श्रीभगवान् स्वयं ही जानते हैं। हम-जैसे कलिमलग्रस्त दीनोंके लिये उन दीनानुकम्पीने व्यास-जैसे महान् आचार्यको भेजकर वेदोंका विभाजन, पुराणोंका निर्माण आदि कार्यके द्वारा संसारका संतरण-कार्य सुगम कर दिया है। (महाभारतोक्त) गीता-जैसी पवित्र वाणीके द्वारा उन्होंने अपनी अनन्यभक्तिका मार्ग प्रशस्त किया है। इससे अनेक साधकोंका श्रेय हुआ है और हो रहा है।

अस्तु! मैं यहाँ हजारों उदाहरणोंमेंसे केवल दो बातोंका ही उल्लेख करूँगा। मुझे विश्वास है कि इससे पाठकोंको कुछ प्रकाश अवश्य मिलेगा, इससे वे भगवान्के महिमा-सागरमें प्रवेश कर पायेंगे।

अर्जुन और उनका व्यामोह

गीतामें अर्जुन-मोहकी कथा सभी जानते हैं। इसके अतिरिक्त भागवतमें भी अर्जुनकी एक ऐसी कथा आती है कि एक बार एक ब्राह्मणका पुत्र नष्ट हो गया।

ब्राह्मणने उस लड़केको उठाया और यदुवंशियोंके बीचमें कृष्णके पास उसे रखकर कहने लगा—

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पञ्चत्वं गतमर्भकः॥

ये धर्म-हीन क्षत्रिय ही इस बच्चेके निधनके लिये उत्तरदायी हैं। ये ब्राह्मणोंके द्वेषी एवं उनको क्षति पहुँचानेवाले हैं। इनकी बुद्धि दुष्ट है। ये लोभी हैं और सदा विषयमें डूबे रहते हैं।'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने या किसी अन्य यदुवंशीने भी कुछ न कहा। ब्राह्मणका लड़का जब भी नष्ट होता तो वह यही करता। एक बार ऐसी ही स्थितिमें अर्जुन भी वहाँ उपस्थित मिल गये। वे गरज पड़े। उन्होंने ब्राह्मणको चुप रहनेको कहा और कहने लगे 'क्या पृथ्वी वीरोंसे शून्य हो गयी है? क्या इन यादवोंमें क्षत्रियका रक्त नहीं रह गया है, जो ब्राह्मणके कष्टको देखकर भी कुछ भी नहीं करते।' फिर ब्राह्मणकी ओर मुड़कर कहा—'मैं आगेसे तुम्हारे संतानोंकी रक्षा करूँगा। मैं यदुवंशी नहीं, अर्जुन हूँ। यदि अपनी प्रतिज्ञामें असफल रहा तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।' ब्राह्मणने कहा—'तुम्हारी बातोंपर मैं कैसे विश्वास करूँ, जब कृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी इसमें असफल रहे?'

अर्जुनने कहा—'मैं कृष्ण, संकर्षण अथवा उनका वंशज नहीं हूँ, मैं गाण्डीवधारी अर्जुन हूँ, अर्जुन! मृत्युको भी जीत सकता हूँ और तुम्हारे पुत्रको उसके अधिकारसे भी छीनकर तुम्हें वापस कर सकता हूँ।'

नाहं संकर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः।
मृत्युर्विजित्वः प्रधने आनिष्ये ते प्रजां प्रभो॥

अर्जुनद्वारा आश्वस्त होकर ब्राह्मण घर आया। उसने सोचा कि अर्जुन वह कर दिखायेगा जो श्रीकृष्ण भी नहीं कर सकते। अगली संतानकी उत्पत्तिके समय उसने अर्जुनको सूचना दी और अर्जुनने वहाँ जाकर बाणोंका ऐसा पंजर या जाल बिछा दिया, जिसमें कोई मच्छर भी नहीं प्रवेश कर सकता था, किंतु आश्चर्यकी बात! बच्चा जन्मते ही गायब हो गया। ब्राह्मणने कहा—'मृषावादी अर्जुनको धिक्कार है! उसके धनुषको भी धिक्कार है! मैं कैसा मूर्ख था, जिसने अर्जुनकी इस बातपर आश्वस्त हो गया? जो कृष्ण या उनके वंशज नहीं कर सकते वह अर्जुन कर लेगा?'

इसपर अर्जुन स्वर्ग, नरक और यमपुरी तीनों लोकोंमें घूम आये। बच्चेका कोई सुराग न पाकर अपनी प्रतिज्ञानुसार आगमें कूदनेको उद्यत हुए, तबतक कृष्णने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—चलो, तुम्हें ब्राह्मणके बच्चेको दिखाता हूँ। इसके बाद श्रीकृष्ण अर्जुनको रथपर लेकर पश्चिम दिशाकी ओर ले गये। आगे बढ़नेपर घोर अन्धकार मिला, उसे उन्होंने सुदर्शनचक्रसे प्रकाशित कर दिया। यात्राके अन्तमें परमेष्ठिपतिके दर्शन हुए। उन्होंने कृष्ण और अर्जुनसे कहा कि वे उन्हें देखनेको उत्सुक थे और ब्राह्मणके बच्चेको लौटा दिया। वे लोग बच्चेको लेकर द्वारका लौट आये। अर्जुनको पता लगा कि उनकी सारी शक्ति कृष्णकी कृपापर ही निर्भर थी। अर्जुनकी आँखें खुल गयीं, इससे कृष्णके शक्तिका पता लगता है। युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके व्यामोहको दूर करनेवाले श्रीकृष्ण ही थे। उनकी कृपासे ही अर्जुनको महाभारतयुद्धमें विजयका श्रेय मिला।

अर्जुन और उनका गाण्डीव धनुष

द्वापर-युगका अन्त हो रहा था और तमोमय कलियुगकी छाया संसारको आवृत कर रही थी। पृथ्वीपर धर्मका ह्रास हो रहा था, लोभ, क्रोध, छल एवं मिथ्या बढ़ रहे थे, स्त्री-पुरुष आपसमें झगड़ने लगे थे, पिता-पुत्र और मित्रोंमें भी परस्पर कलह होने लगा

था। युधिष्ठिर कलियुगके इन लक्षणोंको देखकर बड़े उदास हो रहे थे। इसी बीचमें अर्जुन द्वारकासे लौटे। उनका चेहरा उतरा हुआ था। युधिष्ठिरने उनसे यदुवंशियोंका समाचार पूछा; अर्जुन रोने लगे और बोले— भगवान् श्रीकृष्णने पृथ्वीका परित्याग कर दिया, साथ ही यह भी कहा कि अर्जुनकी सारी शक्ति भी श्रीकृष्णके साथ ही चली गयी है। यद्यपि उनके पास वे ही रथ, घोड़े और धनुष-बाण थे, जिससे उन्होंने सभी देवताओं और राजाओंपर विजय पायी थी, किंतु वे भस्ममें किये गये हवनके समान अथवा ऊसरमें बीज बोनेके समान व्यर्थ हो गये और उन्हें आभीरोंने परास्त कर श्रीकृष्णके स्त्री-बच्चोंको छीन लिया। यह सब कुछ जादू-जैसा हो गया—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥
(श्रीमद्भा० १। १५। २१)

वस्तुतः हमलोगोंको समझ लेना चाहिये कि भगवान्का भजन ही सच्ची सुख-समृद्धि एवं भगवान्की विस्मृति ही वास्तविक दुःख-दरिद्रता है। इसे हम जितना शीघ्र समझ सकें, उतनी ही बुद्धिमत्ता और उतना ही कल्याणकारी है।

भगवत्कथा

(लेखक—भागवततीर्थ श्रीगुरुराजकिशोरजी गोस्वामी)

कहते हैं, 'ब्रह्मात्मबोध जिनके अन्तःकरणमें जाग्रत् नहीं होता, ईश्वर-रचित इस संसारमें परिव्याप्त यह अनुभूति जिनके जन्ममें नहीं होती, वे सब आत्मघाती ही हैं। आत्माके साथ जिनका परिचय नहीं हुआ, वे सर्वदा तमोमय गहन लोकमें पड़े रहते हैं।' कारण कि यह जगत् ब्रह्मके प्रभावसे संजीवित, रक्षित एवं संचालित है जिस प्रकार वस्त्र मनुष्यके शरीरपर रहकर उसका शीत-आतपसे त्राण करता है, उसी प्रकार ईश्वर या परमात्मा इस विश्व-ब्रह्माण्डकी रक्षा-संचालन करता है। वह सर्वभूतमय है। उपनिषद् कहती है— 'अन्यायरूपसे परद्रव्यका हरण न करो, त्यागद्वारा भोग करो, अनासक्त होकर कर्मयोगीबनो एवं ईश्वरके प्रसाद-रूपमें इस जीवनका भोग करो।' शास्त्र भी कहते हैं— तुम सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, ग्रीष्म-वर्षा आदिको संतुष्टचित्तसे हँसते हुए सहन करते चलो। अन्यके धनके लिये लोभ न करो। ईश्वरद्वारा प्रदत्त शक्ति-सफल, देह-मन-प्राण-कामना-वासना सब कुछ उन्हींकी पूजामें, उन्हींकी यज्ञ-तपस्यामें नियोजित करो।

ब्रह्म आनन्दस्वरूप रसस्वरूप है। श्रुति कहती है— **'रसो वै सः'**। यहाँ रस शब्दके दो अर्थ हैं—**रस्यते आस्वाद्यत इति रसः, एवं रसयति आस्वादयतीति रसः**। इस प्रकार वह आस्वाद्य एवं आस्वादक दोनों ही है। ब्रह्म रसस्वरूपमें आस्वाद्य एवं आस्वादक है। शक्तिके विकासमें ब्रह्मकी भगवत्ता शिवत्व एवं सौन्दर्य प्रतिफलित होता है। ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, तेज, सर्वज्ञता, भक्तवत्सलता, भक्तवश्यता इत्यादि अनन्त शक्तियाँ ब्रह्मके मध्य स्थित हैं। इसी कारण अनन्त शक्तिके आकार ब्रह्मको ऋषिगण—**'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** कहते हैं। उनका मङ्गलमयत्व या शिवत्व, सौन्दर्य, माधुर्य नित्य है। ब्रह्मके शक्तिविकासके तारतम्यानुसार अनन्तस्वरूप उनकी अभिव्यक्ति प्रकाशित होती है। इस समस्त स्वरूपके मध्य इस प्रकार जो एक स्वरूपमें हैं, यह उनकी न्यूनतम अभिव्यक्ति है एवं उनके इस प्रकार एक स्वरूपमें रहनेपर जो उनके शक्तिवैचित्र्य आदि हैं, यह उनकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है। प्रथमोक्त स्वरूपको साधारणतः ब्रह्म कहा जाता

वे स्वरूपमें ब्रह्म हैं, किंतु शक्तिसे पूर्णरूपमें ब्रह्म नहीं हैं। यह स्वरूप निर्विशेष-निर्विकार है। इस स्वरूपमें शक्ति होनेपर भी शक्तिके विकासमें वे पूर्ण नहीं हैं। किंतु इस शक्तिको एकदम निःशक्ति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ब्रह्मकी स्वरूपगत शक्ति है। किंतु सत्तामात्र रक्षा करने एवं स्वरूपानन्दमात्र अनुभव करने या करानेके लिये जितनी भी शक्तिकी आवश्यकता है, उसके अतिरिक्त शक्तिका विकास नहीं है। यह ब्रह्मशक्ति पूर्णस्वरूप है। श्रीकृष्णको भी पूर्ण परमब्रह्मकी अभिव्यक्ति कहा है। शास्त्र कहते हैं—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
(गोपालतापनीयोपनिषद्)

'कृष्णो वै परं दैवतम्' (गोपालतापनीयोपनिषद्)

ॐ योऽसौ परं ब्रह्म गोपालः ॐ (गोपालतापनीयोपनिषद्)

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता)

परम ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्ण परम देवता हैं। वे सच्चिदानन्दमूर्ति हैं, अनादि अथवा सबके आदि हैं। वे समस्त कारणोंके कारण हैं—

स्वयं भगवान् कृष्ण कृष्ण परतत्त्व।
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥
(चैतन्यचरितामृत)

श्रीजीवगोस्वामी श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोककी टीकामें कहते हैं—

'सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः प्रवृत्तः। बृहत्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानधिकातिशयः सोऽस्य मुख्यार्थः। अनेन च भगवानेवाभिहितः। स च स्वयं भगवत्त्वेन श्रीकृष्ण एवेति।' सर्वत्र बाधक्य गुणयोगमें ही ब्रह्म शब्दकी प्रवृत्ति है। वह स्वरूप एवं गुणोंमें भी बृहत् है। इस विषयमें ब्रह्मके समान कोई नहीं है। यही ब्रह्म शब्दका मुख्यार्थ है। भगवत्ताका निर्देश करके उस ब्रह्म शब्दमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका ही बोध कराया जाता है। ब्रह्मसंहिताका वचन है—

यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
रामादिमूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन्
लीलावतारमकरोद् भुवनेषु किंतु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

जिन महाविष्णुके मात्र एक ही निःश्वासकालका अवलम्बन करके उनके रोमकूपसे उत्पन्न ब्रह्माण्डनाथ ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि अधिकारी स्वरूपमें, जगत्‌में प्रकट होकर अवस्थान करते हैं वही महाविष्णु हैं। जो गोविन्दकी एक कला हैं उन्हीं आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ। जो रामादि मूर्तिमें विभिन्न लीलावतार-रूपमें भुवनमें अवतीर्ण होकर विविध लीला-प्रकाश करते हैं अथवा श्रीकृष्णमूर्तिमें साक्षात् परम पुरुष रूपमें स्वयं अवतीर्ण होते हैं, उन्हीं गोविन्दका मैं भजन करता हूँ। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान अनुरूप।
कइ विग्रहे धरे नानाकार रूप॥

श्रीभगवान् अखिल रसामृतसिन्धु होनेपर भी भिन्न-भिन्न लोगोंकी रुचि एवं प्रकृतिके अनुसार अनन्त रस-वैचित्र्य-स्वरूपमें आविर्भूत होते हैं एवं उसको उसके भावानुसार रसवैचित्र्यका आस्वादन कराकर तृप्त करते हैं। वही श्रीमन्महाप्रभु गौर सुन्दर कहते हैं—

कृष्ण माधुर्येर एक स्वाभाविक बल।
कृष्ण आदि नर नारी करये च चल॥
कृष्णावलोकन विना नेत्रे फल नाइ आन।
येइ जन कृष्ण देखे सेइ भाग्यवान॥
अपूर्व माधुरी कृष्णेर अपूर्व तार बल।
या हार श्रवणे मन हय टलमल॥
कृष्णेर माधुर्ये कृष्णे उपजये लोभ।
सम्यक आस्वादिते नारे मने रहे क्षोभ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

आइये, हम उसी परमेश्वर श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण करें।

भगवत्तत्त्व—ईश्वरत्वके साधक प्रमाण

विभिन्न मतवाद

प्रत्यक्षप्रमाणमात्र माननेवाले बार्हस्पत्यमतानुयायी ईश्वरको नहीं मानते; क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है।

बुद्धमतानुसारी लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हुए देहातिरिक्त क्षणिक-विज्ञानस्कन्धरूपी आत्माको तथा सर्वज्ञ विज्ञान-सन्तानरूप ईश्वरको भी मानते हैं। वे ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं।

जैनमतानुयायी देहातिरिक्त स्थिर आत्माको मानते हुए, स्थिर अर्हन् नामक ईश्वरको मानते हैं।

माध्यमिक-मतावलम्बी सर्वशून्यवादका पुरस्कार करते हुए शून्यको ही ईश्वर कहते हैं।

यतः उपर्युक्त ये चारों मतावलम्बी वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव नास्तिक कहलाते हैं। मनु कहते हैं—**'नास्तिको वेदनिन्दकः।'** वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहे जाते हैं।

आस्तिकोंमें पातञ्जलमतानुयायी ईश्वरको अनुमानसे सिद्ध करते हैं।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१।२५)

—इस पातञ्जलसूत्रमें ईश्वर-साधकानुमान सूचित हुआ है। उनका यह कहना है कि संसारमें ज्ञान एकसे दूसरेका अधिक और उससे तीसरेका अधिक होता है; यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञानवान् पुरुष देखनेमें आते हैं। ज्ञानकी अधिकता ज्ञान-विषयक पदार्थोंकी अधिकताके कारण होती है, जो जितना ही अधिक पदार्थोंका जाननेवाला होता है वह उतना ही अधिक ज्ञानवान् कहलाता है। इस ज्ञानाधिक्यकी अन्तिम सीमा भी होनी ही चाहिये; क्योंकि तारतम्यवान् पदार्थोंकी अन्तिम सीमा होती है, जैसे कि परिमाणकी। परिमाण तारतम्यवान् पदार्थ है; यथा—राईसे मूँग बड़ा, मूँगसे चना बड़ा, चनेसे आँवला बड़ा, आँवलेसे नीबू बड़ा, उससे बेल बड़ा; क्रमशः यह बड़ाई बढ़ते-बढ़ते मकान, पहाड़ी, पहाड़, आकाश आदितक पहुँच जाती है और उसकी अन्तिम सीमा विभु परिमाण माना गया है। इसी प्रकार ज्ञान-महत्त्वकी अन्तिम सीमा सर्व-पदार्थ-विषयक ज्ञान मानना होगा। तब सर्वविषयक ज्ञानवान् अर्थात् एक सर्वज्ञ पुरुष अवश्य होना चाहिये। बस, वही ईश्वर है। इसी प्रकार ऐश्वर्यके विषयमें भी मानना चाहिये। ऐश्वर्य भी तारतम्यवान् पदार्थ है। उसकी भी अन्तिम सीमा होनी चाहिये। सर्वैश्वर्य ही वह सीमा है, तब सर्वैश्वर्यसम्पन्न एक पुरुषकी सत्ता माननी पड़ेगी; बस, वही सर्वेश्वर है।

वैशेषिक-मतावलम्बी भी अनुमानसे ईश्वरका साधन करते हैं। उनका अनुमान इस प्रकार है। हमलोग देखते हैं कि घट आदि कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता होते हैं; कर्त्ताके बिना कार्य घट आदि पदार्थ नहीं बनते; तब पृथ्वी, अंकुर आदि जिन कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता प्रत्यक्षमें दिखायी नहीं देते, उनके कर्त्ता अवश्य होने चाहिये; क्योंकि वे भी कार्य हैं। वे कार्य इस कारणसे हैं कि सावयव हैं। जिनके अवयव होते हैं वे सब कार्य होते हैं। इस प्रकार जब पृथ्वी, अंकुर आदि कार्य-पदार्थोंका कर्त्ता मानना पड़ता है और हम जीवोंमें इतनी सामर्थ्य नहीं प्रतीत होती कि उन महान् पदार्थोंको हम बना सकें—कर्ता हो सकें, तब हम जीवोंसे अतिरिक्त एक कर्त्ता अवश्य होना चाहिये; वही सर्वेश्वर है।

नैयायिक भी ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं। किंतु वैशेषिकोंके अनुमानसे नैयायिकोंका अनुमान भिन्न प्रकारका है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'
(न्याय० ४।१।१९)

*

—यह न्यायसूत्र है। पुरुष-जीव प्रयत्न करता है, किंतु नियमसे प्रयत्नका फल उसको नहीं मिलता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवके कर्मका फल पराधीन है। जिसके अधीन जीवकृत कर्मफल है, वही ईश्वर है। सभी अचेतन पदार्थ किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही किसी व्यापार-(क्रिया-)को करते हैं। जीव धर्माधर्मरूप अचेतन-कर्म जिस चेतनसे अधिष्ठित होकर कर्म-फल-दानमें प्रवृत्त होता है, वह चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर है।

सांख्यमतावलम्बी वैशेषिक आदिमें कथित अनुमानोंका दूषण करते हुए स्वतन्त्र जीवातिरिक्त ईश्वरको न मानकर कहते हैं कि रागादिरहित अणिमादि सिद्धिमान् अनित्य ज्ञानवान् सिद्धपुरुष ही वेद-शास्त्रमें ईश्वरके नामसे व्यवहृत हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वरनामक पुरुष कोई नहीं है। सांख्य-दर्शनमें—

'ईश्वरासिद्धे मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। उभयथाप्यसत्करत्वम्। मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा।'

इन चार सूत्रोंमें यही बात कही गयी है।

वेदप्रामाण्यवादी वेदान्ती लोगोंका कहना है कि ईश्वर अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर-सिद्धिमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है। वैशेषिकोंने ईश्वर-साधनमें जो अनुमान बताया है, उससे सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वशक्ति, परमदयालु, सर्वकल्याणपूर्ण ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती। घटको दृष्टान्त मानकर मही, महीधर, सागर, वृक्ष, अंकुर आदि सावयव कार्योंके कर्त्ताका साधन किया जाता है, यह ठीक है। किंतु इससे जीवभिन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि मही आदिका जो कर्ता सिद्ध हो वह जीवभिन्न भी हो। यह सच है कि हमलोगोंमेंसे कोई इनके कर्त्ता नहीं हैं। इसीसे यह मान लेना आवश्यक नहीं हो सकता है कि किसी भी जीवने इनकी रचना नहीं की। मनुष्योंमें एक-से-एक बढ़कर ज्ञान-शक्तिशाली पुरुष देखनेमें आते हैं, मनुष्योंसे देवताओंकी शक्ति अधिक मानी जाती है, योगी, तपस्वी आदिकी विचित्र अलौकिक शक्तियाँ सब लोग मानते हैं, ऐसे अलौकिक शक्तिशाली किसी जीवने ही इन पृथिवी, अङ्कुर आदि पदार्थोंकी रचना की, ऐसा मान लेनेमें क्या आपत्ति है? सिवाय इसके इन सब चीजोंको एक ही व्यक्तिने बनाया, इसमें ही क्या प्रमाण है? हम देखते हैं कि छोटी कुटियाको एक ही मनुष्य बना लेता है, बड़े-बड़े राजमहलोंको अनेक मनुष्य मिलकर बनाते हैं; तब ऐसा भी तो हो सकता है कि मही-महीधर आदि बड़ी-बड़ी चीजें एक व्यक्तिकी बनायी हुई न होकर अनेक पुरुषोंकी बनायी हुई हों। ऐसी हालतमें उक्त अनुमानसे सकलपदार्थ-निर्माण-क्षम एक ईश्वरकी सिद्धि कैसे हो सकती है? और, अनुमानसे जो ईश्वर सिद्ध होगा, वह घटके कर्त्ता (दृष्टान्तभूत) कुम्हारके समान अल्पज्ञ, अल्पशक्ति कर्मपरवश दुःखी ही सिद्ध होगा। मही-महीधर आदिके कर्त्तामें दृष्टान्तभूत घटके कर्त्ता कुम्हारसे कुछ अधिक ज्ञानशक्ति भले ही कार्यानुसार सिद्ध हो, किंतु जिस प्रकार ईश्वर शास्त्रसिद्ध है, वैसा अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि सामान्यतया अनुमानका यह लक्षण किया जाता है—

'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धयोरेकज्ञानेनान्यस्य ज्ञानम्।'

अर्थात् 'जिन दो पदार्थोंमें परस्पर नियत सम्बन्ध पहले ज्ञात हो उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान होता है वह अनुमान है।' अग्नि और धूम इनमें परस्परका सम्बन्ध जिनको मालूम है, उनको उन दोमेंसे एक धूमके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। प्रकृतमें मही-महीधर आदि पदार्थोंके कार्यत्वके साथ ईश्वर-कर्तृकत्वका कोई भी सम्बन्ध पूर्वमें ज्ञात नहीं है,

तब उस कार्यत्वके ज्ञानसे ईश्वर-कर्तृकत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि वेदप्रामाण्यवादी वेदान्ती ईश्वरको केवल शास्त्रोंसे सिद्ध मानते हैं। सामान्यतया वेदका लक्षण भी वैदिक लोग यही बतलाते हैं कि—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
यत्तं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् 'प्रत्यक्ष या अनुमानसे जो उपाय जाना नहीं जाता, उसको जिससे जानते हैं वही वेद है।' यहाँ उपाय शब्द होनेपर भी उससे वस्तुमात्रको लेना चाहिये। वेद ऐसे ही तत्त्वोंका बोधन करनेवाला है, जो अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाने जाते।

जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। जिन दो पदार्थोंका परस्पर नियत सम्बन्ध पहलेसे ज्ञात हो, उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं। जैसे ये दोनों प्रमाण हैं, वैसे ही शब्दोंके श्रवणसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी प्रमाण है। किसीके पिताको प्रमाणित करनेवाला माताका शब्द (कथन) ही प्रमाण होता है। तब ईश्वरकी सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे न होकर शब्दसे हो तो इसमें क्या आपत्ति है ? क्योंकि तीनों ही तो प्रमाण हैं।

स्वतःप्रामाण्यवाद

किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर वह इष्ट-साधन और स्वप्रयत्नलभ्य विदित हो तो उसकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। प्रवृत्ति 'सकम्प-प्रवृत्ति' और 'निष्कम्प-प्रवृत्ति' के नामसे दो प्रकारकी होती है। सकम्प-प्रवृत्ति उसे कहते हैं जो भय या आशंकाके साथ होती है। निष्कम्प-प्रवृत्ति वह होती है जिस प्रवृत्तिके समय मनुष्यके हृदयमें कोई शंका या भय नहीं रहता। इस प्रकारकी निष्कम्प-प्रवृत्तिके लिये पदार्थज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञानकी भी आवश्यकता होती है। कठिन प्रयत्नसाध्य या बहुवित्तव्यय-साध्य कार्यमें मनुष्यकी प्रवृत्ति निष्कम्प-प्रवृत्ति ही होती है और वह प्रामाण्यज्ञानके बिना हो नहीं सकती। तब इस बातका विचार करना चाहिये कि मनुष्यको जिस किसी भी वस्तुका जब ज्ञान होता है, तब उसके साथ उस ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञान कैसे होता है। मीमांसकोंका यह कहना है कि किसी भी वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस ज्ञानमें उस वस्तुके साथ यथार्थताका भी भान हो जाता है। उसके लिये स्वतन्त्र सामग्रीकी आवश्यकता ही नहीं, जिस सामग्रीसे किसी भी वस्तुका ज्ञान होता है उसी सामग्रीसे उस ज्ञानमें यथार्थताका भी भान हो जाता है। अतएव दूरसे देखनेवाला मनुष्य रजतका ज्ञान होते ही उसे लेनेके लिये दौड़ पड़ता है। उसको जो रजतका ज्ञान हुआ वह प्रमाण है या अप्रमाण—इस तरहका विचार करते हुए वह प्रामाण्य-निश्चयके लिये प्रतीक्षा नहीं करता। इससे यह सिद्ध होता है कि उस पुरुषको रजतका ज्ञान जिस समय हुआ था, उसी समय उस ज्ञानमें यथार्थताका भी ज्ञान हो गया था। अन्यथा वह रजत लेनेके लिये कैसे दौड़ता ? अयथार्थताका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है, स्वतः नहीं। दूरसे देखनेपर एक मनुष्यको रजतका ज्ञान हुआ और उसके लेनेके लिये वह दौड़ा जाता है। पास पहुँचनेपर उसको चाँदीके बदले सीप दिखलायी देती है, तब वह समझता है कि दूरसे देखनेपर मुझे जो चाँदीका ज्ञान हुआ था वह यथार्थ नहीं था। इस प्रकार पूर्वज्ञानमें अयथार्थताको समझनेके लिये वहाँ दो कारण उपस्थित हैं, एक तो उसको समीप पहुँचनेपर जो सीपका प्रत्यक्ष हुआ वह, इसीको बाधक-ज्ञान कहते हैं; दूसरा दूरत्व-दोषका ज्ञान, यह कारणदोष कहलाता है। वह निश्चय करता है कि मुझे जो पहले रजतका बोध हुआ था उसमें दूरी कारण है। यह दूरस्थत्व दोष ही रजत-ज्ञानका कारण था, किंतु यह बात पहले

मालूम नहीं होती। पहले तो उसको जो रजत-ज्ञान हुआ उसको यह यथार्थ ही समझता था, तभी तो वह रजतको लेनेके लिये दौड़ा गया था। समीप जानेपर उसको सीप दिखायी दी, तब वह विचार करने लगा कि पहले रजतका बोध कैसे हुआ? प्रत्यक्षमें सीपका ज्ञान हुआ है, तब वह पहलेके ज्ञानको अयथार्थ जान लेता है और उसका कारण दूरस्थत्व-दोष समझता है। अतएव ज्ञानमें यथार्थतारूपी प्रामाण्यका ज्ञान स्वतः अर्थात् स्वीय सामग्री—ज्ञान-सामग्रीसे ही हो जाता है। अप्रामाण्यका ज्ञान कारणदोष और बाधक ज्ञानसे होता है। यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है; इसी सिद्धान्तको वेदान्ती भी मानते हैं। नैयायिक आदि अन्य मतावलम्बी यथार्थ ज्ञानको गुणज्ञानजन्य मानते हैं; जैसे—अयथार्थताका ज्ञान कारण-दोष-ज्ञानसे होता है, वैसे ही यथार्थताका ज्ञान भी गुणज्ञानसे होता है।

हाँ, तो जब ज्ञानमात्रमें स्वतः ही प्रामाण्य ज्ञान होता है, तब वेदजन्य ज्ञानमें भी यथार्थताका बोध होनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? जबतक कारणदोष-ज्ञान और बाधकज्ञान न हो तबतकके लिये वेदजन्य ज्ञानकी यथार्थतामें कोई बाधा नहीं। वेदरूपी शब्द-राशि, अनादि-अविच्छिन्न-अध्ययन-अध्यापनपरम्परागत अपौरुषेय नित्य निर्दोष ग्रन्थरूप है। शब्दमें और परम्परया शब्दजन्य ज्ञानमें अप्रमाणताका कारणभूत-दोष ग्रन्थ-कर्त्ताके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि ही हैं। जिस ग्रन्थके कर्त्तामें भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा आदि दोष हैं, वह ग्रन्थ-कर्तृदोषके कारण अप्रमाण होता है। वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है और उसका अध्ययन ऐसे नियमोंके साथ अविच्छिन्नतासे चला आता है कि जिससे उसमें एक अक्षरका भी वैपरीत्य या न्यूनाधिक भाव नहीं हो सकता; अतएव वह नित्य और निर्दोष है। सर्वज्ञ ईश्वर कल्पादिमें केवल उपदेश करता है—पूर्वकल्पमें वेद जिस रूपमें था, उसी रूपमें वह उपदेश करता है; अतएव ईश्वर भी वेदका कर्त्ता नहीं, उपदेष्टामात्र है। जब कि वेदका कोई कर्त्ता ही नहीं, तब वेदमें कर्तृदोष आ नहीं सकता। इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका भञ्जक कारण-दोषका अभाव है। बाधक-ज्ञान आजतक न हुआ, न होगा, न हो ही सकता है; क्योंकि बाधक-ज्ञान प्रत्यक्षरूप या अनुमानरूप होना चाहिये; वेद प्रतिपाद्य-विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरोंका विषय नहीं है। केवल अलौकिक विषय ही वेदवेद्य हैं, तब उन विषयोंके विपरीत वस्तुबोध करनेकी सामर्थ्य अन्य प्रमाणोंमें कैसे हो सकती है? अतः कारण-दोषज्ञान और बाधक-ज्ञानके अभावमें वेदकी प्रमाणता अक्षुण्ण रहती है। (और, वेद स्वतःप्रमाण सिद्ध होते हैं।)

इस प्रकार स्वतःप्रमाणभूत नित्य निर्दोष वेदरूपी प्रमाणसे ईश्वर सिद्ध होता है; इसके विरुद्ध कोई भी प्रमाण काम नहीं कर सकता। यदि कोई प्रत्यक्ष या अनुमानसे ईश्वरका अभाव सिद्ध करना चाहे तो उनसे यह कहना चाहिये कि ये दोनों प्रमाण अलौकिक ईश्वरकी सत्तामें जब प्रमाण नहीं हो सकते तो उसका अभाव ही इनसे कैसे सिद्ध हो सकता है? हम लोगोंके अनुभवमें यही बात आयी है कि जो प्रमाण जिस वस्तुकी सत्ताका बोधन करा सकता है, वही उसके अभावका भी बोधन करा सकता है। हम अपनी आँखोंसे भूतलपर रखे हुए घड़ेको जानते हैं तो उन्हीं आँखोंसे वहाँसे घड़ेको हटा देनेपर घड़ेका अभाव भी जानते हैं, अन्य इन्द्रियोंसे नहीं। आँख मींचकर कोई यह नहीं जान सकता कि घड़ा है या नहीं। किसी पेड़पर पिशाच है कि नहीं, यह बात हम किसी भी इन्द्रियसे नहीं जान सकते। वहाँपर यह जान लेना चाहिये कि पिशाचकी सत्ता और अभाव दोनों ही हमारी इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। आँखसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि पेड़में पिशाच नहीं है; क्योंकि

पिशाच आँखोंका विषय नहीं है—इन्द्रियवेद्य नहीं है। अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियवेद्य नहीं है। जब यह बात है तो ईश्वरके अभावको ही हम प्रत्यक्ष या अनुमानसे कैसे सिद्ध कर सकते हैं? ईश्वर इन्द्रियातीत है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियातीत है। अतएव शास्त्र-सिद्ध ईश्वर-सत्ताके विरुद्ध बाधक-ज्ञान किसी भी प्रमाणसे हो नहीं सकता, इस प्रकार शास्त्रैकवेद्य ईश्वरकी सिद्धि निर्बाध है। (इसके सिवाय अनेक ऋषि-महर्षियों, संत-महात्माओं और भक्तोंके अनुभव एवं प्रत्यक्ष ज्ञानकी लम्बी पुरानी परम्परा भी श्रद्धा और विश्वासके परिपेक्ष्यमें ईश्वरकी सत्ता-महत्ताका प्रतिपादन करती है। इतनी लम्बी और विश्वमान्य परम्पराका अपलाप नहीं किया जा सकता। विज्ञान भी आज अचिन्त्य शक्तिके रूपमें विश्वाधार और विश्व-संचालकके रूपमें ही सही, ईश्वरको शब्दान्तरसे स्वीकार करता है। फलतः ईश्वरकी सत्ता निर्बाध है। हमारी पुष्ट और प्रामाणिक मान्यता है कि इस विश्वका संचालक—सूत्रधार ईश्वर है, जिसे हम परमेश्वर कहकर उपासित करते हैं।)

(संकलित)

ब्रह्मानुसंधान

(लेखक—दीवानबहादुर स्व० के० एस० रामस्वामी शास्त्री, बी० ए०, बी० एल्०)

१—अनुसन्धान

पूर्वके—विशेषकर भारतवर्षके अध्यात्मशास्त्रमें अन्तर्ज्ञानकी जो ज्योति या दिव्य सूक्ष्मदृष्टि अथवा सत्सिद्धान्तके प्रतिपादनमें जो सत्साहस देखनेमें आता है, पश्चिमके अध्यात्मशास्त्रमें उसका कहीं कोई नाम-निशान नहीं है। चार्ल्स ह्विटबी कहते हैं कि 'सामान्यतः पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञानका इतिहास प्लेटोद्वारा स्थिर गृहीत मूल तत्त्वविभागका क्रमागत विकारमात्र है।' प्लेटोका गृहीत सिद्धान्त भी चञ्चल ही था। प्लाटिनसने प्लेटोके विचारोंको प्राच्य अध्यात्मज्ञानके सिद्धान्तोंसे प्रकाश पाकर तदनुसार और ऊँचे स्तरपर चढ़ाया और उन्हें और भी युक्तिसंगत बनाया। इनके कथनानुसार मननके द्वारा मनुष्य प्रकृतिसे अन्तःकरणको, अन्तःकरणसे शुद्धसत्त्व बुद्धिको और शुद्धसत्त्वसे परम पुरुषको प्राप्त करता है। यहाँ हमें आत्मा और अखण्ड सच्चिदानन्द तथा **'एकमेवाद्वितीयम्'**के सम्बन्धमें उपनिषदोंके ही मन्त्रस्वर स्पष्ट सुनायी देते हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनीके तत्त्ववेत्ता प्रायः संदिग्ध शब्दों और अस्पष्ट ध्येयके पङ्कमें जा धँसे हैं। भौतिक ज्ञान-(साइन्स-) के तत्त्वविद्, विशेषकर हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने शब्दजाल और कल्पनाजालसे इस विवशताको और भी बढ़ा दिया है, और इनका जो अज्ञेय-वाद है वह—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

—इस स्वानुभवोक्तिके सर्वथा विपरीत ही है।

भौतिक शास्त्र, तत्त्वज्ञान और धर्म—ये ज्ञानके जो तीन अलग-अलग विभाग माने गये हैं, यह पाश्चात्त्योंकी ही मनमानी है। भौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रके बीच कभी समाप्त न होनेवाला घोर विरोध और युद्ध मानना पाश्चात्त्योंकी ही कुकल्पना है। भारतीय लोग तत्त्वज्ञानको 'दर्शन' कहते हैं, परंतु पाश्चात्त्योंके यहाँ तत्त्वज्ञान सर्वतः प्राप्त तत्त्वोंका विचारमात्र है। दर्शनमें बुद्धिपूर्वक विश्लेषण, अनुसन्धान और मीमांसा—यह क्रम तो रहता ही है पर फल इसका है दर्शन और दर्शन ही जीवनका वास्तविक लक्ष्य है।

इस प्रकार ब्रह्मदर्शन पानेका सुनिश्चित मार्ग व्यतिरेक और अन्वयकी पद्धतिसे अपने आपको देखना है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंको व्यतिरेकपूर्वक देखनेसे हम उस साक्षीकी झलक पाते हैं जो इस अवस्थात्रयके पीछे है, जो कभी बदलता नहीं, जो वृद्धि-क्षयरहित अविकार्य है और जो सर्वव्यापी और स्वयंप्रभ है, जैसा कि अमर 'पञ्चदशी' में विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

'नोदेति नास्तमेत्येका संविदेका स्वयंप्रभा।'

अर्थात्—इस शाश्वत अनन्त सनातन आत्माके होनेका स्वानुभूत प्रतिपादन ही भारतीय परम विविध तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है। इसी एक परमात्माके ये रूप और कर्म हैं जो इस नानाविध नामरूपात्मक जगत्‌में देख पड़ते हैं।

इस परमात्माके अनुसन्धानके लिये इस पृथ्वीसे उड़कर ऊपरके ग्रह-नक्षत्र-मण्डलोंमें जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका अनुसन्धान और इसकी प्राप्ति इसी शरीरमें, हृदयकी अँधेरी कोठरीमें (हृदयगुहा या दहराकाशमें) होती है; यही वास्तवमें ब्रह्मपुर है। बुद्धिके स्थानभूत मस्तिष्कका अन्तर्ज्ञानके स्थान हृदयसे वही सम्बन्ध है जो कि चन्द्रमाका सूर्यसे। उसकी कलाएँ सूर्यसे लिया हुआ प्रकाश हैं और उसकी वृद्धि और क्षयके पक्ष हुआ करते हैं; पर यह अधिक सुसह्य ज्योत्स्ना है, यद्यपि धुँधलापन इसमें सर्वथा नष्ट नहीं है। श्रुति और स्मृतिका भी परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है।

अनन्त चक्रके पीछे भटकनेके बदले जब हम केन्द्रमें ही पहुँचते हैं तब सब बातें खुल जाती हैं और विश्वकी समस्या हल हो जाती है। 'एक' ही किस प्रकार अनेकोंमें और अनेकोंद्वारा खेल खेल रहा है, यह स्पष्ट देख पड़ता है। वहाँ आत्मा और जगत्‌की कोई पहेली नहीं रह जाती। एकके अनेकविध होनेका क्रम वहाँ ध्यानमें आ जाता है। वहाँ एकत्व और बहुत्व परस्पर भिन्न या विरोधी तत्त्व नहीं हैं। वेदान्तमें प्रकृति, पुरुष या परमेश्वरसे पृथक् या विरुद्ध तत्त्व नहीं है। प्रकृति परमेश्वरकी परमेश्वरी शक्ति ही है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में कहा है—'एकका एक बने रहते हुए अनेक रूपोंमें प्रादुर्भूत होना जीवनका महत्तम आश्चर्य है। प्रकृतिके तेईस विकार प्रकृतिके आत्म-प्राकट्यके ही एकके बाद एक क्रम-विकास हैं, पर सबके मूलमें ब्रह्मकी सत्ता सदा और सर्वत्र विद्यमान है।' ऐसे सिद्धान्तको अनेकेश्वरवाद कहना शब्दोंका दुरुपयोगमात्र है। चार्ल्स् ह्विटवी बड़े अच्छे ढंगसे कहते हैं कि 'अनेकेश्वरवाद'का यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि विश्व ही ईश्वर है, परंतु वेदान्तका सिद्धान्त तो यह है कि विश्वमें जो कुछ भी सत् सत्ता है उसके अणुमात्रका भी कारण विश्व नहीं है, परमेश्वर हैं।

अनेकोंका जो खेल हो रहा है, उसके बीचमें हमलोग हैं और उस एकको नहीं देख पाते हैं। इसे कोई भी तभी देख सकता है जब यह अपनी इच्छासे अपने-आपको हमारे सामने प्रकट करे। पञ्चकोशात्मक त्रिविध शरीर उस आत्मज्योतिको सहस्रशः विकीर्ण करते हैं। इन विकीर्ण और विविध वर्णरञ्जित ज्योतियोंको आत्मप्राप्तिकी केवल एक शुभ ज्योतिमें एकीभूत करनेके लिये परब्रह्मके सगुण रूपकी दया ही कारण है। इसीलिये निरपेक्ष ब्रह्मका अनुसंधान करनेवाले हिन्दू मूर्तिपूजक भी होते हैं। भगिनी निवेदिताने अच्छा कहा है कि 'संसारके सब लोगोंमेंसे हिन्दू ही ऐसे हैं जो बाह्यतः सबसे अधिक और हृदयतः सबसे कम मूर्तिपूजक हैं।'

जब सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और मन आत्मज्योतिको विकीर्ण करनेका कारण नहीं होता तब निरपेक्षब्रह्मका विशुद्ध अनन्त सनातन परमानन्द प्रकाशने लगता है। तब कोई अनुसन्धान नहीं रहता; क्योंकि अनुसन्धित्सु, अनुसन्धेय और अनुसन्धान तीनों एक ऐसे एकत्वमें एक हो जाते हैं कि जिसमें कोई द्वैत नहीं रह जाता और वह समाकीर्ण शुभ आत्मज्योति दिक्काला-द्यनवच्छिन्नरूपसे अपनी महिमामें स्थित हो जाती है **(स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः)**।

२ अन्तराय—अविद्या

धर्मका रूप या तत्त्व चाहे कुछ भी हो, उसके द्वारा व्यष्टिगत पुरुषका स्वरूपगत ईश्वरत्व ही घोषित होता है। यदि पूर्णत्व या सिद्धि अप्राप्तकी प्राप्ति है तो अन्य सब प्राप्तियोंके समान इसका भी किसी कालमें आरम्भ होना अनिवार्य है और इसलिये फिर इसका किसी कालमें अन्त होना भी निश्चित है। इस प्रकार वह अवस्था भी क्षणिक ही हुई। अनन्तत्वमें असीमत्व संनिहित है और दोनोंमें ही कोई पूर्वसत्ता है—यदि कोई सनातन पराक्-सत्ता भी है। वर्तमान अपूर्णत्व अवश्य ही किसी पूर्णत्वका ही सूचक हो सकता है। चिरंतन पूर्णत्व तभी सम्भव हो सकता है जब वस्तुतः उसकी सनातन सत्ता हो। वर्तमान अपूर्णत्वका स्वरूप यही है कि यह क्षणभङ्गुर जीवन है और यह सुख-दुःखका कर्दम है। इस अपूर्णत्वका कारण भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे बताया गया है। यह पाप अथवा अविद्या कहा गया है। पापका सम्बन्ध व्यवहारसे है और व्यवहार मानसिक और कायिक दोनों होता है। कायिक व्यवहारका मुख्य कारण मानस ही है, इसलिये इस क्षणभङ्गुरता और दुःखका कारण वासना या काम कहा गया है। तत्त्वविचार इस मीमांसाको और आगे बढ़ाकर इस प्रश्नका उत्थापन करता है कि इस कामका भी कारण क्या है। इसका उत्तर यह है कि आत्माकी ज्योतिका सम्मुख न होना इसका कारण है; क्योंकि यदि वह ज्योति अन्तर्हित न होती, अन्तराय-रहित प्रकाशती रहती तो किसीको कोई वासना न होती और यदि वासना न होती तो कोई पाप न होता। तत्त्वज्ञानका हेतु आत्मसत्ताका ज्ञान और अनुभव कराना ही है।

जगत्का जो बाह्यरूप हमलोग देखते हैं, यदि वास्तविक नहीं है तो यह बात सामान्य बुद्धिको बड़ी ही विचित्र मालूम होगी; पर विचारनेसे स्पष्ट हो जायगी और तत्त्वज्ञानके सभी सम्प्रदायोंने इस बातको माना भी है। जगत्के सम्बन्धमें हमलोग केवल उतना ही जानते हैं जितना इन्द्रियोंसे जाना जाता है; यह वस्तु स्वयं क्या है ? सो कुछ भी नहीं जानते। जड प्रकृतिको हम दिक्कालावच्छिन्न देखते हैं और यह देखते हैं कि रूपमात्र अशाश्वत है। पर आत्मा अपने-आपको अशाश्वत नहीं समझ सकती, वह अपनेको शाश्वत ही अनुभव करती है।

अद्वैत-सिद्धान्त यह है कि हम पदार्थोंकी जो नानाविधता देखते हैं, यह अविद्याके कारण देखते हैं, यथार्थमें सद्वस्तु तो एक ब्रह्म ही है। इस अविद्याका कारण क्या है, यह प्रश्न नहीं हो सकता; क्योंकि कारणरूपसे कार्योत्पादनका क्षेत्र ही अविद्याका क्षेत्र है। अविद्या अनिर्वचनीय है, पर विद्यासे इसका निराकरण होता है। जगद्भ्रमके पीछे तदाश्रयस्वरूप सनातन सत्ता है। जब हम विकार या कार्यको देखते हैं तब हम उसके कारणको प्रकृति कहते हैं; जब हम उसे ब्रह्मानुभवकी दृष्टिसे देखते हैं तब उसे अविद्या माया कहते हैं। सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार प्रकृति अनाद्यनन्त है। परंतु अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार अविद्या अनादि है, पर अनन्त नहीं; सान्त है। सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनों ही सत्

हैं और दोनों एक-दूसरेके बिना रह सकते हैं, पर अद्वैत-सिद्धान्तमें अविद्याकी गौण सत्ता है और ब्रह्मसत्ताके बिना वह नहीं रह सकती। (ब्रह्मसत्ता ही भगवत्तत्त्व है।)

यह कहना ठीक नहीं कि अविद्या भावरूपा है। यदि जगत् मनोमय ही होता तो इनमें स्थिरता, हेतु या क्रम कुछ भी न होता। मनोमय सृष्टि जब चाहे गढ़ी और तोड़ी जा सकती है। जगत्को कोई ऐसे गढ़ और तोड़ नहीं सकता। फिर यदि अविद्या केवल मनोगत ही होती तो सुषुप्तिमें इसका रहना न बनता, जब कि मन सर्वथा निष्क्रिय होता है। अद्वैत सिद्धान्त यह है कि अविद्या ब्रह्मको छिपाये रहती और जगत्को सामने रखती है। इसकी इन शक्तियोंको आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति कहते हैं। आत्मसत्ताका अबोध ही अविद्याका कारण है। तुरीय अवस्थामें जब हमें आत्मस्वरूपका बोध होता है, तब सब भ्रम दूर हो जाते हैं और बहुविधा नष्ट हो जाती है। तब एकत्वका भान होने लगता है।

धर्मभावका सम्बन्ध जितना बुद्धिसे है उतना ही अन्तर्ज्ञानसे है। मि० ओ० सी० क्विकने अन्तर्ज्ञान और बुद्धिकी यथाक्रमपर फिरनेवाले कबूतर और जहाजके अफसरसे तुलना की है। कबूतरका मन जहाजी गणितसे बिल्कुल खाली रहता है, पर वह अपने स्थानपर ठीक पहुँच जाता है। जहाजका अफसर नक्षत्रादिसे दिशा निश्चितकर जहाजका रास्ता ठीक करता और अपने स्थानपर पहुँचता है। अपने-अपने हिसाबसे दोनों ही ठीक हैं। अन्तर्ज्ञानी अपने हिसाबसे और बुद्धिवादी अपने हिसाबसे ठीक है। कोई किसीको अपनेसे हीन समझे, यह ठीक नहीं। अन्तर्ज्ञान आत्मबोधका नाम है और बुद्धिवाद तर्ककी प्रणाली है।

धर्ममें अन्तर्ज्ञानीका भी उतना ही महत्त्व है जितना कि बुद्धिवादीका। स्टार्बकने अन्तर्ज्ञानके विषयमें अपना अनुभव इस प्रकार वर्णित किया है—'अन्तरकी गहराई और भी अधिक गहराईमें प्रवेश करने लगी—मेरी ही साधनासे जो गहराई मेरे अंदर उत्पन्न हुई उससे आकर मिलने लगी; वह अथाह गम्भीरता जो बाहर है, जो नक्षत्रोंको भी पार कर गयी है। कई अवसरोंपर मैंने यह अनुभव किया कि मुझे भगवत्सत्ताके सारूप्यका आनन्द भोगनेको मिला। इतना ही महत्त्व उस आध्यात्मिक बुद्धिवादी या विश्लेषणकारी विचारकका है, जो अपनी बुद्धिका प्रयोग करके अज्ञानके परदेको उठाकर सत्तत्त्वको प्रकट कराता है। वह यह जान लेता है कि जीव सत्तत्त्व है। वह शरीरसे सर्वथा स्वतन्त्र और सनातन है।'

इस प्रकार क्या अन्तर्ज्ञान और क्या बौद्धिक मीमांसा दोनोंमें ही, भिन्न-भिन्न प्रकारसे ही क्यों न हो, 'अन्तश्चक्षु' का ही सहारा लेना पड़ता है।

३-प्राप्ति

श्रीमान् शंकराचार्यके विलक्षण तत्त्वज्ञानका यह केन्द्रबिन्दु है। हमलोग अपने परिच्छिन्न अहंकारमें इतने फँसे हुए हैं कि हमें अपनी आत्मा और उसके सान्त परिच्छिन्न अति कोमल अवगुण्ठनके बीच वियोगकी कल्पना भयावनी लगती है। जब यह बन्धच्छेद हो जाता है और हमारा वास्तव अन्तर्हित अपरिच्छिन्न सनातन सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशित होता है, तब कुछ भी अल्प नहीं रह जाता, सब कुछ भूमा हो जाता है; तब अविद्या नष्ट होती है और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तथा ब्रह्मानुसंधान पूर्ण हो जाता है। यही पूर्णता भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति और जीवनकी सिद्धि है।

भगवद्दर्शनका सूत्र

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

प्रत्येक भक्तके मनमें लालसा रहती है—अपने आराध्यका दर्शन करनेकी । उसके लिये वह कुछ भी करनेको तैयार रहता है । भगवान् और भक्तके मिलनकी चामत्कारिक घटनाएँ भी उसको रोमाञ्चित कर देती हैं । उसके जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य रहता है—भगवान्से साक्षात्कार । इसी दृष्टिसे कुछ लोग हमारे पास भी आते हैं । वे जिज्ञासुभावसे पूछते हैं—साक्षात्कारकी प्रक्रिया । हम उनकी भावनाका आदर करते हैं और उन्हें समझाते हैं कि पहले आप उतनी योग्यताका अर्जन करें, अपने-आपकी पहचान तो करें ।

परमात्म-दर्शनसे पहले आत्मदर्शन होना चाहिये । आत्मदर्शन होता भी है । व्यक्ति देखता है—अपनी आत्माको विविधरूपोंमें । कभी वह गर्वित आत्माको देखता है, कभी उत्तेजित आत्माको देखता है, कभी मायावी आत्माको देखता है, कभी आसक्त आत्माको देखता है और कभी देखता है—आवृतात्माको । किंतु यह आत्मदर्शन नहीं है; क्योंकि यहाँ जो कुछ दिखायी देता है, वह केवल विकार है । आत्माने जितने मुखौटे पहन रखे हैं, उनका दर्शन आत्मदर्शन नहीं है । इन सब मुखौटोंको उतारनेके बाद ही आत्माका सही रूप देखा जा सकता है । शुद्ध आत्माका दर्शन ही परमात्म-दर्शन है । आत्मा एवं परमात्मामें और अन्तर ही क्या है ? आत्मा आवृत है और परमात्मा अनावृत । आवरण हट जाये तो आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है; अन्यथा परमात्म-दर्शनकी बात केवल कल्पनालोककी बात बनकर रह जाती है ।

आत्माके तीन रूप हैं—दुरात्मा, महात्मा और परमात्मा । जब हम दुरात्मा और महात्माको प्रत्यक्ष देखते हैं, तब परमात्माको क्यों नहीं देख सकते ? परमात्मा आत्माका ही शुद्ध स्वरूप है । यह बात किसी मत या सम्प्रदाय-विशेषकी नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक आत्मवादी दर्शनकी है । कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है, जो आत्माको न मानता हो । इसलिये परमात्माको पाने, पहचानने या देखनेके लिये आत्म-दर्शनके सिद्धान्तको समझना आवश्यक है ।

आत्मा है; आत्माका दर्शन हो सकता है । तब प्रश्न यह उठता है कि आत्मदर्शनकी प्रक्रिया क्या है ? बहुत सीधी-सी प्रक्रिया है इसकी, जो आज प्रेक्षा-ध्यान-साधनाके नामसे बहुचर्चित हो रही है । प्रेक्षा-ध्यान क्या है ? 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मासे आत्माको देखो, आत्माके अतिरिक्त आत्माको देखनेवाला कोई हो ही नहीं सकता । जिस प्रकार दर्पणमें चेहरेका स्पष्ट प्रतिबिम्ब उभर आता है, उसी प्रकार प्रेक्षाध्यानका अभ्यास करते समय आत्माका स्पष्ट अनुभव होने लगता है । यह अनुभव जितना पुष्ट होता है, आत्म-दर्शनकी बात उतनी ही स्वाभाविक हो जाती है । यह अध्यात्मकी प्रक्रिया है, जादू या चमत्कार नहीं है । अध्यात्मके साथ जहाँ भी चमत्कारकी बात जुड़ती है, आत्मदर्शनका पक्ष गौण हो जाता है ।

युवक नरेन्द्र परमहंस रामकृष्णके पास गया । स्वामीजीने प्रश्नायित आँखोंसे उसकी ओर देखते हुए कहा—'नरेन्द्र ! तुम क्या चाहते हो ? अणिमा-लब्धि पाना चाहते हो ? उससे तुम बिल्कुल छोटे बन सकते हो । महिमा-लब्धिसे तुम अपने आकारको बढ़ा सकते हो । हल्के और भारी बननेकी भी लब्धियाँ हैं । तुम चाहो तो तुम्हें आकाश-विहारी बना दूँ । बताओ तुम चाहते क्या हो ?'

नरेन्द्र स्वामीजीकी बात सुनकर गम्भीर होता जा रहा था। उसने प्रश्नके उत्तरमें कहा—'इन सबसे मुझे मिलेगा क्या ?' स्वामीजी बोले—'तुम्हारा नाम होगा, प्रतिष्ठा बढ़ेगी, प्रख्यात हो जाओगे तुम।' नरेन्द्र बोला—'गुरुदेव! मुझे ये सब नहीं चाहिये। आपको देना ही है तो मुझे वह तत्त्व दें जिससे मैं स्वयंको पा सकूँ।'

नरेन्द्रके शब्द उसकी भावनाका सक्षम प्रतिनिधित्व कर रहे थे। स्वामीजीने उसके अन्तःकरणको पढ़ा, परखा और उसे अध्यात्मविद्याके लिये योग्य पात्र पाया। उनकी वर्षोंकी खोज पूर्ण हुई। उन्होंने उसे अपना शिष्य बना लिया। यही नरेन्द्र आगे जाकर विवेकानन्द बना, जिसने भारतीय अध्यात्मविद्याको उजागर करनेमें अपना जीवन लगा दिया।

अध्यात्मका मूल आधार आत्मा है। आत्मतत्त्व जितना गूढ़ है, उतना ही स्पष्ट है। उसे सही रूपसे समझ लिया जाय तो परमात्म-तत्त्वका कोई रहस्य अज्ञात नहीं रहता। इसलिये आत्माको ही देखने, समझने और विशुद्ध करनेकी अपेक्षा है। यही है भगवद्दर्शनका प्रथम सिद्ध-सोपान अथवा भगवद्दर्शनका सूत्र।

वेदोंमें भगवत्तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम')

भगवान्‌का ऐश्वर्य चतुर्दिक् बिखरा पड़ा है, पर उधर विरले पुरुष ही अपनी दृष्टि ले जा पाते हैं। योगदर्शन भगवान् या ईश्वरको ऐसा पुरुष विशेष मानता है, जो क्लेश, कर्मविपाक और आशयसे अपरामृष्ट अथवा असम्पृक्त है। क्लेशका मूल कर्माशय अर्थात् वासना जाल है। यह जीवात्माके साथ तबतक लगा रहता है, जबतक वह मुक्त होकर भगवान् नहीं बन जाता या उनके पास नहीं पहुँचता। कर्माशयरूप मूलके रहनेसे जाति, आयु और भोग जीवात्माके साथ लगे रहते हैं। उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है और एक योनिसे दूसरी योनिमें जाना पड़ता है। परंतु ये ही कर्म परमात्माको बन्धनमें नहीं डालते। श्वासकी सहज गतिके समान ईश्वरकी भी सृष्टि-संहारादि क्रियाएँ सहज हैं। दार्शनिक दृष्टिसे परमात्मा सत् (सत्तायुक्त), चित् (चेतन) और आनन्दस्वरूप है; यही उसका तात्त्विक रूप है। वेद ईश्वरके इस ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्वपर कई दृष्टियोंसे प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेदका कथन है—

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां
मन्ये त्वाच्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्त्वानामिन्द्र केतुं
मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥
(ऋ० ८।९६।४)

ईश्वर सबका पूजनीय है, वह शक्तिमें भी सबसे बढ़कर है। वह बलवानोंमें बलवत्तम है। वेद उन्हें 'शचीव' कहते हैं। सभी शक्तियाँ उन्हींकी हैं। अतः वेदोंने उन्हें शिवसम्पत्ति कहा है। इसका अर्थ है—बलोंका स्वामी, शक्तिपर आधिपत्य रखनेवाला—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषन् वृषेदसि॥ (ऋ० १०।१५३।२)
वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिन् चित्राभिरूतिभिः॥
(ऋ० ५।४०।४)

न वीळवे नमते न स्थिराय
न शर्धते दस्युजूताय स्तवान्।
अज्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिद् ऋष्वा
गम्भीरे चिद्भवति गाध यस्मै॥
(ऋ० ६।२४।८)

इन मन्त्रोंमें ईश्वरको वृषण अर्थात् बलवान् एवं सभी बलोंका मूल-स्रोत कहा गया है। वह वज्री है। जितना भी संहननत्व इस विश्वमें है, उसका मूल आधार ईश्वर है। इसीलिये अनेक मन्त्रोंमें उसे 'वज्रबाहु' भी कहा गया है। एक मन्त्रमें यह भी कहा गया है कि प्रभु स्थविर हैं, वृद्ध हैं, परंतु उनके बाहु विशाल और बलवान् हैं—**'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू।'** प्रभुका वीर्य अनुत्त अर्थात् अप्रेरित है, क्योंकि प्रभुसे बढ़कर कोई है ही नहीं। निम्नाङ्कित मन्त्रमें प्रभुकी महत्ताका विशिष्ट निदर्शन है—

अयमस्मि जरितः पश्य मेह
विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्या
दर्दिरो भुवना दर्दरीमि॥
(ऋ० ८। १००। ४)

ईश्वर भक्तके लिये सर्वत्र उपस्थित है। भक्त सदैव उसके संदर्शनमें निवास करता है। विश्वमें जितने उत्पन्न पदार्थ हैं, ईश्वर उन सबके ऊपर है। वह अपनी महिमासे सबका धारक और वशी बना हुआ है। जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञानके क्षेत्रमें प्रवेश करता है, वह उतना ही अधिक ईश्वरकी शक्तिसे परिचित हो जाता है। ऋतके दिशा-संकेत ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानको संवर्धित करते हैं। ईश्वर पलभरमें समस्त भुवनोंको प्रलयमें परिणत कर सकता है—**'सो अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति'** जैसे भूचालके समय बड़े-बड़े और पक्के-से-पक्के भवन और नगर धराशायी हो जाते हैं, वैसे ही अदानी, कृपण, द्वेषी और दस्युकी समस्त पोषण-सामग्री ईश्वरके द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दी जाती है। वेदोंने शक्तिके क्षेत्रमें प्रभुके रौद्ररूपका भी कई बार उल्लेख किया है। सामान्य मानव ही नहीं, बड़े-से-बड़े ज्ञानी और शस्त्रधारी भी प्रभुके इस रूपको अनुभव करके स्तम्भित रह जाते हैं। घोर-से-घोर अनीश्वरवादी भी किसी अज्ञात बलवती सत्तामें विश्वास करने लगते हैं। वेद कहते हैं—

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते
शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
(ऋ० २। १२। १३)

प्रभुके बलके आगे द्यावा और पृथ्वी झुक जाते हैं और अचल पर्वत भी काँपने लगते हैं, भयभीत हो जाते हैं—**'न यस्य देवा देवता न मर्त्ताः आपश्च न शवसो अन्तमापुः'**। यहाँ जितनी अमर तथा मर्त्य शक्तियाँ हैं, जितने अमित क्षेत्रमें फैले हुए जल हैं—उनमेंसे कोई भी प्रभुके बलका पार नहीं पा सकता। ईश्वर जहाँ पूज्य है, उपासनीय है, भक्ति और अर्चनाका केन्द्र है, अपने ओजसे दूसरोंको अभिभूत करनेवाला धृष्णु और स्वयं अधृष्ट है अर्थात् दूसरोंके द्वारा अभिभूत होनेवाला नहीं है। वह सत्त्वोंका केतु है, ज्ञानियोंमें शिरोमणि है, विश्ववित् है और सर्वज्ञ है। वेद उसे 'विचर्षणि' भी कहता है। हम सब अल्पचर्षणि हैं, स्वल्पमात्रको देखनेवाले हैं, परंतु ईश्वर विशेषचर्षणि अर्थात् द्रष्टा है। वह 'अभिज्ञु' है। सबको सामनेसे, ऊपरसे और सब ओरसे देख रहा है, जान रहा है। कोई भी अस्तित्व उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं रह सकता। वेद उसे अकवियोंमें कवि कहता है—**अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि।** (७। ४। ४)। अन्य सब अकवि हैं, अक्रान्तदर्शी हैं। वहाँ केवल कवि है। प्रचेता भी वही है। हमारे पास चेतनाके कतिपय कण हैं, परंतु प्रभुके पास प्रकृष्ट चेतना है; सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है—

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः अग्ने
कविः काव्येनासि विश्ववित्।
(ऋ० १०। ९१। ३)

प्रभु अपनी काव्य-शक्तिसे, क्रान्तदर्शिनी चेतनासे सबको जानता है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मंत्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥
(अ० ४ । १६ । २)

कोई कितना ही छिपकर काम करे, गुप्तरूपसे षड्यन्त्रद्वारा दूसरोंको धोखा देना चाहे, अनुचितरूपसे दबाव डाले, आतंकित करे या दो पुरुष एकान्तमें बैठकर कुटिल यन्त्रणामें लीन हों, तब भी वे प्रभुकी दृष्टिसे बच नहीं सकते—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषा जनानाम्
अक्षान्निव् श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥
(अ० ४ । १६ । ५)

द्यावासे लेकर पृथ्वीपर्यन्त जो कुछ है, सबको वरणीय प्रभु देख रहा है । मनुष्योंके निमिषतक उसके गिने हुए हैं । उसने सबको नाप रखा है—

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्
न स मुच्याते वरुणस्य राज्ञः ।
दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य
सहस्राक्षाः अति पश्यन्ति भूमिम् ॥
(अ० ४ । १६ । ४)

ईश्वरकी अन्य विशेषताएँ उनके दान, त्याग और उदारता आदि कर्म हैं । उन्हें सभी पुकारते हैं, संकटमें भी, सुखमें भी । आर्त अपनी आर्तिको—दुःखको दूर करना चाहता है । जिज्ञासुको ज्ञानप्राप्तिकी आकांक्षा है । निर्धनको धन चाहिये । एक ईश्वरमें सबकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेकी शक्ति है । वह अकेला अनेकोंकी कामनाओंको पूर्ण कर रहा है—**'एको बहूनां यो विदधाति कामान्'** । वे 'वृषभ' हैं, वर्षक हैं, अपने उदार दानकी वर्षा करनेवाले हैं । उनके-जैसा दानी कोई भी नहीं है । हम यदि किसीको कुछ देते हैं, तो उन्हीं प्रभुके दिये हुएमेंसे देते हैं । उसमें हमारा अपना कुछ भी नहीं होता । प्रभु वसुओंके भी वसु हैं, **'तुवीमघ'** है । उनके ऐश्वर्यकी कोई इयत्ता नहीं है । वे वसुपति हैं, वसुओंके सम्राट् हैं । भक्तको वे ही निहाल करते हैं । मार्गमें आनेवाले वृक्षों, अवरोधोंको वे ही हटाते हैं । जो कुछ यहाँ पार्थिव तथा दैवी सम्पदाएँ हैं, वे सब उन्हींकी हैं । हम तो हृदयसे उन्हें पुकारते भर हैं । पर उसी पुकारमें ही उनके दान बरसने लगते हैं और हम तृप्तिका अनुभव करने लगते हैं । हमारी अभीष्ट और तृप्ति दोनोंकी पूर्ति उन्हींके द्वारा होती है ।

भगवत्तत्त्वकी जो छः विशेषताएँ वैष्णव-आगममें प्रतिपादित हुई हैं, वे वेदोंमें भी पायी जाती हैं । भग तथा भगवान् दोनों शब्द वेदमें विद्यमान हैं । इन्द्र तथा मघवा दोनों वैदिक शब्द ऐश्वर्यके वाचक हैं । वेदमें वीर्य, सुवीर्य, सहस्रवीर्य, श्रवः, यशः (सुश्रवः), दर्शत-श्री, वसुओंका वसु, सुविदत्र, विश्ववित, सुभग, अरति (वैराग्य) आदि शब्द आये हैं, जो भगवत्तत्त्वकी विशेषताओंके द्योतक हैं ।

सर्वव्यापक तत्त्व

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥　(मुण्डक० २ । २ । ११)

यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है । ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है । यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है ।'

ईशावास्यमिदं सर्वम्—विश्वव्याप्त भगवत्तत्त्वका विवेचन

(लेखक—स्वर्गीय म० म० पं० श्रीगिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी)

एक सूर्यके प्रकाशकी परिधिको ब्रह्माण्ड कहा जाता है। सूर्य अनेक हैं, उनकी प्रकाश-परिधियाँ भी अनेक हैं। कहते समय उन्हें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डतक कह देते हैं। उनकी संख्याका पता नहीं। सभी ब्रह्माण्डोंके नायक, नियामककी संज्ञा परमेश्वर है। उनके नायकत्वमें एक एक ब्रह्माण्डकी गतिविधिको परिचालित करनेवाली शक्ति 'ईश्वर' कही गयी। एक-एक ब्रह्माण्डमें भी अनेक विभागोंके नियामक या परिचालक जीव कहे गये। वे सभी 'ईश्वरशक्ति'से नियन्त्रित हैं।

शक्तिरूपसे विद्युत् सर्वत्र व्याप्त है। वह परमेश्वरके उदाहरणके रूपमें समझी जा सकती है। एक नगरमें काम लेनेके लिये वही विद्युत् ईश्वरस्थानीय हुई। मकानोंमें बल्बोंमें जलनेवाली विद्युत् जीवस्थानीय समझी जा सकती है।

सारे जीव ईश्वरके अधिकारमें हैं। उनकी शक्तिसे चलते हैं। ईश्वरसे प्रकाश लेकर अपना स्वतन्त्र जीवन चलाते हैं। एक-एक बल्ब प्रकाश ग्रहण करता, प्रकाश फेंकता, प्रकाश्यको प्रकाशित करता है; परन्तु 'पावर हाउस'के बिना उसमें कोई प्रकाश नहीं।

विद्युत्-शक्ति दृष्टान्तमात्र है। ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियाँ परमेश्वर, ईश्वर और जीवमें हैं। अपनी-अपनी शक्तिसे अपना-अपना काम चलाया जा रहा है। व्यापक शक्ति-पुञ्जोंकी परमेश्वर, ईश्वर और जीव ये तीन संस्थाएँ हैं। प्रत्येक संस्थामें अव्यय, अक्षर, क्षर, परात्पर ये चार विभाग हैं—परमेश्वरमें भी, ईश्वरमें भी, जीवमें भी। समस्त कार्य-प्रपञ्चका निर्वाह इन्हींसे हो रहा है।

जगत्के निर्माणका श्रीगणेश यज्ञसे होता है। 'गति' और 'आगति' को यज्ञ कहते हैं। गति अर्थात् किसी वस्तुका भीतरसे बाहर जाना, आगति अर्थात् किसी वस्तुका बाहरसे भीतर आना। किसी पदार्थका स्वरूप बदलनेपर भी उसमें होनेवाले गति-आगतिमय इस यज्ञसे 'यह वही वस्तु है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है।

सूर्यसे प्रतिक्षण तापकी अनन्त ज्वालाएँ निकल-कर बाहर फैलती हैं। सूर्य एक यज्ञस्वरूप है, इसीलिये प्रतिदिन प्रातःकाल 'यह वही सूर्य है' ऐसा हम समझते हैं। इन शक्तियोंका विवरण यों है—'यह वही है' इस रूपमें समझा जा रहा है, वह ब्रह्मा है, बाहर फेंकनेवाला इन्द्र है, भीतर लानेवाला 'विष्णु' है। ये तीनों देव सभी पदार्थोंके हृदयमें प्रतिष्ठित हैं। आगे यज्ञकी प्रक्रियामें एकसे अधिक पदार्थोंको मिलाकर सृष्टि होती है; संसृष्टि ही सृष्टि है। आधुनिक सिनेमाको ही लीजिये; एक संसृष्टि ही तो है वहाँ। छायाचित्र, रोशनी, ध्वनियन्त्र इनकी संसृष्टि कर दी गयी है। एक नयी वस्तु बन गयी, 'सिनेमा' कहा जाने लगा उसे। ऐसी ही संसृष्टि सर्वत्र होती रहती है। जगत्का प्रवाह आदिकालसे आजतक इसी प्रक्रियासे चल रहा है। पुरुष सभीमें व्याप्त है, उसकी कलाएँ व्याप्त हैं। उन कलाओंसे रिक्त जगत्का कोई पदार्थ नहीं होगा, इसीलिये सम्पूर्ण जगत् 'ईशावास्य' है; ईश्वरके द्वारा वासित है—अभिव्याप्त है। पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा, विष्णु, महेशसे भी यह अभिव्याप्त है। प्रत्येक पदार्थके केन्द्रमें ये प्रतिष्ठित हैं।

पुरुषकी कलाएँ—प्राण, आप्, वाक् और अन्नादि—सर्वत्र फैली हुई हैं। इनका परस्पर हवन होता रहता है। यह हवन 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाता है। श्रुति कहती है—

> 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥'

सर्वहुत यज्ञसे लोक, वेद और देव बनते हैं। प्रत्येक पदार्थका आकार 'ऋक्' उसकी दर्शनात्मिका परिधि 'साम' और दोनोंके मध्यमें अवस्थित प्रभावात्मक अंश 'यजुः' कहलाता है। घने जंगलमें एक दीपक जल रहा है, उसकी लौ 'ऋक्' है, जहाँतक वह दीखता है, वहाँतक उसका 'साम' है, मध्यमें प्रकाशरूप उसका प्रभावांश 'यजुः' है। घने जंगलमें

एक दीपककी जो स्थिति है, वही ब्रह्माण्डमें सूर्यकी स्थिति है। सूर्यको उदाहरण बनाकर वेदमें—

'यदेतन्मण्डलं तपति'

इत्यादि सन्दर्भोंके द्वारा 'ऋक्', 'यजु:', 'साम' को समझाया गया है। सर्वत्र परिव्याप्त ऋक्, यजुः, साम, 'सर्वहुतयज्ञ'से ही समुद्भूत हैं। अव्यय पुरुषकी कलाओंके परस्पर हवनसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध समुद्भूत होते हैं और इन्हींसे उत्पन्न हो जाते हैं पाँचों महाभूत।

सबको उत्पन्न करनेवाला यही यज्ञ है। गति-आगति इसके रूप हैं। इसके दो भाग हैं। वैदिक परिभाषामें उनके नाम हैं 'ब्रह्मोदन' और 'प्रवर्ग्य'। किसी पदार्थमें बाहरसे आनेवाले तत्त्वोंका एक अंश तो उस पदार्थके स्वरूपमें प्रविष्ट होता हुआ उपयोगमें आता है और उस पदार्थका पोषण करता है तथा दूसरा अंश उसके द्वारा त्यक्त होता है। प्रथमकी 'ब्रह्मोदन' संज्ञा है और दूसरेको 'प्रवर्ग्य' कहा गया है। अथर्ववेदमें प्रवर्ग्यको 'उच्छिष्ट' भी कहा गया है। जगत्की निर्मितिमें उच्छिष्टका ही बहुत योग है। एक उदाहरणके द्वारा उच्छिष्टको समझाया गया है। देखा जाता है कि सूर्यास्तके अनन्तर भी शिलाप्रस्तरोंमें किरणोंकी गर्मी कुछ कालतक बनी रहती है। किरणें तो अपने आधारभूत सूर्यके साथ चली गयीं; उनकी गर्मी भी तत्क्षण चली जानी चाहिये; परन्तु जो सूर्यका प्रवर्ग्य या उच्छिष्ट-रूप है वह रह गया। गर्मीका कुछ अंश तो पदार्थके भीतर प्रवेश कर गया और कुछ अंश उच्छिष्ट होकर उष्ण स्पर्शके रूपमें अवस्थित है।

प्रतिदिन हम जो भोजन करते हैं, उसमें शरीरका पोषण 'ब्रह्मोदन' करता है और प्रवर्ग्य या उच्छिष्ट उत्सर्जनके द्वारा बहिर्भूत हो जाता है।

सूर्यमें सोम आहुत होता है। कुछ भाग ब्रह्मोदनके रूपमें सूर्यके संरक्षणमें लग जाता है और शेष भाग गर्मीके रूपमें चारों ओर फैलकर नाना धान्य, ओषधि-वनस्पति आदिको उत्पन्न करता है। इसी आशयसे कहा गया है—**'उच्छिष्टात्सकलं जगत्'**—सम्पूर्ण जगत् उच्छिष्टसे ही समुद्भूत है।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—इस उपनिषद्वाक्यका भी यही तात्पर्य है कि ईशके केन्द्रसे जो त्यक्त हो चुका है, उसीसे हमारा भोग होना सम्भव है; वही हमारा भोग्य है। जो ईश्वरसे आक्रान्त है, वह हमारी भोग-सीमासे बहिर्भूत है। ईश्वरसे सम्बद्ध, ईश्वररूपमें ही रहता है और उसके परित्यक्त भागसे ओषधि-वनस्पति-अन्नादि समुत्पन्न होकर हमारी भोग-सीमामें आते हैं।

कौन-सा पदार्थ किसकी भोग-सीमाके अन्तर्गत है? इसका उत्तर कर्म-सिद्धान्तके द्वारा मिलता है। जो पदार्थ जिसके कर्मसे आक्रान्त है, वह उसकी भोग-सीमामें है। कर्मकी परिणति बड़ी सूक्ष्म होती है। गीतामें—**'गहना कर्मणो गतिः'**आदिके स्थलपर कर्मविज्ञानकी गहनताका प्रतिपादन हुआ है।

इस जगत्में कर्मानुसार भोगको सभी स्वीकार करते हैं; परन्तु मनुष्य इससे आगे जानेको सर्वदा तैयार रहता है। उसीके सम्पर्कमें आकर पशुपक्षी भी वैसा करते हैं। संसारमें इसीसे उथल-पुथल मचती है, अशान्ति होती है, दमन चलता है। उसीकी शान्तिके लिये उपदेश दिये जाते हैं। देवता, पितर, पशु, पक्षी आदिके लिये किसी प्रकारके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। ये सभी स्वतः मर्यादित हैं। मनुष्यके लिये ही सभी उपदेश हैं; क्योंकि मर्यादाका अतिक्रमण इसीके द्वारा होता है, इसीको उपदेश होता है—**'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।'** अर्थात् 'किसी अन्यके उपभोग्य धनका ग्रहण मत करो।' (विश्वव्याप्त भगवत्तत्त्वकी अनुभूति ही इस विचारको आचरणमें उतारनेमें सक्षम है; अतएव सवत्र उस एक परमतत्त्वकी सत्ताका अनुभव करना हम सभीका कर्तव्य है।)

'सत्यलोकका वासी'

विभु है विश्वविभूतिविधायक ।
अपनी सकल अलौकिकतामें लौकिकता-परिचायक ॥ १ ॥
उसका है अकुण्ठपद इससे है वैकुण्ठ निवासी ।
है वह सत्यस्वरूप इसलिये सत्यलोकका वासी ॥ २ ॥

—हरिऔध

'अनायास उनको मिल जाते, पूर्ण परात्पर श्रीभगवान्'

(रचयिता—श्रीरतनलालजी गुप्त)

सृष्टिकालमें विश्वजगत्‌को अपने बाहर करके व्यक्त,
फिर उसमें प्रविष्ट हो जाते अन्तर्यामी ही अव्यक्त ।
निराकार, निरवद्य, निरंजन, निष्क्रिय, निष्कल, अद्वय ज्ञान,
षडैश्वर्यसम्पन्न जगत्पति, व्यक्तरूप होते भगवान् ॥

ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, शक्तिके भीतर करते आत्मप्रकाश,
लोकोत्तर लीलामें करते नित नव-नव आमोदविलास ।
दुःख, दैन्य, अज्ञान, आसुरी भावराशिका करके नाश,
अनुरागी भक्तोंमें करते, ज्ञान-प्रेमका मधुर विकास ॥

राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, कालिका, गणपति, सविता रूप अनेक,
अज, अरूप, अविकारी सबमें, चिदानन्द भासित हैं एक ।
भूषण, आयुध, शक्ति, वेषके, पार्षद, धाम आदिके भेद,
नाम अनन्त प्रकाशित होते, मूलतत्त्वमें नित्य अभेद ॥

एक देशमें स्थित रवि करता दिग्दिगन्तमें पूर्ण प्रकाश,
उसी तरह सम्पूर्ण क्षेत्रमें क्षेत्री करता नित्य विकास ।
क्षर-अक्षर-अतीत पुरुषोत्तम, जीवरूप है जिनका अंश,
क्षर होनेसे प्रकृति-राज्यमें पाता जन्म, दुःख, विध्वंस ॥

परमहंस मुनि मन-इन्द्रियको वशमें करके धरते ध्यान,
नेति-नेति कर ब्रह्मरूपमें, पाते जिनका अनुसन्धान ।
देह-प्राण-मन अर्पित करके प्रियतमका करते गुणगान,
अनायास उनको मिल जाते, पूर्ण परात्पर श्रीभगवान् ॥

भगवत्तत्त्व-विवेचन

(लेखक—वीतराग स्वामी १०८ श्रीनारायणाश्रमजी महाराज)

'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० उ० २ । ५ । १९, माण्डूक्य २, नृसिंहपूर्वताप० ५-४ । २, रामोत्तरताप० २ । १) इस महावाक्यके अनुसार जीवात्मा परमात्माका ही रूप है, उससे भिन्न नहीं। शरीर-मन-इन्द्रियादिकी उपाधिसे परिच्छिन्न एवं त्रिगुणमयी वृत्तियोंसे परिवेष्टित होकर अपनेको कर्ता मानकर वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वधर्मका उपभोक्ता—जीव बन गया है (गीता १३ । १४) **'विशेषानुग्रहाच्च'** (ब्रह्मसू० ३ । ४ । ३८) इस सूत्रके अनुसार परब्रह्म परमात्माके **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** (श्वेताश्वर उप० ६ । ११) होनेपर भी प्राणिमात्रके अनुग्रहार्थ सगुणस्वरूपमें आविर्भूत होनेके लिये हृदयदेशकी विशेष कल्पना करनी पड़ती है, जैसा कि शांकरभाष्यमें कहा है—**'सर्वस्यापि ब्रह्मणोपलब्ध्यर्थं देशविशेषकल्पना न विरुध्यतेति ।'**

यद्यपि भगवान् सर्वव्यापक हैं, तथापि भक्तोंके अनुग्रहार्थ उनके हृदय-देशमें विशेष रूपसे निवास करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गीता १८ । ५८)

'प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् निवास करते हैं। समूचे संसारके जड-चेतन प्राणीको मायासे भ्रमित करा देनेवाले भगवान् चिन्मयस्वरूप हैं ।' उन अपौरुषेय भगवान्का परम सूक्ष्म तात्त्विक स्वरूप भक्तियोगके द्वारा दृष्ट होता है—

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत् पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ७ । ४)

'सम्यक् प्रणिहित कर लेनेपर मन निर्मल हो जाता है। निर्मल मनमें जब भगवान्की अनन्य भक्ति उदित होती है, तब उस परम पुरुष परमात्माका साक्षात्कार होता है। महर्षि व्यासने अध्यात्मयोगाधिगमसे मनको निर्मल कर लेनेके पश्चात् अनन्य भक्तियोगसे उस अप्रमेय पुरुषके दर्शन किये थे । उस समय अनादि-अनिर्वचनीया मायाशक्ति उस चिन्मय पुरुषमें आश्रित थी ।' वह भगवत्तत्त्वका सगुण अपौरुषेय तेज था । माया उस चिन्मय पुरुषकी छाया है । उसे चिच्छाया भी कहते हैं । जिस तरह समुद्रमें तरंगें उठती हैं, उसी तरह परम पुरुष परमात्मामें मायाशक्ति संकल्पके स्वरूपमें उदित होती है । परमात्माके आश्रयमें रहनेवाली मायाका नाम 'योगमाया' है । जब उस चिन्मय पुरुषकी छाया मायापर पड़ती है, तब उपाधि-संयोगसे वह निर्गुण ब्रह्म भी सगुण ईश्वर बन जाता है—

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेन विभाति या ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मापि ईशतां व्रजेत् ॥
(पञ्चदशी)

'चिन्मय परमात्माकी छाया जब चेतनके आश्रयमें रहती है और उसपर चिन्मय परमात्माका आवेश होता है, तब वह चिन्मयी-संवित् चेतना-शक्ति कहलाती है । सच्चिदानन्द ब्रह्म उस मायाके संयोगसे सगुण भगवान् बनता है ।' भगवत्तत्त्वका यह दिव्य चिन्मय शरीर लीलामय तथा प्राणिमात्रके अनुग्रहके लिये होता है । सम्पूर्ण संसार ही उस अप्रमेय भगवान्की लीला-विलासमात्र है । भगवान्का तात्त्विक स्वरूप दर्पणके तुल्य है । संसार उसमें एक दृश्यमान नगरीके समान है । दर्पणमें नगराभासके सदृश यह समूचा संसार ही भगवान्का लीला-विलासमात्र है ।

सम्पूर्ण जड-चेतनात्मक-भूत–प्राकृतिक–स्थूल-सूक्ष्म दृश्यमान विश्व मायाका कार्य है और भगवान् स्वराट् इसके अभिज्ञ । मायामें विक्षेप, आवरण दो प्रकारकी शक्ति रहती है । निर्गुण-निर्विकार सच्चिदानन्द परमात्मामें इस अव्यक्त मायाकी विक्षेप-शक्तिके संसर्गसे अनन्त-

कोटि ब्रह्माण्डके प्राणियोंके अदृष्ट कर्म-संस्कार-बीजसे अङ्कुरके समान उदित होता है। तत्पश्चात् मायाशक्तिके गुणधर्मके उन अनन्त प्राणियोंके अदृष्ट कर्म-संस्कारमेंसे क्रमशः कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल-शरीरका निर्माण होता है।

परमपुरुषका स्थूल विराट्-शरीर चिद्विलासिनी मायाके गुणोंसे व्याप्त था। सूक्ष्म-शरीर, हिरण्यगर्भमें अनन्त जीव, जगत्, प्रकृतिके अदृष्ट कर्म संस्कार अधिष्ठित थे। कारणशरीर ईशानमें समूचे भूत प्रकृतिके जीव, जगत् आदिके सूक्ष्मतम अदृष्ट कर्म-संस्कारोंको प्रेरणा देनेके लिये संवेदना शक्ति थी। मायाके सभी दृश्य गुण तथा प्रकृतिके समूचे वैभव उस अपौरुषेय भगवान् विराट्के शरीरमें विद्यमान थे, जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोकसे ध्वनित है—

> भूर्द्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
> पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था।
> गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
> स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम॥
> (श्रीमद्भा० ५। २६। ४०)

सम्पूर्ण पृथ्वीके जम्बू, प्लक्ष, क्रौञ्च आदि सप्तद्वीप, जम्बूद्वीपके किम्पुरुष, हरिवर्ष, केतुमाल, भद्राश्व—भारत आदि नौ खण्ड, समुद्र-हिमालय, विन्ध्य-सतपुरा, सह्य आदि पर्वत, शोण, गङ्गा-यमुना, नर्मदा, सिन्धु, सरस्वती आदि नद-नदियाँ, स्वर्ग-नरक, दिशाएँ, अन्तरिक्षके सभी ग्रहमण्डल आदि उस अपौरुषेय भगवान् विराट्के दिव्य भौतिक शरीर हैं। वह विराट् पुरुष सम्पूर्ण जीव-लोकके निकाय—धाम है, अर्थात् सम्पूर्ण भूत-प्रकृति जीवलोकके अदृष्ट कर्म-संस्कार और उनकी संवेदना-शक्ति उस महापुरुषके शरीरमें अधिष्ठित है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके महत्तत्त्वपर्यन्तके सभी तत्त्व, भौतिक प्रकृतिके सामान्य-विशेष गुण-धर्ममें क्षय या अतिशय अर्थात् पारस्परिक न्यूनाधिक्य हैं। इनके स्वाभाविक गुणधर्म प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, किंतु अपौरुषेय भगवत्तत्त्व निरतिशय है, अर्थात् उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

अनन्य-भक्ति

सम्पूर्ण अधिभूतके कार्य अव्यक्तसे व्यक्त तथा व्यक्तसे अव्यक्त अर्थात् प्रलयसे उत्पत्ति तथा उत्पत्तिसे प्रलयके अभिमुख जाते-आते रहते हैं। किंतु अधिदैवमें परिवर्तन नहीं होता। वह निरतिशय भगवत्तत्त्व, क्षयातिशयसे मुक्त सदा शाश्वत सनातन ध्रुव स्वमहिमामें प्रतिष्ठित रहता है। उस अप्रमेयस्वरूपमें कभी भी प्रभवाप्यय-भाव उदय होता ही नहीं। जब कभी सम्पूर्ण विश्वप्रकृति विकृत होने लगती है और सम्पूर्ण महाभूतके कार्यकलाप, अपौरुषेय भगवान्के अनुशासनसे विपरीत चलने लगते हैं, तब संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंमें पारस्परिक हिंसा-द्वेषकी प्रवृत्ति उभर उठती है और सम्पूर्ण जीवलोक क्षुभित होने लगता है। प्राणियोंको भीषण द्वेषाग्निकी व्याकुलतासे संतप्त देखकर अकरुण-करुणावरुणालय अशरण-शरण-रक्षक भक्तवत्सल भगवान्का हृदय द्रवीभूत होने लगता है। जब अपौरुषेय भगवान् सम्पूर्ण जीवलोकके प्रति दयार्द्र हो करुणासे-कम्पायमान होने लगते हैं, तब पूर्णकाम परमेश्वरका सम्पूर्ण अङ्ग स्नेहानुरागमें द्रवीभूत होने लगता है। भगवत्तत्त्वके उस द्रवीभूत-अवस्थामें अधरामृत रसधाराके स्वरूपमें निरतिशायिनी, अनन्या भक्ति आविर्भूत हो जाती है। तब सब परस्पर मिलते हैं, सबमें पारस्परिक श्रद्धा-प्रेम-स्नेहका उदय होता है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रकी उच्छिन्न शृङ्खला पुनः जुड़ जाती है। प्राणिमात्रका हृदय चाहे फौलादके समान ही अतिशय कठोर क्यों न हो, अनन्यभक्तिसे कोमलतामें परिणत होने लग जाता है। इससे अपौरुषेय भगवत्तत्त्वके साथ समूचे विश्वके जीवोंकी तात्त्विक अनन्यताका सन्निकर्ष होता है। कहा भी गया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

जिस तरह तरंगका समुद्रके साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, उसी तरह सम्पूर्ण जीवलोकका उस परम पुरुषोत्तम परमात्माके साथ पारस्परिक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । इस तरहकी अनन्य भक्तिसे उस अपौरुषेय भगवत्-तत्त्वके साथ निष्काम प्रेमानुरागी भक्तका तात्त्विक संनिकर्ष (भगवत्-साक्षात्कार) होता है । यह भगवत्तत्त्व-संनिकर्ष तीन प्रकारसे होता है, प्रथम—सत्त्वोत्कर्ष ज्ञानसे, दूसरा—भावोत्कर्ष दृष्टिसे तथा तीसरा—अनन्य तत्त्व-भावनासे । अनन्यभावसे तत्त्वतः भगवान्‌के ध्यानादिमें लीन हो जाना उनमें प्रवेश कर जाना है । जिस तरह नमककी डली गङ्गाजीकी जलधारामें प्रवाहित कर देनेपर वह गङ्गाजलमें तथा गङ्गाजल उसमें मिलकर गङ्गाजलके साथ अनन्यता प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार निष्काम प्रेमानुरागी भक्तकी अन्तरात्मा अनन्य-प्रेमानुरागिणी भगवद्भक्तिके भगवत्तत्त्वमें और भगवत्तत्त्व उस भगवद्भक्तके अन्तरात्मामें परस्पर प्रवेश कर लेनेके उपरान्त वह भगवत्तत्त्वमें अनन्यता प्राप्त कर तत्त्वके साथ मिल जाता है, अर्थात् भक्त भगवान्‌में, भगवान् भक्तमें तथा भक्त-भगवान्‌में अनन्यभावका सन्निकर्ष होता है । इस भगवत्तत्त्वमें अनन्यभक्तिसे तत्त्वतः प्रवेश कर जाना ही **'सत्यं परं धीमहि'** का वास्तविक रूप है ।

भगवत्तत्त्व एवं भक्तियोग

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम० ओ० एल्०)

अचिन्त्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, आदिकारण परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्दवाच्य है । उपनिषदोंमें ब्रह्मको मुख्यरूपसे 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' स्वरूप कहा गया है । वह आदित्यवर्ण है एवं उसका ज्ञान प्राप्त करके ही जीव मृत्युका अतिक्रमणकर अमृत (आत्मस्वरूप, मोक्ष)-को प्राप्त करते हैं ।

ब्रह्मके मुख्यतया दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण । प्रकृति, माया अथवा त्रिगुणकी उपाधिसे रहित ब्रह्मका शुद्ध-स्वरूप निर्गुण अथवा अव्यक्त कहलाता है । यही अभय-अमृतपद अथवा विष्णुलोक है । जगत्‌की सिसृक्षा-व्यापारसे युक्त, माया, प्रकृति अथवा त्रिगुणकी उपाधिसे युक्त ब्रह्मका सगुण स्वरूप,—शबल, मिश्रित अथवा व्यक्त कहलाता है । निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्मका आधार है । यथा समुद्र समुद्रलहरियोंकी क्रीडाका आश्रय है । परब्रह्मका अल्पांश अथवा पदांश ही सगुणरूपमें सक्रिय हो विश्वव्यापारका संचालन करता है । उसका त्रिपाद तो सदैव अपने शुद्ध, निर्विकार, अमृतस्वरूपमें स्थित रहता है । शुद्ध, अव्यक्त, निर्गुण ब्रह्मकी सत्ता प्रकृति एवं सगुण ब्रह्मसे ऊपर है, अतएव जबतक बुद्धि एवं प्रकृतिका अतिक्रमणकर सगुण व्यक्त ब्रह्मको प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तबतक शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान एवं साक्षात्कार सम्भव नहीं । इसीलिये शास्त्रोंमें प्रायः सर्वत्र पहले सगुण ब्रह्मको ही उपासनाका विषय बनानेका परामर्श दिया गया है ।

सगुणब्रह्मकी उपासना विराट्, सूर्य, अग्नि, प्रतिमा एवं यन्त्र आदिमें की जाती है । साथ ही सर्वत्र नारायणकी भावना रखना तथा सभी प्राणियोंसे मैत्री एवं करुणाका भाव रखते हुए उनका दान, मान, सत्कार करना आवश्यक है, अन्यथा पूजा निष्फल हो जाती है । सर्वत्र आत्मभाव होना तथा सर्वत्र ब्रह्मका दर्शन करना—ये ही दो उपासनाके फल हैं । निष्काम-

उपासनासे ही मुक्ति, आत्मदर्शन या ब्रह्मोपलब्धि होती है, सकामोपासनासे नहीं।

उपासनाके प्रकरणमें यह भी ज्ञातव्य है कि ब्रह्मोपासनाकी अपेक्षा देवोपासना अवरकोटिकी है तथा इससे आत्मज्ञान या मोक्ष प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक देवताकी शक्ति तथा अधिकारक्षेत्र सीमित है तथा उन्हें वह शक्ति आदि भी ब्रह्मसे ही प्राप्त होती है। भगवद्गीताने विभिन्न देवोंकी उपासनाको अल्पज्ञताका सूचक बताया है। उपनिषदोंने भेद-बुद्धि रखनेवाले सकाम देवोपासकोंको 'देवताओंका पशु' कहा है। उपासनाके फल-सिद्धान्तके अनुसार देवोंके उपासक अपने-अपने इष्टदेवोंको प्राप्त होते हैं तथा परब्रह्मके उपासक परब्रह्मको प्राप्त करते हैं।

परब्रह्मकी प्राप्तिका मुख्य साधन ज्ञान है (वि० पु० ६ । ५ । ६०)। यह दो प्रकारका है—शास्त्र-जन्य अथवा शब्दब्रह्ममय तथा विवेकज। शास्त्रजन्य आगमोत्पन्न ज्ञान दीपतुल्य अल्प ज्ञान-प्रकाश देता है। विवेकज ज्ञान सूर्य प्रकाशवत् व्यापक है एवं परब्रह्मकी प्राप्ति करनेवाला है। शास्त्रजन्य ज्ञानको ही अपरा विद्या एवं विवेकज ज्ञानको परा विद्या कहा गया है। शास्त्रजन्य ज्ञानकी परिणति भगवत्प्रीतिकी उत्पत्तिके लिये होनी चाहिये, अन्यथा उसमें किया गया श्रम वन्ध्या धेनुकी सेवाके समान निष्फल है। शास्त्रोंके अध्ययनसे ईश्वर, जीव एवं सृष्टिके स्वरूपका, बन्ध एवं मोक्षके हेतुका तथा वर्णाश्रमधर्मके कर्तव्यका ज्ञान होता है। ईश्वरके स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव आदिके ज्ञानसे ईश्वरके प्रति प्रीतिका उदय होता है एवं ईश्वर तथा जीवके नित्य अभेद-सम्बन्धका ज्ञान होता है। ईश्वर-विषयक अतिशय प्रीतियुक्त यह सविशेष ज्ञान ही भक्ति कहलाता है। अतएव ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंमें स्वाध्याय-को सर्वत्र प्रमुख स्थान दिया गया है। शास्त्र प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों पक्षोंको नियन्त्रित करता है। शास्त्र-विहित कर्म जब फलकामनाका त्याग करके ईश्वर-प्रीत्यर्थ सम्यक् रीतिसे अनुष्ठित किये जाते हैं, तब वे पूर्वजन्मके कर्म-संस्कारोंको नष्ट करके साथ-साथ चित्त-शुद्धिके कारण बनकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक बनते हैं। योगशास्त्रमें प्रतिपादित विधिसे योगाङ्गोंका अभ्यास करनेपर तमोगुण तथा रजोगुणकी मलका क्षय होनेपर क्रमशः ज्ञान-दीप्तिके अधिकाधिक बढ़नेपर अन्तमें विवेकज ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विवेकज ज्ञान-की प्राप्ति होनेपर आत्माके प्रकृतिके साथ तादात्म्यभाव नष्ट हो जाता है तथा वह अपने शुद्ध स्वरूपमें कैवल्य-रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

भक्ति भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। परंतु भक्तियोगकी सिद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योगके आठों अङ्गोंका अभ्यास आवश्यक है।[1] धारणा-द्वारा हृदयमें भगवद्ध्यानकी प्रतिष्ठापूर्वक भगवद्रूपका स्थिरभावसे दर्शन होनेपर भक्तियोगका उदय होता है तथा हृदय द्रवित होकर पुलक, प्रमोद आदिका अनुभव करता है।[2] इससे आत्मामें अनात्माके धर्मोंकी प्रतीतिका नाश होता है एवं अविद्यादि क्लेश निवृत्त हो जाते हैं।[3] योगीके लिये भी समाधिद्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार

१—यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः। मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च॥ (श्रीमद्भा० ३ । २८ । २)

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः। स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद् धिया॥ (वही २ । १ । २३)

अन्यत्र देखिये—वही ३ । २६ । ७२, ३ । २८ । २४-२५, ३ । २५ । २७, ३ । ३२ । ३० ।

२—एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्॥ (वही ३ । २८ । ३४)

३—वही ३ । ७ । १२-१३ ।

करनेके लिये भक्ति सर्वोत्तम साधन है।[4] अतएव भगवद्गीतामें भक्त योगीको युक्ततम (६ । ४७, १२ । २) अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगी बताया गया है। ऋषि पतञ्जलिने भी समाधि-प्राप्तिके उपायोंमें ईश्वर-प्रणिधानको अन्यतम उपाय बताया है।

वस्तुतः योग और भक्तिमें मूलतः कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है—केवल साधनविधि एवं लक्ष्यमें। योगका लक्ष्य है—चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक द्रष्टा पुरुषकी निजस्वरूपमें स्थिति तथा सर्वगुरु ज्ञानस्वरूप ईश्वर-(सगुण, ओंकार) की प्राप्ति। भक्तिद्वारा उपास्य है—आनन्दब्रह्म तथा इसके साधन हैं—अनन्य-प्रेम, शरणागति एवं समर्पण। इन्द्रियसंयम, चित्तशुद्धि, वैराग्य, चित्तकी एकाग्रता, समदृष्टि, निर्वैरता, अहंकार-त्याग, एकत्वज्ञान एवं सर्वभूतोंमें सतत सर्वत्र आत्मा या ब्रह्मका दर्शन करना—दोनोंमें ही समान हैं। विश्वात्मा पुरुषके साक्षात्कारके पूर्व हृदयस्थित आत्मा एवं परमात्माका साक्षात्कार आवश्यक है। आत्माके साक्षात्कारके लिये योगी एवं भक्त दोनोंके लिये ही त्रिगुणातीत होना आवश्यक है। भक्तिको जब अमृतस्वरूप कहा जाता है, तब इस संकेतसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति आत्मानुसंधानस्वरूपिणी है; क्योंकि अमृतत्व आत्माका गुण है। इस आत्मानुसंधानपूर्वक चित्तकी भगवद्रागात्मिका वृत्तिको अखण्ड तैल (जल)-धारा-प्रवाहवत् हृदयस्थित भगवान्की ओर सदैव प्रवाहित किये रखना भक्ति है। इसे ही उपासना कहते हैं। आचार्यशंकरने गीताभाष्य (१२ । ३)में उपासनाके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि उपास्य-वस्तुको बुद्धिका विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधाराकी तरह समानवृत्तियोंके प्रवाहसे दीर्घकालतक उसमें स्थिर रहनेको उपासना कहते हैं। भक्तियोगमें, चित्तमें केवल एक भगवत्प्रेमात्मिका वृत्तिका समान प्रवाह दीर्घकालतक बना रहता है।

भक्तियोगमें अहर्निश नामजप, ध्यान आदिके द्वारा सतत् भगवान्की उपस्थितिका सर्वत्र अनुभव करते हुए एवं उनका स्मरण तथा चिन्तन करते हुए अपने शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ भगवत्प्रीत्यर्थ करके भगवान्को ही समर्पित की जाती हैं—**'तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।'**[5] भक्तिमार्गको अपनानेवाले भक्तके जीवन एवं चेष्टाओंके केन्द्र स्वयं भगवान् ही हो जाते हैं। जबतक उसमें किसी प्रकारकी कामना या अहंकार शेष है, तबतक वह क्षुद्र अज्ञान एवं पृथक्ताके जीवनमें निवास करता है। भगवान्को पूर्णतया समर्पित होनेपर वह अनन्त जीवनमें प्रवेश करता है, प्रकृति और अविद्याकी क्षुद्र परिधिसे बाहर निकल जाता है। अनन्त ब्रह्मको समर्पित की हुई उसकी प्रत्येक वस्तु अनन्त फलवाली हो जाती है।[6] यही नहीं, अपितु ब्रह्मको कर्मसमर्पणकी यह साधना उसे ब्रह्मज्ञानकी भी प्राप्ति करा देती है—

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥

(श्रीमद्भा० १ । ५ । ३५)

स्वयं भगवान्की दृष्टिमें आत्मासहित सर्वकर्मोंको समर्पित करनेवाला भक्त विश्वका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है (श्रीमद्भा० ३ । २९ । ३३)।

४—न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि। सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥

(वही ३ । २५ । १९)

५—कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्। करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६)

६—यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ४१)

योगियोंका कथन है—चित्त जिसमें लीन है, वैसा ही बन जाता है—'**यच्चित्तस्तन्मयः ।**' जैसा चित्त होता है, वैसा ही पुरुषका व्यक्तित्व बन जाता है—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः** (गीता १७ । ३)। जिस प्रकार विषयोंका सतत चिन्तन करनेसे चित्त उन विषयोंमें आसक्त होकर पुरुषको विषयी बना देता है, उसी प्रकार चित्तद्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करनेसे चित्तके भगवन्मय हो जानेपर पुरुष भक्त एवं भगवन्मय हो जायगा—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २७)

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१२ । ८)में अर्जुनको कहा है कि 'तुम मन और बुद्धिको मुझमें स्थापित करो । मेरा ही स्मरण, मनन तथा चिन्तन करो तो मुझमें ही निवास करोगे ।' इसका उपाय उन्होंने यह बताया है कि 'मनकी वृत्तियोंका लक्ष्य मुझे बनाओ एवं मनको मुझमें केन्द्रित करो । केवल मुझसे ही अनन्य एवं अहैतुकी प्रीति करो' (गीता ९ । ३४, ११ । ५५)। भगवद्गीताके मतमें चित्तको ब्रह्ममें एकाग्र कर सृष्टिके सभी पदार्थोंको ब्रह्मरूप समझते हुए सभी कर्मोंको ब्रह्मप्रीत्यर्थ सम्पादित करके ब्रह्मको ही समर्पित कर देनेकी प्रक्रियाका नाम 'ब्रह्मकर्मसमाधि' है तथा इस कर्मसमाधिद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—'**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना**' (गीता ४ । २४)। परंतु समाधि-प्राप्तिके लिये भक्तिभावका अत्यन्त तीव्र—'**तीव्रेण भक्तियोगेन**' होना आवश्यक है।

भक्तिके लिये स्वयं भगवान् ही आश्वासन देते हैं कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता—'**न मे भक्तः प्रणश्यति** (गीता ९ । ३१) तथा यदि वह सभी प्राकृत धर्म-कर्मोंका परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ जाय तो मैं उसके सभी अशुभोंका नाश कर उसे मोक्ष प्रदान करता हूँ ।' (गीता १८ । ६६)

श्रीमद्भागवतपुराणके अनुसार भक्ति ऐसा अपूर्व साधन है, जिसका आश्रय लेनेसे प्रत्येक क्षणमें भगवदनुराग, विरक्ति एवं परमात्माका अनुभव एवं परम-शान्तिकी प्राप्ति होती है (११ । २ । ४२-४३)। वह कर्म-संस्कारोंके कोश लिङ्गशरीरको जला देती है (३ । २५ । ३३)। चित्तके सभी दोष भक्तिद्वारा नष्ट हो जाते हैं। भगवत्कथारसामृतके पानसे तृप्त भक्तका संसारके प्रति राग समाप्त हो जाता है (१२ । १३ । १६, १० । ३१ । ३४), भगवान्के भक्तके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है, वह स्वर्गापवर्गादि सभी कुछ शीघ्र प्राप्त कर लेता है, परंतु निष्काम एकान्त भक्त तो कैवल्य देनेपर भी उसे नहीं लेते (११ । २० । ३३-३४)। भक्ति कैवल्यसम्मत है (२ । ३ । १२), तथा शीघ्र परवैराग्यको उत्पन्न करके ब्रह्मका दर्शन करानेवाली है (३ । ३२ । २३)। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको सर्वकामनाओंकी प्राप्तिके लिये अथवा निष्काम होकर मोक्षप्राप्तिके लिये केवल परम पुरुष भगवान्का तीव्र भक्तियोगसे भजन करना चाहिये—(२ । ३ । १०)।

भगवान् रसस्वरूप हैं—'**रसो वै सः**'। वे परमानन्दस्वरूप हैं। अतः उपासकका जीवन भी अंदर-बाहर सर्वत्र रससे परिपूर्ण, पर शुद्ध निष्काम होना चाहिये। भक्त एवं महात्मालोग दैवी प्रकृतिके आश्रित होकर ही (भगवद्गीता ९ । १३) तथा ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर (श्रीमद्भा० ११ । १९ । ५) अनन्यमनसे प्रीतिपूर्वक नित्ययुक्त रहकर भगवान्का भजन करते हैं। इस भक्तिद्वारा उन्हें बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है। उसके द्वारा उनका अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा वे भगवान्को यथावत् तत्त्वतः जानने, दर्शन करने एवं भागवत-चेतनामें प्रवेश कर मुक्त होनेमें समर्थ होते हैं (भगवद्गीता १० । १०-११; ११ । ५४)। गीतामें प्रोक्त भक्तके लक्षण दैवीसम्पत्तिके गुण, ज्ञानके चिह्न, त्रिगुणातीतके लक्षण तथा ब्राह्मी-स्थितिको प्राप्त

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षणोंमें कोई अन्तर नहीं है। जो इन लक्षणोंसे युक्त है वही ज्ञानी है, त्रिगुणातीत है, स्थितप्रज्ञ है, देवपुरुष है। ऐसे निरपेक्ष, निर्वैर, शान्त, समदर्शन, मुनि भक्तका अनुगमन तो स्वयं भगवान् करते हैं (श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १६)। अनन्य-चित्तसे सतत एवं नित्य स्मरण करनेवाले नित्ययुक्त भक्तके लिये भगवान् सदैव सुलभ हैं (गीता ८ । १४)।

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि 'जो मेरी भक्ति करते हैं, वे मुझमें निवास करते हैं तथा मैं उनमें निवास करता हूँ' (९ । २९)। इस बातपर श्रद्धापूर्वक विश्वास करके ही हृदयमें एवं सर्वत्र भगवान्की उपस्थितिका अनुभव करते हुए उनके साथ नित्य एवं सतत युक्त हुआ जा सकता है। भगवद्गीताके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (६ । ३०; ७ । १९), भगवत्परायणता, सर्वभूतोंके प्रति समभाव (१८ । ५४), वैराग्ययुक्त ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होना, सर्वथा ब्रह्मभावनासे भावित होना, निःसङ्गता, निर्वैरता, प्राण-मन-बुद्धि एवं अन्तरात्माको भगवान्में स्थित करना, अनन्य एवं अहैतुकी प्रीति, अनन्यचित्तता, नित्ययुक्तता, प्रयतात्मा एवं दृढव्रती होना, निर्द्वन्द्वता एवं समत्व भगवदुपासनाके आवश्यक तथा अपरिहार्य अङ्ग हैं। 'शाण्डिल्यभक्ति-सूत्र'के अनुसार भक्तिके अनेक अङ्गोंमें किसी एकका भी पूर्णरूपेण अनुष्ठान करनेसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परंतु समर्पण सबसे मुख्य तथा सर्वोत्तम साधन है (सूत्र ६३-६४)।

जो लोग प्रवृत्तिमार्गी हैं तथा भगवान्की भक्ति करना चाहते हैं, उन्हें इन्द्रियसंयम एवं राग-द्वेष-परित्यागपूर्वक अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके आचारोंको भगवान्को भजनेका साधन बनाना चाहिये। भगवद्भक्तियुक्त होकर भगवत्प्रीत्यर्थ वर्णाश्रमके आचारोंका पालन निःश्रेयस् प्रदान करनेवाला होता है (श्रीमद्भागवत ११ । १८ । ४४-४७)। अपने जीवनमें रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रवृत्तियोंका परित्याग करते हुए सत्त्वगुणकी वृद्धिका प्रयत्न करना चाहिये। सदैव सात्त्विक शास्त्र, देश, कर्म, अन्न-जल, मन्त्र, ध्यान आदिका सेवन करनेसे चित्त शान्त होता है, धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यकी प्राप्ति होती है, भक्तिकी वृद्धि होती है एवं आत्मज्ञान प्राप्त होता है। पुनः सत्त्वका निरोध भी निरपेक्षताके द्वारा करके त्रिगुणातीत अवस्थामें पहुँच जाना चाहिये (श्रीमद्भागवत ११ । १३ । २—६; ११ । २० । २०; ११ । २५ । ३२—३६; ३ । २५ । २६-२७)। उपनिषद्का कथन है कि ब्रह्मका ज्ञाता ब्रह्म हो जाता है—**'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति।'** गीताका कथन है कि अव्यभिचारी भक्तियोगके सेवनसे साधक गुणोंका अतिक्रमण कर ब्रह्म हो जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४ । २६)

ब्रह्मभूत भक्त शाश्वत, अविनाशी ब्रह्मपदको पाकर परम आनन्द एवं परमशान्तिको प्राप्त करता है (१८ । ५४—५६, ६२; २ । ७२)। अतः श्रद्धा, वैराग्य, निःसंगता एवं भक्तिपूर्वक योगविधिसे समाहितचित्त होकर नित्य भगवान्की उपासना करनी चाहिये तथा भगवद्गुणोंका आश्रय लेकर सर्वात्मभावसे भगवान्की भक्ति करनी चाहिये। भक्ति ही मानवजीवनका परम पुरुषार्थ है, आत्मा एवं परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है—

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति॥
तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० ३ । ३२ । ३०, २२)

भगवत्तत्त्व और भगवद्भक्ति

(लेखक—आचार्य स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज)

परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् ही परतत्त्व हैं। समस्त वेद-शास्त्र भगवान्‌की महत्ताका गान करते रहते हैं। वेद कहते हैं—'**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'—आत्माका श्रवण-मनन-पूर्वक दर्शन करो। यहाँ आत्माका तात्पर्य परमात्मासे ही है। सामान्य जीवात्माओंकी आत्मा चेतनोंके चेतन, नित्य-तत्त्वोंके भी परमनित्यतत्त्व परमात्मा ही हैं। श्रुति कहती है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

(श्वेताश्वतरोप०)

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिमें ही वेद-शास्त्रोंका तात्पर्य है। तीनोंके लिये परमात्मा ही परम प्राप्य हैं। सभी स्मृतियाँ, रामगीता, गणेशगीता, भगवद्गीतादि समस्त गीताएँ, वाल्मीकीयरामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि इतिहास-पुराण भी डिण्डिम-घोषके साथ परमात्माका प्रतिपादन करते हैं। अतएव साधकको प्रभुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट कहा गया है—

देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

अनन्त सुखकी प्राप्ति सभी बुद्धिमान् प्राणी चाहते हैं। सच्चिदानन्द भगवान् ही अनन्त सुख-स्वरूप हैं—'**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** (तै० उ० ६), '**सुखस्वरूप रघुबंसमनि**'। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आनन्दस्वरूप ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है। श्रुति कहती है—'**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**'। अर्थात् आनन्दरूप परमात्मासे ही समस्त जड़-चेतन प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्दके कणमात्र छींटेसे सभी प्राणी जीवित हैं—

जो आनँद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥

तथा अन्तमें सभी प्राणी आनन्दमें ही लीन हो जायँगे। सत्, चित्, आनन्द ब्रह्मके स्वरूप हैं, अतएव ब्रह्मके अंश होनेके कारण जीव भी सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप ही है। गोस्वामीजीने कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

तैत्तिरीय उपनिषद्में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयके भेदसे पञ्चकोशोंका वर्णन प्रसिद्ध है। आनन्दकी मात्रा प्रचुर होनेके कारण ब्रह्मको आनन्दमय कहा जाता है। ब्रह्मसूत्रके आनन्द-मयाधिकरणके अनुसार ब्रह्मको आनन्दमय कहा गया है—'**आनन्दमयोऽभ्यासात्**' (ब्रह्मसूत्र अ० १। १। ५३) यहाँ आनन्दमय शब्दमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्य-अर्थमें है, विकार-अर्थमें नहीं। मनोमय, अन्नमयादिमें वह विकारार्थमें प्रयुक्त है। विभिन्न दार्शनिकोंने इस एक सूत्रका ही रसास्वादन विविध प्रकारसे किया है। वेदान्तका मर्मस्पर्शी विवेचन इस प्रसङ्गमें सर्वत्र उपलब्ध है। तैत्तिरीय-उपनिषद्में तो एक महान् रूपकके साथ ब्रह्मका निरूपण बड़ा ही विलक्षण किया गया है। वहाँ ब्रह्मके पक्षों और पूँछका भी वर्णन है—'**तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**' (तै० उ० अ० ५)। अन्तमें पुच्छस्थ ब्रह्ममें ही श्रुतिका तात्पर्य स्वीकार किया गया है। अर्थात् अन्नमयादि कोशोंसे अत्यन्त विलक्षण एवं प्रचुर आनन्दका एकमात्र अक्षय परमात्मा ही है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें पहले परमात्माको अन्नमय कहा गया। अन्नसे शरीर बना है, अतः शरीरको आत्मारूपमें स्वीकार करते हुए स्थूल बुद्धि-वालोंके जिज्ञासामें प्रवृत्तिकी दृष्टिसे पहले साधकको शरीरके रूपमें ही आत्मा बतायी गयी। जब स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर साधकका मन प्रवेश करने लगता है,

तब ब्रह्मवेत्ता साधकको सूक्ष्म आत्मतत्त्वकी ओर क्रमशः ले जानेका प्रयत्न करते हैं।

अन्नमयके बाद प्राणमय, अर्थात् इन्द्रियके ऊपर, संकेत मनोमयसे मनका, विज्ञानमयसे बुद्धि एवं बुद्धिका आश्रय जीवात्माका भी संकेत है। 'विज्ञानमयका बुद्धि एवं बुद्धिका आश्रय जीवात्मा किया गया है, क्योंकि **'विज्ञानं यज्ञं च तनुते कर्माणि'** इस श्रुतिमें विज्ञानको कर्ता मानकर यज्ञ करना कहा गया है। **'तनुते'** यह क्रिया है। इस क्रियाका आश्रय कोई चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। बुद्धि जड़ है, फिर कर्ता बनकर यज्ञ कैसे कर सकती है? कर्ता तो चेतन ही होगा, अतः 'विज्ञान'का अर्थ विज्ञानका आश्रय आत्मा ही है, बुद्धि नहीं। निष्कर्ष यह कि विज्ञानमय जीवात्मासे भी आनन्दमय परमात्मा पृथक् है। अल्प एवं सीमित आनन्दयुक्त जीवात्मासे अनन्त आनन्दका एकमात्र आश्रय परमात्मा ही है। अतः परमात्मा ही उपास्य है। इस प्रकरणमें परमात्माको प्रकृति एवं जीवात्मा दोनोंसे अत्यन्त विलक्षण एवं दोनोंका स्वामी तथा आश्रय कहा गया है। समस्त जगत्‌का कारण परमात्मा है। यह बात—**'जन्माद्यस्य यतः'** इस सूत्रसे स्पष्ट है। **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्रसे वेदान्तशास्त्रका विचार माना जाता है। इससे पूर्व चार सूत्र वेदान्तदर्शनकी भूमिकाएँ हैं।

सांख्यवादी दार्शनिकोंने प्रकृतिको जगत्‌के कारण रूपमें स्वीकार किया है। प्रकृतिको जगत्‌का कारण माननेमें अनेकों दोष आते हैं। प्रथम तो प्रकृति जड़ हैं। चेतन विश्वका कारण कोई चेतन ही हो सकता है, क्योंकि जब जगत्-कारण-तत्त्वने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, तभी सृष्टिका विस्तार हुआ, यह बात प्रसिद्ध है। वेदान्तसे अनभिज्ञ लोग भी प्रायः—**'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** इस श्रुतिको किसी-न-किसी रूपमें बोलते रहते हैं। यहाँ जब ब्रह्ममें जगत्‌की सिसृक्षा हुई, तभी वह बहुत हुआ। जड़ प्रकृतिमें इच्छा कैसे हो सकती है, अतः प्रकृति जगत्‌का कारण नहीं बन सकती। दूसरी बात—सृष्टिके पूर्व जगत्-कारणस्वरूप परमात्माको सृष्टिका एवं सृष्टिके भीतर विराजमान समस्त जड़-चेतन एवं उनके संस्कारका ज्ञान भी भलीभाँति रहता है। चींटीसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त भोग्य-सामग्री भोगनेके लिये इन्द्रिय, मन आदि एवं भोगस्थानोंका एक साथ सृजन करना महान् परमात्माके लिये ही हो सकता है। जड़ प्रकृतिकी तो बात ही क्या, साक्षात् परमात्माका अंशस्वरूप जीवात्मा चेतन एवं ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी सृष्टिके कारणके योग्य नहीं बन सकता। यह बात इतना स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रके प्रारम्भ 'आनन्दमयाधिकरण' एवं चतुर्थ अध्यायके 'जगद्-व्यापारवर्ज्य-अधिकरण'में कहा गया है कि जगत्‌का कारण मुक्त जीव भी नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण कहते हैं—**'जगद्व्यापारवर्ज्यं-प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'** (ब्रह्मसूत्र ४।४।१७)। अर्थात् मुक्त होनेपर भी, ब्रह्मके समान हो जानेपर भी, भोगमात्रमें समानता पानेके बाद भी जीवको जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, संहार करनेका अधिकार नहीं है। **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'** (मुण्डक)। इस श्रुतिके अनुसार मुक्त जीव ब्रह्मके समान हो जाता है, किंतु ब्रह्मस्वरूप नहीं होता—**'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते न स पुनरावर्तते ॥'**

इस शरीरसे निकलकर आत्मा परमज्योतिमें मिलकर अपने ही स्वरूपमें रहता है, वह लौटकर पुनः इस प्रकृतिमण्डल मायिक लोकमें नहीं आता। **'स्वेन रूपेण निष्पद्यते'** इस श्रुतिपर विचार करते हुए ब्रह्म-सूत्रकारने यही निर्णय किया कि विज्ञानस्वरूप आत्मामें—अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, क्षुधा, पिपासासे रहित सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प—ये आठ

गुण नित्य हैं। मुक्त होनेपर जीवमें भी ये आठ गुण आ जाते हैं। इसीलिये ब्रह्माधिकरणके तीन सूत्रोंमें इस सम्बन्धकी एकतापर विशद विचार किया गया है। श्रीहनुमान्‌जी श्रीजनकनन्दिनीसे कहते हैं— **'रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत'**। देवि! श्रीरामजीके साथ सुग्रीवजीकी एकता हो गयी है। तात्पर्य दोनों स्वामी-सेवक एक हो गये हैं। इस बातको कभी भी भूलना न चाहिये कि जिस प्रकार अभेद अलौकिक है, उसी प्रकार भेद भी अलौकिक है। अर्थात् देव, मनुष्य पशु आदिका भेद शरीरकी दृष्टिसे है, अतः मायिक है। शरीरका भेद मायाके ही कारण है। आत्मा न तो देवता है, न मनुष्य है और न पशु। अतः ये देव, मनुष्य आदिके भेदसे आत्मामें भेदकी कल्पना वेदविरुद्ध है; क्योंकि सभी शरीरोंमें आत्मा तो एक ही रूपसे विराजमान है। यद्यपि सिद्धान्तरूपसे आत्मा अणु तथा अनेक है, किंतु आकार तो सभी आत्माओंका एक ही—ज्ञानस्वरूप है। अतः स्वरूपसे अनेक होने-पर भी जाति-स्वभाव आदिसे आत्माकी एकता सिद्ध है।

इस प्रकार मुक्त जीवोंके भी प्राप्य परमात्मा अनन्त आनन्दका केन्द्र है। आनन्दमय अधिकरणमें अनेकों सूत्रोंसे विशदरूपसे परमात्माको ही प्राप्य कहा गया है। प्रकृति तथा जीवके भी नियामक शेषी भगवान् हैं। यह वेदान्तका अन्तिम निर्णय है। अनन्त रसस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ही जीव आनन्दसे पूर्ण हो सकता है। श्रुति कहती है- **'रसो वै सः।'** **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'** परमात्मा रसस्वरूप है। इस रसको पाकर ही जीव आनन्दसे पूर्ण होता है। **'सर्वगन्धः सर्वरसः'** समस्त गन्ध एवं समस्त रसोंका एकमात्र मूल कारण परमात्मा ही है। जड़-चेतनसे परिपूर्ण प्रपञ्चमें जो भी कुछ आकर्षण है, जहाँ भी कहीं रस है, वह सब परमात्माका ही रस है। वास्तवमें यदि आनन्दसिन्धु परमात्माके कुछ कण इस नीरस प्रपञ्चपर नहीं पड़ते तो प्रकृतिमें इस प्रकारके रसमय स्वरूप नहीं दीख पड़ते। शुष्क काष्ठोंमें आम, अमरूद, सन्तरा, सेव, अंगूर आदि सरस सुस्वादुमय फलोंकी प्राप्ति सत्स्वरूप परमात्माकी ही देन है। कण्टकाकीर्ण गुलाब आदिके पौधोंमें सुन्दर सुगन्धमय पुष्पोंका सौरभ सर्वगन्ध परमात्माकी ही देन है। तभी तो श्रुति कहती है—'यदि यह परमात्मा रसरूप न होता तो संसारमें आनन्दकी अनुभूति कहाँसे होती है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्'** (तै० उ० अ० ७)। सच्चिदानन्दकन्द परब्रह्म परमात्माके आनन्दकणसे सभी चेतन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं— **'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'** (बृ० उ० ४। ३। ३२)

वेदान्तवेद्य परात्पर पुरुषोत्तम भगवान् ही एकमात्र प्राप्य हैं, यह श्रुतिके प्रबल प्रमाणोंसे पुष्ट किया गया। स्मृति भी भवत्तत्त्वका ही प्रतिपादन करती है— **वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥** वेद, रामायण, पुराण तथा महाभारत आदिके आदि, मध्य एवं अन्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ही प्रतिपादन है। सभी शास्त्र भगवान्‌का ही गान करते हैं। गीता स्पष्ट कहती है—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** समस्त वेदोंसे मैं ही (प्रभु ही) जानने योग्य हूँ। जड़ प्रकृति एवं चेतन दोनोंसे परे भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

पुराणशिरोमणि वेदान्तसार श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही डिमडिमघोषके साथ भगवान्‌का प्रतिपादन किया गया है, तथा परतत्त्वको ही भगवान् कहा गया है— **'सत्यं परं धीमहि।'**

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

अर्थात् अद्वय ज्ञानस्वरूप परमतत्त्वको वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, योगिजन परमात्मा कहते हैं तथा भक्तगण भगवान् कहते हैं। इस विषयकी पुष्टि पाँचवें स्कन्धमें की गयी है—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्मसत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥
(श्रीमद्भा० ५। १२। ११)

भागवतकार कहते हैं कि यद्यपि एक ही परमात्मा जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश- इन तीन रूपोंमें प्रकट होता है, फिर भी कल्याण चाहनेवाले साधकोंको सत्त्वस्वरूप श्रीभगवान्की ही आराधना करनी चाहिये—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥
(श्रीमद्भा० १। २। २३)

इसीलिये पूर्वकालमें भी महापुरुषोंने अधोक्षज भगवान्का ही भजन किया है—

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥
(श्रीमद्भा० १। २। २५)

जो साधक उन ऋषि-मुनियोंके अनुयायी होंगे, वे भी भगवान्की पूजा करेंगे। सम्पूर्ण यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप, धर्म एवं गति भगवान् वासुदेवमें ही समाप्त होते हैं। इन सभी साधनोंके आश्रय भगवान् ही हैं—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥
(श्रीमद्भा० १। २। २८-२९)

संस्कारके अनुकूल ही लोग देवताओंका भजन करते हैं। तमोगुणी, रजोगुणी साधक अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये भूत, प्रेत, प्रजापति आदिका भजन करते हैं, किंतु संसारसे मुक्त होनेवाले साधक इन घोररूप भूतपतियोंको छोड़कर भगवान्का ही भजन करते हैं—

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥
(श्रीमद्भा० १। २। २६)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

वस्तुतः साधक सकाम हो अथवा निष्काम या मोक्ष-कामी हो, तीव्र भक्तियोगसे भगवान्का भजन करना चाहिये।

तमाराधय गोविन्दम्

यस्यान्तः सर्वमेवेदमच्युतस्याव्ययात्मनः।
तमाराधय गोविन्दं स्थानमग्र्यं यदीच्छसि ॥
(विष्णुपुराण १। ११। ४५)

'यदि तू श्रेष्ठ स्थानका इच्छुक है तो जिन अविनाशी अच्युतमें यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है, उन गोविन्दकी ही आराधना कर।'

भगवत्तत्त्व और जीवन-दर्शन

(लेखक—क०श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग साहित्यरत्न)

जिसकी मधु निःस्वन स्वर लहरी से निस्पन्दित,
संतत ये स्फूर्तिमान प्राणी सब चर-अचर।
भुक्तिहीन मुक्तिकी अनुरक्ति भक्ति शुक्ति-साज
पालें उस विभु को हम निर्मल अन्तस्तल कर॥

परात्पर परतत्त्वके अमृत-स्नेहसे सम्पोषित जीवनका ज्योतिर्दीप नव-नवोन्मेषके साथ दिग्दिगन्तको झिलमिल-झिलमिल आलोकित करता है। वह चिरन्तन अक्षुण्ण एवं अखण्ड दिव्य ज्योति-पुञ्ज सतत प्रवाहमान निखिल जीव-जगत्की जीवन-धाराको प्रकाशित एवं आप्यायितकर आनन्दमय बनाता है। यह तत्त्व स्वयंमें रुचिर, सत्य, चिन्मय और अमृतोपम आनन्दमूल है। इसलिये उसमें निखिल श्री, समृद्धि, सिद्धिसे सम्पूरित वरदानकी गरिमा संनिहित है। उसकी एक मधुर निःस्वन स्वरलहरीसे जन-जनका अन्तश्चेतन अपने-आपमें निस्पन्दमान है। इस तत्त्वका आश्रय लेकर जीव अटल हिमगिरिकी भाँति स्वस्थ, योगसिद्ध, समाधिस्थ और अन्तर्मुख होता है। वह उस समरसताकी अटूट कड़ियोंसे निबद्ध महोदधिका रूप है, जो वडवाग्नि पीकर भी अन्तर्मनसे प्रशान्त है—सभी प्रकारकी हलचल, चञ्चलता आदिसे मुक्त। उसे सम्पूर्ण मनोबलके साथ आत्मा-लोचनमें निमग्न होना है, संयम और शीलव्रती होकर अपने मनके कपाटोंको अनर्गलित करना है।

ऐसा भगवत्तत्त्वाभिभूत जीव आत्माभिराम, आप्तकाम, अथच पुण्यधाम है। वह चिर-संतृप्त निष्काम और निश्चल है। वह जागतिक सुखोंकी क्षुद्र मृग-मरीचिकासे अस्थिर नहीं, सम्भ्रान्त नहीं—वह दीन, लक्ष्यहीन, मनश्चञ्चल नहीं, उसके अन्तस्तलमें निरवधि उच्छलित, रस-तरंगित आनन्द-सिन्धु है—असीम, ससीम नहीं, विधि-विधानवश वह अपने कूल-किनारोंसे छिटककर, उस गहन-गम्भीर रसोदधिसे वियुक्त होकर, भवसागरके बीचधारमें आ पड़ा है। अतः उसे उसी आत्मरूप मूल रसनिधिमें समा जाना है, उसीको जीवनका चरम लक्ष्य मानकर। आवश्यकता है मनुष्यको अपने सर्वस्व भगवत्तत्त्वको दृष्टिमें रखकर आत्मबोधकी—स्वबोधकी। जीवका वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होकर दिव्य ज्योतिमें **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**का दर्शन करनेकी आवश्यकता है और आवश्यकता है उस भगवत्तत्त्व-प्रतीकरूप आत्म-दर्शन करने, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप, **'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'** उस असीम शक्तिपुञ्जको अपनेहीमें अन्तर्भाव करने एवं उस स्वतःप्रकाश, अक्षय कान्तिमान् भगवत्स्वरूपको अपनेमें समाहित कर लेनेकी। अपने निःश्रेयस्के लिये **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'** इस श्रुतिवाक्यसे सत्प्रेरणा लेकर, मनुष्य-जीवनको कर्मनिरत करनेकी, लब्धकीर्तिमान् होने तथा स्थूल-सूक्ष्म यावन्मात्र सृष्टि-जगत्को—जड़-चेतनको उसी परब्रह्मका प्रतिरूप मानकर उसके प्रति सतत अग्रसर होना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य-जन्म अनमोल हीरा है—उसका मूल्याङ्कन कोई रत्न-पारखी जीव ही कर सकता है, अन्यथा यह भौतिक मोह-ग्रस्त, मायासक्त जीव, अपने मिथ्या अहंमें भ्रान्तिमान् होकर अपने ही स्वरूपको भूल रहा है—जीवनको कौड़ी-मोल गवाँ रहा है। हमारा उद्गम, हमारा गन्तव्य—वही परम चिन्त्य, समाराध्य, साध्य भगवत्तत्त्व है। यह पहचान ही निगमागम-बोध है, अन्यथा स्वविवेक भूलकर, लक्ष्यविस्मृत होकर, यह जीव सदा-सर्वदा भटकता रहेगा।

इसीलिये आवश्यकता है बाहरसे दृष्टि हटाकर अन्तर्की ओर झाँकनेकी, आत्म-ज्ञानके प्रति उन्मुख होनेकी।

वहाँ एक दिव्य ज्योति-शिखा हमारे समक्ष झिलमिला रही है, जो चिर चेतन-सन्दीपित, कितनी प्राणवान्, अज्ञान-तिमिरके समूल निरसनमें कितनी सक्षम है। उसकी अनन्त गरिमाका इस जीवको भान ही नहीं हो रहा है। वह जीवके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति करानेमें कितना सक्षम, कितना समर्थ है—उस सर्वव्यापक भगवत्तत्त्वका महादान आत्म-ज्ञानमें ही सुलभ है।

'कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने'का तत्त्व-बोध इसी भगवत्तत्त्वको इङ्गित कर रहा है, जिससे यह जीव-तत्त्व अनुप्राणित है, अभिभावित है। इसी भगवद्भावसे अभिभूत हमारा तत्त्व-ज्ञान हमारा जीवन-दर्शन है। यही भगवद्भाव तत्त्ववेत्ता, तत्त्व-साधक और पूर्णतत्त्व तलस्पर्शी भक्तके रोम-रोममें यशोदोत्सङ्गलालित मधुर श्याम और श्यामकी मादक वेणु-माधुरीके रससिक्त गुञ्जायमान स्वरोंका संचार कर उसे भगवद्भावपूर्ण बनाता है। भगवान् श्यामसुन्दरके रसस्वरूपका अवगाहन कराता है—तद्रूप और तन्मय बनाता है। इसी भगवत्तत्त्वमें अनन्त शक्ति-शील-सौन्दर्यमय श्रीरामका अभिराम स्वरूप समाया हुआ है, जो भावाभिनिवेशके क्षणोंमें भक्तको तदासक्त, तल्लीलामग्न, शक्तिसुषमासे ऊर्जस्वित करता है। हमारा जीवन-दर्शन उससे विलग कैसे हो सकता है? उसीके संस्पर्श, संस्मृति और स्वरूपावगाहनसे वह धन्य-धन्य है।

जीवनके लिये यह भगवच्चिन्तन, भगवत्तत्त्वावबोधन एक बहुत बड़ा मनोबल है, आत्मनिष्ठाका एक गुरु सम्बल है। बिना इसके जीवनमें गतिरोध है। भगवत्तत्त्व-बोधके बिना जीवन विगत-ओज है, मन विगलित और तन अनुत्साह, विथकित है। उस भगवद्भावके बिना जीवनके मार्गपर मनुष्य डगमग पगोंसे बढ़ रहा है—उसका मार्ग निपट विकट है, बीहड़ है।

अतः समग्र आनन्दकी अनुभूति, अन्तर्मुख होनेमें ही है। अन्तर्मुख होकर जीवको उस भगवत्तत्त्वके साथ एकरस, एकरूप, एकसत्त्व, एकतत्त्व होना है और उसीके दिव्यालोकमें यावद्दृश्य जड़-चेतनमें अभेद मानकर सभीको ब्रह्ममय देखना है। जीव और ब्रह्म—दोनोंसे सदंश, चिदंश और आनन्दांश अधिगत कर दोनोंको महाप्राण, ज्योतिर्मय, महान् विभु एवं एकशक्ति, एकसत्ता स्वीकार करना है।

वह 'उच्छल रस-महोदधि' लहर-लहरायित कान्तिमान् अमिय-सिन्धु जीवके भीतर ही निरवधि नितान्त प्रशान्त-रूपमें तरङ्गायमान है। जीवका सर्वाराध्य-साध्य वही परमतत्त्व है। वह कितना व्यापक, कितना विराट्, कितना अनुपमेय और अपरिमेय है! उसी दिव्य रूपकी मधुरिमाका अतुल विभव हमें अपने पलकपुटोंमें समेट लेना है, हृदयमें भर लेना है। उन परमतत्त्वमय प्रभुका सगुण-साकाररूप प्रेमवश्य है, भीगे भाव-बन्धनोंमें बँधे हुए वे प्रेमी भक्तके पास वहाँ स्वतः चले आते हैं। यही वह तत्त्व है, जो मनसा-वाचा अचिन्त्य है।

शरणं प्रपद्ये

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

'मैं न तो धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी और न आपके चरण-कमलोंमें भक्ति ही रखनेवाला हूँ। मैं अकिंचन हूँ, आपके सिवा कोई दूसरा मेरा सहारा नहीं है, इसलिये आपके ही शरण लेनेयोग्य चरणोंकी शरणमें आ पड़ा हूँ।'

(—यामुनाचार्य)

भगवत्तत्त्व-लीलादर्शन

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित, एम्० एस्०-सी० [टेक्नॉला०], पी-एच्० डी०, वैज्ञानिक)

व्यक्तिके जीवनकी घटनाओंका संग्रह ही उसकी लीला या जीवनी होती है। श्रीकृष्ण-लीला तथा श्रीराम-लीला सबकी सुपरिचित गूढ़ लीलाएँ हैं। इस प्रकार सृष्टिका प्रत्येक कण प्रतिक्षण कुछ लीला कर रहा है। पर तत्त्वतः सब वासुदेव ही हैं (गीता ७ । १८) । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि सुर सुखकारी॥
'उमा राम गुन गूढ़······। (रामच० ३ । १)
'पावहिं मोह बिमूढ़। जे हरि बिमुख न धर्मरति ॥'
निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय ॥
(रामच० ७ । ७३)

सामान्य जनको श्रीभगवान्‌की सगुण लीलाएँ ठीकसे समझमें नहीं आतीं । दुधमुँहे छोटे शिशुरूप श्रीकृष्णने पूतना-जैसी राक्षसीको उसका दूध पीकर ही मार डाला । कहाँ सुकोमल बालकृष्ण और कहाँ वह भयानक तथा प्रौढ़ा राक्षसी ? ऐसी विचित्र घटनाएँ संसारमें अन्यत्र देखने या सुननेको कम मिलती हैं । ऐसी घटनाओंको साधारण मानव-बुद्धिसे समझा भी नहीं जा सकता है । यही सगुण-लीलाओंकी दुरूहता है । इस लीलाको भक्त कवियोंने चरित्रबद्ध करनेका प्रयास किया है । लीला माया-सापेक्ष होती है । मानसकार पूज्य श्रीगोस्वामीजीने इसे उदाहरणसहित बहुत सुन्दर ढंगसे समझाया है—

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ ॥
(रामच० २ । ९२)

लीलासे परे जो ज्ञान-गूढ़, केवल अनुभवगम्य बातें हैं, उन्हें तत्त्व, भगवत्तत्त्व, आत्मतत्त्व, परमतत्त्व, ब्रह्म प्रभृति शब्दोंसे व्यक्त किया गया है । उनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

तत्त्व-मीमांसा—'तत्त्व' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता आया है । सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष नामक तत्त्वोंपर गढ़ा गया है । गीतामें तीन तत्त्वों—सत, रज और तमकी व्याख्या की गयी है । इन्हींपर जीवका स्वभाव आधृत है । भौतिक शरीर पञ्चतत्त्वोंका बना होता है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(रामच० मा० ४ । ११ । ४)

कुछ तत्त्व-चिन्तक चित्त, मन और अहंकारको भी तत्त्वकी संज्ञा देकर अपने विषयका प्रतिपादन करते हैं । अद्वैतमात्र एक तत्त्वसे ही सारा प्रपञ्च उद्भूत बतलाते हैं । अतः तत्त्वोंकी संख्याका निर्धारण नहीं किया जा सकता है । यह प्रतिपादित विषय तथा उसके प्रतिपादकके बुद्धि-कौशलपर निर्भर करता है ।

आधुनिक विज्ञानमें भी तत्त्वोंकी संख्यापर मतभेद है । रसायनज्ञ इसकी संख्या ९२ बतलाते हैं । 'रिएक्टरों'की सहायतासे तत्त्व-अन्वेषकोंने कुछ और तत्त्वोंके संश्लेषित कर इनकी संख्या ९९ कर दी है । उनका कहना है कि यह संख्या और भी बढ़ सकती है। मूल कण या मूल तत्त्व शास्त्र या (Elementary Particle) भौतिकी (Physics.) शास्त्र पहले केवल तीन कणों—एलक्ट्रान, प्रोटान और न्यूटान—से ही समस्त ब्रह्माण्ड-की उत्पत्ति मानता था। लेकिन आधुनिक अन्वेषणोंने **इन** तथाकथित मूल कणोंको भी विभाजित कर दिया है । इन सूक्ष्म कणों (तत्त्वों) की संख्यापर भी वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं । इन अतिसूक्ष्म तथा लघुजीवनधारी (Short Lined) कणोंको ऊर्जासे बनाया जा सकता है । इस प्रकार वैज्ञानिक इस निष्कर्षपर पहुँचे कि द्रव्यको ऊर्जासे बनाया जा सकता है । यह निष्कर्ष

अद्वैत-सिद्धान्तसे भी बहुत कुछ मिलता है। लेकिन इनमें एक अन्तर भी है। अद्वैत-तत्त्व चेतन तथा अविकारी है। विज्ञानका अद्वैत-तत्त्व जड़ एवं विकारी है। विज्ञान इस समस्त ब्रह्माण्डको द्रव्य और विकिरण (Rediation) नामक अभिनामक और अभिनामिकाका आकाश और कालरूपी मञ्चपर खेल मानती है। विज्ञानका यह अभिनय सांख्यके 'प्रकृति-पुरुष-लीलाके सदृश है। सांख्य और विज्ञानके नाटक शाश्वत तथा अनुपम हैं। फिर भी उनमें अन्तर है। सांख्यके तत्त्व प्रकृति और पुरुष तथा विज्ञानके द्रव्य और विकिरण ब्रह्माण्ड संरचनाके संदर्भमें अत्यन्त सदृश हैं, किंतु सांख्यका पुरुष अविकारी है, चेतन है, वहाँ विज्ञानके दोनों तत्त्व विकारी तथा जड हैं। विज्ञानमें 'चेतन' नामका कोई तत्त्व नहीं है, चेतनता द्रव्य (Matter) संरचना विशेषका एक गुणमात्र है। सांख्यमें चेतनताका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (Existence) है, विज्ञानमें नहीं। विज्ञानकी ऊर्जा (Energy) भारतीय शक्ति-दर्शनकी आद्याशक्तिके सदृश है। किंतु जहाँ भारतीय दर्शनोंमें प्रतिपादित आद्याशक्ति अनिर्वचनीय है, वहाँ विज्ञानकी ऊर्जा वचनीय एवं विकारी है।' संक्षेपमें भारतीय दर्शनोंका परमतत्त्व अविकारी है और विज्ञानका मूल तत्त्व विकारी है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक तथा वैशेषिक न्यायादि भारतीय दर्शन समानतः एक या अनेक ऐसे तत्त्वोंकी खोजमें रहे हैं या हैं, जो नित्य, अविकारी और अखण्डनीय हों। उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, रामचरितमानस आदि हिन्दू-धर्मशास्त्र ऐसे ही परमतत्त्वका निरूपण करते हैं। निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
(गीता २। २३-२४)

'इस तत्त्व (आत्मा)को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है तथा जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु नहीं सुखा सकता है। यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य और अशोष्य, नित्य, व्यापक, अचल और सनातन है। जिन तत्त्वोंकी खोजमें विज्ञान लगा है, वह ऐसा होना चाहिये, जिससे समस्त जगत्की सृष्टि सम्भव हो सके। जिससे जड़ता तथा चेतनता दोनों गुणोंको समझा जा सके। संक्षेपमें यह तत्त्व ही सभी भूतोंका अधिष्ठान होना चाहिये। इस संदर्भमें गीताका निम्न श्लोक उल्लेखनीय है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०। २०)

'अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' ये शब्द भगवान् श्रीकृष्णजीके श्रीमुखसे निकले हैं। अतः उपरोक्त तत्त्वमात्र कल्पना-प्रसूत नहीं है, किंतु वास्तवमें तत्त्व ऐसा ही है। इसी अनुपम तत्त्वको हमारे शास्त्रोंमें विभिन्न नामोंसे सम्बोधित किया गया है। यह तत्त्व अद्वितीय है। इस अलौकिकताका मानसकार पूज्य गोस्वामीजीने निम्न चौपाइयोंमें बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहु कि जाहीं॥
(रामच० मा० ७। ७१। ३-४)

इस तत्त्वकी अनुपमेयताका दर्शन श्वेताश्वतरोपनिषद् और भी विचित्र रूपमें करता है। उसका कथन है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(३। १९)

'वह हाथ-पावसे रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्य वर्गको जानता है, किंतु उसे जाननेवाला कोई नहीं है। उसे (ऋषियोंने) सबका आदि, पूर्ण एवं महान् कहा है।' इसी अद्वितीय परमतत्त्वका निरूपण तथा उसकी प्राप्तिके साधनोंका वर्णन हमारे धर्मशास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य है। सभी शास्त्र अन्तमें इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि इस तत्त्वका दर्शन तो किया जा सकता है, किंतु उसे वैसा ही भाषाबद्ध करना असम्भव है। इसीलिये अन्ततोगत्वा वेदोंने भी नेति-नेति कहकर इस परमतत्त्वके निरूपणमें विराम लगाकर विश्राम पाया।

भगवान्‌की क्रीडा—यह अनन्त ब्रह्माण्ड, चराचर जगत् सब उसी एक परमतत्त्वका खेल ही तो है। इसके प्राकट्य, स्थिति और लयका कोई अन्य कारण नहीं है। वह अलख निरञ्जन है। इन असंख्य ब्रह्माण्डोंका पैदा करना, कुछ देर उनसे खेलना और फिर मिटा डालना—बस, यही उस परमविचित्र, परमविलक्षण, अकथनीय, अनोखे परमतत्त्वका 'मनोरञ्जन' है। देखिये—

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
(रामच० मा० ७। ८५। २)

इस समस्त चराचर जगत्‌को माया नचा रही है। हमलोग प्रायः यही समझते हैं कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह स्वेच्छासे कर रहे हैं। यही तो उसकी योगमायाकी जादू है। वह नचा रही है और हम समझ रहे हैं कि हम स्वयं स्वानन्दके लिये नाच रहे हैं—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
(रामच० मा० ७। ७१। १)

कठपुतली क्या स्वयं नाच सकती है? क्या मात्र डोरियाँ उसे नचा सकती हैं? नहीं, उनको अपने इशारेपर नचानेवाला नट (सूत्रधार) दर्शकोंको दिखायी ही नहीं पड़ता। वह तो उनकी दृष्टिसे ओझल रहकर अपने कार्यको करता है। दर्शक कठपुतलीके नाचसे आनन्दित हो उठते हैं और अपनेसे पूछते हैं कि यह निर्जीव पुतली भला कैसा सुन्दर नाचती है! फिर उस लीलाधरका खेल क्यों न मनोहारी हो? जिसे हम समझ नहीं सकते। यह उसीकी कृपाके अधीन बताया गया है—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

हम जिसके बारेमें सोचते हैं, समझनेका प्रयास करते हैं, देखते हैं या जिसे हम इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण कर पाते हैं, वह परमतत्त्वकी क्रीडामात्र है। इस खेल तथा इसके खिलौनोंका अन्त नहीं है। गोस्वामीजी हमें सावधान करते हैं—

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार॥
(रामच० मा० १। ३३)

जब मनुष्यनिर्मित खेल या नाटक स्वयं उसीको आश्चर्यचकित कर सकता है, मनोरञ्जन कर सकता है और मोह भी सकता है, तब उस परमतत्त्वकी क्रीडामें हमें क्यों न वास्तविक प्रतीत हो और हम उससे क्यों न मोहित हों? वह तो विचित्र लगेगी ही। उसे कैसे समझा जा सकता है। परमतत्त्वके इस वैचित्र्यका उद्घोष मानस निम्न दोहामें कर रहा है—

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन॥
(रामच० मा० १। ४९)

साधारण मनुष्यकी बात ही कौन करे, बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी प्रभुकी लीलाने भ्रममें डाल दिया है। साक्षात् ज्ञानके अवतार भगवान् शंकरकी सहधर्मिणी सतीजी पूछ बैठती हैं—

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
(रामच० मा० १। ५०)

जलचर, थलचर, कीट-पतंग, नद-नदी-पर्वत, सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्र और वृक्ष-वनस्पति इत्यादि सभीके रूपमें उसी लीलाधरकी लीलाएँ हैं। लेकिन श्रीकृष्ण तथा श्रीरामरूपमें तो भगवत्तत्त्व-लीलाकी पराकाष्ठाका दर्शन उपलब्ध होता है। यह गोस्वामीजीकी निम्न-सूक्तिसे स्पष्ट हो जाता है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

(रामच० मा० १। ५१)

वेद शास्त्र और पुराण भगवान्‌के इन विचित्र चरित्रों और गाथाओंके अनुपम धरोहर हैं। ये चरित्र तर्कसे परे हैं। मानवीय बुद्धि सभी कुछ नहीं माप सकती। उसकी अपनी सीमा है। भगवान् उससे भी परे हैं। कहा भी है—

राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥

उनकी लीलाएँ भी परम गूढ़ हैं। वास्तवमें यही तो प्रभुका लीला-वैचित्र्य है। वे मायापति हैं। उन मायापतिकी लीलाओंमें मानव-बुद्धि और विज्ञानकी पहुँच ही नहीं है। उनके परमतत्त्वको जान पाना प्रभुकी ही कृपासे साध्य है। वे कृपाकर जिसे अपना रहस्य समझा दें, बस मात्र वही जान सकता है—**'जानहिं भगत भगति उर चंदन।'**

पुराणोंमें भगवत्तत्त्वका प्रकाश

(लेखक—श्रीरतनलालजी गुप्त)

भारतके युगसन्धिकालमें भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य लीला-सहचर महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास उनके धर्म-संस्थापन महायज्ञके आचार्यरूपमें अवतीर्ण हुए थे। वेदान्तसूत्रोंके सर्वभावातीत अवाङ्मनोगोचर परब्रह्मके **लोकवल्लीलाकैवल्यम्**'को उन्होंने अपने लौकिक चक्षुओंके अतिरिक्त समाधिद्वारा उपलब्ध ऋषि-चेतनामें भी साक्षात्कार किया था। उनका परम करुणामय हृदय सभी प्रचलित मर्यादाओंको तोड़कर लोकमानसके समक्ष अपने इस नवीन आविष्कारको प्रस्तुत करनेके लिये आतुर हो उठा और उनकी लेखनी अकर्ताका कर्म, अजन्माका जन्म, मुक्तिपतिका बन्धन, आत्मारामका अयुत प्रमदाओंके साथ विहार चित्रित करनेके लिये प्रवाहित हो उठी। फलस्वरूप जन्म हुआ वेदों और उपनिषदोंके प्रामाणिक अर्थका प्रतिपादन करनेवाले अष्टादश पुराणोंका।

जब सभी पुराणोंके रचयिता एक हैं तो उनकी भगवत्तत्त्वसम्बन्धी मान्यता भी एक ही होगी, इसमें भेद होनेका कोई प्रश्न ही नहीं है। किंतु इन पुराणोंमें भगवत्तत्त्वके अनेक साधकोंका वर्णन हुआ है, जिन्होंने एक-एक भावविशेषका अवलम्बन लेकर अपनी रुचि-प्रकृति, परिस्थितिके अनुसार विभिन्न रूपोंमें भगवत्सत्ताके प्रकाशकी उपलब्धि की है। भगवत्स्वरूपमें किसी प्रकारका तारतम्य न होनेपर भी साधकके भाव-विकासपर प्रकाशमें तारतम्य तो होता ही है। बालक ध्रुव, अवधूत जडभरत, पतित अजामिल, तामसी पशुयोनिको प्राप्त गजेन्द्र, राजर्षि अम्बरीष, दैत्यपुत्र भक्तराज प्रह्लाद, कृष्णसखा उद्धव और देवर्षि नारद—ये एक-एक भक्त एक-एक प्रकारके भावकी प्रतिमूर्ति हैं एवं इनमेंसे प्रत्येकके निकट भगवत्स्वरूप-प्रकाशका अपना वैशिष्ट्य है। फिर एक-एक भक्तके साधन-जीवनमें भावके क्रमविकासमें भगवान्‌का आविर्भाव भी नये-नये रूपोंमें हुआ है।

पुराणोंमें इस भगवत्तत्त्वका विष्णु, कृष्ण, काली, शिव, दुर्गा, श्रीराम, गणेश और सूर्य आदि अनेक

रूपोंमें वर्णन किया गया है। पर पार्थक्य है केवल इनके रूपमें, स्वरूपमें कोई पार्थक्य नहीं है। एकमात्र अव्यक्त चिह्न परब्रह्म ही विविध शक्ति, परिकर, आयुध एवं आभूषणों आदिसे सुसज्जित होकर विभिन्न नामोंसे अभिहित होते हैं। जब वे गरुड़, नन्द, सुनन्द इत्यादि पार्षदों, शङ्ख-चक्र, गदा, पद्म इत्यादि आयुधों, कौस्तुभ-वनमाला इत्यादि आभूषणोंसे युक्त होते हैं तो विष्णु कहलाते हैं। जब वे नन्दी वृषभ, वीरभद्र, भूत-पिशाच इत्यादि पार्षदों, चन्द्रकला एवं नागराज आदि आभूषणोंसे विलसित होते हैं तो शिव कहलाते हैं; जब वे सिंहपर आरूढ़ हो डाकिनियों-पिशाचिनियोंसे आवृत होकर घंटा, शूल, हल, शङ्ख, मुसल, चक्र, धनुष, बाण इत्यादि आयुध धारण करते हैं, तो वे ही दुर्गा कहलाते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान् इत्यादि पार्षदों, धनुष-बाण इत्यादि आयुधों एवं चँवर-छत्र, राजमुकुट इत्यादि आभूषणोंको धारण करनेसे वे श्रीराम कहे जाते हैं।

ब्रह्मसूत्रके **'अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्'** (३।३।५०) सूत्रका भाष्य करते हुए श्रीमन्मध्वाचार्यने इस विषयपर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार उपासनाके भेदसे श्रीभगवान्के दर्शनमें भी भेद होता है—**'उपासनाभेदात् दर्शनभेदः'**। श्रीनारद-पाञ्चरात्रमें भी उक्त मतका प्रतिपादन हुआ है—

मणिर्यथाविभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथा विभुः॥

जिस प्रकार वैदूर्यमणि उज्ज्वल होनेसे नील-पीत आदि वर्णोंके सम्पर्कमें आकर उन-उन वर्णोंसे युक्त प्रतीत होने लगती है, वैसे ही उपासकोंके ध्यानमें भेद होनेसे प्रभुके भी रूपभेद हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें वामनावतारके प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

यत् तद् वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद्धरिः।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥

(८।१८।१२)

जो शरीर किसी प्रकार भी व्यञ्जित नहीं होता, अव्यक्त अवस्थामें भी परमानन्द ही जिसका रूप है, उसको विशिष्ट आभूषणों एवं आयुधोंका अवलम्बन लेकर श्रीहरिने विश्वप्रपञ्चमें जिस प्रकार अभिव्यक्त हो सके, उस प्रकार स्थापित कर दिया। तदनन्तर वे उसी रूपसे वामन वटु बन गये। अपनेमें ही नित्य स्थित नाना संस्थाओंके प्रकाश-अप्रकाशरूप जिनकी परम अचिन्त्य चेष्टाएँ हैं, वे प्रभु जैसे बाजीगर हाथकी सफाईसे नाना आकारोंमें अपनेको परिवर्तित कर लेता है, वैसे ही माता-पिताके देखते-देखते वामन वटुके रूपमें आविर्भूत हो गये। यहाँपर इस शङ्काका होना स्वाभाविक है कि राम-कृष्ण आदि अवतारोंमें जन-साधारणने उनके जिस रूपका दर्शन किया था, वह साधारण मनुष्योंके समान पञ्चमहाभूतोंके संयोगसे निर्मित था अथवा उसमें कोई लोकोत्तर वैशिष्ट्य था? मानवदेह और अवतारदेहमें क्या भेद है? इन शङ्काओंका समाधान सामान्य व्यक्तियोंद्वारा किये जानेपर मतभेदके लिये स्थान रहता, अतएव व्यासदेवने स्वयं पुराणोंमें श्रीभगवान्की दिव्य देहके विषयमें विशद चर्चा की है।

वस्तुतः श्रीभगवान्के आविर्भावकालमें उनके श्रीविग्रह विशुद्ध सत्य, विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध आनन्त्य, विशुद्ध आनन्द-रूपमें ही अभिव्यक्त होते हैं। उनमें किसी विजातीय भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती और उनकी अभिव्यक्ति भी सदा एकरूप ही होती है। आत्मज्ञान ही जिनका नेत्र है, वे महात्मा भी उनके अनन्त माहात्म्यका स्पर्श नहीं कर पाते।

*

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५४)

श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर **'विशुद्धविज्ञानघनम्'** (१० । २७ । २०), **'विशुद्धज्ञानमूर्तये'** (१० । २७ । २१), **'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनौ'** (१० । १४ । २२) आदि पदोंसे भगवान्‌के श्रीविग्रहको विज्ञानमय बतलाया गया है तथा **'आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशाऽऽत्मलब्धम्'** (१० । ४१ । २८), **'दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्'** (१० । ४८ । ७) आदि पदोंसे उनके उस आनन्दमय श्रीविग्रहके दर्शन, आलिङ्गन आदिका वर्णन करके लाक्षणिक अर्थकी प्रतीतिको भी बोधित कर दिया गया है । वराहपुराणका भी मत है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हेयोपादेयरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
देहदेहिभिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित् ॥

उन परमात्माकी सभी देहें नित्य एवं शाश्वत हैं, उनमें कुछ भी हेय-उपादेय नहीं है; वे प्रकृतिका आश्रय लेकर उत्पन्न नहीं होते हैं । वे सम्पूर्णतः घनीभूत परम आनन्द और विशुद्ध ज्ञानमय हैं । उन ईश्वरमें शरीर या शरीरीका कोई भेद नहीं है । स्कन्दपुराणके अनुसार भी उनका श्रीविग्रह शाश्वत एवं विशुद्ध चिद्-आनन्दघन है । इस रहस्यको न जानकर जनसाधारण उसमें जड, पाञ्चभौतिक एवं जन्म-मृत्यु आदि विकारोंसे युक्त होनेका आरोप करते हैं—

अविज्ञाय परं देहमानन्दात्मानमव्ययम् ।
आरोपयन्ति जनिमत् पञ्चभूतात्मकं जडम् ॥

जन्म और कर्म हमारे सुपरिचित व्यापार हैं । यह परिचय हमको मायिक जगत्‌में जीवके सम्बन्धसे प्राप्त होता है । जीवका जन्म उसके कर्मद्वारा नियन्त्रित होता है । यह एक सुविदित तथ्य है । इसीलये किस देह, किस काल, किस जाति, किस रुचि-प्रकृति, बल-बुद्धिसे युक्त माता-पिताके घरमें, देश और समाजकी किन परिस्थितियोंमें वह जन्म ग्रहण करे, इसमें उसकी कोई स्वतन्त्रता नहीं है । बहुत बार यह भी देखा जाता है कि अनुकूल परिस्थितियोंमें जन्म प्राप्त न होनेके कारण व्यक्तिको जीवन-पर्यन्त दुःख, दैन्य और अभावका भोग करना पड़ता है । अतएव जीवका जन्म पराधीन है और उसके परिणामपर भी वह किसी-न-किसी प्रकार आश्रित है । किंतु श्रीभगवान्‌के कर्म दिव्य हैं, वे कर्म एवं कर्मफलसे लिप्त नहीं होते; अतएव कर्मफलभोगद्वारा नियन्त्रित जन्मकी प्रणालीके अनुसार माता-पिताके रजो-बिन्दुसंयोगसे उनका जीवकी भाँति नौ मासतक माताके उदरमें वास करके जन्म लेना ही असंगत प्रतीत होता है । उनका आविर्भाव उनकी इच्छासे जिस किसी देशमें, कालमें, जातिमें, विशिष्ट माता-पिताके घरमें, देश और समाजकी विशिष्ट परिस्थितियोंमें होता है । उनका जन्म वस्तुतः उनका आविर्भाव है । वे अपनी स्वरूपा शक्तिका आश्रय लेकर जीवके समक्ष अपने स्वरूप एवं लीलाका प्रकाश करनेके लिये देश और कालकी सीमाको स्वीकार करते हैं । किंतु साथ ही उस अवस्थामें भी वे देशकालसे अतीत बने रहते हैं । सान्तको स्वीकार करके भी उनका अनन्तत्व अखण्डित बना रहता है ।

श्रीभगवान्‌के अवतारतत्त्वके विषयमें श्रीमद्भागवतमें मुख्यरूपसे विचार हुआ है । व्यासदेवके अनुसार जन-जनके हृदयमें निवास करनेवाले उन प्रभुने देवकीके गर्भसे जन्मग्रहण किया है, यह प्रवादमात्र है—**'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः ।'** फिर भी श्रीमद्भागवतमें उनके जन्म, लीला एवं लीला-संवरण आदिका वर्णन हुआ है, अतएव ग्रन्थकारके मूल तात्पर्यको ध्यानमें रखते हुए इस विषयकी आलोचना करना समीचीन होगा । महर्षि यास्कके अनुसार जीवशरीरमें छः प्रकारके विकार होते

हैं—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विभिन्न अवस्थाओंमें परिणति, अपक्षय और नाश—

तदेवं जायते अस्ति वर्धते विपरिणमति अपक्षीयते नश्यति ॥ (निरुक्तनैघण्टुकाण्ड १ । १ । ३)

किंतु भगवान् इन सभी विकारोंसे रहित हैं, अतएव उनकी दिव्य देहमें जन्मादि विकारोंका होना संगत नहीं प्रतीत होता । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णचन्द्रके आविर्भाव-तिरोधान आदि प्रसङ्गोंके अनुशीलनसे यह बात स्पष्ट-रूपसे ज्ञात की जा सकती है । श्रीभगवान्‌के जन्मके प्रसङ्गमें कहा गया है कि देवरूपिणी देवकीमें समस्त भूतप्राणियोंकी हृदय-गुहामें वास करनेवाले सर्वव्यापक विष्णु इस प्रकार आविर्भूत हो गये, जैसे चन्द्रमा निरन्तर विद्यमान रहते हुए भी निशीथकालमें प्राची दिशामें प्रकाशित होते हैं । यहाँपर चन्द्रमाके उदयको उपमा रूपमें नहीं, केवल अवतार-देहकी अभिव्यक्ति या प्रकाशकी प्रक्रियाके दृष्टान्तके रूपमें ग्रहण करना ही उपयुक्त होगा ।[1] किंतु उनकी यह अभिव्यक्ति हुई शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अद्भुत बालकके रूपमें; तदनन्तर माता-पिताकी प्रार्थनापर श्रीभगवान्‌ने अपने अलौकिक रूपका संवरण करके अपनी स्वरूपभूत योगमायाका आश्रय लेकर प्राकृत शिशुका रूप धारण कर लिया—

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४६)

इस स्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके इस प्राकृत शिशुदेवकी भी माताके गर्भसे उत्पत्ति कैसे प्रमाणित हो सकेगी ? जिनकी सत्ता किसी देशमें, किसी कालमें खण्डित नहीं होती, उनमें किसी अपूर्व देहका ग्रहण या नवीन अस्तित्वकी कल्पना कैसे की जा सकती है । श्रीजीवगोस्वामी भी इस विषयपर विचार करते हुए कहते हैं—

'श्रीभगवति सदैवाकारानन्त्यात् प्रकाशानन्त्या-ज्जन्मकर्मलक्षणलीलाऽऽनन्त्यादनन्तप्रपञ्चानन्त वै वैकुण्ठगततत्तल्लीलास्थानतत्तल्लीलापरिकराणां व्यक्ति-प्रकाशयोरानन्त्याच्च । यत एवं सत्योरपि तत्तदा-कारप्रकाशगतयोस्तदारम्भसमाप्त्योरेकत्रैकत्र ते जन्मकर्मणोरंशा यावत्समाप्यन्ते न समाप्यन्ते वा तावदेवान्यत्रान्यत्रात्यारब्धा भवन्तीत्येवं श्रीभगवति विच्छेदाभावान्नित्ये एव तत्र ते जन्मकर्मणी वर्तेते' (—भगवत्सन्दर्भ) ॥

'श्रीभगवान्‌में सदैव आकारकी अनन्तता, स्वरूप-प्रकाशकी अनन्तता, अपनी जन्म-कर्मलक्षणा, लीलाकी अनन्तता एवं अनन्त विश्वप्रपञ्च तथा अनन्त वैकुण्ठ आदि लोकोंमें उनके उन-उन लीलाक्षेत्रों एवं परिकरोंकी अभिव्यक्ति और प्रकाशकी अनन्तताके कारण सब कुछ सम्भव है । इस प्रकार अभिव्यक्ति और प्रकाशके होते हुए भी उस-उस आकारमें प्रकाशकालमें लीलाओंके आरम्भ एवं संवरणमें एक-एक स्थानविशेषमें वे जन्म-कर्मके खण्ड जबतक समाप्त होते हैं अथवा समाप्त नहीं होते, उनके साथ-साथ उसी समय दूसरे-दूसरे स्थानोंमें भी उनके जन्मकर्मकी लीला चलती रहती है; अतएव श्रीभगवान्‌से विच्छेदके अभावके कारण उनके जन्म-कर्म नित्य ही विद्यमान रहते हैं ।'

इसी प्रकार अवतारदेहमें वृद्धिरूप विकार भी सङ्गत नहीं होता । उनके द्वारा अपने आविर्भावके तीसरे मासमें ही पूतना, शकटासुर एवं तृणावर्तका प्राणहरण, पौगण्डकतामें गोवर्धन-धारण, गुरुगृहमें चौसठ दिनोंमें

१—श्रीमधुसूदन सरस्वतीने श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोककी व्याख्या करते हुए भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—'जन्मानि लीलादेहग्रहणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणादित्यस्योदयवन्मे मम बहूनि व्यतीतानि' अर्थात् 'लीलादेहके ग्रहणरूप मेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं । जो लोकसमाजकी दृष्टिमें जिस प्रकार सूर्यका किसी देह-विशेष या काल-विशेषमें उदय होता है, उसी प्रकार मैं भी देश-विशेष या काल-विशेषमें अभिव्यक्त होता हूँ ।'

विद्याध्ययन आदि अद्भुत कर्म पूर्ण विकासको प्राप्त मानवके लिये भी सम्भव नहीं कहे जा सकते। अतएव उनमें ज्ञानशक्ति आदिके क्रमिक विकास या वृद्धिका भी आरोप कैसे किया जा सकता है? और, जब वृद्धि ही नहीं तब कौमार्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओंमें परिणति भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकती।

जीव-शरीर जिस प्रकार विकासको प्राप्त होता है, उसी प्रकार कालान्तरमें क्रमिकरूपसे अपक्षय भी उसका स्वभाव है; किंतु श्रीभगवान् षोडश सहस्र प्रमदाओंसे विवाहके लिये नाना शरीरोंमें अभिव्यक्त होनेपर भी अव्यय एवं अक्षुण्ण बने रहते हैं—

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवान् तावद्रूपधरोऽव्ययः॥
(श्रीमद्भा० १०। ५९। ४२)

इसी प्रकार एक ही मुहूर्तमें विविध प्रकोष्ठोंमें उन सोलह हजार राजकन्याओंसे भगवान्ने यथोचित रीतिसे विवाह किया और उन अव्यय प्रभुने जितनी राजकन्याएँ थीं उतने ही रूप धारण कर लिये; इस प्रकार अनेक स्थानोंमें एक ही कालमें उनका अनेक रूपोंमें प्रकाश उनके सर्वव्यापकत्वको भी साथ-साथ सूचित करता है।

'मेरे जन्मके रहस्यको देवता और महर्षि कोई नहीं जानते; क्योंकि देवता और महर्षि सब मुझसे उत्पन्न हुए हैं। मैं सबका आदि हूँ'—ऐसा वे स्वयं गीतामें कहते हैं; अतएव उनके इस अवतारदेहके विषयमें देवताओंकी जिज्ञासा आश्चर्यकी बात नहीं कही जा सकती। ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण इत्यादि देवताओं-द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपतत्त्वके विषयमें मोह एवं उन्हें साधारण गोपबालक मानकर उनकी परीक्षामें प्रवृत्त होने जाकर अन्ततः उनके असमोर्ध्व प्रभावका ज्ञान होनेपर क्षमा, याचना और स्तुति शास्त्रोंमें वर्णित हुई है। भगवान् श्रीकृष्णके लीलासंवरणके समय भी देवसमूह इसी प्रकार उत्कण्ठित हो उठता है—उनका स्वधामप्रयाण देखनेके लिये; किंतु जिस प्रकार साधारण मनुष्य, मेघोंको चीरकर जाती हुई बिजली आकाशमें कहाँ विलीन हो गयी, यह नहीं जान पाते, वैसे ही देवता भी श्रीभगवान् कहाँ अन्तर्हित हो गये, यह नहीं जान पाये—

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः॥
सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥
(श्रीमद्भा० ११। ३१। ८-९)

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने लोकाभिराम श्रीविग्रहको, जो उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार है, अग्निदेवता-सम्बन्धी योग-धारणाके द्वारा दग्ध न करके अपने उसी श्रीविग्रहसे अपने परमधाममें प्रवेश किया—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३१। ६)

महात्मा विदुरने भी '**हरिरपि तत्याज आकृतिं त्र्यधीशः**' कहकर त्रैलोक्येश्वरके किसी प्रपञ्च-कलेवरका नहीं, अपितु जिस आकृतिसे वे दृश्य-प्रपञ्चमें व्यक्त हो रहे थे, उसीको दृश्यप्रपञ्चसे हटा लेनेका संकेत किया है।

अतएव श्रीभगवान्की भौतिक देहका अभाव होते हुए भी उनकी दिव्य अवतारदेहमें जो मनुष्यत्व आदिकी प्रतीति होती है, उसमें उनकी मायाशक्ति ही प्रमुख कारण है। मानवलोकमें जीवानुग्रह-कातर होकर जब वे अवतार ग्रहण करते हैं, तब रावण, कंस, शिशुपाल, दुर्योधन आदिकी दृष्टिमें वे साधारण मानवसे अभिन्न प्रतीत होते हैं; किंतु अर्जुन, भीष्म, उद्धव, हनुमान् आदि उनके अनुग्रह-भाजन भक्त उसी विग्रहमें उनके सच्चिदानन्द-घन, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्ययरूपकी प्रकाशोपलब्धि करते हैं। अतएव प्रभुके स्वरूपमें कोई

तारतम्य अथवा नामात्व न होते हुए भी जीवमात्र अपनी भावनाके विशिष्ट दर्पणमें उसका विचित्र रूपोंमें दर्शन करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने श्रीमद्भगवद्गीताके **'अजोऽपि सन्'** आदि श्लोकपर विचार करते हुए अवतार-देहके विषयमें अपना मत व्यक्त किया है—

'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वल्लक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया इति।'

'वे भगवान् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सदा सम्पन्न रहते हुए त्रिगुणात्मिका माया—प्रकृतिको अपने अधीन करके (जीवके समान प्रकृतिके अधीन न होकर) अज, अव्यय, सर्वभूत महेश्वर एवं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप होते हुए भी अपनी योगमायासे देहधारीके समान—जन्म लिये हुएके समान लोकानुग्रह करते हुए लक्षित होते हैं, उनके अवतारमें कोई प्रयोजन न होते हुए भी जीवमात्रपर उनकी अनुकम्पा ही इसमें प्रमुख कारण है।'

इस प्रकार भगवान् वासुदेवमें भगवत्तत्त्वका परिपूर्णतम प्रकाश हुआ है। स्वयं श्रीकृष्ण उद्धवको अपनी विभूति-वर्णनके प्रसङ्गमें कहते हैं—**'वासुदेवो भगवताम्'** अर्थात्—'भगवान्‌की जितनी अभिव्यक्तियाँ हैं उनमें मैं वासुदेव हूँ।' अवधूत जडभरतके अनुसार विशुद्ध परमार्थ-रूप बाह्य-आभ्यन्तर-भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निर्विकार है; इसीकी संज्ञा 'भगवान्' है और मनीषिगण इसीको 'वासुदेव' कहते हैं।

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
(श्रीमद्भा० ५। १२। ११)

अतएव आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि मन-बुद्धि, हृदयको भगवद्भाव-भावित करके अपनेमें और सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चमें एकमात्र भगवान् वासुदेवका अनुभव किया जाय, यही भागवती दृष्टि है और विश्व-चैतन्यसे नित्ययोग प्राप्त करनेका यही एकमात्र मार्ग है एवं समस्त पुराणोंका तात्पर्यार्थ भी इसीमें पर्यवसित है।

पुराणोंका मथितार्थ

पुराण वेदोंके उपबृंहण (विस्तार) हैं। उन्होंने वेदार्थोंका स्वरूप-प्रकाश विभिन्न शैलियोंमें—तात्त्विक विवेचनों, प्रश्नोत्तरों, आख्यानों, उपाख्यानों और कथाओं आदिकी शैलियोंमें किया है। उनमें अचिन्त्य चैतन्यकी सूक्ष्मता और व्यापकताके वर्णनके साथ उसकी विश्वव्यापिनी विभूतिमती शक्तियों और मूर्तप्रतीकों—मूर्तियोंमें उसी तत्त्वकी सत्ताका सुनिपुणतासे वर्णन मिलता है। भगवत्तत्त्वका प्रकाश जैसे अवतारोंमें शील-शक्ति-सौन्दर्य विमण्डित होकर पूजा-अर्चा किंवा श्रद्धा-भक्तिका विषय बनता है वैसे ही उसका विशद विवेचन प्रत्यक्षतः,उपदेशतः और अनुसंगतः पुराणोंमें स्थान-स्थानपर प्राप्त होता है; हाँ, यह एक अलग बात है कि उस भगवत्तत्त्वका जो रूप प्रकृतमें वर्ण्य होता है उसीकी प्रधानता प्रतिपादित की गयी होती है—यद्यपि सभी रूपोंके मूलमें एकस्वरूपकी सुरक्षा सर्वत्र है। पुराणोंकी मान्यता है कि एक परमेश्वर विविधरूपोंमें यथावसर यथास्थान अवतीर्ण होकर धर्म-संरक्षण करते हैं और विश्वव्यवस्थाकी सुचारुता स्थापित करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश पुराणोंके मूल भगवद्रूप हैं। तारतम्यपूर्ण अंशोंवाले अवतार उसी अचिन्त्य अंशीके रूप हैं जो स्वरूपतः एक है, अद्वितीय है और भूमा किंवा सर्वव्यापक है। वह सृष्टिका मूल, विश्व व्यवस्थितिका सूत्रधार और विश्वको अपने आपमें समेट लेनेवाला विराट् है। वस्तुतः पुराण दर्शनके व्याख्यान हैं। दर्शनका प्रतिपाद्य ही उनका मथितार्थ है। —रा० ब० त्रिपाठी

वैष्णवधर्ममें भगवत्तत्त्व

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी)

भारतवर्षके विभिन्न सम्प्रदायोंके विद्वान् आचार्योंने ब्रह्मसूत्रके विभिन्न भाष्योंका प्रणयन कर दार्शनिक आधारपर भगवत्तत्त्वके निरूपण और प्रतिष्ठाकी चेष्टा की है। वैष्णव आचार्योंके अन्तर्गत भी अनेक सम्प्रदाय हैं। उनके भी अग्रगण्य पण्डित तथा आचार्योंने भी ब्रह्मसूत्र-भाष्य-वृत्ति आदिका प्रणयन कर स्व-स्वसम्प्रदायके आधारशिला-निर्माणकी चेष्टा की है।

वैष्णवसम्प्रदायके वेदान्तीवर्गके अन्तर्गत निम्बार्कानुयायी भेदाभेदवादी हैं। उनके भगवत्तत्त्वका व्याख्यान द्वैताद्वैतपरक है। श्रीरामानुजने जिस प्रकार बोधायन-वृत्तिका अवलम्बन कर 'श्रीभाष्य'का प्रणयन किया है, चतुःसनसम्प्रदायी श्रीमन्निम्बार्कने भी उसी प्रकार औडुलोमिप्रणीत वेदान्तसूत्रवृत्तिका अवलम्बन कर ब्रह्मसूत्रका 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' नामक एक लघुव्याख्या-ग्रन्थ या वृत्तिका प्रणयन किया है। निम्बार्कसम्प्रदायका वास्तविक भाष्यग्रन्थ श्रीश्रीनिवासाचार्यरचित 'वेदान्तकौस्तुभ' है। ये श्रीनिवासजी श्रीमन्निम्बार्कके ही शिष्य थे। यह ग्रन्थ असाधारण पाण्डित्यपूर्ण है। वेदान्ती कश्मीरीकृत 'कौस्तुभप्रभावृत्ति' प्रचुर विचारपूर्ण ग्रन्थ है। निम्बार्क-सम्प्रदायका 'परपक्षगिरिवज्र' भी एक पाण्डित्यपूर्ण वेदान्त-ग्रन्थ है। उन्होंने ग्रन्थारम्भमें एक स्थानपर अपना इस प्रकार भाव व्यक्त किया है—

'भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने भ्रान्त, स्वभक्तिविवर्जित जीवोंके हृदयमें स्वतत्त्व दृढ़ करनेके लिये कृष्णद्वैपायनरूपके द्वारा परमतत्त्वप्रकाशक, समन्वय एवं अविरोधके साधनरूप इस चतुरध्यायात्मक वेदान्तसूत्रका प्रकाश किया।' श्रीमन्निम्बार्काचार्यका 'वेदान्तपारिजात' नामसे इसका एक व्याख्यार्थ प्रकाशित है। इसके पश्चात् शंकरावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यने उसके एक भाष्यका प्रणयन कर उसमें प्रतिष्ठित तत्त्वकी प्रतिष्ठाका प्रयास किया है।

इस ग्रन्थका पाठ करनेसे ज्ञात होता है कि भगवान् औडुलोमि ऋषि ही द्वैताद्वैतमतके मूल प्रवर्तक हैं। इसमें श्रीनिम्बार्काचार्यके 'वेदान्तकौस्तुभ'के आलोचित तत्त्वका भी उल्लेख पाया जाता है। इनके मतमें तत्त्व त्रिविध हैं—चित्, अचित् और ब्रह्म। अब ये चित्, अचित् और ब्रह्म भिन्न होकर भी अभिन्न हैं—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च
मत्वा सर्वंप्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्।'

भगवत्तत्त्वके सम्बन्धमें यही कहा जाता है कि वह तत्त्व अचिन्त्य, अनन्त, एकान्त स्वाभाविक, बृहत्तम-स्वरूप, कर्मादिका आश्रयभूत, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, सर्वकारणस्वरूप, समानातिशयशून्य, सर्वव्यापक, सर्ववेदावेद्य श्रीकृष्णस्वरूप ही है। इस प्रकरणमें उल्लेख बात यह है कि बहुत-सी श्रुतियोंका उल्लेख करके भाष्यकारने परमतत्त्वके स्वरूपका निर्धारण करके पूर्वोक्त संज्ञाओंवाले परमतत्त्वको अभिहित किया है।

अब विशुद्ध द्वैतमत आता है। इस मतके प्रवर्तनके प्रायः एक सहस्राब्दि बाद भारतके वंगदेशमें धर्म-भावके एक नये स्वरूपका आविर्भाव हुआ। इसके प्रवर्तक थे—नदियाके श्रीगौराङ्गचन्द्र या निमाईचन्द्र। उन्होंने प्राचीन एवं नवीन, एक एवं बहु, अनुकूल एवं प्रतिकूल इत्यादि सर्वभावोंमें एक अपूर्व सामञ्जस्यका विधान कर वेदान्ततत्त्वकी एक सुन्दर मीमांसामें भगवत्तत्त्वका निरूपण किया है। उनके द्वारा की गयी वह मीमांसा अति सम्यक् एवं समीचीन है। उससे पण्डितमात्र थोड़ा-बहुत परिचित हैं। इससे भिन्न आचार्य ... अद्वैतवा... श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैतवाद

इत्यादि भी अनुधारणके योग्य हैं । श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका प्रतिष्ठित अचिन्त्यभेदाभेदवाद भी एक विशिष्ट मत है । इस मतका दिग्दर्शक बलदेवका गोविन्दभाष्य है । प्रकृत पक्षमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने अन्यान्य आचार्य-गणोंके मत लेकर अपने भाष्यका प्रणयन नहीं किया है । अवश्य उसका कुछ कारण होगा । तत्काल उक्त भाष्यके प्रणयनकी प्रयोजनीयता भी भक्त-समाजमें अनुभूत नहीं हुई । श्रीमहाप्रभुके मतमें श्रीमद्भागवत ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य है । यही था सम्भवतः उनके वेदान्त-सूत्रके भाष्यकी प्रचेष्टाके अभावका कारण । जो भी हो, श्रीमहा-प्रभुने उस अचिन्त्यभेदाभेदभावके आधारपर ही भगवत्तत्त्वकी प्रतिष्ठा की ।

गौडीय वैष्णवसमाजके स्वीकृत भगवत्तत्त्व श्रीवृन्दावनमें श्रीपाद सनातनादि गोस्वामी वर्गने अपने-अपने ग्रन्थोंमें संनिविष्ट किया है । श्रीपाद श्रीजीवगोस्वामीने अपनी भागवतकी टीका-(क्रमसंदर्भ-) में इसे लिपिबद्ध किया है । बलदेव विद्याभूषणविरचित श्रीगोविन्द-भाष्य लघुतर, पर सुन्दर ग्रन्थ है । पूर्वोक्त समयके परवर्ती-कालमें मान्य वैष्णवोंने एक वेदान्त-भाष्यके अभावका अनुभव किया । यहीं श्रीगोविन्दभाष्यका उद्भव हुआ । इसके सारांशरूप एक कथन प्रचलित है—इस भाष्यमें श्रीकृष्ण ही परम एवं चरम वस्तु हैं । ईश्वर, जीव, काल, कर्म एवं प्रकृति सर्वानुसार ही यह सत्य है—

हेतुत्वाद्विभुचैतन्यानन्दत्वादिगुणाश्रयात् ।
नित्यलक्ष्म्यादिमत्वाच्च कृष्णः परतमो मतः ॥

मुण्डक उपनिषद्से इसका प्रमाण उद्धृत किया गया है । तदनुसार भगवान्, निखिल निगमवेद्य हैं । यही विश्वसत्य है । जीव अणु चैतन्यविशेष है, पर सत्य और नित्य है । इन्हीं सब सत्योंके आधारपर ही भगवत्तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्ति ही मोक्ष है । पराभक्ति ही भगवत्तत्त्वके ज्ञानका उपाय है । इससे भिन्न, विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायोंके विभिन्न ग्रन्थोंमें भगवत्तत्त्व-विषयक और भी बहुत-से तत्त्व आलोचित हुए हैं ।

भगवत्तत्त्वके विषयमें जानना चाहिये कि वेदान्त-दर्शनका मत है—**'जन्माद्यस्य यतः ।'** श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—**'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।'** यहाँ भी भगवत्तत्त्वके प्रतिपाद्य विषयकी बात है । विशुद्धाद्वैत भाष्यमें जीवको चिद्घन कहकर अभिहित किया गया है । जीव अतिसूक्ष्म, परिच्छिन्न, चित्-प्रधान और आनन्दस्वरूप है । अर्थात् जीव पूर्ण ब्रह्मानन्द एवं चित् है । इस मतके अनुसार शुद्ध जीव एवं ब्रह्म वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं । श्रीमत् शंकराचार्यके मायावादमें जगत् मिथ्या कहकर प्रकल्पित किया गया है । उसकी दृष्टिमें सब तत्त्व ही भगवत्तत्त्व है और सब कुछ भगवान्से अनन्य है । यहाँ स्वपक्षमें कहा गया है—**'भावे च उपलब्धेः ।'** इससे भिन्न उन्होंने अनेक श्रौत प्रमाण भी दिये हैं । शुद्धाद्वैतमें भक्ति ही परमतत्त्व है । इसी स्थानपर विशिष्टाद्वैतवादके साथ उनका पार्थक्य है । वह पार्थक्य यह है कि विशिष्टा-द्वैतवादीगण स्थूल और सूक्ष्म चित्-पदार्थसमूहको अचित् कहकर स्वीकार करते हैं, किंतु विशुद्धाद्वैतवाद इन दोनों पदार्थोंको भी भगवत्तत्त्वके साथ अभेद कहकर ही मानता है । अन्तमें परमार्थसारका एक श्लोक उद्धृत करके इस प्रबन्धका उपसंहार करता हूँ—

व्यापिनमभिन्नमिन्दुं सर्वात्मानं विधुन्मानात्वम् ।
निरुपमपरमानन्दं यो वेद स तन्मयो भवति ॥

(परमार्थसार ८०)

पश्चिमकी एक उत्कट जिज्ञासा—भगवत्साक्षात्कार

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

इस बार यूरोपकी यात्राका एक मुख्य उद्देश्य था। जर्मनीकी कई धार्मिक संस्थाओंने सम्मिलित निमन्त्रण भेजा था कि मैं उनके बीच भगवत्तत्त्व, भगवत्स्वरूप तथा भगवत्साक्षात्कारके बारेमें कुछ कहूँ। वहाँ इस प्रसङ्गमें कई गोष्ठियाँ तथा प्रवचन आयोजित किये गये—मुख्यतः फ्रेंकफुर्टके पास इंगलहाइम तथा कोलनके पास बीजलमें कार्यक्रम रखे गये और इन कार्यक्रमोंमें धार्मिक शिक्षा देनेवाले अध्यापक, अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी तथा गिरजाघरोंसे सम्बद्ध व्यक्ति बड़ी संख्यामें उपस्थित हुए।

कुछ लोगोंको यह एक आश्चर्य-सा लग सकता है, पर यूरोपके अनेक देशोंमें धार्मिक शिक्षाकी विधिवत् व्यवस्था है और ईसाईमतके प्रचलित दोनों रूपों—कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंटका योग्य अध्यापकोंद्वारा अध्यापन कराया जाता है, जिनसे अपेक्षा की जाती है कि वे तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मोंका अध्ययन करायेंगे और यतः भारतमें हिन्दूधर्मके अतिरिक्त बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान तथा सिख आदि धर्मोंके अनुयायी प्रचुर मात्रामें हैं अतः यह माना जाता है कि हम लोग उन्हें धर्मके बारेमें बहुत-सी बातें बता सकेंगे। दूसरे, उनका यह भी अनुमान है कि हमारे धर्मने हमें बहुत बल प्रदान किया है, संतोषकी उपलब्धि हुई है और उसने आनन्दमय जीवनकी ओर हमें अग्रसर किया है; जब कि वे भौतिक जीवनके पंकमें फँसकर असन्तोष-मिश्रित विषादके शिकार हो रहे हैं। यही कारण है कि अनेक पश्चिमी व्यक्तियोंकी दृष्टि भारतकी ओर है कि वे भी सुख, शान्ति, संतोष एवं आनन्दका कुछ अंश प्राप्त कर सकें।

सामान्य रूपसे भारतकी निर्गुण तथा सगुण भक्तिका तो उन्हें उतना ज्ञान नहीं है; पर सगुण भक्तिके भगवान् श्रीकृष्णके पुण्यस्वरूपसे वे बहुत आकृष्ट हुए हैं और 'हरे कृष्ण' जैसे धार्मिक आन्दोलन प्रचलित किये हैं। इस्कौनके जन्मदाता प्रभुपाद ए०सी० भक्तिवेदान्त स्वामीने इस ओर अधिक काम किया और न केवल नवद्वीप तथा वृन्दावनमें ही वरन् विदेशके अनेक देशोंमें इनके अनुयायी कीर्तन-पूजन करते देखे जा सकते हैं। इंगलैंडके लंदनमें दो विशाल मन्दिर हैं जहाँके देव-दर्शनोंका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। अमेरिकाके न्यूयार्क, शिकागो, लास एन्जेलेस आदि नगरोंमें भव्य झाँकियाँ मिलती हैं तथा नगरोंके चौराहोंपर संकीर्तन करती, वैष्णव-वेषभूषायुक्त विदेशी मण्डलियाँ देखी जा सकती हैं—मैंने अमेरिकाके अनेक नगरोंमें उत्साहसे परिपूर्ण कीर्तन करती हुई ऐसी कीर्तन-मण्डलियाँ देखी हैं। आरतीके समय तो उनकी उन्मत्तता और भी अधिक हो जाती है तथा स्त्री-पुरुष-बालक वाद्ययन्त्रोंके साथ कीर्तन करते हुए उछल-उछलकर नृत्य भी करते हैं। मुझे स्मरण आ रहा है लंदनके उस जुलूसका जो रथयात्राके अवसरपर निकाला गया था और भगवान्‌की सवारी मन्दिरसे यात्रा करती हुई प्रसिद्ध स्थल ट्रैफलगर स्क्वायर पधारी थी जहाँ दिनभर भगवान्‌के दर्शन होते रहे; भक्त भगवान्‌का कीर्तन करते रहे तथा दर्शनार्थी दर्शनोंके साथ विशुद्ध भारतीय प्रसाद—पूड़ी, हलवा, आलू-छोलेका—प्राप्त करते रहे। प्रसाद पानेवाले व्यक्तियोंकी संख्या हजारोंमें रही होगी। इन पंक्तियोंका लेखक भी उस शोभायात्रामें शामिल हुआ था तथा इसने भी प्रसाद प्राप्त किया था। वहाँ पूजाकी पद्धति भी बड़ी विस्तृत तथा विधियुक्त है जो कृष्णके किसी भी विदेशी मन्दिरमें देखी जा सकती है। वृन्दावनमें जब कृष्ण-बलराम-मन्दिरकी सायंकालीन आरती होती है तब उस आरतीका दर्शन एक विशेष आकर्षक

होता है और अनेक लोग शामिल होते हैं तथा नृत्ययुक्त कीर्तन एवं पूजनका आनन्द लेते हैं।

पर मेरा निमन्त्रण कुछ सैद्धान्तिक पक्षोंका प्रतिपादन-हेतु था जिसमें विविध ग्रन्थोंके आधारपर भगवत्तत्त्व, सगुण-निर्गुणका स्वरूप-विवेचन, नाम-जप, उपासनाके रूप, तत्त्वकी व्यापकता, स्वरूपका निर्णय एवं साक्षात्कार आदि शामिल थे। उनकी जिज्ञासाका स्वरूप उनकी प्रश्नावलीसे मिलता है, जिसका सामान्य विधिसे सार्वजनिक श्रोताको ध्यानमें रखते हुए उत्तर दिया गया था। कुछ प्रश्न उनके उत्तरोंसहित नीचे दिये जा रहे हैं—

प्रश्न—१—भगवान्‌के अस्तित्वके प्रति हिन्दुओंका क्या दृष्टिकोण है? व्यक्ति, प्रकृति एवं भगवान्‌का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? भगवान्‌का स्वरूप क्या है? भगवान्‌तक पहुँचनेके क्या साधन हैं?

उत्तर—हिन्दू भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास रखते हैं—वे ब्रह्मको सर्वव्यापी मानते हैं तथा सम्पूर्ण विश्वमें उसीका प्रसार देखते हैं। व्यक्ति और वाह्य प्रकृति सभी उसीका प्रसार, उसीके रूपका विस्तार है—एक प्रकारसे सब कुछ वही है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमारे ऋषि-मुनियोंने बहुत प्रयास किया है और विविध उपनिषद् तथा दर्शन इसका विश्लेषण करते हैं। भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करना शब्दोंमें सम्भव नहीं, किंतु निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंकी उपासना हिन्दुओंने स्वीकार की तथा उनका विस्तार किया। अनेक लोग अवतारोंको भी भगवान्‌का स्वरूप मानते हैं, पर अधिक लोग उसके स्वरूपको अगम, अगोचर, वर्णनातीत ही बताते हैं। उनतक पहुँचनेके साधनोंपर बड़े विस्तारसे विचार किया गया है—ज्ञान, कर्म, उपासना-जैसी अनेक विधियाँ हैं; और उनके भी अनेक रूप हैं। मुक्तिके भी कई रूप हैं जैसे—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। जीवका चरम उद्देश्य उसमें ही लय हो जाना है और यह शायद सायुज्य मुक्तिके द्वारा प्राप्त हो। भगवान् तक पहुँचना एक अति कठिन कार्य है और कठोर साधना तथा अनेक जन्मोंकी सिद्धिपर आधारित है। (ईसाई लोग अनेक जन्मोंमें विश्वास नहीं रखते अतः जब उन्हें **'अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** की बात कही जाती है तो वे चौकन्ने हो जाते हैं और यह बात उन्हें जमती नहीं मालूम होती है)।

प्रश्न—२—व्यक्तिका सृष्टिमें क्या महत्त्व है? आत्माकी अनेक योनियोंमें जानेसे क्या अभिप्राय है? यह कैसे होता है? क्या धार्मिक शिक्षाके द्वारा मानवका उत्थान सम्भव है? इस भौतिक संसारमें आध्यात्मिक जीवकी क्या वास्तविकता है? अनेक पीढ़ियोंसे हमें अनुभव तथा ज्ञानकी प्राप्ति किस प्रकार होती है?

उत्तर—हमारे यहाँ सभी जीवधारी समान हैं; क्योंकि उन सभीमें उसी चेतन-तत्त्वका आभास है। ईसाईमतवाले मानवको सृष्टिकी उत्तम कृति मानते हैं और पशुपक्षीको निम्न कोटिका। किंतु हमारे अनुसार मानवका ही नहीं, जीवमात्रका सृष्टिमें महत्त्व है तथा सभी उस उद्देश्यकी पूर्तिमें लग सकते हैं जो जीवका धर्म है। हमलोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं और एक योनिसे दूसरी योनिमें जानेकी एक प्रक्रिया है। 'मरना' हमारे यहाँ कोई दुःखका विषय नहीं; क्योंकि वह तो जीर्ण शरीरको एक नवीन शरीर प्राप्त करनेकी क्रिया है। यही कारण है कि हमार जीवनमें सिद्धान्ततः अवसाद और खेदके लिये स्थान नहीं है। एक योनिसे दूसरी योनिमें जाना तो सिद्ध है, पर यह क्रिया किस प्रकार सम्पादित होती है—इसे जानना एक कठिन विषय है। और, अनेक पुराणोंमें इसपर विचार किया गया है। धार्मिक शिक्षा मानवके उत्थानमें अवश्य सहायक होगी; क्योंकि हम

वृत्तियोंके सुधार-परिष्कारमें विश्वास रखते हैं, जिन्हें धार्मिक शिक्षा बलप्रदान करती है। पर दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँ विधिवत् धार्मिक शिक्षा स्कूल-कालेजोंमें नहीं दी जाती। यह ठीक है कि आजके भौतिक जीवनमें आध्यात्मिक जीवन अटपटा-सा लगता है, पर हमारे यहाँ दोनों ही प्रकार अपना स्थान रखते हैं और हम आध्यात्मिक जीवनको मानवके लिये आवश्यक समझते हैं। हमारी आश्रम-व्यवस्थामें भी इसके लिये स्थान रखा गया था और मानवका वास्तविक उत्थान तथा जीवनकी परम उपलब्धि—आध्यात्मिक जीवनके बिना सम्भव नहीं—इसीमें भगवत्तत्त्वका निरूपण भी शामिल है।

प्रश्न—३—वर्णव्यवस्थाके अर्थ, उद्गम तथा व्यावहारिकतापर प्रकाश डालें।

उत्तर—वर्णाश्रम-व्यवस्था हिन्दू धर्मका अंग है। आश्रममें व्यक्ति-विशेषकी जीवितावस्थाका विवरण है तथा वर्ण-व्यवस्था समाजकी क्रिया-प्रणालीको व्यवस्थित करनेकी कला है। आश्रमोंद्वारा जीवनको परिपूर्ण बनाया जाता है और वर्णोंद्वारा समाजको पूर्णता प्रदान की जाती है। 'वर्ण' के रंग, रूप, श्रेणी आदि अनेक अर्थ हैं, इसका उद्गम अति प्राचीन है; क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णोंका विवरण-व्यवस्था अति प्राचीन कालसे उपलब्ध है। 'वर्ण'का आरम्भ कैसे हुआ? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ इसे जन्मजात बताते हैं, कुछ इसे ब्रह्मके विविध अंगोंका प्रतिनिधित्व करते मानते हैं और कुछ इसे कर्मानुरूप मानते हैं। वर्ण अथवा जातिकी वर्तमान अवस्था अपनी प्राचीन परम्परा खोती जा रही है; पर इसमें संदेह नहीं कि वर्णव्यवस्थासे सामाजिक जीवनको व्यवस्था प्राप्त हुई थी और समाजका क्रिया-कलाप ठीक चलता था।

प्रश्न—४—क्या भगवान्का साक्षात्कार किया जा सकता है? किस क्रियासे यह उपलब्धि हो सकती है? भारतमें भगवान्को जाननेवाले व्यक्ति क्या हमें भगवान्का दर्शन करा सकते हैं?

उत्तर—भगवत्साक्षात्कार भारतीय आध्यात्मिकताका मुख्य ध्येय रहा है, पर यह किसी व्यक्तिका दर्शन नहीं हो सकता; इस दर्शनमें कोई रूप सामने नहीं आता; क्योंकि भगवान्का कोई निर्धारित रूप नहीं है। वे तो सर्वत्र व्याप्त हैं—हममें और आपमें भी हैं; जब उनका रूप नहीं तो दर्शन कैसे सम्भव होगा। हाँ, उनका अनुभव, मानसिक आभास और सूक्ष्म साक्षात्कार सम्भव है, पर उनका वर्णन नहीं किया जा सकता; वे तो वर्णनसे परे हैं—जिनके रूप-रंग नहीं उनका वर्णन कैसा। वे तो अनुभवगम्य हैं जो अनेक जन्मोंकी साधनासे प्राप्त होते हैं। उनका दर्शन कोई भी व्यक्ति किसीको कैसे करा सकता है—चाहे वह अपनेको भगवान् कहे अथवा कितना ही पहुँचा हुआ महापुरुष। भगवत्साक्षात्कार व्यक्तिका अपना अनुभव हो सकता है और इसके लिये निश्चय ही कठिन साधना अपेक्षित है। यह कार्य इतना आसान या इसी जीवनमें सम्पन्न होनेवाला नहीं है—बहुत ही दुष्कर कार्य है और इसके लिये अच्छे गुरुके सान्निध्यमें गहन-साधना अपेक्षित है।

पश्चिमका धार्मिक समाज हमारे धर्मसे प्रेरणा प्राप्त करना चाहता है। इसमें संदेह नहीं कि हमारे ऋषि-मुनियों, पवित्र ग्रन्थों, धार्मिक मान्यताओं एवं आध्यात्मिक विचारकोंने जिस स्वस्थ परम्पराका निर्माण किया उसमें पश्चिमके लोगोंकी बहुत रुचि है और वे यथा-सम्भव उस भगवत्तत्त्वको भी जानना चाहते हैं जिसमें भगवान्के स्वरूप एवं उनका साक्षात्कार सम्मिलित है।

ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्यका गार्गीको भगवत्तत्त्वका उपदेश

एक समय प्रसिद्ध विदेहराज जनकने बहुदक्षिण नामक बड़ा यज्ञ किया। यज्ञमें कुरु और पाञ्चाल आदि देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए। जनक राजाने ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी। अन्तमें 'इन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता कौन है'—यह जाननेकी इच्छासे जनकने अपनी गोशालामेंसे एक हजार गायें निकालकर प्रत्येक गायके दोनों सींगोंमें दस-दस सोनेकी मुहरें बाँध दीं और ब्राह्मणोंसे कहा कि—'हे पूजनीय ब्राह्मणो! आप लोगोंमें जो वेदोंके पूर्ण पण्डित हों, वे इन गायोंको अपने घर ले जायँ।' परन्तु किसी भी ब्राह्मणका उन्हें ले जानेका साहस नहीं हुआ। अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य ब्रह्मचारीसे कहा कि—'हे प्रियदर्शन! हे सामश्रवः! (सामवेदके अध्ययन करनेवाले!) इन गायोंको अपने घर ले चल।' गुरुके इन वचनोंको सुनकर शिष्य उन गौओंको हाँककर गुरुके घरकी ओर ले जाने लगा। यह देखकर सभामें बैठे हुए ब्राह्मणोंको इस बातपर बड़ा क्रोध हुआ कि हमलोगोंके सामने 'मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ'—ऐसा याज्ञवल्क्य कैसे कह सकता है?

महाराज जनकके होता ऋत्विक् अश्वलने आगे बढ़कर याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम्हीं हम सबमें ब्रह्मिष्ठ हो?' यद्यपि ये शब्द अपमान-जनक थे, परन्तु इस उद्धतपनसे कुछ भी विकारको न प्राप्त होकर याज्ञवल्क्यने नम्रताके साथ उत्तर दिया—

'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्मः।'

'भाई! ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं। हमें तो गौओंकी चाह है। इसीलिये हमने गौएँ ली हैं।'

ब्रह्मनिष्ठाभिमानी अश्वल याज्ञवल्क्यको नीचा दिखानेके लिये उनसे एकके बाद एक बड़े-बड़े जटिल प्रश्न पूछने लगा। याज्ञवल्क्य सबका उत्तर तुरंत ही देते गये। इसके बाद ऋतभागपुत्र आर्तभाग, लह्यपुत्र भुज्यु, चक्रपुत्र उषस्त, कुषीतकपुत्र कहोल, वचक्नुपुत्री गार्गी और अरुणपुत्र उद्दालकने कई गम्भीर प्रश्न किये और याज्ञवल्क्यसे तुरन्त उनका उत्तर पाया। सब ब्राह्मण थक गये, तब अन्तमें गार्गीने आगे बढ़कर सब ब्राह्मणोंसे कहा—'हे पूज्य ब्राह्मणो! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न फिर करना चाहती हूँ। यदि उन दो प्रश्नोंका उत्तर यह दे सका तो फिर मैं यह मान लूँगी कि आपमेंसे कोई भी इस ब्रह्मवादीको नहीं जीत सकेंगे।' ब्राह्मणोंने कहा, 'गार्गि! पूछ।'

गार्गीने गम्भीर स्वरसे कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जैसे वीरपुत्र विदेहराज या काशिराज उतारी हुई डोरीके धनुषपर फिरसे डोरी चढ़ाकर शत्रुको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो बाणोंको हाथमें लेकर शत्रुके सामने खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्नोंको लेकर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुम यदि ब्रह्मवेत्ता हो तो इन प्रश्नोंका मुझे उत्तर दो।' याज्ञवल्क्यने कहा—'गार्गि! पूछ।'

गार्गी बोली—'हे याज्ञवल्क्य! जो ब्रह्माण्डसे ऊपर है, जो ब्रह्माण्डसे नीचे है और जो इस स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है, जैसा कि शास्त्र जाननेवाले लोग कहते हैं, वह 'सूत्रात्मा' (जगद्रूप सूत्र) किसमें ओतप्रोत है?'

याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि! जो स्वर्गसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है, जिसे शास्त्रवेत्ता अद्वय कहते हैं वह व्याकृत (विकृतिको प्राप्त कार्यरूप स्थूल) जगद्रूप सूत्र अन्तर्यामिरूप आकाशमें ओत-प्रोत है।'

इस उत्तरको सुनकर गार्गीने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! तुमने मेरे इस प्रश्नका ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया, इसके

लिये तुम्हें नमस्कार है । अब दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाओ ।'

याज्ञवल्क्यने सरलतासे कहा, 'गार्गि ! पूछ ।'

गार्गीने एक बार उसी प्रश्नोत्तरको फिरसे दोहराकर याज्ञवल्क्यसे कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! तुम कहते हो व्याकृत जगद्रूप सूत्रात्मा तीनों कालोंमें सर्वदा अन्तर्यामिरूप आकाशमें ओतप्रोत है तो वह आकाश किसमें ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि ! अन्तर्यामिरूप अव्याकृतका अधिष्ठान यही वह अक्षर है, इस अविनाशी शुद्ध ब्रह्मका वर्णन ब्रह्मवेत्तालोग इस प्रकार करते हैं—यह स्थूलसे भिन्न, सूक्ष्मसे भिन्न, ह्रस्वसे भिन्न, दीर्घसे भिन्न, लोहितसे भिन्न, स्नेहसे (चिकनाहटसे) भिन्न, प्रकाशसे भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न, आकाशसे भिन्न, संगरहित, रसरहित, गन्धरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिणामरहित, छिद्ररहित और देश, काल, वस्तु आदि परिच्छेदसे रहित सर्वव्यापी एवं अपरिच्छिन्न है; वह कुछ भी खाता नहीं और उसे भी कोई खाता नहीं, इस प्रकार वह सब विशेषणोंसे रहित एक ही अद्वितीय है ।'

इस प्रकार समस्त विशेषणोंका ब्रह्ममें निषेध करके अब उसका नियन्तापन बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'हे गार्गि ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें यह सूर्य और चन्द्रमा नियमितरूपसे वर्तते हैं । हे गार्गि ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे ही स्वर्ग और पृथिवी हाथमें रखे हुए पाषाणकी तरह मर्यादामें रहते हैं । हे गार्गि ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें रहकर ही निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर इस कालके अवयवोंकी गणना करनेवाले सेवककी तरह नियमितरूपसे आते-जाते हैं । हे गार्गि ! इस प्रसिद्ध अक्षरके शासनमें रहकर ही पूर्ववाहिनी गङ्गा आदि नदियाँ श्वेत हिमालय आदि पहाड़ोंसे निकलकर समुद्रकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी सिन्धु आदि और अन्यान्य दिशाओंकी ओर बहती हुई दूसरी नदियाँ इसी अक्षरके नियन्त्रणमें आजतक वैसे ही बहती हैं । हे गार्गि ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे मनुष्य दाताओंकी प्रशंसा करते हैं और इन्द्रादि देवगण, यजमान और पितृगण दर्वीके अनुगत हैं अर्थात् देवता यजमानद्वारा किये हुए यज्ञसे और पितृगण उनके लिये किये जानेवाले होममें घी डालनेकी चमचीसे यानी उस होमसे पुष्ट होते हैं ।'

इसके बाद याज्ञवल्क्य फिर बोले—

'हे गार्गि ! इस अक्षरको बिना जाने यदि कोई पुरुष इस लोकमें हजारों वर्षोंतक देवताओंको उद्देश्य करके यज्ञ करता है, व्रतादि तप करता है तो उस कर्मका फल अन्तवाला होता है; अर्थात् फल देकर वह कर्म नष्ट हो जाता है—वह अक्षय परम कल्याणको प्राप्त नहीं होता ।

हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षरको नहीं जानकर (भगवत्प्राप्ति होनेसे पूर्व ही) इस लोकसे मृत्युको प्राप्त होता है, वह (बेचारा) कृपण (दीन, दयाके योग्य) है और हे गार्गि ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकमें मरणको प्राप्त होता है वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्) मुक्त हो जाता है ।'

अब याज्ञवल्क्य ब्रह्मका उपाधिरहित स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—'हे गार्गि ! यह प्रसिद्ध अक्षर किसीको नहीं दीखता, पर यह सबको देखता है । इसकी आवाज कानोंसे कोई नहीं सुन सकता, परंतु यह सबकी सुनता है । यह किसीकी धारणामें नहीं आता, परंतु यही सबका मन्ता है । कोई इसे बुद्धिसे नहीं जान सकता, परंतु यही सबका विज्ञाता (जाननेवाला) है । इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता

नहीं है। हे गार्गि ! वह अव्याकृत आकाश इसी प्रसिद्ध अक्षर अविनाशी ब्रह्ममें ही ओतप्रोत है।'

महर्षि याज्ञवल्क्यके इस विलक्षण व्याख्यानको सुनकर गार्गी सन्तुष्ट हो गयी और प्रमुदित होकर ब्राह्मणोंसे कहने लगी कि—'हे पूज्य ब्राह्मणो ! याज्ञवल्क्यको नमस्कार करो। ब्रह्मसम्बन्धी विवादमें इनको कोई भी नहीं हरा सकता। इनकी पराजय मनकी कल्पनामें भी नहीं आ सकती।' इतना कहकर गार्गी चुप हो गयी।

इसके बाद शकलके पुत्र शाकल्य या विदग्धने याज्ञवल्क्यसे कई इधर-उधरके प्रश्न किये। अन्तमें याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि 'अब मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ; तू यदि उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जायगा। शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक धड़से अलग हो गया। याज्ञवल्क्यके ज्ञान और तेजको देखकर सारी सभा चकित हो गयी। तदनन्तर याज्ञवल्क्यने फिर ब्राह्मणोंसे कहा—'तुमलोगोंमेंसे कोई एक या सब मिलकर मुझसे कुछ पूछना हो तो पूछो; परन्तु किसीने कुछ भी नहीं पूछा। चारों ओर याज्ञवल्क्यकी जयध्वनि होने लगी। विज्ञानानन्दसे याज्ञवल्क्य और गार्गीका चेहरा चमक रहा था।

इसी ब्रह्मको यथार्थरूपसे जाननेकी चेष्टा करना और अन्तमें जान लेना मनुष्य-जन्मकी सफलताका एकमात्र प्रमाण है। (बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)

ब्रह्म क्या है ?

गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न बलाकाके पुत्र बालाकि नामके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे, परंतु सदा विचरण करनेके कारण कभी मत्स्य देशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिलामें उपस्थित रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य (बालाकि) एक दिन काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन् ! आज मैं तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' इसपर राजा अजातशत्रुने कहा—'आपकी इस बातपर हमने आपको एक सहस्र गौएँ दीं। आज आपने हमारा गौरव राजा जनकके समान कर दिया; अतः आप इन्हें स्वीकार करके हमें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश शीघ्र करें।'

इसपर गार्ग्य बालाकिने कहा 'राजन् ! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् शुक्लाम्बरधारी तथा सर्वोच्चस्थितिमें स्थित सबका मस्तक है। मैं इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ। इस प्रकार उपासना करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य भी सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित हो जाता है।'

तब गार्ग्य बालाकि पुनः बोले—'यह जो चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, मैं इसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इस विषयमें भी आप संवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। इसकी इस प्रकार उपासना करनेवाला व्यक्ति मुझ-जैसा ही अन्नराशिसे सम्पन्न हो जाता है।'

अब वे गार्ग्य बोले—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने इसपर भी कहा कि 'नहीं, इस

अश्विनीकुमारोंने कहा—'भगवन् ! आप किञ्चित् भी भय न करें । हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्यासे वञ्चित होना पड़ेगा । हम पृथक्-पृथक् हुए अङ्गोंको जोड़कर जीवित करनेकी विद्या जानते हैं । पहले इस घोड़ेका सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़ेको दे देते हैं । आप घोड़ेके सिरसे हमें ब्रह्म-विद्याका उपदेश कीजिये । फिर जब इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देंगे तब हम पुनः उसका सिर उतारकर आपके धड़से जोड़ देंगे और इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेके धड़से जोड़ देंगे । न घोड़ा ही मरेगा और न आपको ही कुछ होगा । दध्यङ् ऋषिने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हें भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो इन्द्रने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से जोड़ा हुआ घोड़ेका सिर काट डाला । पश्चात् अश्विनीकुमारोंने सञ्जीवनी विद्याके प्रभावसे घोड़ेके धड़से जुड़ा हुआ ऋषिका सिर उतारकर उनके धड़से जोड़ दिया और घोड़ेके धड़पर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड़ दिया । इस प्रकार दोनों जीवित हो गये । ब्रह्मविद्या-(भगवत्तत्त्व-) का ज्ञान प्राप्तकर अश्विनीकुमारोंने इन्द्रद्वारा उपस्थापित अनिष्टको दूर कर दिया । अश्विनीकुमार ब्रह्मविद्या किंवा भगवत्तत्त्वके ज्ञाता हो गये और उनकी कटे अङ्गोंको जोड़नेकी कला प्रसिद्ध हो गयी । ब्रह्मविद्या या भगवत्तत्त्वके ज्ञाता अश्विनीकुमार आज भी वन्दनीय हैं और देवताओं-के वैद्यरूपमें स्तुत्य हैं ।

तत्त्वज्ञानके श्रवणका अधिकारी

महर्षि व्यास एक बार मिथिला पधारे और नियमित रूपसे प्रतिदिन भगवत्तत्त्वका उपदेश करने लगे । उनके साथके अनेक विरक्त शिष्य तथा मुनिगण तो श्रोता थे ही, महाराज जनक भी प्रतिदिन उनका उपदेश सुनने आते थे । महर्षि प्रायः तबतक प्रवचन प्रारम्भ नहीं करते थे, जबतक महाराज जनक न आ जाते । इससे श्रोताओंके मनमें अनेक प्रकारके संदेह उठने लगे । वे संकोचके कारण कुछ कहते तो नहीं थे, किंतु मनमें सोचते रहते कि 'महर्षि शरीरकी तथा संसारकी अनित्यताका प्रतिपादन करते हैं, माना-पमानको हेय बतलाते हैं, किंतु विरक्तों, ब्राह्मणों तथा मुनियोंके रहते हुए भी राजाके आये बिना तत्त्वोपदेश प्रारम्भ नहीं करते ।'

भगवान् व्यासजीने अपने श्रोताओंका मनोभाव लक्षित कर लिया । प्रवचन प्रारम्भ होनेके पश्चात् उन्होंने अपनी योगशक्तिसे एक लीला रची । एक दिन आश्रमसे एक ब्रह्मचारी दौड़ा आया और उसने समाचार दिया—'वनमें अग्नि लगी है, आश्रमकी ओर लपटें बढ़ रही हैं ।'

समाचार मिलते ही श्रोतागण घबराकर उठ पड़े और अपनी-अपनी कुटियोंकी ओर दौड़े । अपने कमण्डलु, वल्कल तथा नीवार आदि अपनी सभी वस्तुओंको सुरक्षित रखकर जब वे पुनः प्रवचन स्थानपर आकर बैठ गये; उसी समय एक राजसेवकने आकर समाचार दिया—'मिथिला नगरमें भी अग्नि प्रवेश कर गयी है ।'

महाराज जनकने सेवककी बातपर ध्यान ही नहीं दिया । इतनेमें दूसरा सेवक दौड़ा आया—'अग्नि राज-महलके बाहरतक जा पहुँची है ।' दो क्षण नहीं बीते कि तीसरा सेवक समाचार लेकर आया 'अग्नि अन्तःपुर-तक पहुँच गयी ।' भगवान् व्यासने राजा जनककी ओर देखा । महाराज जनक बोले—मिथिलानगर, राजभवन, अन्तःपुर या इस शरीरके ही जल जानेसे मेरा तो कुछ जलता नहीं—**'अनन्तं बत मे वित्तं यस्य नैवास्ति कुत्रचित् । मिथिलायां प्रदिग्धायां न मे दह्यति किंचन ॥'** आप कृपया प्रवचन जारी रक्खें । अग्नि सच्ची तो थी नहीं; किंतु तत्त्वज्ञानके श्रवणका सच्चा अधिकारी कौन है ! इस प्रसङ्गसे यह बात श्रोताओंकी समझमें आ गयी ।

वह तुम ही हो

अरुणके पुत्र उद्दालकका एक लड़का श्वेतकेतु था। उससे एक दिन पिताने कहा, 'श्वेतकेतो! तू गुरुकुलमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन कर; क्योंकि हमारे कुलमें कोई भी पुरुष स्वाध्यायरहित ब्रह्मबन्धु नहीं हुआ।' तदनन्तर श्वेतकेतु गुरुकुलमें उपनयन कराकर बारह वर्षोंतक विद्याध्ययन करता रहा। जब वह अध्ययन समाप्तकर घर लौटा तो उसे अपनी विद्याका अहंकार हो गया। पिताने उसकी यह दशा देखकर पूछा—'सौम्य! तुम्हें जो अपने पाण्डित्यका इतना अभिमान हो रहा है तो क्या तुम्हें उस तत्त्वका ज्ञान है, जिसके जान लेनेपर सारी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, जिस एकके सुन लेनेसे सारी सुननेयोग्य वस्तुओंका श्रवण तथा जिसे विचार लेनेपर सभी विचारणीय वस्तुओंका विचार हो जाता है?'

श्वेतकेतुने कहा—'मैं तो ऐसी किसी भी वस्तु या तत्त्वका ज्ञान नहीं रखता। ऐसा ज्ञान हो भी कैसे सकता है?'

पिताने कहा—'जिस प्रकार एक मृत्तिकाके जान लेनेपर घट, शरावादि सम्पूर्ण मिट्टीके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, अथवा जिस प्रकार एक सुवर्णको जान लेनेपर कटक (कड़े), मुकुट, कुण्डल, पात्रादि एवं सभी सुवर्णके पदार्थ जान लिये जाते हैं अथवा एक लोहेके नखछेदनीसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि तत्त्व तो केवल लोहा है, टाँकी, कुदाल, नखछेदनी, तलवार आदि वाणीके विकारमात्र हैं।' वैसे ही परतत्त्वको जान लेनेपर सारी वस्तुओंका ज्ञान निश्चितरूपसे हो जाता है।

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! पूज्य गुरुदेवने मुझे इस प्रकारकी कोई शिक्षा नहीं दी। अब आप ही कृपा करके उस तत्त्वका मुझे उपदेश करें, जिससे सबका ज्ञान हो जाय। सचमुच मेरा ज्ञान अत्यन्त अल्प तथा नगण्य है।'

इसपर पिताने कहा—'आरम्भमें एकमात्र अद्वितीय सत् तत्त्व ही विराजमान था। उसने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने स्वयमेव तेज (अग्नि) तत्त्व उत्पन्न किया। तेजसे जल, जलसे अन्न और पुनः सब अन्य पदार्थ उत्पन्न किये। कहीं भी जो लाल रंगकी वस्तु है, वह अग्निका अंश है। इसी प्रकार शुक्ल वस्तु जलका अंश है तथा कृष्ण वस्तु अन्नका अंश। अतएव इस विश्वमें अग्नि, जल और अन्न ही मुख्य तत्त्व हैं। इन तीनोंके ज्ञानसे विश्वकी सारी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और इन समस्तोंके भी मूल 'सत्तत्त्व' के जान लेनेपर पुनः कुछ भी ज्ञेय अवशिष्ट नहीं रह जाता।

श्वेतकेतुके आग्रहपर आरुणिने पुनः इस तत्त्वका दही, मधु, नदी एवं वृक्षादिके उदाहरणोंसे बोध कराया और बतलाया कि 'सत्-तत्त्व'से उत्पन्न होनेके कारण ये सब तत्त्व सत् आत्मतत्त्व ही हैं और वह आत्मा तुम ही हो। इस प्रकार श्वेतकेतुने सच्चा ज्ञान प्राप्त किया कि एक परमात्मतत्त्वके जान लेने, चिन्तन एवं आराधन-पूजन करनेसे सबकी जानकारी और आराधना हो जाती है।

—जा० श० (छान्दोग्य०)

देवताओंका अभिमान और परमेश्वर-तत्त्व

एक बार भीषण देवासुर-संग्राम हुआ। उसमें भगवान्‌की कृपासे देवताओंको विजय मिली। परमेश्वर तथा शास्त्रकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले असुर हार गये। यद्यपि देवताओंकी इस महान् विजयमें एकमात्र प्रभुकी कृपा एवं इच्छा ही कारण थी, तथापि देवता इसे समझ न पाये। उन्होंने सोचा—'यह विजय हमारी है और यह सौभाग्य-सुयश केवल हमारे ही पराक्रमका परिणाम है।' भगवान्‌को देवताओंके इस अभिप्रायको समझते देर न लगी। वे उनके सम्पूर्ण दुर्गुणोंकी खान इस अहंकारको दूर करनेके लिये एक अद्भुत यक्षके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए।

देवता उनके इस अद्भुत रूपको कुछ समझ न सके और बड़े विस्मयमें पड़ गये। उन्होंने सर्वज्ञकल्प अग्निको उनका पता लगानेके लिये भेजा। अग्निके वहाँ पहुँचनेपर यक्षरूप भगवान्‌ने उनसे प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं?' अग्निने कहा—'तुम मुझे नहीं जानते? मैं इस विश्वमें 'अग्नि' नामसे प्रसिद्ध जातवेदा हूँ।' यक्षरूप भगवान्‌ने पूछा—'ऐसे प्रसिद्ध गुण-सम्पन्न आपमें क्या शक्ति है?' अग्नि बोले—'मैं इस चराचर जगत्‌को जलाकर भस्म कर सकता हूँ।' इसपर यक्ष (भगवान्)ने उनके सामने एक तृण रख दिया और कहा—'कृपाकर इसे जलाइये।' अग्निने बड़ी चेष्टा की, क्रोधसे स्वयं पैरसे चोटीतक प्रज्वलित हो उठे; पर वे उस तिनकेको न जला सके। अन्तमें वे निराश तथा लज्जित होकर लौट आये और देवताओंसे बोले कि 'मुझे इस यक्षका कुछ भी पता न लगा।' तदनन्तर सबकी सम्मतिसे वायु उस यक्षके पास गये और भगवान्‌ने उनसे भी वैसे ही पूछा कि 'आप कौन हैं तथा आपमें क्या शक्ति है?' उन्होंने कहा कि 'इस सारे विश्वमें वायु नामसे प्रसिद्ध मैं मातरिश्वा हूँ और पृथ्वीके सारे पदार्थोंको उड़ा सकता हूँ।' इसपर भगवान्‌ने उसी तिनकेकी ओर इनका ध्यान आकृष्ट कर उसे उड़ानेको कहा। वायुदेवताने अपनी सारी शक्ति लगा दी, पर वे उसे टस-से-मस न कर सके और अन्तमें लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आये। देवताओंने उनसे पूछा—'पता लगा कि यह यक्ष कौन था?' वायुदेवताने सीधा-सा उत्तर दिया 'मैं तो बिलकुल न जान सका कि यह यक्ष कौन है?'

अन्तमें देवताओंने इन्द्रसे कहा—'भगवन्! आप ही पता लगायें कि यह यक्ष कौन है?' 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्र उसके पास चले तो सही, पर वह यक्ष उनके वहाँ पहुँचनेके पूर्व ही अन्तर्धान हो गया। अन्तमें इन्द्रकी दृढ भक्ति एवं जिज्ञासा देखकर साक्षात् उमा—मूर्तिमती ब्रह्मविद्या, भगवती पार्वती वहाँ आकाशमें प्रकट हुईं। इन्द्रने उनसे पूछा—'माँ! यह यक्ष कौन था?' भगवती उमाने कहा—'यक्षरूपमें प्रसिद्ध परब्रह्म परमेश्वर थे। इनकी ही कृपा एवं लीलाशक्तिसे असुर पराजित हुए हैं, आपलोग तो केवल निमित्तमात्र रहे हैं। आपलोग जो इसे अपनी विजय तथा शक्ति मान रहे हैं, वह आपका व्यामोह तथा मिथ्या अहंकारमात्र है। इसी मोहमयी विनाशिका भ्रान्तिको दूर करनेके लिये परमेश्वरने आपके सामने यक्षरूपमें प्रकट होकर कुतूहल प्रदर्शन कर आपलोगोंके गर्वको नष्ट किया है। अब आपलोग अच्छी तरह समझ लें कि इस विश्वमें जो बड़े-बड़े पराक्रमियोंका पराक्रम, बलवानोंका बल, विद्वानोंकी विद्या, तपस्वियोंका तप, तेजस्वियोंका तेज एवं ओजस्वियोंका ओज है, वह सब उसी परम लीलामय प्रभुकी लीलामयी विविध शक्तियोंका लवलेशांश है और इस विश्वके सम्पूण हलचलोंके केन्द्र एकमात्र वे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर ही हैं। प्राणीकी अपनी शक्तिका अहंकार मिथ्या भ्रममात्र है।'

उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं। उन्हें अपनी भूलपर बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने लौटकर सभी देवताओं-को सम्पूर्ण रहस्य बतलाकर सुखी किया। (केनोपनिषद्)

भगवान् श्रीरामद्वारा लक्ष्मणजीको भगवत्तत्त्वका उपदेश

अपने पिता महाराज श्रीदशरथजीकी आज्ञा पाकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ अयोध्यासे वनवासके लिये निकल पड़े। वे नाना प्रकारके तीर्थों, पर्वतों और ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें आये और उन्होंने ऋषिवरसे प्रश्न किया—'ऋषे! आप मुझे ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ रहकर मैं अपने जीवनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा कर सकूँ।' परमज्ञानस्वरूप लीलाविग्रह भगवान्‌के इस प्रश्नको सुनकर ऋषिको बड़ा संकोच हुआ। भगवान् श्रीरामने उन्हें जो सम्मान दिया, उससे वे प्रेममग्न हो गये। उन्होंने श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणके साथ अपने हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि पञ्चवटी नामक एक परम पवित्र और रमणीक स्थान है, जहाँपर गोदावरी नदी बहती है, वहींपर दण्डकवनमें आप निवास करें और सब मुनियोंपर दया करें।

दण्डकवन पहले एक प्रसिद्ध तपोवन था। वहाँ अनेक ऋषि-मुनि रहकर तपस्या किया करते थे। परंतु इधर ऋषि-शापसे वह राक्षसोंका निवासस्थान बनकर अत्यन्त भयावह हो रहा था। आनन्दके स्थानमें वहाँ आतङ्कका राज्य छाया हुआ था। वहाँके लता-वृक्षतक राक्षसोंके कुकृत्य और ऋषि, मुनि तथा ब्राह्मणोंकी दुर्दशा देखकर निरन्तर आँसू बहाया करते थे। ऋषिकी आज्ञा पाकर भगवान् दण्डक पधारे। उनके पधारते ही मानो वहाँसे भय, शोक, दुःख एकदम विलय हो गये और सर्वत्र आनन्दका राज्य छा गया। ऋषि-मुनि निर्भय हो गये। लता, वृक्ष, नदी, ताल आदितक श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणके चरणकमलोंके दर्शन कर अत्यन्त आनन्दित और शोभायमान हो गये। भगवान्‌ने गोदावरी-तटपर एक पर्णकुटी बनायी और वह उसमें श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

एक दिन भगवान् श्रीराम सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे। पासमें ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे। एक सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्तःकरणसे, दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्‌से निवेदन किया—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

सारांश यह कि हे सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्‌के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं, वह कौन-सी भक्ति है जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है, जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम इत्यादि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपके चरणरजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ।

भगवान्‌ने कहा—मैं और मेरा, तू और तेरा (का भाव) ही माया है, जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रक्खा है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंमें जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जाननी चाहिये। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। इनमें एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दुःखरूप है, जिसके वशमें होकर जीव भवकूपमें पड़ा हुआ है। दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमें समस्त गुण हैं, संसारकी रचना करती है, वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नहीं है।

हे तात ! जिस मनुष्यमें ज्ञानाभिमान बिल्कुल नहीं है, जो सबमें समानरूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियों और तीनों गुणोंको त्याग दिया, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये ।

जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है ।

वेद कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है । परंतु मैं जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोंको सुख देनेवाली है । वह भक्ति स्वतन्त्र है, वह किसी दूसरे साधनपर अवलम्बित नहीं है, ज्ञान और विज्ञान सब उसके अधीन हैं । हे तात ! भक्ति अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है, जब भगवद्भक्त या संत अनुकूल होते हैं ।

अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ जिससे प्राणी मुझे सहजमें ही पा सकें । पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये । इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा । फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी भक्ति दृढ़ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिये । जिसे संतोंके चरण-कमलोंमें अत्यधिक प्रेम हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम रखनेवाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करनेमें रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमाञ्च हो आता हो, वाणी गद्गद हो जाती हो और नेत्रोंमें आँसू गिरते हों तथा जिसके अंदर काम, मद, दम्भ न हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ । मन, वचन और कर्मसे जिनको मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ ।'

(गाड़ीवाले) रैक्व मुनिका ज्ञानतत्त्व

एक राजा बड़ा दानी था, उसका नाम था जानश्रुति । उसने इस आशयसे कि सबलोग मेरा ही अन्न खायें, सर्वत्र धर्मशालाएँ बनवा दीं और अन्न-सत्रादि खोल दिये । एक दिन रात्रिमें कुछ हंस उड़कर राजाके महलकी छतपर जा बैठे । उनमेंसे पिछले हंसने अगले-से कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है । कहीं उसका स्पर्श न कर लेना, अन्यथा वह तुम्हें भस्म कर डालेगा ।'

इसपर दूसरे (अग्रगामी) हंसने कहा—'बेचारा यह राजा तो अत्यन्त तुच्छ है । ज्ञात होता है—तुम गाड़ीवाले रैक्वको नहीं जानते । इसीलिये इसका तेज उसकी अपेक्षा अत्यल्प होनेपर भी तुम इसकी वैसी प्रशंसा कर रहे तो ।' इसपर पिछले हंसने पूछा—'भाई ! गाड़ीवाला रैक्व कैसा है ?' अगले हंसने कहा—'भाई ! उस रैक्वकी महिमाका वर्णन कैसे किया जाय । जुआरीका जब पासा पड़ता है, तब जैसे वह तीनोंको जीत लेता है, इसी प्रकार जो कुछ प्रजा शुभ कार्य करती है, वह सब रैक्वको प्राप्त हो जाता है । वास्तवमें जो तत्त्व रैक्व जानता है, उसे जो भी जान लेता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है ।'

जानश्रुति इन सारी बातोंको ध्यानसे सुन रहा था । प्रातःकाल उठते ही उसने अपने सेवकोंको बुलाकर कहा—'तुम गाड़ीवाले रैक्वके पास जाकर कहो कि राजा जानश्रुति उनसे मिलना चाहता है ।' राजाके

आज्ञानुसार सर्वत्र खोज हुई, पर रैक्वका कहीं पता न चला। राजाने विचार किया कि इन सबने रैक्वको ग्रामों तथा नगरोंमें ही ढूँढ़ा है और उनसे पुनः कहा—'अरे; जाओ, उन्हें ब्रह्मवेत्ताओंके रहनेयोग्य स्थानों (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानों) में ढूँढ़ो।' अन्तमें वे एक निर्जन-प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए मिल ही गये। राजपुरुषोंने पूछा—'प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

पता लगनेपर राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, एक रत्नजटित हार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ लेकर उनके पास गया और बोला—'भगवन्! मैं यह सब आपके लिये लाया हूँ। कृपया आप इन्हें स्वीकार कीजिये तथा जिस देवताकी उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये। राजाकी बात सुनकर मुनिने कहा—'अरे शूद्र! ये गायें, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और पुनः दूसरी बार एक सहस्र गायें, एक हार, एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! आप इन्हें स्वीकार करें और अपने उपास्य देवताका मुझे उपदेश दें।'

मुनिने कहा—'ओ शूद्र! तू फिर ये सब चीजें मेरे लिये लाया (क्या इनसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है)? राजा चुप होकर बैठ गया। तदनन्तर राजाको धनादिके अभिमानसे शून्य जानकर उन्होंने संवर्गविद्यात्मक ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया। जहाँ रैक्व मुनि रहते थे, उस पुण्य स्थलका नाम रैक्वपर्ण हो गया।—जा० श० (वेदान्तदर्शन १।३।३४-३५छान्दोग्य० उप० ४।३।१-२)

श्रीविष्णु-तत्त्व और लक्ष्मी-तत्त्व

एक बार भगवान् शंकरसे पार्वतीजीने पूछा—'देवेश्वर! आप मन्त्रोंके अर्थ और पदोंकी महिमाको विस्तारके साथ बतलाइये। साथ ही ईश्वरके स्वरूप, गुण, विभूति, श्रीविष्णुके परमधाम तथा व्यूह-भेदोंका भी यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये।'

महादेवजीने कहा—देवि! सुनो—मैं परमात्माके स्वरूप, विभूति, गुण तथा अवस्थाओंका वर्णन करता हूँ। भगवान्के हाथ, पैर और नेत्र सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं। समस्त भुवन और श्रेष्ठ धाम भगवान्में ही स्थित हैं। वे महर्षियोंका मन अपनेमें स्थिर करके विराजमान हैं। उनका स्वरूप विशाल एवं व्यापक है। वे लक्ष्मीके पति और पुरुषोत्तम हैं। उनका लावण्य करोड़ों कामदेवोंके समान है। वे नित्य तरुण किशोर-विग्रह धारण करके जगदीश्वरी भगवती लक्ष्मीजीके साथ परम व्योम परमपद—वैकुण्ठधाममें विराजते हैं। परमव्योम ऐश्वर्यका उपभोग करनेके लिये हैं और यह सम्पूर्ण जगत् लीला करनेके लिये। इस प्रकार भोगभूमि और क्रीड़ाभूमिके रूपमें श्रीविष्णुकी दो विभूतियाँ स्थित हैं। जब वे लीलाका उपसंहार करते हैं, तब भोगभूमिमें उनकी नित्य स्थिति होती है। भोग और लीला दोनोंको वे अपनी शक्तिसे ही धारण करते हैं। भोगभूमि या परमधाम त्रिपाद्विभूतिसे व्याप्त है। अर्थात् भगवद्विभूतिके तीन अंशोंमें उसकी स्थिति है और इस लोकमें जो कुछ भी है, वह भगवान्की पाद-विभूतिके अन्तर्गत है। परमात्माकी त्रिपाद्विभूति नित्य और पादविभूति अनित्य है। परमधाममें भगवान्का जो शुभ विग्रह विराजमान है, वह नित्य है। वह कभी अपनी महिमासे च्युत नहीं होता, उसे सनातन एवं दिव्य माना गया है। वह सदा तरुणावस्थासे सुशोभित रहता है। वहाँ भगवान्को भगवती श्रीदेवी और भूदेवीके साथ नित्य संभोग प्राप्त है। जगन्माता लक्ष्मी

भी नित्यरूपा हैं। वे श्रीविष्णुसे कभी पृथक् नहीं होतीं। जैसे भगवान् विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी प्रकार भगवती लक्ष्मी भी हैं। पार्वती! श्रीविष्णुपत्नी रमा सम्पूर्ण जगत्की अधीश्वरी और नित्य कल्याणमयी हैं। उनके भी हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर व्याप्त हैं। वे भगवान् नारायणकी शक्ति, सम्पूर्ण जगत्की माता और सबको आश्रय प्रदान करनेवाली हैं। स्थावर-जङ्गमरूप सारा जगत् उनके कृपा-कटाक्षपर ही निर्भर है। विश्वका पालन और संहार उनके नेत्रोंके खुलने और बंद होनेसे ही हुआ करते हैं। वे महालक्ष्मी सबकी आदिभूता, त्रिगुणमयी और परमेश्वरी हैं। व्यक्त और अव्यक्त भेदसे उनके दो रूप हैं। वे उन दोनों रूपोंसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके स्थित हैं। जल आदि रसके रूपसे वे ही लीलामय देह धारण करके प्रकट होती हैं। लक्ष्मीरूपमें आकर वे धन-सुख प्रदान करती हैं। ऐसे स्वरूपवाली लक्ष्मीदेवी श्रीहरिके आश्रयमें रहती हैं। सम्पूर्ण वेद तथा उनके द्वारा जाननेयोग्य जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब श्रीलक्ष्मीके ही स्वरूप हैं। स्त्रीरूपमें जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह सब लक्ष्मीका ही विग्रह कहलाता है। स्त्रियोंमें जो सौन्दर्य, शील, सदाचार और सौभाग्य स्थित है, वह सब लक्ष्मीका ही रूप है। पार्वती! भगवती लक्ष्मी समस्त स्त्रियोंकी शिरोमणि हैं, जिनकी कृपा-कटाक्षके पड़नेमात्रसे ब्रह्मा, शिव, देवराज इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुबेर, यमराज तथा अग्निदेव प्रचुर ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं।

उनके नाम इस प्रकार हैं—लक्ष्मी, श्री, कमला, विद्या, माता, विष्णुप्रिया, सती, पद्मालया, पद्महस्ता, पद्माक्षी, पद्मसुन्दरी, भूतेश्वरी, नित्या, सत्या, सर्वगता, शुभा, विष्णुपत्नी, महादेवी, क्षीरोदतनया (क्षीरसागरकी कन्या), रमा, अनन्तलोकनाभि (अनन्त लोकोंकी उत्पत्तिका केन्द्रस्थान), भू, लीला, सर्वसुखप्रदा, रुक्मिणी, सर्ववेदवती, सरस्वती, गौरी, शान्ति, स्वाहा, स्वधा, रति, नारायणवरारोहा (श्रीविष्णुकी सुन्दरी पत्नी) तथा विष्णोर्नित्यानुपायिनी (सदा श्रीविष्णुके समीप रहनेवाली)। जो प्रातःकाल उठकर इन सम्पूर्ण नामोंका पाठ करता है, उसे बहुत बड़ी सम्पत्ति तथा विशुद्ध धान्यकी प्राप्ति होती है—

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदोमऽऽवह॥
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥
(ऋग्वेद परि० श्रीसूक्त १, ९, पद्मपुराण २२५।२८।२९)

'जिनके श्रीअङ्गोंका रङ्ग सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर है, जो सोने-चाँदीके हारोंसे सुशोभित और सबको आह्लादित करनेवाली हैं, भगवान् श्रीविष्णुसे जिनका कभी वियोग नहीं होता, जो स्वर्णमयी कान्ति धारण करती हैं, उत्तम लक्षणोंसे विभूषित होनेके कारण जिनका नाम लक्ष्मी है, जो सब प्रकारकी सुगन्धोंका द्वार हैं, जिनको परास्त करना कठिन है, जो सदा सब अङ्गोंसे पुष्ट रहती हैं, गायके सूखे गोबरमें जिनका निवास है तथा जो समस्त प्राणियोंकी अधीश्वरी हैं, उन भगवती श्रीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ।'

ऋग्वेदमें कहे हुए इस मन्त्रके द्वारा स्तुति करनेपर महेश्वरी लक्ष्मीने शिव आदि सभी देवताओंको सब प्रकारका ऐश्वर्य और सुख प्रदान किया था। श्रीविष्णु-पत्नी लक्ष्मी सनातन देवता हैं। वे ही इस जगत्का शासन करती हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत्की स्थिति उन्हींके कृपा-कटाक्षपर निर्भर है। अग्निमें रहनेवाली प्रभाकी भाँति भगवती लक्ष्मी जिनके वक्षःस्थलमें निवास करती हैं, वे भगवान् विष्णु सबके ईश्वर, परम शोभा-सम्पन्न, अक्षर एवं अविनाशी पुरुष हैं। वे श्रीनारायण वात्सल्य गुणके समुद्र हैं। सबके स्वामी, सुशील, सुभग, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्यपूर्ण, स्वभावतः

सबके सुहृद्, सुखी, दयासुधाके सागर, समस्त देह-धारियोंके आश्रय, स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाले और भक्तोंपर दया करनेवाले हैं। उन श्रीविष्णुको नमस्कार है। मैं सम्पूर्ण देश-काल आदि अवस्थाओंमें पूर्णरूपसे भगवान्‌का दासत्व स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार स्वरूपका विचार करके सिद्धि-प्राप्त पुरुष अनायास ही दासभावको प्राप्त कर लेता है। यही पूर्वोक्त मन्त्रका अर्थ है। इसको जानकर भगवान्‌में भलीभाँति भक्ति करनी चाहिये। यह चराचर-जगत् भगवान्‌का दास ही है। श्रीनारायण इस जगत्‌के स्वामी, प्रभु, ईश्वर, भ्राता, माता, पिता, बन्धु, निवास, शरण और गति हैं। भगवान् लक्ष्मीपति कल्याणमय गुणोंसे युक्त और समस्त कामनाओंका फल प्रदान करनेवाले हैं। वे ही जगदीश्वर शास्त्रोंमें निर्गुण कहे गये हैं। 'निर्गुण' शब्दसे यही बताया गया है कि भगवान् प्रकृतिजन्य हेय गुणोंसे रहित हैं। जहाँ वेदान्तवाक्योंद्वारा प्रपञ्चका मिथ्यात्व बताया गया है और यह कहा गया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् अनित्य है, वहाँ भी ब्रह्माण्डके प्राकृत रूपको ही नश्वर बताया गया है। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले रूपोंकी ही अनित्यताका प्रतिपादन किया गया है।

महादेवि! इस कथनका तात्पर्य यह है कि लीला-विहारी देवदेव श्रीहरिकी लीलाके लिये ही प्रकृतिकी उत्पत्ति हुई है। चौदह भुवन, सात समुद्र, सात द्वीप, चार प्रकारके प्राणी तथा ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंसे भरा हुआ यह रमणीय ब्रह्माण्ड प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है। यह उत्तरोत्तर महान् दस आवरणोंसे घिरा हुआ है। कला-काष्ठा आदि भेदसे जो कालचक्र चल रहा है, उसीके द्वारा संसारकी सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्य होते हैं। एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर अव्यक्तजन्मा ब्रह्माजीका एक दिन पूरा होता है। इतने ही बड़े दिनसे उनकी आयु सौ वर्षोंकी मानी गयी है। ब्रह्माजीकी आयु समाप्त होनेपर सबका संहार हो जाता है। ब्रह्माण्डके समस्त लोक कालाग्निसे दग्ध हो जाते हैं। सर्वात्मा श्रीविष्णुकी प्रकृतिमें उनका लय हो जाता है। ब्रह्माण्ड और आवरणके समस्त भूत प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌का आधार प्रकृति है और प्रकृतिके आधार श्रीहरि। प्रकृतिके द्वारा ही भगवान् सदा जगत्‌की सृष्टि और संहार करते हैं। देवाधिदेव श्रीविष्णुने लीलाके लिये जगन्मयी मायाकी सृष्टि की है। वही अविद्या, प्रकृति, माया और महा-विद्या कहलाती है। सृष्टि, पालन और संहारका कारण भी वही है। वह सदा रहनेवाली है। योगनिद्रा और महामाया भी उसीके नाम हैं। प्रकृति सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे युक्त है। उसे अव्यक्त और प्रधान भी कहते हैं। वह लीलाविहारी श्रीकृष्णकी क्रीडास्थली है। संसारकी उत्पत्ति और प्रलय सदा उसीसे होते हैं। प्रकृतिके स्थान असंख्य हैं, जो घोर अन्धकारसे पूर्ण हैं। प्रकृतिसे ऊपरकी सीमामें विरजा नामकी नदी है, किंतु नीचेकी ओर उस सनातनी प्रकृतिकी कोई सीमा नहीं है। उसने स्थूल, सूक्ष्म आदि अवस्थाओंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रखा है। प्रकृतिके विकाससे सृष्टि और संकोचावस्थासे प्रलय होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण भूत प्रकृतिके ही अन्तर्गत हैं। यह जो महान् शून्य (आकाश) है, वह सब भी प्रकृतिके ही भीतर है। इस तरह प्राकृत-रूप ब्रह्माण्ड अथवा एक पादविभूतिके स्वरूपका अच्छी तरह वर्णन किया गया।

गिरिराजकुमारि! अब त्रिपाद्-विभूतिके स्वरूपका वर्णन सुनो। प्रकृति एवं परम व्योमके बीचमें विरजा नामकी नदी है। वह कल्याणमयी सरिता वेदाङ्गोंके

स्वेदजनित जलसे प्रवाहित होती है। उसके दूसरे पारमें परम व्योम है, जिसमें त्रिपादविभूतिमय सनातन, अमृत, शाश्वत, नित्य एवं अनन्त परमधाम है। वह शुद्ध, सत्त्वमय, दिव्य, अक्षर एवं परब्रह्मका धाम है। उसका तेज कोटि सूर्य तथा अग्नियोंके समान है। वह धाम अविनाशी, सर्ववेदमय, शुद्ध, सब प्रकारके प्रलयसे रहित, परिमाणशून्य, कभी जीर्ण न होनेवाला, नित्य जाग्रत्-स्वप्न आदि अवस्थाओंसे रहित, हिरण्यमय, मोक्षपद, ब्रह्मानन्दमय, सुखसे परिपूर्ण, न्यूनता-अधिकता तथा आदि-अन्तसे शून्य, शुभ, तेजस्वी होनेके कारण अत्यन्त अद्भुत, रमणीय, नित्य तथा आनन्दका सागर है। इसे सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निदेव नहीं प्रकाशित करते, वह अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है। जहाँ जाकर जीव फिर कभी नहीं लौटते, वही श्रीहरिका परमधाम है। श्रीविष्णुका वह परमधाम नित्य, शाश्वत एवं अच्युत है। सौ करोड़ कल्पोंमें भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं, ब्रह्मा तथा श्रेष्ठ मुनि श्रीहरिके उस पदका वर्णन नहीं कर सकते। जहाँ अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले साक्षात् परमेश्वर श्रीविष्णु विराजमान हैं, उसकी महिमाको वे स्वयं ही जानते हैं। जो अविनाशी पद है, जिसकी महिमाका वेदोंमें गूढरूपसे वर्णन है तथा जिसमें सम्पूर्ण देवता और लोक स्थित हैं उसे जो नहीं जानता, वह केवल ऋचाओंका पाठ करके क्या करेगा। जो उसे जानते हैं, वे ही ज्ञानी पुरुष समभावसे स्थित होते हैं। श्रीविष्णुके उस परमपदको ज्ञानी पुरुष सदा देखते हैं। वह अक्षर, शाश्वत, नित्य एवं सर्वत्र व्याप्त है। कल्याणकारी नामसे युक्त भगवान् विष्णुके उस परमधाम—गोलोकमें बड़े सींगोंवाली गौएँ रहती हैं तथा वहाँकी प्रजा बड़े सुखसे रहा करती है। गौओं तथा पीनेयोग्य सुखदायक पदार्थोंसे उस परम धामकी बड़ी शोभा होती है। वह सूर्यके समान प्रकाशमान, अन्धकारसे परे, ज्योतिर्मय एवं अच्युत—अविनाशी पद है। श्रीविष्णुके उस परमधामको ही मोक्ष कहते हैं। वहाँ जीव बन्धनसे मुक्त होकर अपने लिये सुखकर पदको प्राप्त होते हैं। वहाँ जानेपर जीव पुनः इस लोकमें नहीं लौटते, इसलिये उसे मोक्ष कहा गया है। मोक्ष, परमपद, अमृत, विष्णुमन्दिर, अक्षर, परमधाम, वैकुण्ठ, शाश्वतपद, नित्यधाम, परमव्योम, सर्वोत्कृष्टपद तथा सनातनपद—ये अविनाशी परमधामके पर्यायवाची शब्द हैं। (पद्मपुराण)

परम भागवत ही वैकुण्ठधामके अधिकारी

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। २५)

(श्रीब्रह्माजी कहते हैं—)'देवाधिदेव श्रीहरिका निरन्तर चिन्तन करते रहनेके कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, आपसमें प्रभुके सुयशकी चर्चा चलनेपर अनुरागजन्य विह्वलतावश जिनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगती है तथा शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है और जिनके-से शील-स्वभावकी हमलोग भी इच्छा करते हैं—वे परमभागवत ही हमारे लोकोंसे ऊपर उस वैकुण्ठधाममें जाते हैं।'

भगवद्धाम, श्रीभगवान् और उनका चतुर्व्यूह

महादेवजीने पार्वतीजीसे कहा—सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके स्तवन करनेपर भगवान् श्रीविष्णु योगनिद्रासे उठे और योगनिद्राको नियन्त्रित कर, उन्होंने एक क्षणतक कुछ विचार किया। पश्चात् उन्होंने सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की। उस समय सब लोकोंसे युक्त सुवर्णमय अण्ड, सात द्वीप, सात समुद्र और पर्वतोंसहित पृथ्वीको तथा एक अण्डकटाहको भी भगवान्ने अपने नाभिकमलसे उत्पन्न किया। तत्पश्चात् उस अण्डमें श्रीहरि स्वयं ही स्थित हुए। तदनन्तर नारायणने अपने मनसे इच्छानुसार ध्यान किया। ध्यानके अन्तमें उनके ललाटसे पसीनेकी बूँद प्रकट हुई। वह बूँद बुद्‌बुदेके आकारमें परिणत हो तत्क्षण पृथ्वीपर गिर पड़ी। पार्वति! उसी बुद्‌बुदेसे मैं उत्पन्न हूँ। उस समय रुद्राक्षकी माला और त्रिशूल हाथमें लेकर जटामय मुकुटसे अलंकृत हो मैंने विनयपूर्वक देवेश्वर श्रीविष्णुसे पूछा—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?' तब भगवान् नारायणने प्रसन्नतापूर्वक मुझसे कहा—'रुद्र! तुम संसारका संहार-कार्य करोगे।' तत्पश्चात् भगवान् जनार्दनने मुझे संहारके कार्यमें नियुक्त करके पुनः अपने नेत्रोंसे अन्धकार दूर करनेवाले चन्द्रमा और सूर्यको उत्पन्न किया। फिर कानोंसे वायु और दिशाओंको, मुखकमलसे इन्द्र और अग्निको, नासिकाके छिद्रोंसे वरुण और मित्रको, भुजाओंसे साध्य और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको, रोमकूपोंसे वन और ओषधियोंको तथा त्वचासे पर्वत, समुद्र और गाय आदि पशुओंको प्रकट किया। भगवान्के मुखसे ब्राह्मण, दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय, जाँघोंसे वैश्य तथा दोनों चरणोंसे शूद्रजातिकी उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि कर देवेश्वर श्रीकृष्णने उसे अचेतन रूपमें स्थित देख स्वयं ही विश्वरूपसे उसके भीतर प्रवेश किया। श्रीहरिकी शक्तिके बिना संसार हिलडुल नहीं सकता। इसलिये सनातन श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण जगत्के प्राण हैं। वे ही अव्यक्त रूपमें स्थित होनेपर परमात्मा कहलाते हैं। वे षड्‌विध ऐश्वर्यसे परिपूर्ण सनातन वासुदेव हैं। वे अपने तीन गुणोंसे चार स्वरूपोंमें स्थित होकर जगत्की सृष्टि करते हैं। रामावतारमें ये चार भाइयों तथा कृष्णावतारमें बलराम आदि चार रूपोंमें प्रकट होते हैं। प्रद्युम्नरूपधारी भगवान् सब ऐश्वर्योंसे युक्त हैं। वे ब्रह्मा, प्रजापति, काल तथा जीव—सबके अन्तर्यामी होकर सृष्टिका कार्य भलीभाँति सिद्ध करते हैं। महात्मा वासुदेवने उन्हें इतिहाससहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्रदान किया है। लोकपितामह ब्रह्माजी प्रद्युम्नके ही अंशभागी हैं। वे संसारकी सृष्टि और पालन भी करते हैं। भगवान् अनिरुद्ध शक्ति और तेजसे सम्पन्न हैं। वे मनुओं, राजाओं, काल तथा जीवके अन्तर्यामी होकर सबका पालन करते हैं। संकर्षण शेष, लक्ष्मण या बलराम भी महाविष्णुरूप हैं। उनमें विद्या और बल दोनों हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंके काल, रुद्र और यमके अन्तर्यामी होकर जगत्का संहार करते हैं। इस प्रकार मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्कि—ये दस भगवान् विष्णुके अवतार हैं।

पार्वति! श्रीहरिकी उस अवस्थाका वर्णन सुनो। जो परमश्रेष्ठ वैकुण्ठलोक, विष्णुलोक, श्वेतद्वीप और क्षीरसागर—ये चार व्यूह महर्षियोंद्वारा बताये गये हैं। वैकुण्ठलोक जलके घेरेमें है। वह कारणरूप और शुभ है। उसका तेज कोटि अग्नियोंके समान उद्दीप्त रहता है। वह सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त और अविनाशी है। परमधामका जैसा लक्षण बताया गया है, वैसा ही उसका भी है। नाना प्रकारके रत्नोंसे उद्भासित वैकुण्ठनगर चण्ड जय, विजय आदि द्वारपालों और कुमुद आदि दिक्पालोंसे सुरक्षित है। भाँति-भाँतिकी मणियोंसे बने हुए दिव्य गृहोंकी पङ्क्तियोंसे वह नगर घिरा हुआ है। उसकी चौड़ाई पचपन योजन तथा लंबाई एक हजार योजन

है। करोड़ों ऊँचे-ऊँचे महल उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगर तरुण अवस्थावाले दिव्य स्त्री-पुरुषोंसे सुशोभित है। वहाँकी स्त्रियाँ और पुरुष समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं। स्त्रियोंका रूप भगवती लक्ष्मीके समान होता है और पुरुषोंका भगवान् विष्णुके समान। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होते हैं तथा भक्ति-जनित मनोरम आह्लादसे सदा आनन्दमग्न रहते हैं। उनका भगवान् विष्णुके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। वे सदा उनके समान ही सुख भोगते हैं। जहाँ कहींसे भी श्रीहरिके लोकमें प्रविष्ट हुए शुद्ध अन्तःकरणवाले मानव फिर संसारमें जन्म नहीं लेते। मनीषी पुरुष भगवान् विष्णुके दास-भावको ही मोक्ष कहते हैं। उनकी दासताका नाम बन्धन नहीं है। भगवान्‌के भक्त तो सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त और रोग-शोकसे रहित होते हैं। ब्रह्मलोकतकके प्राणी पुनः संसारमें आकर जन्म लेते, कर्मोंके बन्धनमें पड़ते और दुःखी तथा भयभीत होते हैं। पार्वति! उन लोकोंमें जो फल मिलता है, वह बड़ा आयाससाध्य होता है। वहाँका सुख-भोग विषमिश्रित मधुर अन्नके समान है। जब पुण्यकर्मोंका क्षय हो जाता है, तब मनुष्योंको स्वर्गमें स्थित देख देवता कुपित हो उठते हैं और उसे संसारके कर्मबन्धनमें डाल देते हैं, इसलिये स्वर्गका सुख बड़े क्लेशसे सिद्ध होता है। वह अनित्य, कुटिल और दुःख-मिश्रित होता है, इसलिये योगी पुरुष उसका परित्याग कर दे। भगवान् विष्णु सब दुःखोंकी राशिका नाश करनेवाले हैं, अतः सदा उनका स्मरण करना चाहिये। भगवान्‌का नाम लेनेमात्रसे मनुष्य परमपदको प्राप्त होते हैं। इसलिये पार्वति! विद्वान् पुरुष सदा भगवान् विष्णुके लोकको पानेकी इच्छा करे। अतः दयाके सागर भगवान्‌की अनन्य भक्तिके साथ भजन करना चाहिये। जो परम कल्याणकारक और सुखमय अष्टाक्षर मन्त्रका जप करता है, वह सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वैकुण्ठ-धामको प्राप्त होता है।

वहाँ भगवान् श्रीहरि सहस्रों सूर्योंकी किरणोंसे सुशोभित दिव्य विमानपर विराजमान रहते हैं। उस विमानमें मणियोंके खम्भे शोभा पाते हैं। उसमें एक सुवर्णमय पीठ है, जिसे आधारशक्ति आदिने धारणकर रखा है तथा जो भाँति-भाँतिके रत्नोंका बना हुआ एवं अलौकिक है। उसमें अनेकों रंग जान पड़ते हैं। पीठपर अष्टदल कमल है, जिसपर मन्त्रोंके अक्षर और पद अङ्कित हैं। उसकी सुरम्य कर्णिकामें लक्ष्मीबीजका शुभ अक्षर अङ्कित है। उसमें कमलके आसनपर दिव्य-विग्रह भगवान् श्रीनारायण विराजमान हैं, जो अरबों-खरबों बालसूर्योंके समान कान्ति धारण करते हैं। उनके दाहिने पार्श्वमें सुवर्णके समान कान्तिमती जगन्माता श्रीलक्ष्मी विराजती हैं, जो समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और दिव्य मालाओंसे सुशोभित हैं। उनके हाथोंमें सुवर्णपात्र, मातुलुङ्ग और सुवर्णमय कमल शोभा पाते हैं। भगवान्‌के वामभागमें भूदेवी विराजमान हैं, जिनकी कान्ति नीलकमल-दलके समान श्याम है। वे नाना प्रकारके आभूषणों और विचित्र वस्त्रोंसे विभूषित हैं। उनके ऊपरके हाथोंमें दो लाल कमल हैं और नीचेके दो हाथोंमें उन्होंने दो धान्य-पात्र धारण कर रखे हैं। विमला आदि शक्तियाँ दिव्य चँवर लेकर कमलके आठों दलोंमें स्थित हो भगवान्‌की सेवा करती हैं। वे सभी समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। भगवान् श्रीहरि उन सबके बीचमें विराजते हैं। उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पाते हैं। भगवान् केयूर, अङ्गद और हार आदि दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। उनके कानोंमें उदयकालीन सूर्यके समान तेजोमय कुण्डल झिलमिला रहे हैं। पूर्वोक्त देवता उन परमेश्वरकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। इस प्रकार नित्य वैकुण्ठधाममें भगवान् सब भोगोंसे सम्पन्न हो लक्ष्मी, संकर्षण, गरुडादिके साथ नित्य विराजमान रहते हैं। वह परम रमणीय लोक अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करनेवाले सिद्ध मनीषी पुरुषों तथा श्रीविष्णु-भक्तोंको प्राप्त होता है। पार्वती! पुनः वे ही कृष्णावतारमें बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्धके रूपमें विराजित हैं। इस प्रकार मैंने तुमसे श्रीभगवान्‌के व्यूहका वर्णन किया।

(पद्मपुराण)

सभीका ईश्वर एक

(शिव तथा कृष्णकी तात्त्विक एकरूपता)

'भगवान् विट्ठलनाथने प्रसन्न होकर मुझे पुत्र दिया है। मैं आज उन्हें रत्नजटित कमरपट्टा चढ़ाने आया हूँ। पंढरपुरमें तुम्हारे सिवा उसे कोई गढ़ नहीं सकता। इसलिये उठो और भगवान्की कमरका नाप ले आओ और शीघ्र उसे तैयार कर दो।' पंढरपुरके एक साहूकारने नरहरि सुनारके पास आकर कहा।

इधर नरहरिने पंढरपुरमें रहकर भी विट्ठलनाथका दर्शन नहीं किया था। वह परम शैव था। शिवके भजन-पूजनमें सदा अनुरक्त वह भक्त वैष्णवोंके देव विट्ठलनाथसे इतना बचता कि बाहर निकलते समय सिर नीचा करके चलता। जिससे कहीं भूलसे भी विट्ठल-मन्दिरके शिखरतकका भी दर्शन न हो जाय। नरहरिने मन्दिरमें जाना स्पष्टरूपसे अस्वीकार कर दिया। विवश होकर व्यापारी स्वयं वहाँ जाकर नाप ले आया। कमरपट्टा बना और भगवान्को पहनाया गया तो छोटा होने लगा। फिर उसे नरहरिके पास लाया गया। नरहरिने बड़ी कुशलतासे उसे बड़ा कर दिया। अबकी बार अपेक्षासे अधिक बड़ा हो गया।

साहूकार चिन्तित हो उठा—'क्या सचमुच भगवान् हमपर अप्रसन्न हो गये हैं? वे इसे स्वीकार क्यों नहीं करते?' उसने आकर नरहरिसे बड़ी अनुनय-विनय की। अन्ततः नरहरि मन्दिर चलने और नाप लेनेको इस शर्तपर तैयार हुआ कि 'उसकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर ले जाया जाय और वह अपने हाथोंसे टटोलकर नाप ले सके।' जब आँखोंपर पट्टी बाँधे हुए उस नरहरि सुनारको पकड़कर मन्दिरमें लाया गया और उसने मूर्तिको टटोला तो दशभुज, पञ्चवदन, भुजङ्ग-भूषण, जटाधारी भगवान् शंकर ईंटपर खड़े मालूम हुए। अपने आराध्यदेवको पाकर उनके दर्शनसे बचनेकी अपनी बुद्धिपर उसे तरस आया और उसने अत्यन्त अनुतप्त हो आँखोंसे पट्टी खोली। पट्टी खोलते ही पुनः पीताम्बरधारी वनमालीको देख वह सकपकाया और फिरसे पट्टी बाँध ली। पर जब हाथोंसे टटोला तो वे ही भवानीपति भोलानाथ लगे और पट्टी खोलते ही रुक्मिणीरमण पाण्डुरङ्ग ईंटपर खड़े तथा कटिपर हाथ धरे दिखायी पड़ते।

नरहरि अब बड़े असमञ्जसमें पड़ गया। उसे ईश्वरमें भेद-बुद्धि रखनेका अच्छा पाठ मिल गया। शिवका अनन्य भक्त होनेके कारण उसे अब ईश्वराद्वैतका रहस्य समझते देर न लगी। उसने दीनवाणीसे प्रभुकी प्रार्थना की।

भगवान् प्रसन्न हो उठे। ईश्वरमें भेदबुद्धि नष्ट करना ही उनका लक्ष्य था। उसके सिद्ध हो जानेपर भक्तकी अनन्यताके वशीभूत हो उन्होंने उसकी प्रसन्नताके लिये अपने सिरपर शिवलिङ्ग धारण कर लिया। तबसे पण्ढरपुरके विट्ठल भगवान्के सिरपर आज भी शिवलिङ्ग विराजमान है।

(गो० न० वैजापुरकर, भक्तिविजय, अध्याय २०)

भगवान् हरिहर सबकी रक्षा करें

गाङ्गयामुनयोगेन तुल्यं हारिहरं वपुः। पातु नाभिगतं पद्मं यस्य तन्मध्यगं यथा॥

'कमलयुक्त गङ्गायमुनाकी संगमकी तरह नाभिपद्मयुक्त भगवान् विष्णु एवं शिवका सम्मिलित (श्याम-शुभ्र-) शरीर सबकी रक्षा करे।'

भगवान्‌के परात्पर स्वरूप—श्रीकृष्णकी महिमा

एक समयकी बात है, राजा अम्बरीष बदरिकाश्रममें गये। जहाँ परम जितेन्द्रिय महर्षि वेदव्यास विराजमान थे। राजाने विष्णु-धर्मको जाननेकी इच्छासे महर्षिको प्रणामकर उनका स्तवन करते हुए कहा—'भगवन्! आप विषयोंसे विरक्त हैं। मैं आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ। प्रभो! जो परमपद, उद्वेग-शून्य—शान्त है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप और परब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध है, जिसे 'परम आकाश' कहा गया है, जो इस भौतिक जड आकाशसे सर्वथा विलक्षण है, जहाँ किसी रोग-व्याधिका प्रवेश नहीं है तथा जिसका साक्षात्कार करके मुनिगण भवसागरसे पार हो जाते हैं, उस अव्यक्त परमात्मामें मेरे मनकी नित्य स्थिति कैसे हो?'

वेदव्यासजी बोले—राजन्! तुमने अत्यन्त गोपनीय प्रश्न किया है, जिस आत्मानन्दके विषयमें मैंने अपने पुत्र शुकदेवको भी कुछ नहीं बतलाया था, वही आज तुमको बता रहा हूँ, क्योंकि तुम भगवान्‌के प्रिय भक्त हो। पूर्वकालमें यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड जिसके रूपमें स्थित रहकर अव्यक्त और अविकारी स्वरूपसे प्रतिष्ठित था, उसी परमेश्वरके रहस्यका वर्णन करता हूँ, सुनो—"प्राचीन समयमें मैंने फल, मूल, पत्र, जल, वायुका आहारकर कई हजार वर्षोंतक कठिन तपस्या की। इससे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा—'महामते! तुम कौन-सा कार्य करना अथवा किस विषयको जानना चाहते हो? मैं प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे कोई वर माँगो। संसारका बन्धन तभीतक रहता है, जबतक कि मेरा साक्षात्कार नहीं हो जाता, यह मैं तुमसे सच्ची बात बता रहा हूँ।' यह सुनकर मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आया। मैंने श्रीकृष्णसे कहा—'मधुसूदन! मैं आपके ही तत्त्वका यथार्थरूपसे साक्षात्कार करना चाहता हूँ। नाथ! जो इस जगत्‌का पालक और प्रकाशक है, उपनिषदोंमें जिसे सत्यस्वरूप परब्रह्म बतलाया गया है, आपका वही अद्भुत रूप मेरे समक्ष प्रकट हो—यही मेरी प्रार्थना है।'

श्रीभगवान्‌ने कहा—महर्षे! मेरे विषयमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। कोई मुझे 'प्रकृति' कहते हैं, कोई पुरुष। कोई ईश्वर मानते हैं, कोई धर्म। किन्हीं-किन्हींके मतमें मैं सर्वथा भयरहित मोक्षस्वरूप हूँ। कोई भाव (सत्तास्वरूप) मानते हैं और कोई-कोई कल्याणमय सदाशिव बतलाते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग मुझे वेदान्तप्रतिपादित अद्वितीय सनातन ब्रह्म मानते हैं। किंतु वास्तवमें जो सत्तास्वरूप और निर्विकार है, सत्-चित् और आनन्द ही जिसका विग्रह है तथा वेदोंमें जिसका रहस्य छिपा हुआ है, अपना वह पारमार्थिक स्वरूप आज तुम्हारे सामने प्रकट करता हूँ।

'राजन्! भगवान्‌के इतना कहते ही मुझे एक बालकका दर्शन हुआ, जिसके शरीरकी कान्ति नील मेघके समान श्याम थी। वह गोपकन्याओं और ग्वाल-बालोंसे घिरा हुआ हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण थे, जो पीत वस्त्र धारण किये कदम्बवृक्षके मूलपर बैठे हुए थे। उनकी झाँकी अद्भुत थी। उनके दर्शनके साथ ही नूतन पल्लवोंसे अलङ्कृत 'वृन्दावन' नामवाला वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके बाद मैंने नील कमलकी आभा धारण करनेवाली कलिन्दकन्या यमुनाके दर्शन किये। फिर गोवर्धन-पर्वतपर दृष्टि पड़ी, जिसे श्रीकृष्ण तथा बलरामने इन्द्रका घमंड चूर्ण करनेके लिये अपने हाथोंपर उठाया था। वह पर्वत गौओं तथा गोपोंको बहुत सुख देनेवाला है। वहाँ गोपाल श्रीकृष्ण श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वेणु बजा रहे थे। उनके शरीरपर सब प्रकारके आभूषण

शोभा पा रहे थे। उनका दर्शन करके मुझे बड़ा हर्ष हुआ। तब वृन्दावनमें विचरनेवाले उन श्रीभगवान्‌ने स्वयं मुझसे कहा—'मुने! तुमने जो इस दिव्य सनातन रूपका दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और सच्चिदानन्दमय पूर्ण विग्रह है। इस कमल-लोचनस्वरूपसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्त्व नहीं है। वेद इसी स्वरूपका वर्णन करते हैं। यही कारणोंका भी कारण है। यही सत्य, परमानन्दस्वरूप, चिदानन्द-घन, सनातन और शिवतत्त्व है। तुम मेरी इस मथुरापुरीको नित्य समझो। यह वृन्दाविपिन, यह यमुना, ये गोपकन्याएँ तथा ग्वाल-बाल सभी नित्य हैं। यहाँ जो मेरा अवतार हुआ है, यह भी नित्य है। इसमें संशय न करना। राधा मेरी सदाकी प्रियतमा हैं। मैं सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर तथा सर्वानन्दमय परमेश्वर हूँ। मुझमें ही यह सारा विश्व, जो मायाका विलासमात्र है, प्रतीत हो रहा है।'

तब मैंने जगत्‌के कारणोंके भी कारण भगवान्‌से कहा—'नाथ! ये गोपियाँ और ग्वाले कौन हैं तथा यह वृक्ष कैसा है?' तब वे बड़े प्रेमसे बोले—'मुने! इन गोपियोंको श्रुतियाँ समझो तथा कुछ देवकन्याएँ भी इनके रूपमें प्रकट हुई हैं। तपस्यामें लगे हुए मुमुक्षु मुनि ही इन ग्वाल-बालोंके रूपमें दिखायी दे रहे हैं। ये सभी मेरे आनन्दमय विग्रह हैं। यह कदम्ब कल्पवृक्ष है, जो परमानन्दमय श्रीकृष्णका एकमात्र आश्रय बना हुआ है तथा यह पर्वत भी अनादिकालसे मेरा भक्त है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि दूषित चित्तवाले मनुष्य मेरी इस उत्कृष्ट, सनातन एवं मनोरम पुरीको, जिसकी देवराज इन्द्र, नागराज अनन्त तथा बड़े-बड़े मुनीश्वर भी स्तुति करते हैं, नहीं जानते। यद्यपि काशी आदि अनेकों मोक्षदायिनी पुरियाँ विद्यमान हैं; तथापि उन सबमें मथुरापुरी ही धन्य है; क्योंकि वह अपने क्षेत्रमें जन्म, उपनयन, मृत्यु और दाह-संस्कार—इन चारों ही कारणोंसे मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करती है। जब तप आदि साधनोंके द्वारा मनुष्योंके अन्तःकरण शुद्ध एवं शुभसंकल्पसे युक्त हो जाते हैं और वे निरन्तर ध्यानरूपी धनका संग्रह करने लगते हैं, तभी उन्हें मथुराकी प्राप्ति होती है। मथुरावासी धन्य हैं, वे देवताओंके भी माननीय हैं, उनकी महिमाकी गणना नहीं हो सकती। मथुरावासियोंके जो दोष हैं, वे नष्ट हो जाते हैं, उनमें जन्म लेने और मरनेका दोष नहीं देखा जाता। जो निरन्तर मथुरापुरीका चिन्तन करते हैं, वे निर्धन होनेपर भी धन्य हैं; क्योंकि मथुरामें भगवान् भूतेश्वरका निवास है, जो पापियोंको भी मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। देवताओंमें श्रेष्ठ भगवान् भूतेश्वर मुझको सदा ही प्रिय हैं; क्योंकि मेरी प्रसन्नताके लिये वे कभी भी मथुरापुरीका परित्याग नहीं करते। जो भगवान् भूतेश्वरको नमस्कार, उनका पूजन अथवा स्मरण नहीं करता, वह मनुष्य दुराचारी है। जो मेरे परम भक्त शिवका पूजन नहीं करता उस पापीको मेरी भक्ति किसी तरह प्राप्त नहीं होती। ध्रुवने बालक होने-पर भी जहाँ मेरी आराधना करके उस परम विशुद्ध स्थानको प्राप्त किया, जो उसके पूर्वजोंको भी प्राप्त न हुआ था, ऐसी यह मेरी मथुरापुरी देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। वहाँ जाकर मनुष्य यदि लँगड़ा या अंधा होकर भी प्राणोंका परित्याग करे तो उसकी भी मुक्ति हो जाती है। महामना वेदव्यास! तुम इस विषयमें कभी सन्देह न करना। यह उपनिषदोंका रहस्य है, जिसे मैंने तुम्हारे सामने प्रकाशित किया है।''

(पद्मपुराण)

परात्परतत्त्वकी शिशु-लीला

नित्य प्रसन्न राम आज रो रहे हैं। माता कौसल्या उद्विग्न हो गयी हैं। उनका लाल आज रो क्यों रहा है; किसी प्रकार शान्त ही नहीं होता! वे गोदमें लेकर खड़ी हुईं, पुचकारा, थपकी दी, उछालीं; किंतु राम रोते रहे। बैठकर स्तनपान करानेका प्रयत्न भी किया; किंतु आज तो रामलल्लाको पता नहीं क्या हो गया है! वे बार-बार चरणोंको उछालते हैं, करोंको पटकते हैं और रुदन करते ही जा रहे हैं। पालनेमें झुलानेपर भी वे चुप नहीं होते। उनके दीर्घ दृगोंसे कज्जलयुक्त बड़े-बड़े बिन्दु टप-टप टपक रहे हैं।

श्रीरामके रोनेसे सारा राजपरिवार चिन्तित हो उठा है। तीनों माताएँ व्यग्र हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न—तीनों शिशु श्रीरामकी ओर बार-बार झाँकते हैं, बार-बार हाथ बढ़ाते हैं। सोचते हैं कि अग्रज आज क्यों रो रहे हैं? माताएँ अत्यन्त व्यथित हैं। इससे अत्यन्त चिन्तित हैं कि कहीं ये तीनों भी न रोने लगें।

'अवश्य किसीने नजर लगा दी है'—किसीने कहा। सम्भवतः राजप्रासादकी किसी रामस्नेही परिचारिकाने ममत्वसे भरकर ऐसा उच्चरित कर दिया हो। अविलम्ब रथ भेजकर राजकुल-पुरोहित महर्षि वसिष्ठको बुलवाया गया। रघुकुलके तो एकमात्र आश्रय जो ठहरे वे तपोमूर्ति।

'श्रीराम आज रो रहे हैं और चुप ही नहीं होते' ऐसा जब महर्षिने राजप्रासादमें आकर सुना तो उन ज्ञानघनके गम्भीर मुखपर मन्दस्मिति छा गयी। राजभवनमें उन्हें उत्तम आसन दिया गया। उनके सम्मुख तीनों रानियाँ विनीतभावसे बैठी थीं।

'मेरे पास क्या है, राम! तुम्हारा तो नाम ही त्रिभुवनका रक्षक है, मेरी एकमात्र अमूल्यनिधि और साधन भी वही है।' महर्षिने यह बात मनमें कहकर प्रभुको नमन किया। प्रकटतः उन्होंने हाथमें कुश लिया तथा नृसिंह-मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर श्रीरामपर कुछ जल-सीकर कुशाग्रसे डाले। सुमित्रा और कैकेयीजीने लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नको गोदमें ले रखा था और माता कौसल्याकी गोदमें थे दो इन्दीवर सुन्दर सुकुमार—श्रीराम तथा भरत।

महर्षिने हाथ बढ़ाकर श्रीरामको गोदमें ले लिया और उनके मस्तकपर हाथ रखा। उन नीलसुन्दरके स्पर्शसे महर्षिका शरीर प्रेमानन्द-पुलकित हो गया, नेत्र भर आये। उधर रामजी रुदन भूल चुके थे। उन्होंने एक बार महर्षिके मुखकी ओर देखा और फिर आनन्दसे किलकारी मारकर खिलखिलाने लगे।

'देव! आप इस रघुवंशके कल्पवृक्ष हैं। आपकी कृपा तथा प्रभावसे ही राम प्रकृतिस्थ हो हँसने लगते हैं।' रानियोंने अञ्चल हाथमें लेकर भूमिपर मस्तक रख दिया महर्षिके सम्मुख।

'इसमें मेरा क्या है देवियो! मुझको कृतार्थ करना था आज इन त्रिभुवनमोहन कृपामयको।' महर्षिने करुणा-विगलित विरक्तभावसे कहा। उनके नेत्र तो शिशु रामके प्रफुल्ल कमलमुखपर सुस्थिर थे।

एक ओर बैठे महर्षिके बटु-शिष्य तथा दूसरी ओर खड़ी हुईं अन्तःपुरकी वात्सल्यवती परिचारिकाएँ, सभी सानन्द परात्पर रामकी इस मधुर शिशु-लीलारहस्यका निर्निमेष नेत्रों तथा जिज्ञासुभावसे अवलोकन कर रहे थे। (गीतावली पद ११-१२)

ब्रह्मज्ञानका अधिकारी

एक साधकने किसी महात्माके पास जाकर कहा—'मुझे आत्मसाक्षात्कारका उपाय बताइये।' महात्माने एक मन्त्र बताकर कहा—'एकान्तमें रहकर एक वर्षपर्यन्त इस मन्त्रका जाप करो। जिस दिन वर्ष पूरा हो, उस दिन स्नानकर मेरे पास आना।' साधकने वैसा ही किया। वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माजीने वहाँ झाड़ू देनेवाली भंगिनसे कह दिया कि जब वह नहा-धोकर मेरे पास आने लगे, तब उसके पास जाकर झाड़ूसे गर्दा उड़ा देना।' भंगिनने वैसा ही किया। साधकको क्रोध आ गया और वह भंगिनको मारने दौड़ा। भंगिन भाग गयी। वह फिरसे नहाकर महात्माजीके पास आया। महात्माजीने कहा—'भैया! अभी तो तुम साँपकी तरह काटने दौड़ते हो। सालभर और बैठकर मन्त्र-जप करो, तब आना।' साधकको बात कुछ बुरी लगी, पर वह गुरु-आज्ञा समझकर चला गया और मन्त्र-जप करने लगा।

जिस दिन दूसरा वर्ष पूरा हो गया, उस दिन महात्माजीने उसी भंगिनसे फिर कहा कि 'आज जब वह आने लगे, तब उसके पैरसे जरा झाड़ू छुआ देना।' उसने कहा, 'मुझे मारेगा तो?' महात्माजी बोले, 'आज नहीं मारेगा, बस बककर रह जायगा।' भंगिनने जाकर झाड़ू छुआ दी। साधकने झल्लाकर दस-पाँच कठोर शब्द सुनाये और पुनः नहाकर वह महात्माजीके पास आया। महात्माजीने कहा—'भाई! काटते तो नहीं, पर अभी साँपकी तरह फुफकार तो मारते ही हो। ऐसी अवस्थामें आत्मसाक्षात्कार कैसे होगा? जाओ, एक वर्ष और जप करो। इस बार साधकको अपनी भूल दिखायी दी और मनमें बड़ी ग्लानि हुई। उसने इसको महात्माजीकी कृपा समझा और वह मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करता हुआ अपने स्थानपर आ गया।

उसने वर्षभर पुनः मन्त्र-जप किया। तीसरा वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माजीने भंगिनसे कहा—'आज जब वह आने लगे, तब कूड़ेकी टोकरी उसपर उड़ेल देना। अब वह खीझेगा भी नहीं।' भंगिनने वैसा ही किया। साधकका चित्त निर्मल हो चुका था। उसे क्रोध तो आया ही नहीं; बल्कि उसके मनमें उलटे भंगिनके प्रति कृतज्ञताकी भावना जाग्रत् हो गयी। उसने हाथ जोड़कर भंगिनसे कहा—'माता! तुम्हारा मुझपर बड़ा ही उपकार है, जो तुम मेरे अंदरके एक बड़े भारी दोषको दूर करनेके लिये तीन सालसे बराबर प्रयत्न कर रही हो। तुम्हारी कृपासे आज मेरे मनमें तनिक भी दुर्भाव नहीं आया। इससे मुझे ऐसी आशा है कि मेरे गुरु महाराज आज मुझको अवश्य उपदेश करेंगे।'

इतना कहकर वह स्नान करके महात्माजीके पास जाकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। महात्माजीने उठाकर उसको हृदयसे लगा लिया। मस्तकपर हाथ फिराया और ब्रह्मतत्त्वका उपदेश कर दिया। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे उपदेश आत्मसात् होने लगे और तदनुसार धारणा बनती गयी। अज्ञान मिट गया। ज्ञान तो था ही, आवरण दूर होनेसे उसकी अनुभूति प्रत्यक्ष हो गयी। साधक कृतार्थ हो गया।

वस्तुतः एक ओर क्रोधपर विजय पाना बहुत ही कठिन है तो दूसरी ओर क्रोधसे सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं, अतः परमात्मतत्त्वके जिज्ञासुको सर्वात्मना क्रोधको ही सर्वप्रथम वशमें करना चाहिये—

यत्क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य॥
(वामनपुराण ४३। ८९)

परमतत्त्वकी प्राप्तिके उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! चिन्मय आकाशस्वरूप जो 'जीवात्मा' है, वही रजोगुणसे रञ्जित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप—स्वप्रकाशपरताका त्याग न करता हुआ ही अहङ्कार, प्राण, देह और इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस विरूप देहको भी अपनी आत्मा समझता है । असत्य होकर भी सत्य-सी प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णामें जल-बुद्धिके समान अपनी ही अविद्यामूलक वासनाकी भ्रान्तिसे जीव मानो अपने चिन्मयरूपसे भिन्नता-(जडदेहरूपता-)को प्राप्त होता है । जो लोग महावाक्यरूप शास्त्रसे दृश्य-प्रपञ्चको आगन्तुक समझकर निर्वाण-भावमें स्थित हैं, वे अन्तरात्माकी ओर उन्मुख हुई अपनी बुद्धिसे ही भवसागरसे पार हो जाते हैं । जो उदारचेता पुरुष त्रिलोकीके वैभवको भी सदा तृणके तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियाँ इस तरह छोड़ देती हैं, जैसे साँप अपनी केंचुलको । जिसके भीतर सदा सत्यरूप ब्रह्मका चमत्कार स्फुरित होता है, उसकी सारे लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्डके समान रक्षा करते हैं । अपार विपत्तिमें पड़नेपर भी कभी कुमार्गमें पैर नहीं रखना चाहिये । क्योंकि राहु अनुचित मार्गसे अमृत पीनेका प्रयत्न करनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हो गया । जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके सम्पर्करूपी सूर्यका, जो कि परमात्माका साक्षात्काररूपी तीव्र प्रकाश देनेवाला है, आश्रय लेते हैं, वे फिर कभी मोहरूपी अन्धकारके वशीभूत नहीं होते । जिसने शम-दम आदि गुणोंके द्वारा यश प्राप्त किया है, वशमें न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं । उसकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है । जिनका गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है, जिनका शास्त्रोंके प्रति अनुराग है तथा जिन्हें सत्य-पालनका स्वाभाविक अभ्यास है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं । उनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग हैं, वे पशुओंकी ही श्रेणीमें हैं । जिनकी यशरूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे प्राणियोंके हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित हैं, वे क्षीर-सागरके समान उज्ज्वल हैं । उनके शरीरमें निश्चय ही भगवान् श्रीहरिका निवास है ।

परम-पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय ले उत्तम उद्योगको अपनाकर शास्त्रानुकूल उद्वेगशून्य आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिका भागी नहीं होता । अर्थात् वह सिद्धिका भागी अवश्य होता है । शास्त्रके अनुसार कार्य करनेवाले पुरुषको सिद्धियोंके लिये शीघ्रता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि चिरकालतक परिपक्व हुई सिद्धि ही पुष्ट एवं उत्तम फलको देनेवाली होती है । शोक, क्लेश और भयका परित्याग करके घमंड और शीघ्रताके आग्रहको छोड़कर शास्त्रके अनुसार व्यवहार करना चाहिये । इसके विपरीत चलकर अपना बिगाड़ नहीं करना चाहिये । परिणाममें दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली, दीन, शुभ-फलसे रहित—जो धन, पुत्र आदि लौकिक वस्तुओंकी चिन्ता है, वह मानो दीर्घकालतक बनी रहनेवाली प्रगाढ़ महानिद्रा है । उसे त्यागकर सचेत हो जाना चाहिये; विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश प्राप्त कर लेना चाहिये । व्यवहारपरायण पुरुषोंके विचारसे लोकमर्यादाके अनुसार तथा शास्त्र और सदाचारके अनुकूल कर्म करके उत्तम फलकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । जिनका चरित्र सदाचारसे सुन्दर तथा बुद्धि-विवेकशील है और संसारके सुख-फलरूपी दुःखद दशाओंमें जिसकी आसक्ति नहीं है, उस पुरुषके यश, गुण और आयु—ये तीनों ही वसन्तऋतुकी लताओंके समान उत्तम फल देनेके लिये शोभाके साथ विकासको प्राप्त होते हैं ।

(योगवा० स्थितिप्र० सर्ग ३२)

भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिका उपाय

'अहो भाग्य ! भगवान् विष्णुने मुझे राजा बनाकर मेरे हृदयमें अपनी भक्ति भर दी ।' अनन्तशयनतीर्थमें शेषशायी विष्णुके श्रीविग्रहको स्वर्ण और मणियोंकी मालाओंसे समलङ्कृत कर महाराज चोल मदोन्मत्त हो उठे, मानो वे अन्य भक्तोंसे कहना चाहते थे कि 'भगवान्की पूजामें मेरी स्पर्धा करना ठीक नहीं है ।' वे भगवान् विष्णुका चिन्तन करने लगे ।

'यह आप क्या कर रहे हैं ? देखते नहीं कि भगवान्का विग्रह रत्नोंकी मालाओंसे कितना रमणीय हो चला है, नयनोंके लिये ! बार-बार तुलसीदलसे आप स्वर्ण और मणियोंको ढककर भगवान्का रूप असुन्दर कर रहे हैं ।' महाराजने दीन ब्राह्मण विष्णुदासके हृदयपर आघात किया धनके मदमें । 'भगवान्की पूजाके लिये हृदयके भाव-पुष्पकी आवश्यकता है, महाराज ! सोने और हीरेसे उनका महत्त्व नहीं आँका जा सकता । भगवान्की प्राप्ति भक्तिसे होती है ।' विष्णुदासने चोलराजसे निवेदन किया और विष्णुसूक्तका पाठ करने लगे । 'देखना है, पहले मुझे भगवान्का दर्शन होता है या आपकी भक्ति सफल होती है ।' राजाने काञ्चीनिवासी अपनी एक दरिद्र प्रजाको चुनौती दी । वे राजधानीमें लौट आये ।

महाराजाने मुद्गल ऋषिको आमन्त्रित कर भगवान्के दर्शनके लिये विष्णुयज्ञका आयोजन किया । भास्वती ताम्रपर्णी नदीके कलरवसे निनादित उनकी राजधानी काञ्चीमें स्वर्णयूपकी आभा ऐसी लगती थी, मानो अपने दिव्य वृक्षोंसमेत चैत्ररथ वनकी साकारश्री ही धरतीपर उतर आयी हो । वेदमन्त्रोंके मधुर गानसे यज्ञ आरम्भ हो गया । काञ्ची नगरी शास्त्रज्ञ पण्डितों और मन्त्रदर्शी ऋषियोंसे परिपूर्ण हो उठी । नगरीमें दान-दक्षिणाकी चर्चा नित्य ही होने लगी ।

इधर दीन ब्राह्मण भी क्षेत्रसंन्यास ग्रहणकर अनन्तशयनतीर्थमें ही भगवान् विष्णुकी आराधना और उपासना तथा व्रत आदिका अनुष्ठान करने लगे । उनका प्रण था कि जबतक भगवान्का दर्शन नहीं मिल जायगा तबतक काञ्ची नहीं जाऊँगा । वे दिनमें भोजन बनाकर भगवान्को भोग लगानेपर ही प्रसाद पाते थे ।

एक समय लगातार सात दिनोंतक भोजन चोरी चला गया । दुबारा भोजन बनानेमें समय न लगाकर वे निराहार रहकर भगवान्का भजन करने लगे । सातवें दिन वे छिपकर चोरकी राह देखने लगे । एक दुबला-पतला चाण्डाल भोजन लेकर भागने लगा । वे करुणासे द्रवीभूत होकर उसके पीछे घी लेकर दौड़ पड़े । चाण्डाल मूर्च्छित होकर गिर पड़ा तो विष्णुदास अपने वस्त्रसे उसपर समीरका संचार करने लगे ।

'परीक्षा हो गयी, भक्तराज !' 'चाण्डालके स्थानपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये साक्षात् विष्णु प्रकट हो गये । अतसीके फूलके समान श्याम शरीरकी शोभा निराली थी—हृदयपर श्रीवत्स-चिह्न था । वक्षपर कौस्तुभ-मणि थी । मुकुट और पीताम्बरकी आभा अनुपम थी । श्रीविष्णुका दर्शन करते ही विष्णुदासके हृदयमें सात्त्विक प्रेमका उदय हो गया । वे अचेत हो गये । वे उस मूर्च्छित अवस्थामें नारायणको प्रणामतक न कर सके । भगवान्ने ब्राह्मणको अपना रूप दिया । विष्णुदास विमानपर बैठकर वैकुण्ठ गये । देवोंने पुष्पवृष्टि की, अप्सरा तथा गन्धर्वोंने नृत्य-गान किया ।

× × ×

'यज्ञ समाप्त कर दीजिये, महर्षे !' चोलराजने मुद्गलका ध्यान आकृष्ट किया । उन्होंने विष्णुदासको विमानपर जाते देख लिया था । यह सोचकर कि भक्ति ही श्रेष्ठ है, महाराज धधकते यज्ञकुण्डमें कूद पड़े । विष्णुभगवान् प्रकट हो गये । उन्हें दर्शन देकर वैकुण्ठ ले गये । विष्णुदास पुण्यशील और चोलराज सुशील नामसे नित्य विष्णुपार्षदके रूपमें प्रसिद्ध हैं । (पद्मपुराण उत्तर०)

परमपद-प्राप्तिके उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'रघुनन्दन ! जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता । जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । जबतक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँसे होगा ? और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा । इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक-दूसरेके कारण हैं । अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं । विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं । श्रीराम ! विवेकसे युक्त पौरुष प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्यागकर इन तीनों साधनोंका अवलम्बन करना चाहिये । यदि इन तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भलीप्रकार बार-बार अभ्यास न किया गया तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं । किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम ! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं ।* इन तीनोंका चिरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने- अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूपसे टूट जाती हैं ।

'श्रीराम ! यह संसारकी दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है, अतः चिरकालतक अभ्यास किये विना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती । इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनों उपायोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये । तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है । इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है । वासनाओंका भलीभाँति परित्याग करनेसे चित्त भूने हुए बीजके समान अचितरूप हो जाता है और प्राणस्पन्दके निरोधसे भी चित्त अचितरूप हो जाता है, इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो । चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दका निरोध हो जाता है ।

परमात्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव होनेपर वासना उत्पन्न नहीं होती । आदि, मध्य और अन्तमें कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्माको भलीभाँति यथार्थरूपसे जान लेना ही ज्ञान है । यह ज्ञान वासनाका सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़नेसे और शरीरको विनाशशील समझनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती । जिस प्रकार पवन-स्पन्दके शान्त हो जानेपर आकाशमें धूल नहीं उठती, वैसे ही वासनाका विनाश हो जानेपर चित्त विषयोंमें नहीं भटकता । बुद्धिमान् पुरुषको एकाग्रचित्तसे बारंबार एकान्तमें बैठकर प्राणस्पन्दके निरोधके लिये विशेष यत्न करना चाहिये । जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता । अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं ।

*—वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते । समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ॥
(योगवा० उप० ९२ । १७)

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
(योगवा० उप० ९२। ३५–३६)

इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंके रहते जो पुरुष हठसे चित्तको वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्धमें मेरा यही मत है कि वे दीपकका परित्याग करके अञ्जनोंसे अन्धकारका निवारण करना चाहते हैं। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंको त्याग कर जो पुरुष चित्त या चित्तके निकटवर्ती अपने शरीरको स्थिर करनेके लिये यत्न करते हैं, उन हठ करनेवाले पुरुषोंको विवेकी लोग दुराग्रही समझते हैं।

(योगवासिष्ठ, उपशम-प्रकरण)

नारदजीद्वारा पुण्डरीकको भगवत्तत्त्वका उपदेश और पुण्डरीकको भगवत्प्राप्ति

पुण्डरीक द्वादश भागवतोंमें अन्यतम हैं। ये वेद-वेदाङ्गमें पारंगत, तप और स्वाध्यायके प्रेमी, क्षमाशील ब्राह्मण थे। वे प्रतिदिन नियमसे त्रिकाल संध्या, विष्णुका ध्यान और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे। जल, ईंधन और पुष्पादिके द्वारा उन्होंने बहुत दिनोंतक श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा की थी। उनके मनमें अभिमान, द्वेष कुछ न था। इस प्रकार जब उनके अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी और संसारके किसी भी पदार्थमें उनकी आसक्ति, ममता न रही तो वे प्रधान तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए शालग्रामक्षेत्र पहुँचे। यह स्थान बहुत ही रम्य, पवित्र, एकान्त तथा भगवदीय चिह्नोंसे भूषित था। यहाँ बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ महात्मा रहते थे। इस पुण्यतीर्थके जलाशय और कुण्डोंमें स्नानकर वे वहीं रहकर परम भक्तिके साथ भगवान्‌का सतत ध्यान करने लगे। उन्होंने अपनी आराधनासे भगवान्‌को संतुष्ट कर लिया। भगवान्‌ने भी अपने परम भक्त देवर्षि नारदको बुलाकर कहा—'नारदजी! मैं भक्त पुण्डरीककी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ। आप उसकी भक्तिको और सुदृढ़ करनेके लिये उचित उपदेश दें।'

श्रीभगवान्‌की आज्ञासे देवर्षि नारद पुण्डरीकके पास पहुँचे। नारदजीको सामने उपस्थित देखकर पुण्डरीकने उन्हें अर्घ्यादि देकर प्रणाम किया और कहने लगे—प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे सभी पूर्वज मुक्त हो गये, अब आप मुझे कुछ उपदेश करें।' पुण्डरीककी अभिमानशून्य सरल विनयपूर्ण वाणी सुनकर नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोले—'द्विजोत्तम! इस लोकमें अनेक प्रकारके मनुष्य हैं और उनके अनेकों मत हैं। नाना प्रकारके तर्कोंसे सब अपने-अपने मतोंका समर्थन करते हैं, मैं सबके तर्कोंको समझकर जो निश्चित परमार्थतत्त्व है, वही तुमसे कहता हूँ। यह परमार्थतत्त्व गूढ है और सहज समझमें नहीं आता। तत्त्ववेत्तागण प्रमाणोंद्वारा ही इसका प्रतिपादन करते हैं। जो लोग मूर्ख हैं, वे केवल प्रत्यक्ष और वर्तमान प्रमाणको ही मानना चाहते हैं। वे अनागत, अतीत प्रमाणोंको स्वीकार नहीं करते। मुनिगण कहते हैं कि जो पूर्वरूप परम्परासे चला आता है, वह आगम प्रमाण है। उसीसे परमार्थतत्त्वकी सिद्धि होती है। जिसके अभ्याससे ज्ञान होता है, राग-द्वेषका मल नष्ट होता है, वह प्रथम आगम है। जो कर्म, कर्मफल, तत्त्व, विज्ञान, दर्शन और विभु है, जिसमें जाति आदिकी कोई कल्पना नहीं है, जो नित्य आत्म-रूपमें संविदित है, जो सनातन, अतीन्द्रिय, चेतन, अमृत, अज्ञेय, अनन्त, अज, अविनाशी, अव्यक्त, व्यक्त, व्यक्तमें स्थित और निरञ्जन है, वही विश्वमें व्याप्त होनेके कारण विष्णु कहलाता है, उसीके और भी अनेक नाम हैं। परमार्थसे विमुख व्यक्ति उस

योगियोंकी परम ध्येय वस्तुको प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे नहीं जान सकते ।'

देवर्षि नारदजी इतना कहकर अन्तर्धान हो गये । धर्मात्मा पुण्डरीककी नारायणपरायणता और भी दृढ़ एवं उज्ज्वल हो गयी । वे 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका जप करने लगे और भगवान्‌के अमृतमय मधुर ध्यानमें निमग्न हो गये । स्थिति यहाँतक पहुँची कि अमृतात्मक भगवान् गोविन्ददेव उनके हृदयकमलपर आ विराजे । सारा अन्तःकरण भगवान्‌के पवित्र स्पर्शसे दीप्तिमान् और भगवन्मय हो गया । अब उनकी बुद्धि और मनमें भगवान् केशवको छोड़कर स्वप्नमें भी कोई वस्तु नहीं रह गयी । यहाँतक कि पुरुषार्थविरोधिनी निद्रा भी नष्ट हो गयी । पुण्डरीकजीने समस्त भुवनोंके एकमात्र साक्षी पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान्‌की परम कृपासे अपनी इसी निष्पाप देहमें परम दिव्य वैष्णवी सिद्धिको प्राप्त किया । पुण्डरीकने देखा, उनका अङ्ग श्यामवर्ण हो गया है, चार भुजाएँ हो गयी हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, पवित्र पीत वस्त्र है, तेजोमण्डलने उनके शरीरको घेर लिया है और वे पुण्डरीकाक्ष बन गये हैं । वनके सिंह, व्याघ्र और अन्यान्य हिंसक पशु सहज ही सारे वैर-भावको भुलाकर उनके समीप एकत्र हो रहे हैं और प्रसन्न मनसे यथेच्छ प्रेमपूर्वक विचरण कर रहे हैं । इस प्रकार विरोधी जीव परस्पर हितैषी हो गये, नदी और सरोवरोंका जल प्रसन्न और मधुरतम बन गया, शीतल सुगन्ध घुलकर वायु बहने लगी, ऋतु सुप्रसन्न हो गयी, वनके वृक्षसमूह सुगन्धित और मधुर पुष्प-फलभारसे नत हो गये । सभी पदार्थ पुण्डरीकके अनुकूल और परम सुखकर हो उठे । भक्तवत्सल देवदेवेश्वर भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर समस्त चराचर जगत् प्रसन्न हो ही जाता है, सभी जीव और प्रकृतिकी सारी वस्तुएँ उस जगद्वन्द्य भक्तकी सेवाकर अपने जीवनको सफल करना चाहती हैं ।

यों तो अब पुण्डरीकजीका देह, मन, बुद्धि, सब कुछ भगवन्मय ही हो गया था, परंतु भक्तके हृदयनिधि कमलदललोचन भगवान् अपने भक्त पुण्डरीकको जगत्प्रसिद्ध पावन बनाने और इस भक्तिका चरम फल देनेके लिये स्वयं अपने दिव्य मङ्गलविग्रहमें उनके सामने आविर्भूत हुए । भगवान्‌के हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा थी, एक हाथमें अभयमुद्रासे आप भक्तको आश्वासन दे रहे थे । भगवान्‌का प्रकाश करोड़ों सूर्योंके तुल्य था । करोड़ों चन्द्रमाओंके समान भगवान्‌के प्रत्येक अङ्गसे सुधा-वृष्टि हो रही थी । करोड़ों कामदेवोंके दर्पको चूर्ण करनेवाला भगवान्‌का सौन्दर्य था । भगवान्‌के नेत्र कमलके समान अत्यन्त सुन्दर और विशाल थे । चन्द्रबिम्बकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाला भगवान्‌का मुख-कमल अत्यन्त सुशोभित हो रहा था । भगवान्‌के कानोंमें कुण्डल, गलेमें रत्नहार, वनमाला, वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजीकी मूर्ति और विप्रपदचिह्न विराजित थे । कौस्तुभमणि गलेमें सुशोभित हो रही थी । भगवान्‌के अधर और मोतियोंकी-सी दन्तपङ्क्ति अत्यन्त सुशोभित हो रही थी । मस्तकपर अति मनोहर मुकुट था । स्कन्धपर चैतन्य ब्रह्मसूत्र विराजित था । देव, सिद्ध, गन्धर्व, श्रेष्ठ मुनि, नाग और यक्ष भगवान्‌की सेवा कर रहे थे । भाग्यवान् पार्षद चँवर, पंख और छत्र आदिसे भगवान्‌की सेवा कर रहे थे । पवित्रात्मा पुण्डरीकने भगवान्‌के इस अचिन्त्यसुन्दर दिव्य स्वरूपको देखकर अत्यन्त प्रेमविह्वल और आनन्दपूर्ण चित्तसे दोनों हाथ जोड़ लिये और उनके चरणोंमें गिरकर स्तुति करना आरम्भ किया ।

विविध भाँतिसे भगवान्‌की स्तुति करते-करते पुण्डरीककी वाणी बंद हो गयी । वे एकटक भगवान्‌के मुखारविन्दकी मधुर शोभाको देखने लगे । भक्तकी

पवित्र एवं अचिन्त्य दशाको देखकर उसकी समाधिको भंग करते हुए भगवान् गम्भीर स्वरसे बोले—'वत्स पुण्डरीक ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। जो मनमें आवे वह वर माँग लो।' पुण्डरीकने हर्ष-गद्गद स्वरसे कहा—'भगवन् ! कहाँ मुझ-सरीखा अत्यन्त दुर्बुद्धि प्राणी और कहाँ आप-सदृश सर्वज्ञ, परम सुहृद् स्वामी। आपके दुर्लभ दर्शनोंके बाद और क्या वस्तु शेष रह जाती है, यह मेरी समझमें नहीं आता। फिर भी आप माँगनेकी आज्ञा करते हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि भगवन् ! मेरे लिये जिसमें कल्याण हो, आप मेरे प्रति वही आज्ञा कीजिये।'

भगवान्‌ने, चरणोंमें पड़े एवं प्रेमाश्रुओंसे चरणोंको धोते हुए महाभाग पुण्डरीकको उठाकर हृदयसे लगा लिया और बोले—'सुव्रत ! तुम्हारा कल्याण हो। वत्स ! तुम मेरे साथ चलो और नित्यात्मा एवं जगत्‌के उपकारी होकर सदा-सर्वदा मेरी लीलामें मेरे साथ रहो।'

भक्तवत्सल भगवान्‌के प्रीतिपूर्वक इतना कहते ही समस्त दिव्य लोकोंमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। ब्रह्मा आदि देवता 'साधु-साधु' ध्वनि करते हुए भगवान् और भक्तकी महिमा गाने लगे एवं सिद्ध, गन्धर्व और किंनर आनन्दमें उन्मत्त होकर नाचने-गाने लगे। तदनन्तर समस्त लोकोंके नमस्कारको ग्रहण करते हुए देवदेव जगत्पति भगवान् अपने प्यारे भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर गरुड़पर सवार हुए और देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। [पद्मपुराण, उत्तरखण्ड अ० ८१]

राजा बलिको भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार

विरोचनने बलिसे कहा—पुत्र ! तुम्हारी इस भौतिक विश्वविजयसे कोई लाभ नहीं, यदि तुमने उस अद्भुत देशपर—जिसमें एक ही राजा तथा मन्त्री रहते हैं, विजय न पायी। महामते ! मनुष्यसे लेकर ब्रह्मपदतक सम्पूर्ण पदोंका अतिक्रमण करनेवाला—जो मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरका स्वामी शुद्ध आत्मा है, वही उस शरीर-देशके राजाके समान है। उसने बुद्धियुक्त मनको अपना मन्त्री बनाया है। उस मन्त्रीको जीत लेनेपर सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है। परंतु उसे अत्यन्त दुर्जय समझना चाहिये। वह बलसे नहीं, मात्र युक्तिसे ही जीता जाता है।

बलिने कहा—भगवन् ! उस मन्त्रीपर आक्रमण करनेके लिये जो युक्ति या उपाय हो, उसे आप भलीभाँति बताइये, जिससे मैं उस भयंकर मनपर विजय पा सकूँ।

विरोचन बोले—बेटा ! सभी विषयोंके प्रति सब प्रकारसे जो अत्यन्त अनास्था (वैराग्य) है, वही मनपर विजय पानेके लिये उत्तम युक्ति है। यह अनास्था ही वह उत्तम युक्ति है, जिससे महान् मदमत्त मनरूपी मातङ्ग-(गजराज-)का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है। महामते ! यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुलभ भी है। यदि इसके लिये अभ्यास न किया जाय तो यह अत्यन्त दुर्लभ है। परंतु यदि इसके लिये भलीभाँति अभ्यास किया जाय तो यह अनायास ही प्राप्त हो जाती है। बेटा ! यदि क्रमशः विषयोंसे विरक्त होनेका अभ्यास किया जाय तो जैसे सींचनेसे लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब ओरसे सुस्पष्टतः प्रकट हो जाती है। पुत्र ! जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्तिके लिये अभ्यास नहीं किया जाय तो विषय-लोलुप पुरुष कितना भी क्यों न चाहे, उसे विरक्ति नहीं मिल सकती, अतः तुम विरक्तिको भी अभ्यासके द्वारा दृढ़ करो। संसाररूपी गर्तमें निवास करनेवाले ये जीव तबतक नाना प्रकारके दुःखोंमें भटकते रहते हैं, जबतक उन्हें विषयोंसे

वैराग्य नहीं हो जाता। जैसे कोई अत्यन्त बलवान् शरीरवाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देशान्तरमें नहीं पहुँच सकता, उसी तरह कोई शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये देहधारी मनुष्यको चाहिये कि वह जीवन्मुक्तिके हेतुभूत पूर्वकथित ध्येय नामक वासना त्यागकी अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए भोगोंकी ओरसे विरक्तिका अभ्यासपूर्वक विस्तार करे—ठीक वैसे ही, जैसे सींचने आदिके द्वारा लगायी हुई बेलको बढ़ाया जाता है। बेटा! हर्ष और अमर्षसे रहित शुभ कर्मफलको प्राप्त करनेके लिये इस संसारमें परम पुरुषार्थके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। पुरुषार्थसे ही उसकी प्राप्ति होती है। संसारमें दैवचर्चा बहुत की जाती हैं, परंतु दैव कहीं देह धारण करके स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होनेवाली जो भवितव्यता है—नियतिके द्वारा मिलनेवाला जो अपने ही शुभाशुभ कर्मोंका फल है, उसीको शास्त्रोंमें दैव अथवा प्रारब्ध नामसे अभिहित किया गया है।

प्रारब्ध-भोगरूप जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थसे ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष शरीर धारण करके पुरुषार्थसे जिस पदार्थका जैसे संकल्प करता है, इस लोकमें वह पदार्थ उसे उसी रूपमें प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूपमें नहीं। बेटा! इस जगत्‌में पुरुषार्थके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अतः उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले भोगोंकी ओरसे वैराग्य प्राप्त करे। जबतक भोगोंसे वैराग्य, जो संसार-बन्धनका विनाश करनेवाला है, नहीं प्राप्त होता, तबतक विजयदायक परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक मोहमें डालनेवाली विषयासक्ति बनी हुई है, तबतक भवदशारूपी झूला चंचल गतिसे आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीवको संसारमें भटकनेवाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है। पुत्र! अभ्यासके बिना विषयभोगरूपी भुजङ्गोंसे भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कदापि दूर नहीं होती।

बलिने पूछा—असुरेश्वर! विषयोंकी ओरसे जो वैराग्य है, वह दृढ़तापूर्वक जीवके अन्तःकरणमें कैसे स्थित होता है?

विरोचनने कहा—पुत्र! आत्मसाक्षात्काररूपिणी फलदायिनी लता जीवके अन्तःकरणमें विषयभोगोंसे विरक्तिरूपी फल अवश्य उत्पन्न करती है। आत्म-साक्षात्कार होनेपर विषयोंमें राग (आसक्ति)का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा अति उत्तम विवेक-विचारसे परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करे, साथ ही वह विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा मुक्त हो जाय। पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष दिनके दो भागोंमें अपने चित्तको वैराग्यपूर्वक परमार्थ साधनरूप सत्-शास्त्रके अनुशीलनमें लगाये, तीसरे भागमें एकान्तदेशमें स्थित होकर मनको सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाये तथा चौथे भागमें अपने चित्तको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा और आज्ञापालनमें लगाये। साधुस्वभाव (श्रेष्ठ आचरण)को प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञानोपदेश पानेका अधिकारी होता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही उत्तम रंगको ग्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेशको अपने हृदयमें धारण करता है। वह चित्त एक बालकके समान है। इसे पवित्र वचनों, युक्तियों और शास्त्रके अनुशीलनसे धीरे-धीरे लाड़-प्यारके साथ रिझाकर वशमें करना चाहिये। बेटा! शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे तृष्णा-आसक्तिका सर्वथा अभाव करते हुए ही सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तृष्णा एवं आसक्तिका सर्वथा अभाव होता है और तृष्णा एवं आसक्तिका अभाव होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता

है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। इसलिये दोनों साधनोंको एक साथ करते रहना चाहिये। जब भोग-समूहोंमें आसक्तिका अत्यन्ताभाव हो जाता है तथा परावरस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मदेवका साक्षात्कार हो जाता है, तब जीवको कभी नष्ट न होनेवाली सीमारहित परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। विषयोंमें ही आनन्द मानकर उनका आस्वादन करनेवाले संसारी मनुष्योंको इस जगत्में कभी भी परमात्मतत्त्वके श्रवण बिना नि:सीम एवं निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। सकामभावसे किये गये यज्ञ, दान, तप और तीर्थ-सेवनसे तो स्वर्गादि सुख ही प्राप्त होते हैं। आत्माका यथार्थ ज्ञान हुए बिना उन तप, दान और तीर्थ-सेवनरूप सकाम साधनोंद्वारा जीवको कभी विषयोंसे वैराग्य नहीं होता।

पुत्र! अपने परमपुरुषार्थके बिना पुरुषकी बुद्धि किसी भी युक्तिसे कल्याणके हेतुभूत आत्मज्ञानमें प्रवृत्त नहीं होती। भोगोंके सर्वथा त्यागसे प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थके बिना ब्रह्मपदकी प्राप्तिरूप परम शान्ति एवं परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती। परम कारणरूप परमात्माका यथार्थ बोध हो जानेपर मनुष्यको जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत्में कहीं भी नहीं मिलती। बुद्धिमान् मनुष्य परम पुरुषार्थका आश्रय ले दैव (प्रारब्ध)को दूरसे ही त्याग दे तथा कल्याणरूपी भवनके द्वारको दृढ़तापूर्वक बन्द रखनेवाले अर्गला रूप जो भोग हैं, उनसे घृणा करे—उनकी ओरसे सर्वथा विरक्त हो जाय। भोगोंके प्रति वैराग्यसे परमात्मविषयक विचार उत्पन्न होता है और परमात्मविषयक विचार उदित होनेपर भोगोंकी ओरसे वैराग्य होने लगता है। जैसे समुद्र बादलको और बादल समुद्रको भरते हैं, उसी तरह ये दोनों साधन एक दूसरेके पूरक हैं। जैसे परस्पर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले सुहृद् एक-दूसरेके मनोरथ सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार भोगोंसे वैराग्य, परमात्मविषयक विचार और नित्य आत्मदर्शन—ये तीनों एक-दूसरेको पुष्ट करते हैं। मनुष्यको चाहिये कि पहले देशाचार और सदाचारके अनुकूल तथा बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्तिके अनुरूप न्याययुक्त पुरुषार्थद्वारा क्रमशः धनका उपार्जन करे। उस धनके द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनोंको अपनाये—उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये। उन सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे भोगोंकी ओरसे विरक्ति होने लगती है। तदनन्तर विवेकपूर्वक विचारका उदय होता है। तत्पश्चात् शास्त्रोंके यथार्थका अनुभव होता है। उसके बाद क्रमशः परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। (योगवासिष्ठ, उपशम-प्रकरण)

तत्त्वज्ञ संत एवं उनकी संगतिकी महिमा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो विवेकी पुरुष संसारसे विरक्त हो परमपद परब्रह्म परमात्मामें विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पाकर हर्षित होते हैं, न किसीके प्रतिकूल बर्तावसे कुपित होते हैं। न आवेशमें आते हैं, न आहारका संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न स्वयं ही लोगोंको उद्वेगमें डालते हैं। वे किसी भी बुरी-अच्छी कामनासे हठपूर्वक कष्टसाध्य वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। वे प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपने सङ्गसे अन्तःकरणमें आह्लाद प्रदान करते हैं। कर्तव्योंका विवेचन करते और क्षणभरमें ही विवादका निर्णय कर देते हैं। उनका आचरण दूसरोंको उद्वेगमें डालनेवाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और

बुद्धिमानोंके समान समुचित व्यवहार करते हैं। बाहरसे उनका आचरण सबके समान ही होता है, किंतु भीतरसे वे सर्वथा शीतल होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा शास्त्रोंके अर्थोंमें बड़ा रस लेते हैं। जगत्‌में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-बुरा है, इसका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान होता है। त्याज्य और ग्राह्यका भी वे ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्रके विरुद्ध कार्योंसे वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनोंके बीच रहने या सत्सङ्ग करनेके रसिक होते हैं। घरपर आये हुए याचकरूपी भ्रमरका वे प्रफुल्ल कमलोंके समान अपने ज्ञानका अनावृत सुगन्ध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भोजन देकर आदर-सत्कार करते हैं। जनताको अपनी ओर खींचते हैं और लोगोंके पाप-ताप हर लेते हैं। वर्षाकालके मेघोंकी भाँति वे स्निग्ध एवं शीतल होते हैं। धीर स्वभाववाले ज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक और देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले व्यापक जन-क्षोभको उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे पर्वत भूकम्पको।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर अङ्गवाली गुणशालिनी पत्नीके समान विपत्तिकालमें उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और सम्पत्तिके समय सुख पहुँचाते हैं। साधुपुरुष वैशाख मास या वसन्तके समान अपने सुयशरूपी पुष्पसे सम्पूर्ण दिशाओंको निर्मल बनाते, उत्तम फलकी प्राप्तिमें कारण बनते और कोकिलके समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओंमें, बुद्धिनाशके अवसरोंपर, भूख-प्यास-शोक-मोह तथा जरा-मरण—इन छः ऊर्मियोंके प्राप्त होनेपर, व्याकुलताकी दशामें तथा घोर सङ्कट आनेपर साधुपुरुष ही सत्पुरुषोंके आश्रयदाता होते हैं। काल-सर्पसे भरे हुए अत्यन्त भयङ्कर संसार-सागरको सत्सङ्गरूपी जहाजके बिना दूसरी किसी नौकासे पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणोंमेंसे एक भी गुण जिसमें उपलब्ध हो, उसके उसी गुणको सामने रखकर उसमें दीखनेवाले सब दोषों-की उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिये। सारे कामोंको छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे; क्योंकि यह सत्सङ्गरूपी कर्म निर्बाधरूपसे इहलोक और परलोक दोनोंका साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुषसे अधिक दूर नहीं रहना चाहिये। विनययुक्त व्यवहार करते हुए सदा साधुपुरुषोंका सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषके समीप जानेवाले मनुष्यका उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण अनायास ही स्पर्श करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्पवाले वृक्षके निकट जानेसे उसके पुष्प-पराग बिना यत्नके ही सुलभ हो जाते हैं।

(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण उ०)

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। उसका नाम था जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। वह जब विद्याध्ययन करनेयोग्य हुआ तो एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मैं गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ, गुरुजी जब मुझसे नाम, गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना गोत्र क्या बताऊँगा?' इसपर ब्राह्मणीने कहा 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर ही प्राप्त न हुआ; क्योंकि उन दिनों मैं सदा अतिथियोंकी सेवामें ही व्यस्त रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछें तो तुम बस इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतमऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा, 'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या

है ?' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ; बस, इतना ही अपने सम्बन्धमें जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स ! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा और थोड़ी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।'

सत्यकामका उपनयन करनेके बाद चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हें वनमें चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हें वापस न लाना।' उसने कहा—भगवन् ! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं न लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमें गया। वहाँ वह कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ-(साँड़-)ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स ! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें मैं तुम्हें एक चरणका उपदेश देता हूँ—'वह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। इसका दूसरा चरण तुम्हें अग्निदेव बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हें जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था कर दी। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा—'सत्यकाम ! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ, वह 'अनन्त' लक्षणात्मक है, अगले पादका उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और वहाँ उसने गौओंके रात्रिनिवासकी व्यवस्था की। इतनेमें ही वहाँ एक हंस उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम !' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश करता हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है। चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मुद्गु (जलकुक्कुट) पक्षी करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रिनिवासकी व्यवस्था की तथा अग्नि जलाकर वह वहाँ बैठ ही रहा था, तभी एक जलमुर्गेने आकर उसे पुकारा और कहा—'वत्स ! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ। वह आयतन-स्वरूप है।'

इस प्रकार उनसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्त करके एक सहस्र गौओंको साथमें लेकर सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स ! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पड़ता है।' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स ! तूने जो प्राप्त किया है, वही ब्रह्म तत्त्व है।' आचार्यने सत्यकामके प्रति पुनः उस सम्पूर्ण तत्त्वका ठीक उसी प्रकार उपदेश किया।

—जा० श० (छान्दोग्य० ४। ४—९)

अग्नियोंद्वारा ब्रह्मतत्त्वका उपदेश

सत्यकाम जाबाल जब आचार्य हुए, तब उनके यहाँ कमलका पुत्र उपकोसल ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करने आया। उसने बारह वर्षोंतक आचार्य एवं अग्नियोंकी उपासना की। आचार्यने अन्य सभी ब्रह्मचारियोंका समावर्तन-संस्कार कर दिया और उन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी, पर उपकोसलको ऐसा नहीं किया। इससे उपकोसलके मनमें दुःख हुआ। गुरु-पत्नीको भी उसपर दया आयी। उसने अपने पतिसे कहा—इस ब्रह्मचारीने बड़ी तपस्या की है, ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करते हुए विद्याध्ययन किया है। साथ ही आपकी तथा अग्नियोंकी विधिपूर्वक परिचर्या की है। अतएव कृपया इसको उपदेशकर इसका भी समावर्तन कर दीजिये। अन्यथा अग्नि आपको उलाहना देंगे, परंतु सत्यकामने बात अनसुनी कर दी और बिना कुछ कहे ही वे कहीं अन्यत्र यात्रामें चले गये।

उपकोसलको इससे बड़ा क्लेश हुआ। उसने अनशन आरम्भ कर दिया। आचार्यपत्नीने कहा—'ब्रह्मचारी! तुम भोजन क्यों नहीं करते।' उसने कहा—'माँ! मुझे बड़ा मानसिक क्लेश है, इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

अग्नियोंने सोचा—'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत सेवा की है, अतएव इसे तत्त्वका उपदेश करके इसके मानसिक क्लेशको मिटा दिया जाय।' ऐसा विचार करके उन्होंने उपकोसलको ब्रह्म-विद्याका यथोचित उपदेश दे दिया। तदनन्तर कुछ दिनों बाद उसके आचार्य सत्यकाम भी यात्रासे लौटे। इधर उपकोसलका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। आचार्यने पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता-जैसा तेजस्वी दीख रहा है, बता, तुझे ब्रह्मका उपदेश किसने किया?' उपकोसलने बड़े संकोचसे सारा वृत्तान्त सुनाया। इसपर आचार्यने कहा—'यह सब उपदेश तो लौकिक है। अब मुझसे तुम उस अलौकिक ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश सुनो, जिसे भली प्रकार जान लेनेपर, साक्षात् कर लेनेपर प्राणीको पाप-ताप उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर पाते, जैसे कमलके पत्तेको जल।'

इतना कहकर आचार्यने उपकोसलको शुद्ध ब्रह्मतत्त्वके रहस्यका उपदेश किया और समावर्तन-संस्कारकर उसे घर जानेकी आज्ञा दे दी।—जा० श० (छान्दोग्य० ४। १०–१५)

दृश्यजगत्की चैतन्यरूपता, अनिर्वचनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिन्नताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें व्याप्त है। इसलिये ये घट, गड्ढे और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं। जैसे स्वप्नमें शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थोंके रूपमें भासित होती है और जैसे जल ही तरंगरूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्य-रूपमें प्रकाशित हो रहा है। तत्त्वज्ञ पुरुष घट-पट आदि समस्त भौतिक पदार्थोंको ब्रह्मघन, चैतन्यघन, परमार्थघन और शान्तस्वरूप एकरस आनन्दघनका ही प्रसार मानते हैं।

श्रीराम! आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति—ये जो शब्दार्थ-दृष्टियाँ हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिये खरहेके सींगकी भाँति असत् मात्र हैं। इनमेंसे कोई कभी भी सम्भव नहीं है। केवल चेष्टाशून्य,

शान्तस्वरूप, व्यावहारिक नाम आदिसे रहित, ज्ञाता (साक्षी) परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं। वह जो चिन्मय प्रकाशके स्फुरणासे आकाशस्वरूप शरीर (मूर्त जगत्), जो कि बिना दीवालके चित्र-सा पदार्थोंकी सत्तामात्र है, प्रतीत होता है, वास्तवमें अविनाशी ही है। जैसे जलमें तरङ्गें होती हैं, उसी प्रकार शान्तस्वरूप परमात्मामें सदा और सर्वत्र यह जगत् चिन्मयरूपसे ही विद्यमान है। जगत् जिस रूपमें प्रतीत हो रहा है, वैसा प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होनेके कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही। सारा दृश्य कुछ है और नहीं भी है। यह सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूपमें इस जगत्की स्थिति है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है या असत् है—संसारचक्रके विषयमें उठनेवाले इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर—जगत्का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं।

रघुनन्दन। चिन्मय आकाशमें ही जो चिन्मय आकाशका स्फुरण हो रहा है, उसीने उसीको जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है? पूर्णपरब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकट न करनेपर भी प्रकट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जो स्वयं मेरे अनुभवमें आ रहा है, उस आत्मतत्त्वको इस प्रकार अत्यन्त विशदरूपसे बारंबार उच्चस्वरसे प्रकट कर रहा हूँ तो भी कुछ मन्दाधिकारी लोगोंके भीतर जो मूढ़ता घर किये बैठी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत्में यह जाग्रत् सत्य ही है, ऐसे विश्वासका आज भी त्याग नहीं कर रही है। वह महान् खेदका विषय है। जो समझदार होनेके कारण तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, वह भी उस भ्रान्त धारणाको शीघ्र नहीं छोड़ रहा है। यह कैसा मोह है।

(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण उ०)

भगवत्तत्त्वके साधक-धर्म—जहाँ भगवान् रहते हैं

एक समय बहुत-से ब्राह्मणोंने भगवान् व्यासजीसे किसी ऐसे यज्ञकी विधि पूछी, जिसका अनुष्ठान सभी वर्णोंके छोटे-बड़े सब लोग कर सकते हों और जिसके करनेसे मनुष्य देवताओंका भी पूज्य बन सकता हो। व्यासजीने उनका उत्तर देते हुए कहा—मैं आपलोगोंको पाँच आख्यान सुनाता हूँ। इन आख्यानोंके अनुसार व्यवहार करनेसे स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। (१) माता-पिताकी सेवा, (२) पतिसेवा, (३) सर्वभूतोंमें समदृष्टि, (४) मित्र-द्रोह न करना और (५) भगवान् विष्णुकी भक्ति करना—ये पाँच महायज्ञ हैं।

हे ब्राह्मणो! मनुष्य माता-पिताकी सेवासे जिस पुण्यको प्राप्त होता है वह पुण्य सैकड़ों यज्ञ और तीर्थ-यात्रादिसे भी नहीं मिलता।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता ही परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

'पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही परम तप है; पिताके प्रसन्न होनेसे सारे देवता प्रसन्न होते हैं।' जिस पुत्रकी सेवासे और गुणोंसे माता-पिता प्रसन्न होते हैं, वह गङ्गा-स्नानका फल पाता है। माता सर्वतीर्थमयी और पिता सर्वदेवमय हैं। ऐसे माता-पिताकी जो पुत्र प्रदक्षिणा करता है, वह पृथ्वीभरकी प्रदक्षिणा कर लेता है। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके दोनों घुटने, दोनों हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्ग प्राप्त करता है। जो पुत्र माता-पिताके चरण धोकर चरणामृत लेता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो नीच मनुष्य कड़ी जबानसे मातापिताका अपमान करता है, वह बहुत

कालतक नरकमें रहता है। जो अधम पुत्र माता-पिताकी सेवा किये बिना ही भोजन करता है, वह धरतीपर कृमिकुम्भ नामक नरकमें जाता है। जो मनुष्य रोगी, वृद्ध, शक्तिहीन, अन्धे या बहरे पिताका त्याग कर देता है, वह रौरव-नरकमें जाता है। माता-पिताका पालन न करनेसे मनुष्यके समस्त पुण्य नष्ट हो जाते हैं और उसे म्लेच्छ-चाण्डलादि योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। माता-पिताकी सेवा न करके तीर्थसेवा या देवाराधना करनेसे उनका फल नहीं मिलता। हे ब्राह्मणो! इस सम्बन्धमें एक पुराना इतिहास कहता हूँ, मन लगाकर सुनो।

प्राचीनकालमें नरोत्तम नामक एक ब्राह्मण था। वह माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थयात्राके लिये घरसे निकला। तीर्थसेवाके बलसे उसकी नहाकर धोयी हुई धोती प्रतिदिन बिना आधारके ही आकाशमें उड़कर सूखने लगी। इस प्रकार कुछ समय बीतनेपर उस ब्राह्मणको अहङ्कार हो गया और वह कहने लगा कि मेरे समान पुण्यवान् और यशस्वी मनुष्य संसारमें दूसरा नहीं है। उसी समय एक बगुलेने उसके मुँहपर बीट कर दी। इससे उसको बड़ा क्रोध हुआ और उसने बगुलेको शाप दे डाला। शाप देते ही बगुला पृथ्वीपर गिरकर भस्म हो गया। इस जीवहिंसाके फलसे ब्राह्मणके मनमें मोह हो गया। उसकी गीली धोती जो अबतक बिना आधारके ही आकाशमें सूखती हुई उसके साथ उड़ती चलती थी, वह अब नहीं चली। जीवहिंसाके पापसे उसकी यह सिद्धि जाती रही। इस घटनासे ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। तब यह आकाशवाणी हुई कि—'हे ब्राह्मण! तुम परम धार्मिक मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेपर तुम्हें धर्मके वास्तविक मर्मका पता लगेगा और उसके उपदेशसे तुम्हारा मङ्गल होगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गया। वहाँ जाकर ब्राह्मणने देखा कि वह चाण्डाल सवेरेसे माता-पिताकी सेवामें लगा हुआ है। जाड़ेके दिनोंमें वह गर्म जल, तेल, अग्निताप, ताम्बूल और बहुत-सी रूईके बिछौने आदिसे उनकी सेवा करता। वह चाण्डाल रोज उनको खानेके लिये मधुर अन्न और दूध देता। वसन्त-ऋतुमें मधु, सुगन्धित माला और अन्यान्य रुचिकर पदार्थोंसे तथा गर्मीके दिनोंमें पंखेसे हवा करके उनकी सेवा करता। नित्य उनकी सेवा करनेके बाद वह भोजन करता। इस प्रकार वह चाण्डाल सर्वदा माता-पिताकी थकावट मिटाने और उनको सुख पहुँचानेके काममें लगा रहता। उसके इस पुण्यबलसे विष्णुभगवान् उसके घरमें बहुत दिनोंसे निवास करने लगे थे। ब्राह्मणने उस चाण्डालके घरमें एक ऐसे कमरेमें, जो बिना ही खम्भोंके खड़ा था, त्रिभुवनेश्वर, परमपुरुष, अन्य प्राणियोंसे अतुलनीय तेजोमय महातत्त्व विष्णुभगवान्‌को सुन्दर ब्राह्मण-शरीरसे चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते हुए देखा। तदनन्तर उसने आश्चर्यमें भरकर मूक चाण्डालसे कहा कि 'चाण्डाल! तू मेरे पास आ। मैं तेरी महाफलदायी परमपद पानेकी इच्छा करता हूँ। सब लोगोंके लिये, खासकर मेरे लिये जो हितकर हो, मुझको तू वही उपदेश कर।' मूकने कहा—'मैं इस समय अपने माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ, आपके पास कैसे आऊँ? इनकी सेवा कर चुकनेपर आपका काम करूँगा। आप दरवाजेपर ठहरिये, मैं आपका आतिथ्य करूँगा।'

चाण्डालकी यह बात सुनकर ब्राह्मणने क्रुद्ध होकर कहा—'मैं ब्राह्मण हूँ, मुझको छोड़कर ऐसा कौन-सा श्रेष्ठ कार्य है जिसे तू करना चाहता है?' मूकने कहा—'हे ब्राह्मण! आप व्यर्थ ही क्यों क्रोध करते हैं? मैं बगुला नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे जल जाऊँ। आकाशमें अब आपकी धोती नहीं सूखती, आप आकाशवाणी सुनकर यहाँ आये हैं, इस बातको मैं

जानता हूँ। आप जरा ठहरिये, मैं उपदेश दूँगा। शीघ्रता हो तो आप पतिव्रताके पास जाइये, वहाँ जानेसे आपका कार्य सफल होगा।'

इसके बाद ब्राह्मणरूपी भगवान् विष्णुने मूकके घरसे निकलकर नरोत्तमसे कहा कि 'चलो, मुझे भी उसी पतिव्रताके घर जाना है।' नरोत्तम कुछ सोचता हुआ उनके साथ हो लिया। रास्तेमें आश्चर्य प्रकट करते हुए नरोत्तमने ब्राह्मण-वेषधारी विष्णुसे पूछा कि 'विप्रवर! आप स्त्रियोंसे युक्त चाण्डालके घरमें सदा क्यों रहते हैं?' हरिने कहा, 'अभी तुम्हारा चित्त शुद्ध नहीं हुआ है। पतिव्रता आदिसे मिलनेके बाद तुम मुझे पहचान सकोगे।' नरोत्तमने कहा, 'हे द्विज! वह पतिव्रता कौन है? उसमें ऐसी कौन-सी महान् बात है जिसके लिये मैं वहाँ जा रहा हूँ?' हरिने कहा, 'जैसे नदियोंमें गङ्गा, मनुष्योंमें राजा और देवताओंमें जनार्दन श्रेष्ठ हैं, वैसे ही स्त्रियोंमें पतिव्रता प्रधान है। जो पतिव्रता स्त्री नित्य पतिके प्रियहित कार्यमें रत है वह दोनों कुलोंका उद्धार करती है और प्रलयकाल-पर्यन्त स्वर्गमें रहती है। उसका पति अगर स्वर्गसे गिरता है तो वह सार्वभौम राजा होकर पृथ्वीपर जन्म लेता है और पतिव्रता उसकी रानी होकर सुख-भोग करती है। इस प्रकार बारंबार स्वर्गराज्यका उपभोग करनेके अनन्तर वे दोनों मुक्त हो जाते हैं।' नरोत्तमने फिर पूछा कि 'वह पतिव्रता कौन है? उसके क्या लक्षण हैं? मुझे यथार्थ रूपसे समझाइये।' हरिने कहा, 'जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौ गुने स्नेहसे पतिकी सेवा करती है और शासनमें उसे राजाके समान मानती है, वही स्त्री पतिव्रता है।' कहा गया है—

> कार्ये दासी रतौ रम्भा भोजने जननीसमा।
> विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता॥

'जो स्त्री काम-काजमें दासी, रतिकालमें रम्भा, भोजन करानेमें जननीके समान होती है और विपत्तिकालमें सत् परामर्श देनेवाली होती है, वही पतिव्रता है। जो स्त्री मन, वाणी, शरीर या कर्मसे कभी पतिके विरुद्ध आचरण नहीं करती, वही पतिव्रता है। जो केवल अपने पतिकी सेजपर ही सोती है, नित्य पतिकी सेवा करती है, कभी मत्सरता, कृपणता या अभिमान नहीं करती, मान-अपमानमें पतिको समानभावसे ही देखती है, वही साक्षात् पतिव्रता है। जो सती स्त्री सुन्दर वस्त्राभूषणधारी पिता, भ्राता और पुत्रको देखकर भी उन्हें परपुरुष समझती है, वही यथार्थ पतिव्रता है। हे द्विजवर! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर अपनी मनःकामना उससे कहो। तुम जिसके घर जा रहे हो, उस ब्राह्मणकी आठ स्त्रियाँ हैं, उनमें जो रूपयौवनसम्पन्ना, यशस्विनी और दयावती है उसीका नाम शुभा है, वह प्रसिद्ध पतिव्रता है। तुम उसके पास जाकर अपने हितकी बातें उससे पूछो।' इतना कहकर भगवान् हरि अन्तर्धान हो गये।

नरोत्तमको उनके अन्तर्धान होते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। नरोत्तमने उस पतिव्रताके घर पहुँचकर उससे अपने हितकी बात पूछी। पतिव्रता सती अतिथि-की बात सुनकर घरके बाहर आयी और ब्राह्मणको देखकर दरवाजेपर खड़ी रह गयी! ब्राह्मणने पतिव्रताको देखकर हर्षके साथ कहा—'साध्वि! आपको जो कुछ मालूम है, उसे मेरे हितके लिये कहिये।' पतिव्रताने कहा—'इस समय तो मुझे पतिकी सेवा करनी है, मुझे अभी फुरसत नहीं है, पीछे आपका काम करूँगी; आज आप यहीं आतिथ्य ग्रहण करें।' ब्राह्मणने कहा, 'कल्याणि! मुझे आज भूख, प्यास या थकावट कुछ भी नहीं है। मैं जिस विषयको जानना चाहता हूँ उसे आप बतला दें, नहीं तो आपको शाप दूँगा।' इसपर पतिव्रताने कहा कि—'हे द्विजोत्तम! मुझे आप वह बगुला न समझें! आप धर्मतुलाधारके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछें, वे आपको हितोपदेश करेंगे।'

महाभागा शुभा इतना कहकर घरके अंदर चली गयीं। इसके बाद नरोत्तमने उसके घरमें जाकर देखा कि वही ब्राह्मण जो मूक चाण्डालके घरमें था और बहुत दूरतक साथ-साथ आया था, यहाँ भी बैठा हुआ है। नरोत्तमको इससे बड़ा अचम्भा हुआ, उसने ब्राह्मणरूपी विष्णुके पास जाकर कहा कि देशान्तरमें मेरे सम्बन्धमें जो घटना हुई थी, माल्म होता है आपने ही इन लोगोंसे उसे कह दिया है, नहीं तो चाण्डाल और इस पतिव्रताको मेरी उस घटनाका हाल कैसे माल्म होता ?' हरिने कहा—'भूतभावन महात्मालोग अपने पुण्य और सदाचारके बलसे सभी बातें जान सकते हैं। पतिव्रताने तुमसे क्या कहा है वह मुझे बतलाओ।' नरोत्तमने कहा, 'मुझे पतिव्रताने धर्म-तुलाधारके पास जाकर प्रश्न करनेका आदेश किया है।' हरिने कहा—'अच्छी बात है, तुम मेरे साथ चलो, मैं भी वहीं जाऊँगा।' इतना कहकर हरि चलनेको तैयार हो गये। नरोत्तमने पूछा—'उस धर्मतुलाधारका मकान कहाँ है ?' हरि बोले—'जहाँपर लोग बहुत-सी चीजें खरीदते-बेचते हैं, उसी बाजारमें तुलाधार रहते हैं। लोग धान, रस, तैल, अन्न आदि वस्तुएँ उसके धर्मकाँटेपर तौलाकर देते-लेते हैं। वह नरश्रेष्ठ प्राण जानेपर भी कभी झूठ नहीं बोलता। उसके इसी कामसे उसका नाम धर्मतुलाधार पड़ गया है।' हरिके इतना कहते-कहते ही नरोत्तम तुलाधारके पास पहुँच गया। देखा कि तुलाधार बहुत-सा रस बेच रहा है। उसका शरीर मैला-कुचैला हो रहा है। वह लेन-देन-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है, अनेक प्रकारके नर-नारियोंने उसे चारों ओरसे घेर रखा है। तुलाधारने ब्राह्मणको देखते ही कहा, 'क्यों, क्यों ? क्या काम है ?' यों उसकी बात सुनकर ब्राह्मणने मधुर वाणीसे कहा—'भाई ! मैं तुम्हारे पास धर्मोपदेश ग्रहण करने आया हूँ, तुम मुझे उपदेश करो।' तुलाधारने कहा—'महाराज ! अभी तो मेरे ग्राहकोंकी भीड़ लग रही है, एक पहर राततक मुझे फुरसत नहीं मिलेगी। आप मेरे कहनेसे धर्माकरके पास जाइये। बगुलेकी हिंसाका दोष और आकाशमें धोती न सूखनेका कारण आदि सभी बातें वे आपको बतला सकते हैं। उनका नाम अद्रोहक है। वे बड़े ही सज्जन हैं। उनके उपदेशसे आपके सम्पूर्ण काम सफल हो सकेंगे।' तुलाधार ब्राह्मणसे इतना कहकर फिर अपने लेनदेनमें लग गया। तब नरोत्तमने ब्राह्मण-वेषधारी हरिसे कहा—'महाराज ! मैं तुलाधारके उपदेशसे अद्रोहकके पास जाऊँगा, परंतु मैं उनका घर नहीं जानता; क्या आप बतला देंगे ?' हरिने कहा—'आओ, आओ ! मैं भी तुम्हारे साथ उनके घर चलूँगा।' रास्तेमें नरोत्तमने हरिसे पूछा—'महाराज ! यह तुलाधार समयपर स्नान या देवपितृ-तर्पण कुछ भी नहीं करता। इसका सारा शरीर मैला हो रहा है, कपड़ोंमें गन्ध आ रही है। यह अन्यत्र होनेवाली मेरी घटनाओंको कैसे जान गया ? यह सब देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है। आप इसका कारण बतलाइये।' हरिने कहा—'सत्य और समदर्शनके प्रतापसे तुलाधारने तीनों लोकोंको जीत लिया है। इसीसे देव-पितर और मुनिगण भी इससे तृप्त हो गये हैं और इसी कारणसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी सब कुछ जानता है।' कहा भी गया है—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
विशेषे समभावस्य पुरुषस्यानघस्य च॥
अरौ मित्रेऽप्युदासीने मनो यस्य समं व्रजेत्।
सर्वपापक्षयस्तस्य विष्णुसायुज्यतां व्रजेत्॥

'सत्यसे बढ़कर परम धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर बड़ा पाप नहीं है। जो निष्पाप समदर्शी पुरुष हैं, शत्रु, मित्र और उदासीन सभी जिनके मनमें समान हैं, उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे विष्णुभगवान्के सायुज्य-(मोक्ष-)को प्राप्त करते हैं।' जो मनुष्य सदा

ही ऐसा व्यवहार करते हैं, वे अपने कुलोंका उद्धार करनेवाले होते हैं। सत्य, दम, शम, धैर्य, स्थिरता, अलोभ, अनैश्वर्य और अनालस्य सभी उनमें रहते हैं। वे धर्मज्ञ देव और नरलोकके सभी विषयोंको जानते हैं, उनकी देहमें साक्षात् श्रीहरि निवास करते हैं, जगत्में उनके समान कोई नहीं होता। जो सत्य, सरल और समदर्शी हैं, वे साक्षात् धर्ममय हैं। वास्तवमें इस जगत्को वे ही धारण करते हैं। इसपर नरोत्तमने कहा—'आपकी कृपासे मैंने तुलाधारका रहस्य तो जाना, अब यदि आप उचित समझें तो अद्रोहकका भी इतिहास बतला दें।' हरिने कहा—'किसी एक राजकुमारकी सुन्दरी नामकी एक परम सुन्दरी नवयुवती भार्या थी। वह अपने पतिको बड़ी ही प्यारी थी। राजकुमारको किसी खास कामसे अकस्मात् बाहर जानेकी आवश्यकता पड़ी। वह अपने मनमें चिन्ता करने लगा कि 'इस प्राणोंकी पुतली प्रियाको किसके पास छोड़कर जाऊँ, कहाँ इसकी रक्षा हो सकेगी?' अन्तमें उसने अद्रोहकके पास जाकर कहा कि 'मैं बाहर जाता हूँ, जबतक लौटकर न आऊँ तबतक मेरी इस नवयुवती सुन्दरी स्त्रीकी रक्षाका भार तुम ग्रहण करो।' राजकुमारके इस प्रस्तावसे आश्चर्यमें पड़कर अद्रोहकने कहा कि 'मैं तो आपका पिता, भाई या मित्र नहीं हूँ, न आपके माता-पिताके कुलसे ही मेरा सम्बन्ध है, आपकी पत्नीसे भी मेरा कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं है। इस अवस्थामें मेरे घर अपनी स्त्रीको रखकर आप कैसे स्वस्थ रह सकेंगे?' राजकुमारने कहा—'संसारमें आपके समान धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय पुरुष दूसरा कोई नहीं है।' अद्रोहकने कहा—'आप बुरा न मानें; देखिये, त्रैलोक्यमोहिनी भार्याकी कौन पुरुष रक्षा कर सकता है?' राजकुमार बोले—'मैं अच्छी तरह सोच-समझकर ही आपके पास आया हूँ। मेरी स्त्रीको आप ही रखिये, मैं अपने घर जाता हूँ।' राजपुत्रके ऐसा कहनेपर अद्रोहकने फिर कहा—'इस शोभायुक्त नगरीमें कामी पुरुषोंकी भरमार है; मैं कैसे तुम्हारी स्त्रीकी रक्षा कर सकूँगा?' राजकुमारने कहा—'आप जैसे ठीक समझें वैसे ही रक्षा करें, मैं चलता हूँ।' गृहस्थ अद्रोहकने धर्मसंकटमें पड़कर राजकुमारसे कहा—'हे पितः! मैं इस अरक्षिता स्त्रीकी रक्षाके निमित्त जो देखनेमें अनुचित होगा, वैसा कर्म भी उचित और हितकर समझकर करूँगा। मैं इसे रातको अकेली नहीं रख सकता, अतएव मैं अपनी भार्याके साथ जिस शय्यापर सोता हूँ, उसीपर इसे भी सोना पड़ेगा। आपको इसमें आपत्ति हो तो अपनी स्त्रीको वापस ले जाइये, नहीं तो छोड़ जाइये।' राजकुमारने कुछ देरतक सोचकर कहा—'अच्छी बात है, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें।' तदनन्तर राजकुमारने अपनी पत्नीसे कहा—'सुन्दरि! इनके आज्ञानुसार सब काम करना; इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा। राजपुत्र इतना कहकर अपने पिता नरेशके आज्ञानुसार वहाँसे चला गया। अद्रोहकने रातको वही किया। वह धार्मिक पुरुष रातको अपनी स्त्री और राजपुत्र-पत्नीके बीचमें एक शय्यापर सोने लगा, परंतु धर्मपथसे कभी नहीं डिगा। राजकुमारकी पत्नीका नींदमें कभी अङ्ग स्पर्श हो जाता तो उसे अपनी जननीके अङ्गके समान प्रतीत होता। वह इस प्रकार मन-इन्द्रियोंको जीतकर रहा कि उसकी स्त्री-सङ्ग-प्रवृत्ति ही जाती रही। इस प्रकार छः महीने बीतनेपर राजकुमार विदेशसे लौटकर घर आया। बराबरीवालोंने पूछा—'तुम्हारी स्त्री तुम्हारी अनुपस्थितिमें कहाँ रही?' उसने कहा—'अद्रोहकके घर।' कुछ युवकोंने व्यंगसे कहा—'अच्छा किया जो अपनी स्त्री अद्रोहकको दान कर गये, वह रातको उसके साथ सोता था। स्त्री-पुरुषके एक साथ सोनेपर भी क्या कभी संयम रह सकता है?' इस तरह लोग तरह-तरहके दोष लगाने लगे। अद्रोहकको इस बातका पता लगा, तब उसने इस जनापवादकी निवृत्तिके लिये काठकी एक चिता बनाकर उसमें आग

लगा दी। इतनेमें ही राजपुत्र वहाँ आ पहुँचा। राजकुमारने अपनी स्त्रीको प्रसन्नमुख और अद्रोहकको विषादयुक्त देखकर अद्रोहकसे कहा—'भाई! मैं आपका मित्र बहुत दिनों बाद विदेशसे लौटकर आया हूँ, आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं?'

अद्रोहकने कहा—'मैंने आपकी स्त्रीको घर रखकर बदनामी मोल ले ली, उसे दूर करनेके लिये मैं आज अग्निमें प्रवेश करूँगा; सम्पूर्ण देवता मेरे कृत्यको देखें।' इतना कहकर अद्रोहक धधकती हुई अग्निमें कूद पड़ा; परन्तु आश्चर्य कि उसका एक बाल भी नहीं जला! देवता आकाशसे साधु-साधु कहने लगे। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। जिन लोगोंने अद्रोहकपर दोष लगाया था, उनके मुखोंपर कुछ रोग हो गया। देवताओंने आकर उसको अग्निसे निकाला। मुनियोंने विस्मित होकर सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा की। फिर महातेजस्वी अद्रोहकने भी उन सबकी पूजा की। सुर-असुर और मनुष्योंने मिलकर अद्रोहकका नाम सज्जनाद्रोहक रखा। उसकी चरणरजसे पृथ्वी हरीभरी हो गयी। तब देवताओंने राजकुमारसे कहा कि 'तुम अपनी स्त्रीको ग्रहण करो, अद्रोहकके समान जगत्में दूसरा कोई नहीं है। जगत्में सभी लोग कामके वश हैं। काम, क्रोध, लोभ सभी प्राणियोंमें हैं; कामसे संसारमें बन्धन होता है, यह जानकर भी लोग अकामी नहीं होते। इस अद्रोहकने कर्तव्य-पालनके लिये कामको जीतकर मानो चौदह भुवनोंको जीत लिया है। इसके हृदयमें नित्य वासुदेव विराजमान हैं।' यों कहकर सब लोग और राजपुत्र अपनी पत्नीसहित अपने-अपने घर चले गये। उस समय अद्रोहकको कामजयके प्रतापसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी। वह तीनों लोकोंकी सभी बातोंको अनायास देखने और जाननेमें समर्थ हो गया।'

इस प्रकार बातें होते-होते ही नरोत्तम ब्राह्मण अद्रोहकके घर आ पहुँचा। नरोत्तमने अद्रोहकसे धर्मका तत्त्व पूछा। अद्रोहकने कहा—'हे धर्मज्ञ विप्र! आप पुरुषोत्तम वैष्णवके घर जाइये, उनके दर्शनसे ही आपकी मनःकामना पूर्ण हो जायगी। बगुलेकी मृत्यु और धोती सूखने आदिके सभी भेद वे आपको बता सकते हैं।' नरोत्तम यह सुनकर ब्राह्मण-वेषधारी विष्णुके साथ पुरुषोत्तम वैष्णवके घर आया। नरोत्तमने देखा कि वैष्णव परम शुद्ध, शान्त, समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त और अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहे हैं। धर्मात्मा नरोत्तमने उस ध्यानस्थ भगवद्भक्तसे कहा—'मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ; आप मुझे उपदेश दीजिये।' पुरुषोत्तम बोले—'देवश्रेष्ठ भगवान् हरि सदा ही तुमपर प्रसन्न हैं; हे ब्राह्मण! आज तुम्हें देखकर मेरे मनमें बड़ा आह्लाद हो रहा है। मेरे घरमें भगवान्के दर्शनसे तुम्हारा अतुलनीय कल्याण होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' नरोत्तमने कहा—'आपके घरमें विष्णु भगवान् कहाँ विराजमान हैं, कृपाकर मुझे दिखला दें।' वैष्णवने कहा—'इस रमणीय देवमन्दिरमें प्रवेश करते ही तुम भगवान्के दर्शन कर घोर पाप और जन्म-कर्मके बन्धनोंसे छूट जाओगे।' वैष्णवके इन वचनोंको सुनकर नरोत्तमने मन्दिरमें प्रवेश करके देखा कि भगवान्की मूर्तिकी जगह वही ब्राह्मण-वेषधारी विष्णु उसी रूपमें पद्मासनसे बैठे हुए हैं। नरोत्तमने उनको देखते ही मस्तकद्वारा प्रणामकर उनके चरण पकड़ लिये और कहा—'हे देवेश! मैं आपको पहले पहचान न सका। अब आप मुझपर प्रसन्न होइये। हे प्रभो! मैं इस लोक और परलोकमें आपका दास बना रहूँ। हे मधुसूदन! मुझपर कृपादृष्टि कीजिये। यदि वास्तवमें आपकी मुझपर कृपा है तो अपने स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये।' भगवान्ने कहा—'हे भूदेव! तुम्हारे प्रति सर्वदा ही मेरा स्नेह

*

है । स्नेहके वश होकर ही मैं भक्तोंको दर्शन दिया करता हूँ । पुण्यात्मा पुरुषोंके एक बारके दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्तन और सम्भाषणसे ही पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है । उनके नित्यसङ्गसे सारे पाप छूट जाते हैं और अन्तमें वह उनका सङ्ग करनेवाला मुझमें मिल जाता है । तुम मेरे भक्त हो, बकबचसे तुम्हें जो पाप हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये तुम फिर उसी मूकके पास जाओ । मूक चाण्डाल पुण्यात्माओंमें प्रधान तीर्थरूप है । उसके दर्शन और मेरे साथ सम्भाषण होनेके कारण ही तुम मेरे मन्दिरमें आ सके हो । जो करोड़ों जन्मोंतक निष्पाप रहते हैं, वे ही धर्मात्मा पुरुष मेरा दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं, अतएव अब तुम अपना इच्छित वर माँगो ।'

ब्राह्मणने कहा—'हे सर्वलोकेश्वर ! मैं यही चाहता हूँ कि मेरा मन सर्वथा आपमें लगा रहे, आपके सिवा और किन्हीं भी पदार्थोंमें मेरा प्रेम न हो ।' भगवान्‌ने कहा—'जब तुम्हारी बुद्धिका ऐसा विकास हो गया है, तब तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण होगी; परंतु तुम्हारे माता-पिता अबतक तुम्हारी सेवासे वंचित हैं । तुम अपने माता-पिताकी सेवा कर चुकनेके बाद मुझमें विलीन हो सकोगे । तुम्हारे माता-पिताके दुःखभरे लंबे-लंबे श्वासोंकी वायुसे तुम्हारा तप नष्ट होता रहता है । अतएव तुम पहले उनकी पूजा करो । जिस पुत्रपर माता-पिताका कोप पड़ता है उसको नरकगामी होनेसे मैं, शिव या ब्रह्मा—कोई नहीं बचा सकते । इसलिये तुम अपने माँ-बापके पास जाकर बड़े यत्नसे उनकी पूजा करो; तदनन्तर उनके प्रसादसे तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे ।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर ब्राह्मणने फिर हाथ जोड़कर कहा—'हे नाथ ! हे अच्युत ! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो एक बार अपने दिव्यरूपका दर्शन कराइये ।' फिर प्रसन्नहृदय भगवान्‌ने प्रेमवश ब्राह्मणको अपने स्वरूपका दर्शन कराया । ब्राह्मणने देखा 'पुरुषोत्तम हरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं । उनके तेजसे समस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है; वे ही सम्पूर्ण लोकोंके कारण हैं ।' उसने दण्डवत्-प्रणाम करके गद्गद वाणीसे कहा—'हे अच्युत ! आज मेरा जन्म सफल हो गया । मेरे नेत्र प्रसन्न और दोनों हाथ श्लाघ्य हो गये । मैं आज धन्य हो गया । आज मेरे कुलके लोग सनातन ब्रह्मलोकको चले गये । मेरा समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गया । परंतु नाथ ! मेरा एक आश्चर्य अभी दूर नहीं हुआ है; वह यह कि मूकादि सज्जनोंने मेरा पूर्व वृत्तान्त क्योंकर जाना और आप सुन्दर विप्ररूप धरकर मूक, पतिव्रता, तुलाधार, अद्रोहक और इन वैष्णवके घरमें क्यों नित्य निवास करते हैं ?'

भगवान्‌ने कहा—'हे ब्राह्मण ! मूक चाण्डाल सर्वदा अपने माता-पिताकी सेवामें रत है; शुभा नामकी स्त्री अनन्य पतिव्रता है; तुलाधार सत्यवादी और सर्वत्र समदर्शी है; अद्रोहक काम, लोभको जय कर चुका है तथा यह वैष्णव मेरा अनन्य भक्त है । इनके इन गुणोंसे प्रसन्न होकर ही मैं आनन्दपूर्वक इनके घर सदा लक्ष्मी और सरस्वतीसहित निवास करता हूँ और इन्हीं गुणोंके प्रतापसे ये लोग सब बातें जाननेमें समर्थ हैं । यदि हमलोग भगवान्‌का अपने घरमें निवास चाहते हैं तो हमें भी ऐसा बनना चाहिये । भगवत्तत्त्वके ज्ञानके लिये अथवा भगवद्दर्शनके लिये उपर्युक्त धर्मोंका पालन नितान्त आवश्यक है । (यह आख्यायिका पद्मपुराणके आधारपर लिखी गयी है ।)
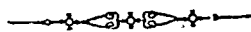
भगवत्तत्त्वका स्वरूप

श्रीवसिष्ठजीने आत्मतत्त्वके विषयमें भगवान् श्रीरामसे कहा—'रघुनन्दन ! आत्मा ही आत्माको जानता है, वह स्वयं ही अज्ञानके कारण अपने-आपको संसार-बन्धनमें बाँधे हुए है। विशुद्ध ज्ञानके द्वारा पवित्र होकर वह शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप स्वप्रकाश परमात्माको प्राप्त होता है। जो अज्ञान-जनित वासनाओंके बन्धनमें बँधा है, उसीको बद्ध जीव कहा गया है। वासनाका अभाव ही मोक्ष है। मन, बुद्धि आदिसे युक्त सम्पूर्ण वासनाओंका त्याग करके जिस वृत्तिके द्वारा उन सबका त्याग किया जाता है, तुम उस बुद्धि-वृत्तिका भी त्याग कर दो। इन सबका अभाव हो जानेपर जो एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा शेष रहता है, तुम उसीमें निश्चलभावसे स्थित रहो। शुद्ध बुद्धिसे युक्त रघुनन्दन ! प्राणोंके स्पन्दनपूर्वक कलना (चेष्टा एवं संकल्प), काल, प्रकाश एवं तिमिर आदिका तथा वासना और विषयोंका (इन्द्रियों तथा समूल अहंकारका) सर्वथा त्यागकर उनसे सम्बन्धरहित होकर जो तुम आकाशके समान सौम्य (निर्मल), प्रशान्त-चित्त तथा चिन्मयस्वरूपसे विराज रहे हो, उसी सर्वसम्मानित रूपमें स्थित रहो। जो परम बुद्धिमान् पुरुष सबका हृदयसे परित्यागकर सब विक्षेपोंके कारणभूत अभिमानसे रहित हो जाता है, वह साक्षात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परमेश्वर है। जिसके हृदयमें अभिमानका अत्यन्ताभाव हो गया है, ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला ज्ञानी महात्मा ध्यान, समाधि अथवा कर्म करे या न करे, सदा मुक्त ही है; क्योंकि जिसका मन सर्वथा वासनारहित हो गया है, उसे न तो कर्मोंके त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके अनुष्ठानसे ही। जप, ध्यान और समाधि आदिसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं। मैंने शास्त्रका अच्छी तरह विचार किया और चिरकालतक सत्पुरुषोंके साथ परामर्श करके यही सार निकाला कि सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित हो सच्चिदानन्दघन परमात्माके निरन्तर मननरूप मौनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम पद नहीं है। दसों दिशाओंमें घूम-घूमकर मैंने सारी दर्शनीय वस्तुओंको देख लिया। मुझे कुछ ही लोग ऐसे दिखायी दिये, जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव करनेवाले हैं।

मनुष्यके जो कोई भी लौकिक शुभ आयोजन हैं और जो भी उनके व्यावहारिक सत्कर्म हैं, वे सब केवल शरीरका निर्वाह करनेके लिये ही हैं, आत्माके लिये नहीं। पाताल, भूतल, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक और आकाशमें कुछ ही ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें सच्चिदानन्द परमात्माका यथार्थ बोध हो गया हो। जिस ज्ञानीके—'यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, इस तरहके अज्ञानजनित निश्चय नष्ट हो गये हैं,' वह कर्तव्याकर्तव्य-दृष्टिसे रहित ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। प्राणी चाहे लोकमें राज्य करे, चाहे मेघ या जलमें प्रवेश कर जाय, परंतु परमात्माकी प्राप्तिके बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती। जो इन्द्रियरूपी शत्रुओंका दमन करनेमें शूरवीर हैं, जन्मरूपी ज्वरका विनाश करनेके लिये उन्हीं महाबुद्धिमान् महापुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। पातालमें और स्वर्गमें सर्वत्र पाँच ही भूत हैं, छठा कुछ भी नहीं है। फिर धीर मनुष्योंकी बुद्धि कहाँ अनुरक्त हो, क्योंकि सर्वत्र क्षणभङ्गुर पदार्थोंकी ही उपलब्धि होती है। शास्त्रके अनुसार निष्काम-भावरूप युक्तिसे व्यवहार करनेवाले विवेकी पुरुषके लिये संसार गौके खुरके समान अनायास ही लाँघ जाने योग्य है। परंतु जिसने उपर्युक्त युक्तिका आश्रय नहीं ग्रहण किया है, उस अज्ञानीके लिये यह संसार

महाप्रलयकालीन महासागरके समान दुस्तर है। पातालसे लेकर स्वर्गपर्यन्त इस जगत्‌में ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है। जैसे मन्द-मन्द वायुके चलनेसे पर्वत नहीं हिलता, वैसे ही भोग-समूहोंसे भी तत्त्वज्ञानी पुरुष विचलित नहीं होता। जैसे बादल आकाशमें बारंबार छा जानेपर भी उसे अपने रंगमें नहीं रँग सकते, उसी प्रकार संसारके ये विषय-भोगरूप पदार्थ पुनः-पुनः प्राप्त होनेपर भी विशाल हृदय तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको कभी आसक्त नहीं कर सकते।

(योगवासिष्ठ, स्थितिप्रकरण, सर्ग—५७)

भगवत्तत्त्व आत्मतत्त्वसे अभिन्न है

(परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्मपदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करते रहनेका आदेशपूर्वक वसिष्ठजीका श्रीरामके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संसारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना)

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तुम आकाशके समान विशद और तत्त्वके ज्ञाता हो। एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मपदमें तुम्हारी स्थिति है। तुम सर्वत्र सम, सौम्य, सम्पूर्णानन्दमय हो; तुम्हारा अन्तः-करण ब्रह्मस्वरूप एवं विशाल है। निष्पाप रघुनन्दन! जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके सदा ब्रह्मा-नन्दमें निमग्न हो आत्माराम, शान्त एवं उदारभावसे कार्य करता है, वह कर्तापनके दोषसे रहित हो जाता है। जो समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित अपनी बुद्धि-गुहा—हृदयाकाशमें विराजमान परमात्मपदमें स्वेच्छा-नुसार स्थित रहता है, वह अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाला परमेश्वररूप है। जो लोग सदा अन्तर्मुख रहकर बाहरके कार्योंका सम्पादन करते रहते हैं, उनके जीवित रहते हुए भी उनके मनमें उसी तरह वासना नहीं उत्पन्न होती, जैसे जड़ पत्थरोंमें नहीं होती। जगत् न तो द्वैतरूपमें है और न अद्वैतरूपमें ही।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी बात है तो अहंभावकी प्रतीतिरूप वसिष्ठ-नामक आप यहाँ कैसे स्थित हैं? यह बताइये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीरघुनाथ-जीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजी आधे मुहूर्ततक चुपचाप ही बैठे रह गये। उनकी यह चेष्टा सुस्पष्ट ज्ञात हो रही थी। उनके चुप हो जानेपर सभामें जो बड़े-बड़े लोग बैठे हुए थे, वे संशयके समुद्रमें गोते लगाने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर पूछा—'भगवन्! आप मेरी ही तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं? संसारमें कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका उत्तर आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष न दे सकें।'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! मुझमें कुछ कहनेकी शक्ति न होनेके कारण मेरे पास युक्तियोंका अभाव हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु यह प्रश्न जिस कोटिका है, उसमें चुप हो जाना ही इसका उत्तर है। प्रश्नकर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञानी बनकर ही उत्तर देना चाहिये और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर। परमसुन्दर श्रीराम! तत्त्वज्ञ पुरुषको उसके प्रश्नका कलङ्कयुक्त उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु कोई भी ऐसी वाणी नहीं है, जो निष्कलङ्क हो और तुम केवल ज्ञानी ही नहीं, परमज्ञानी हो। अतः तुम्हारे प्रश्नका मौन ही उत्तर है। जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व इस रूपमें उपस्थित किया जाता है जिससे उसके विषयमें उपदेशवाणीकी प्रवृत्ति हो सके।

अतः अज्ञानसे ही उसको ससंकल्प वाणीका विषय बताया गया है एवं उसका कल्पित स्वरूप ही उपदेशका विषय होता है। किंतु तत्त्वज्ञानके पश्चात् जो उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसे मौन अर्थात् वाणीका अविषय ही कहा गया है। इसीलिये तुम-जैसे तत्त्वज्ञ-शिरोमणिको मौनके रूपमें ही सुन्दर उत्तर दिया गया है। प्रिय रघुनन्दन! वक्ता पुरुष स्वयं जैसा होता है, उसके अनुरूप ही वह उपदेश करता है। मैं ज्ञेय ब्रह्मरूप ही हूँ। अतः उस परमपदमें प्रतिष्ठित हूँ, जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है। जो वाणीसे अतीत पदमें प्रतिष्ठित है, वह वाणीरूप मलको कैसे ग्रहण कर सकता है। मैं मौन रहकर उस तत्त्वका प्रतिपादन कर रहा हूँ, जो अनिर्वचनीय है—जिसका वाणीद्वारा ठीक-ठीक वर्णन हो ही नहीं सकता; क्योंकि वाणी संकल्परूप कलङ्कसे युक्त होती है।

श्रीरामने पूछा—भगवन्! वाणीमें जो-जो दोष आते हैं, उनका आदर न करके विधिरूपसे और निषेध रूपसे यह बताइये कि वास्तवमें आप कौन हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! यदि तुम मुझसे मेरे स्वरूपका परिचय सुनना चाहते हो तो इस विषयको यथावत् सुनो। 'तुम कौन हो,' 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है'—इसका विवेचन किया जा रहा है। तात! जो निर्विकार अनन्त चिन्मय परमात्मा है, वही मैं हूँ। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका सर्वथा अभाव है तथा यह समस्त कल्पनाओंसे परे है। मैं निर्मल, अनन्त चेतन हूँ, तुम अनन्त चेतन हो, सारा जगत् अनन्त चेतन है और सब कुछ अनन्त चेतनमात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मामें मैं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हूँ। मुझमें भेदज्ञानकी दृष्टि ही नहीं है। अतः मैं किसी भी वस्तुको अपनेसे भिन्न कहना नहीं जानता। जीवित रहकर व्यवहार-परायण होता हुआ भी जो परमशान्त है, उस ज्ञानी पुरुषकी जो शवके समान स्थिति है, उसीको परमपद कहते हैं। जो बाहर-भीतरके साधनोंसे रहित, शान्त, अनन्त, साधनरूप और सम है, जिसे न सुख कहा जा सकता है न दुःख, जो 'अहं' भी नहीं है तथा **'यत्र नान्यत् पश्यति'** इत्यादि श्रुतिके द्वारा जिसके स्वरूपका निर्देश कराया गया है, वह कल्याणस्वरूप तत्त्व ही परमपद है। उसे मैं अपनेसे भिन्न नहीं समझता। वस्तुतः उसे दूसरा कोई नहीं जानता। लोकैषणासे विरक्त ज्ञानी पुरुषके द्वारा आत्मामें ज्ञातापनकी भाँति उसका स्वयं ही अनुभव किया जाता है। उस परम पदमें न अहंता ('मैं'पन) है, न त्वत्ता ('तू'पन), न अहंताका अभाव है और न अन्यताका ही। वह केवल निर्वाणस्वरूप विशुद्ध कल्याणमय कैवल्य ही है। इस चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही चित्तरूपता है, यही इसका संसार है और यही महान् कष्ट देनेवाला बन्धन है। चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख न होना ही अचेत्यरूपता है। इसीको मोक्ष समझो। यही शान्त एवं अविनाशी परमपद है। जो दिशा और देशकाल आदिकी सीमासे बँधा हुआ नहीं है, वह शान्तस्वरूप शान्तात्मा परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है, उसमें चेत्य-(दृश्य-)की सम्भावना ही नहीं है। फिर कौन, किसका और किस प्रकार चिन्तन करता है? ये जो मन-बुद्धि आदि हैं, ये सब अन्तर्मुख दशामें चैतन्यरूप ही हैं। मन-बुद्धि आदि शब्दोंके अर्थरूपसे भावित होनेपर वे ही जडरूप मानी गयी हैं। समस्त दृश्योंका बाध हो जानेपर जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा अवशिष्ट रह जाता है, उसमें और शून्य आकाशमें क्या अन्तर है—इसे साधारणलोग नहीं जानते—विद्वान् ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। उनका कहना है कि वह परमात्मा चिन्मय और निरतिशयानन्दस्वरूप है, इसलिये वाणीका विषय नहीं होता। जैसे अन्धकारमें देखनेका प्रयत्न करनेसे नेत्रोंमें कुछ

सदसद्रूप आभास दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें जो आभास परिलक्षित होता है, वही यह जगत् है। 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस रूपमें जो जीवोंको अपने अज्ञानका बोध होता है, उससे सुरक्षित अज्ञानरूपी वायुका सहारा पाकर उनकी अविद्याग्नि प्रज्वलित होती रहती है। फिर जब उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह यथार्थ बोध होता है, तब वही वायु उस अविद्याग्निको दुर्बल पाकर बुझा देती है।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द-रूपसे स्थित हुए तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी संसारके भानसे रहित तथा दुःख-रूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते हैं और वही अविनाशी पद है। परमात्मज्ञानके साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे युक्त हो मनुष्य मुनि बन जाता है। परंतु जो परमात्माके अज्ञानके साथ-साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे शून्य होता है, वह पशु एवं वृक्ष बन जाता है। जैसे सुषुप्तावस्थामें स्वप्नका लय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर उस तत्त्वज्ञके समाहित अन्तः-करणके भीतर सारे दृश्य-प्रपञ्चका लय हो जाता है। फिर तो केवल अपना परमात्मस्वरूप ही लक्षित होता है। जैसे आकाशमें नीलिमाकी प्रतीति भ्रममात्र ही है, उसी प्रकार कल्याणस्वरूप परमात्मामें पृथ्वी आदि पाञ्चभौतिक जगत्‌की प्रतीति भ्रमके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश नील आदि वर्णोंसे रहित निर्मल है, उसी प्रकार शिवस्वरूप परमात्मा भी दृश्य प्रपञ्चसे रहित एवं निर्मल है। जिस पुरुषकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि यह सारा दृश्य-प्रपञ्च असत् (मिथ्या) ही है, वह समस्त विशुद्ध वासनाओंसे युक्त होनेपर भी उन वासनाओंसे रहित ही है। सर्वव्यापी शुद्ध बुद्ध परमात्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका होना असम्भव है, इसलिये यहाँ न दुःख है न सुख; न पुण्य है न पाप है और न किसीका कुछ नष्ट ही हुआ है। जिस अहंकारमें यह ममताबुद्धि होती है, वह भी दो चन्द्रमा और स्वप्नके नगरकी भाँति असत् (मिथ्या) ही है; इसलिये सब कुछ निराकार एवं निराधार है। समस्त द्वैतसे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष व्यवहारपरायण हो अथवा काष्ठ या पाषाणके समान निश्चल होकर चुपचाप बैठा रहे—सभी अवस्थाओं-में वह ब्रह्मस्वरूपताको ही प्राप्त है। रघुनन्दन! जो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंद्वारा पूर्णरूपसे सेवित है, जिसे दूसरा कोई छीन नहीं सकता तथा जो ज्ञानस्वरूप निर्मल, शिव, अजन्मा, अविनाशी, नित्यसिद्ध, सम, परमार्थ सत्य तथा शान्त ब्रह्मपद है, वही तुम हो—**'तत्त्वमसि'**। तुम उस परमपदमें नित्य प्रतिष्ठित हो।

अहंभावना ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्षकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली होती है। मूढ़ मनुष्य उस अविद्याके द्वारा ही जो मोक्षका अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पागलोंकी-सी चेष्टा है। अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली अहंता ही अज्ञानकी सत्ताका पूर्ण परिचय देनेवाली है; क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी शान्त पुरुष है, उसमें ममता या अहंता नहीं रहती। अहंताका भलीभाँति त्याग करके आकाशकी भाँति निर्मल तथा मुक्त हुआ ज्ञानी पुरुष सदाके लिये निश्चिन्त हो जाता है; उसका शरीर रहे या न रहे, उसकी उपर्युक्त स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष भीतरकी मानसिक तरङ्गोंसे कभी क्षुब्ध नहीं होता, बाहरसे भी अस्तंगत सूर्यकी भाँति शान्त रहता है और जिसमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है, वह मुक्त कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर भी वह सदा शान्त बना रहता है—हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता। व्यवहारमें संलग्न भी द्वैतभावका अनुभव नहीं करता तथा भीतरसे पूर्ण परमानन्दमें निमग्न रहता है। जैसे समुद्रमें जलरूप

आधारकी सत्ता ही नावों या जहाजोंको क्रय-विक्रयकी वस्तुओंका दुःखद भार वहन करनेके लिये अवसर देती है, उसी प्रकार जीव और जगत्‌की जड सत्ता ही तृष्णाके पाशमें बँधे हुए मनुष्योंको इस जगत्‌में केवल दुःखका भार वहन करनेके लिये प्रेरित करती हैं। जो-जो वस्तु संकल्पसे प्राप्त होती है, वह संकल्पसे ही नष्ट भी हो जाती है। इसलिये जहाँ इस संकल्पकी सम्भावना ही नहीं है, वहीं सत्य एवं अविनाशी पद है। विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष (भेदमात्र) शान्त हो चुके हैं, उनके लिये केवल अहंताका नाश करनेवाली मुक्तिका उदय होता है। उनका कुछ बिगड़ता नहीं। अज्ञानी पुरुषो! मोक्षकी प्राप्तिके लिये भोगोंके त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियोंके निग्रहरूप पुरुषार्थ—इन तीनोंके सिवा चौथी किसी वस्तुका उपयोग नहीं है। अतः अनात्मवस्तुका त्यागकर तुमलोग शीघ्र अपने आत्माकी ही शरणमें आ जाओ। (आत्मतत्त्व ही भगवत्तत्त्व है।) (योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण उ०)

दीर्घायुष्य एवं मोक्षतत्त्वके हेतु शिवकी उपासना

प्राचीन कालमें इन्द्रद्युम्न नामके एक दानी, धर्मज्ञ और सामर्थ्यशाली राजा थे। उनके राज्यमें सभी एकादशीव्रत करते थे। गङ्गाकी वालुका, वर्षाकी धारा और आकाशके तारे कदाचित् गिने जा सकते हैं, पर इन्द्रद्युम्नके पुण्योंकी गणना नहीं हो सकती। इन पुण्योंके प्रतापसे वे सशरीर ब्रह्मलोक चले गये। सौ कल्प बीत जानेपर ब्रह्माजीने उनसे कहा—'राजन्! स्वर्गसाधनमें केवल पुण्य ही कारण नहीं है, अपितु त्रैलोक्यविस्तृत निष्कलङ्क यश भी अपेक्षित होता है। इधर चिरकालसे तुम्हारा यश क्षीण हो रहा है, उसे पुनः उज्ज्वल करनेके लिये तुम वसुधातलपर जाओ।' ब्रह्माजीके ये शब्द समाप्त भी न हो पाये थे कि राजा इन्द्रद्युम्नने अपनेको पृथ्वीपर पाया। वे अपने निवास-स्थल काम्पिल्य नगरमें गये और वहाँके निवासियोंसे अपने सम्बन्धमें पूछ-ताछ करने लगे। उन्होंने कहा—'हमलोग तो उनके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते, आप किसी वृद्ध चिरायुसे पूछ सकते हैं। सुनते हैं नैमिषारण्यमें सप्तकल्पान्तजीवी मार्कण्डेय मुनि रहते हैं। कृपया आप उन्हींसे इस प्राचीन बातका पता लगाइये।'

जब राजाने मार्कण्डेयजीसे प्रणामकर पूछा—'मुने! क्या आप इन्द्रद्युम्न राजाको जानते हैं?' तब उन्होंने कहा—'नहीं, मैं तो नहीं जानता, पर मेरा मित्र नाडीजङ्घ बक शायद उन्हें जानता हो, इसलिये चलिये, उससे पूछा जाय।' इनके वहाँ पहुँचनेपर स्वागतकर नाडीजङ्घने अपनी बड़ी विस्तृत कथा सुनायी और साथ ही अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए अपनेसे भी अति दीर्घायु प्राकारकर्ण नामक उलूकके पास चलनेकी सम्मति दी। इसी प्रकार सभी अपनेको असमर्थ बतलाते हुए चिरायु गृध्रराज और मानसरोवरमें रहनेवाले कच्छप मन्थरके पास पहुँचे। मन्थरने इन्द्रद्युम्नको देखते ही पहचान लिया और कहा—आपलोगोंमें जो ये पाँचवें राजा इन्द्रद्युम्न हैं, इन्हें देखकर मुझे बड़ा भय लगता है; क्योंकि इन्हींके यज्ञमें मेरी पीठ पृथ्वीकी उष्णतासे जल गयी थी।'

अब राजाकी कीर्ति तो प्रतिष्ठित हो गयी, पर उन्होंने क्षयिष्णु स्वर्गमें जाना ठीक न समझा और उन्होंने उनसे मोक्षतत्त्वकी जिज्ञासा की। एतदर्थ मन्थरने लोमशजीके पास चलना श्रेयस्कर बतलाया। लोमशजीके पास पहुँचकर यथाविधि प्रणामादि करनेके पश्चात् मन्थरने निवेदन किया कि राजा इन्द्रद्युम्न आपसे कुछ प्रश्न करना चाहते हैं।

तत्त्वज्ञ देवर्षि नारद

महर्षि लोमशकी आज्ञा लेनेके पश्चात् इन्द्रद्युम्नने कहा—'महाराज ! मेरा प्रथम प्रश्न तो यह है कि आप कभी कुटिया न बनाकर शीत, आतप तथा वृष्टिसे बचनेके लिये केवल एक मुट्ठी तृण ही क्यों लिये रहते हैं ?' मुनिने कहा—'राजन् ! एक दिन मरना अवश्य है, फिर शरीरका निश्चित नाश जानते हुए भी हम घर किसके लिये बनायें ? यौवन, धन तथा जीवन—ये सभी चले जानेवाले हैं । ऐसी दशामें जीवन्मुक्तिदायक 'ज्ञान' ही सर्वोत्तम भवन है ।'

इन्द्रद्युम्नने पूछा—'मुने ! यह आयु आपको ज्ञानके परिणाममें मिली है अथवा तपस्याके प्रभावसे ? यह मैं जानना चाहता हूँ ।' लोमशजीने कहा—'राजन् ! मैं पूर्वकालमें एक दरिद्र शूद्र था । एक दिन दोपहरके समय जलके भीतर मैंने एक बहुत बड़ा शिवलिङ्ग देखा । भूखसे मेरे प्राण सूखे जा रहे थे । उस जलाशयमें स्नान करके मैंने कमलके सुन्दर फूलोंसे उस शिवलिङ्गका पूजन किया और पुनः आगे चल दिया । क्षुधातुर होनेके कारण मार्गमें ही मेरी मृत्यु हो गयी । दूसरे जन्ममें मैं ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुआ । शिवोपासनाके फलस्वरूप मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रहने लगा और मैंने, जान-बूझकर मूकता धारण कर ली । पितादिकी मृत्यु हो जानेपर सम्बन्धियोंने मुझ जीवन्मुक्तको गूँगा जानकर सर्वथा परित्याग कर दिया । तबसे मैं रात-दिन भगवान् शंकरकी आराधना करने लगा । इस प्रकार सौ वर्ष बीत गये । इसी बीच प्रभु चन्द्रशेखरने मुझे प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिया और मुझे इतनी बड़ी आयु दे दी ।'

यह जानकर इन्द्रद्युम्न, बक, कच्छप, गीध और उलूकने भी लोमशजीसे शिव-दीक्षा लेकर तपपूर्वक शिवकी उपासना प्रारम्भ की और शीघ्र ही भगवान्की कृपासे मोक्षको प्राप्त कर लिया ।

(स्कंदपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड २६ । ४-१०)

भगवत्तत्त्वके उपासक

[१]

देवर्षि नारद

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन् माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥

(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३९)

'अहो ! ये देवर्षि नारदजी धन्य हैं, जो वीणाकी स्वरलहरीके साथ शार्ङ्गधन्वा भगवान् श्रीहरिके गुणोंका गान करते हुए इस दुःखी संसारको आनन्दमग्न कर देते हैं ।' नारदजीका सभी युगों, लोकों, शास्त्रों एवं समाजोंमें प्रवेश है । ये भक्तिके प्रधान आचार्य माने गये हैं । इन्होंने प्रत्येक युगमें घूम-घूमकर भक्तिका सर्वत्र प्रचार किया और अब भी अप्रत्यक्षरूपमें वे भक्तोंकी सहायता करते रहते हैं । संसारपर इनका अमित उपकार है । प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्होंने भक्तिमार्गमें प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत और वाल्मीकीय रामायण-जैसे अनेक अनूठे ग्रन्थोंकी रचनाओंके मूल प्रेरक भी ये ही हैं ।

भागवतके अनुसार एक जन्ममें जब ये दासीपुत्र थे, तब भगवान्के अनुग्रहसे बचपनमें चातुर्मास्य बितानेके लिये आये संतोंका कुछ समयके लिये इन्हें समागम प्राप्त हुआ । इन्होंने उन महात्माओंके उच्छिष्ट भी खा लिये, जिसके प्रभावसे उनके सारे पाप नष्ट हो गये । इनके हृदयमें भक्तिका संचार हो गया । उन मुनियोंने जाते समय इन्हें भगवान्के कहे हुए अति गुप्त ज्ञानका उपदेश किया । इससे इनकी बुद्धि भगवत्स्वरूपमें स्थिर हो गयी । जब ये पाँच ही वर्षके थे, इनकी माताकी

अकस्मात् मृत्यु हो गयी और ये उत्तराखण्डके वनोंमें निकल पड़े। वहाँ जाकर ये एक वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्के स्वरूपका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते इनकी वृत्तियाँ एकाग्र हो गयीं और इनके हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये। परंतु थोड़ी देरके लिये इन्हें अपने मनोमोहनीछविकी झलक दिखाकर भगवान् तुरंत अन्तर्धान हो गये। ये बहुत छटपटाये और मनको पुनः स्थिर करके भगवान्का ध्यान करने लगे, किंतु भगवान्का वह रूप उन्हें फिर न दीख पड़ा। इतनेहीमें आकाशवाणी हुई—'इस जन्ममें तुम्हें मेरा दर्शन न होगा। इस शरीरको त्यागकर मेरे पार्षदरूपमें तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे।' भगवान्के इन वाक्योंको सुनकर इन्हें बड़ी सान्त्वना हुई और ये मृत्युकी बाट जोहते हुए निःसङ्ग होकर पृथ्वीपर विचरने लगे। समय आनेपर इन्होंने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको त्याग दिया और फिर कल्पके अन्तमें ये दिव्य विग्रह धारणकर ब्रह्माजीके मानस पुत्रके रूपमें पुनः अवतीर्ण हुए और तबसे ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर भगवान्की दी हुई वीणाको बजाते हुए भगवान्के गुणोंको गाते रहते हैं और इन्हें सदा भगवान्का दर्शन होता रहता है।

महाभारतमें कहा है कि देवर्षि नारदजी समस्त वेदों तथा पुराण, शिक्षा-कल्प-व्याकरणके विशेषज्ञ, बृहस्पति-जैसे विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करनेवाले, योगबलसे समस्त लोकोंकी बातोंका पता रखनेवाले, मोक्षाधिकारके ज्ञाता, संधि और विग्रहके सिद्धान्तोंको जाननेवाले, विधिका उपदेश करनेवाले, समस्त सद्गुणोंके आधार और अपार तेजस्वी हैं।

इनकी समस्त लोकोंमें अबाध गति है। ये भगवान्के विशेष कृपापात्र और लीला-सहचर हैं। जब-जब भगवान्का अवतार होता है तो ये उनसे निरन्तर सम्पर्क रखते हैं और उनकी सभी अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं। इनका मङ्गलमय जीवन जगत्के मङ्गलके लिये ही है। श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओंके तो ये प्रमुख पात्रके रूपमें प्राप्त होते ही हैं। इनके व्यास-शुकादिको दिये भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी उपदेश निरन्तर मननीय हैं। इसके लिये भागवत (१।४-५) तथा महाभारतका मोक्षधर्मपर्व देखना चाहिये।

[२]

महर्षि वसिष्ठ

महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंमें विभिन्न-रूपसे प्राप्त होता है। ये कहीं ब्रह्माके मानसपुत्र और कहीं अग्निपुत्र तथा कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठके चरित्रसे हमारे धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। इनकी सहधर्मिणी अरुंधतीजी हैं, जो सप्तर्षिमण्डलके पास ही अपने पतिदेवकी सेवामें निरत रहती हैं।

जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि करनेकी और भूमण्डलमें आकर सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा की तब इन्होंने उस कार्यसे बड़ी हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्ण अवतार होनेवाला है, अतः इसी कर्मके द्वारा तुम्हें महान् लाभ होगा। तब इन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यहाँ आकर इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूत-हितमें लगाये रक्खा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब इन्होंने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोंकी अकाल मृत्युसे रक्षा की। इन्होंने इक्ष्वाकु, निमि आदिसे अनेकों यज्ञ कराये और विभिन्न महापुरुषोंके यज्ञोंमें सम्मिलित होकर उनके अनुष्ठानको पूर्ण किया। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गङ्गाको लानेसे

भगीरथको निराशा हुई, तब इन्होंने उन्हें प्रोत्साहन देकर मन्त्र बतलाया और इन्हींके उपदेशके बलपर भगीरथने प्रयत्न करके गङ्गा–जैसी लोककल्याणकारिणी महानदीको हम लोगोंके लिये सुलभ कर दिया। जब दिलीप संतानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुःखी हो रहे थे, तब उन्हें अपनी गौनन्दिनीकी सेवाविधि बताकर रघु-जैसे पुत्ररत्नका दान किया। दशरथकी निराशामें आशाका संचार करनेवाले ये महर्षि वसिष्ठ ही थे। इन्हींकी सम्मतिसे पुत्रेष्टि यज्ञ हुआ और फलस्वरूप भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण किया। भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर वसिष्ठने अपना पुरोहित जीवन सफल किया और न केवल वेद-वेदाङ्ग ही, बल्कि योगवासिष्ठ-जैसे–अपूर्व ज्ञानमय ग्रन्थका उपदेशकर अपने ज्ञानको सफल किया। भगवान् श्रीरामके वनगमनसे लौटनेपर उन्हें राज्यकार्यमें सर्वदा परामर्श देते रहे और उनके अनेकों यज्ञ-यागादि करवाये।

महर्षि वसिष्ठसे काम-क्रोधादि शत्रु पराजित होकर उनकी चरणसेवा किया करते थे, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है? एक बार विश्वामित्र उनके अतिथि हुए, इन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी कामधेनु सरलाकी सहायतासे अनेकों प्रकारकी भोजन-सामग्री आदि उपस्थित कर दी और विश्वामित्रने अपनी सेवाके साथ पूर्णतः तृप्ति-लाभ किया। उस गौकी ऐसी अलौकिक क्षमता देखकर विश्वामित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की। गौ वसिष्ठजीके अग्निहोत्रके लिये आवश्यक थी, अतः जब उन्होंने देनेमें असमर्थता प्रकट की, तब विश्वामित्रने बलात् छीन ले जानेकी चेष्टा की। उस समय वसिष्ठजीने उस गौकी सहायतासे अपार सेनाकी सृष्टि कर दी और विश्वामित्रकी सेनाको मार भगाया। क्षत्रियबलके सामने इस प्रकार ब्रह्मबलका उत्कर्ष देखकर उन्हें हार माननी पड़ी, परंतु इससे उनकी द्वेषभावना कम न हुई, बल्कि उन्होंने वसिष्ठको हरानेके लिये महादेवकी शरण ग्रहण की। शंकरकी कृपासे दिव्यास्त्र प्राप्त करके उन्होंने फिर वसिष्ठपर आक्रमण किया, परंतु वसिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उनकी एक न चली और उनके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः पराजय स्वीकार करके उन्हें ब्राह्मणत्व-लाभके लिये तपस्या करने जाना पड़ा। महर्षि वसिष्ठ क्षमाकी भी मूर्ति थे। जब विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोंका संहार कर दिया, उस समय यद्यपि इन्होंने बड़ा शोक प्रकट किया, परंतु सामर्थ्य होनेपर भी विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तन नहीं किया, बल्कि अन्तःकरणके क्षणिक शोकाकुल होनेपर भी ये अपनी निर्लेपता और असंगताको न भूले।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रसे इनका यह विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्सङ्ग? वसिष्ठजीका कहना था कि सत्सङ्ग बड़ा है और विश्वामित्रजीका कहना था कि तपस्या बड़ी है। अन्तमें दोनों महर्षि अपने विवादका निर्णय करानेके लिये ब्रह्माजीके पास उपस्थित हुए। सब बातें सुनकर ब्रह्माजीने कहा कि आप लोग पंच एकत्र करें। जाइये सूर्य, शेष, अगस्त्यादिको बुला लाइये। जब ये शेषनागके पास गये तो वे बोले 'भाई! अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है, दोनोंमेंसे कोई एक थोड़ी देरके लिये पृथ्वीको ले लें तो मैं निर्णय कर सकता हूँ।' विश्वामित्रजी अपनी तपस्याके अहंकारमें फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसारमें तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्सङ्गके आधे क्षणके फलका संकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रहे। इसी प्रकार सूर्यादिके

पास भी घटनाएँ हुईं। अन्तमें जब सभी ब्रह्माजीके पास पहुँचे तो ये निर्णयका आग्रह करने लगे और कहा कि अभीतक आपने निर्णय तो सुनाया ही नहीं, इसपर सभी लोग हँस पड़े। उन्होंने कहा—'निर्णय तो अपने आप हो गया, आधे क्षणके सत्सङ्गकी बराबरी हजारों वर्षकी तपस्या नहीं कर सकती।' फिर क्या था, वे प्रसन्नताके साथ अपने-अपने आश्रमपर लौट आये। विश्वामित्रने तपपूर्वक ब्रह्मर्षित्व भी प्राप्त कर लिया।

महर्षि वसिष्ठ योगवासिष्ठके उपदेशके रूपमें ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति हैं और अनेक यज्ञ-यागों तथा वसिष्ठ-संहिताके प्रणयनद्वारा उन्होंने कर्मके महत्त्व और आचरणका आदर्श स्थापित किया है। उनका जीवन तो भगवान् श्रीरामके प्रेमसे सराबोर है ही। इतिहास-पुराणोंमें इनके चरित्रका बहुत बड़ा विस्तार है। महर्षि वसिष्ठ आज भी सप्तर्षियोंमें रहकर सारे जगतके कल्याणमें लगे हुए हैं।

[२]

अष्टावक्र

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धास्तद् विष्णोः परमं पदम्।*

(अष्टावक्रगीता)

भगवान् अष्टावक्रके सम्बन्धमें पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि जब ये गर्भमें ही थे, तभी इन्हें समस्त वेदोंका बोध था। इनके पिता एक बार कुछ अशुद्ध पाठ कर रहे थे। इन्होंने गर्भमेंसे ही कहा—'अशुद्ध पाठ क्यों करते हो?' पिताको यह बात कुछ बुरी लगी। उन्होंने शाप दिया कि 'अभीसे तू इतना टेढ़ा है तो जा, तू आठ अङ्गोंसे टेढ़ा हो जा।' पिताका वचन सत्य हुआ और ये आठ स्थानसे टेढ़े ही पैदा हुए। इसीलिये इनका नाम अष्टावक्र पड़ा। इन्होंने फिर विधिवत् वेद-वेदान्तका अध्ययन किया।

उन दिनों महाराज जनकके यहाँ एक पुरोहित रहता था। उसने यह नियम बना लिया था कि जो शास्त्रार्थमें मुझसे हार जायगा, उसे मैं जलमें डुबा दूँगा। बड़े-बड़े पण्डित जाते और हार जाते। हारनेपर वह पण्डितोंको जलमें डुबा देता। अष्टावक्रजीके पिता-मामा आदि भी इसी तरह जलमें डुबो दिये गये।

जब ये कुछ सयाने हुए तो इन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं भी उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करने जाऊँगा। इनकी बात सुनकर इनकी माता आदिने बहुत मना किया, किंतु ये माने ही नहीं। सीधे महाराजकी राजसभामें पहुँचे। इनके आठ स्थानसे टेढ़े शरीरको देखकर सभी सभासद् हँस पड़े और उन्होंने जब यह सुना कि ये शास्त्रार्थ करने आये हैं तब तो वे और भी जोरोंसे हँसे।

अष्टावक्रजीने कहा—'हम तो समझते थे कि विदेहराजकी सभामें कुछ पण्डित भी होंगे। किंतु यहाँ तो सब चमार निकले।' यह सुनकर सभी उनके मुखकी ओर देखने लगे। राजाने पूछा—'ब्रह्मन्! आपने सभीको चमार कैसे बताया, यहाँ तो बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण पण्डित हैं।'

अष्टावक्रजीने कहा—'देखो, आत्मा नित्य शुद्ध, निर्लेप और निर्विकार है। उसमें कोई विकार नहीं, दोष नहीं; वह मुझमें है। जिसे उसकी परीक्षा है, वही ज्ञानी या पण्डित है। उसे न पहचानकर जो चर्मसे ढके हुए इस अस्थि-मांसके शरीरको ही देखकर हँसता है उसे उस आत्माका तो बोध है नहीं, मात्र चमड़ेका ध्यान है। जिसकी ऐसी प्रवृत्ति हो, वह चमार ही तो है।'

इनकी ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर महाराजको तथा समस्त सभासदोंको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने इनका अभिनन्दन किया, पूजा की और आनेका कारण पूछा।

* जो प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल इन चारोंसे परे है, जिसे ब्रह्मज्ञानी पण्डितजन ही देख पाते हैं, वही विष्णुका परम पद है।

उन्होंने कहा—'मैं आपके उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करूँगा, जो सबको जलमें डुबा देता है।' महाराजने इन्हें बहुत मना किया, किंतु ये माने ही नहीं। विवश होकर महाराजने बन्दी नामके उस पण्डितको बुलाया। इन्होंने उससे शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थमें उसे परास्त कर दिया। तब तो वह घबड़ाया। इन्होंने उसे पकड़ लिया और कहा—'जैसे तुमने सबको जलमें डुबोया है, उसी प्रकार मैं तुम्हें जलमें डुबोऊँगा।' यह कहकर उसे जलमें घसीट ले गये। उसने संतुष्ट होकर कहा—'ब्रह्मन्! मैं आपकी विद्वत्ता और पाण्डित्यसे बहुत प्रसन्न हूँ। रह गयी मुझे डुबानेकी बात, सो मैं जलमें डूब नहीं सकता। मैं वरुणका दूत हूँ। महाराज वरुण एक यज्ञ कर रहे थे। उन्हें वहाँ श्रेष्ठ पण्डितोंकी आवश्यकता थी, इसीलिये मैंने यहाँसे सब पण्डितोंको वहीं भेजा है। जिन्हें मैंने जलमें डुबाया है, वे सब-के-सब जीवित हैं और वरुणजीके यज्ञको सम्पन्न कराकर अब वापस आ रहे हैं। मैं उन सबको आपके सामने यहाँ लाता हूँ।' बन्दीके इतना कहते-न-कहते सभी पण्डित दक्षिणासहित वहाँ आ गये। सभीने प्रेमपूर्वक अष्टावक्रजीका आलिङ्गन किया और कहा—'इसीलिये तो ऋषियोंने सत्-पुत्रकी प्रशंसा की है। यदि समस्त कुलमें एक भी धर्मात्मा सत्पुत्र हो जाता है तो वह समस्त कुलका उद्धार कर सकता है।'

'अष्टावक्रगीता'में भगवत्तत्त्वपर अद्भुत प्रकाश है।

[४]

अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि तथा भगवत्तत्त्वके मुख्य उपदेष्टाओंमेंसे एक हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विभिन्न कथाएँ मिलती हैं। कहीं मित्रावरुणके द्वारा वसिष्ठके साथ इनके घड़ेमें पैदा होनेकी बात आती है तो कहीं पुलस्त्यकी पत्नी हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है। किसी-किसी ग्रन्थके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यतनय दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये सभी बातें कल्पभेदसे मान्य हैं। वाल्मीकीय रामायण अरण्यकाण्डके अनुसार ये सभी देवताओंके भी आराध्य रहे हैं।

कहते हैं, एक बार विन्ध्याचलने बढ़कर भगवान् सूर्यका मार्ग अवरुद्ध कर लिया। इससे संसारयात्रा एवं यज्ञादि कर्म अवरुद्ध हो गये। देवतागण महर्षि अगस्त्यके शरणमें गये। अगस्त्यने उन्हें आश्वासन दिया और स्वयं विन्ध्याचलके पास उपस्थित हुए। विन्ध्याचलने इनकी बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे आवभगत की और साष्टाङ्ग नमस्कार किया। अगस्त्यजीने उससे कहा—'भैया! मुझे तीर्थोंमें पर्यटन करनेके लिये दक्षिण जाना है। पर तुम्हारी इतनी ऊँचाई लाँघकर जाना बड़ा कठिन है? अतः जबतक न लौटूँ, तबतक तुम इसी प्रकार पड़े रहो।' विन्ध्याचलने उनकी आज्ञा मान ली। तबसे न महर्षि अगस्त्य लौटे, न विन्ध्याचल उठा। अगस्त्यने जाकर उज्जयिनी नगरीके शूलेश्वर तीर्थके पूर्व दिशामें एक कुण्डके पास शिवजीकी आराधना की। भगवान् शिवने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। आज भी भगवान् शंकरकी मूर्ति वहाँ अगस्त्येश्वरके नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार भ्रमण करते-करते महर्षि अगस्त्यने देखा कि कुछ लोग नीचे मुँह किये हुए कुएँमें लटक रहे हैं। पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि ये उन्हींके पितर हैं और उनके उद्धारका उपाय यह है कि वे संतान उत्पन्न करें। ऐसा किये बिना पितरोंका कष्ट मिटना सम्भव न था। अतः उन्होंने विदर्भराजकी पुत्री लोपामुद्राको अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। वे श्रीविद्याकी आचार्या हैं।

एक बार इल्वल और वातापी नामके दो दैत्योंने बड़ा उपद्रव मचाया। वे ऋषियोंको अपने यहाँ निमन्त्रित

करते। वातापी स्वयं भोजनके रूपमें परिणत हो जाता और जब ऋषिलोग उसे खा चुकते, तब इल्वल उसे बाहरसे पुकारता। फिर वह उनका पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार महान् ब्राह्मणसंहार चल रहा था। भला, महर्षि अगस्त्य इसे कैसे सहन कर सकते थे? वे भी एक दिन उनके यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए। भोजनके बाद इल्वल पुकारता रहा, पर अब तो वे सर्वदाके लिये उसे पचा चुके थे। इस प्रकार लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार जब इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला तब कालेय नामके दैत्योंने समुद्रका आश्रय लेकर ऋषि-मुनियोंका विनाश करना शुरू किया। वे दैत्य दिनमें तो समुद्रमें रहते और रातमें निकलकर पवित्र जंगलोंमें रहनेवाले ऋषियोंको खा जाते। उन्होंने वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज सभीके आश्रमोंपर जा-जाकर हजारोंकी संख्यामें ऋषि-मुनियोंका भोजन किया था। देवताओंने महर्षि अगस्त्यकी शरण-ग्रहण की। उनकी प्रार्थनासे तथा लोगोंकी व्यथा तथा हानि देखकर उन्होंने अपने एक चुल्लूमें ही सारे समुद्रको पी लिया। देवताओंने फिर जाकर कुछ दैत्योंका वध कर दिया, कुछ दैत्य भागकर जैसे-तैसे पाताल चले गये।

एक बार ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रके स्थानच्युत होनेके कारण राजा नहुष इन्द्र हुए। इन्द्र बननेपर अधिकारके मदसे मत्त होकर उन्होंने इन्द्राणीको अपनी पत्नी बनानेकी चेष्टा की। बृहस्पतिकी सम्मतिसे इन्द्राणीने उन्हें एक ऐसी सवारीसे आनेकी बात कही, जिसपर अबतक कोई सवार न हुआ हो। मदमत्त नहुषने सवारी ढोनेके लिये ऋषियोंको ही बुलाया। ऋषियोंको तो सम्मान-अपमानका कुछ ख्याल नहीं था और आकर सवारीमें जुत गये। पर नहुष जब सवारीपर चढ़कर चले, तब शीघ्रातिशीघ्र पहुँचनेके लिये (**सर्प सर्प**) 'जल्दी चलो, जल्दी चलो' कहते हुए उन ब्राह्मणोंको पैरसे ताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे न देखी गयी। उन्होंने नहुषको सर्प होनेका शाप देकर समाजकी मर्यादा सुदृढ़ रखी तथा धनमद एवं पदमदके कारण अन्धे लोगोंकी आँखें खोल दीं।

भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे। इन्होंने बड़े प्रेमसे उनका सत्कार किया और उन्हें कई प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये। लङ्काके युद्धमें आदित्यहृदयका उपदेश दिया, जिससे श्रीरामने रावणका वध किया। सुतीक्ष्णजी इन्हींके शिष्य थे। उनकी तन्मयता और प्रेमके स्मरणसे आज भी लोग भगवान्‌की ओर अग्रसर होते हैं। लङ्कापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् श्रीराम अयोध्याको लौट आये और उनका राज्याभिषेक हुआ तब महर्षि अगस्त्य वहाँ आये और उन्होंने भगवान् श्रीरामको अनेकों प्रकारकी कथाएँ सुनायीं। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डकी अधिकांश कथाएँ इन्हींके द्वारा कही हुई हैं। इन्होंने उपदेश और सत्य-संकल्पके द्वारा अनेकोंका कल्याण किया। इनके द्वारा रचित अगस्त्यसंहिता आदि अनेकों ग्रन्थ हैं। जिज्ञासुओंको उनका अवलोकनकर भगवत्साक्षात्कारका मार्ग सीखना चाहिये।

[५]

सुतीक्ष्ण

सुतीक्ष्णजी महर्षि अगस्त्यजीके शिष्य थे। विद्याध्ययन समाप्त होनेपर गुरुने कहा—'अब तुम सब विद्याओंको पढ़ गये, तुम्हारा अध्ययन समाप्त हुआ।' सुतीक्ष्णजीने कहा—'गुरुदेव! विद्यासमाप्तिके पश्चात् तो गुरुके लिये कुछ गुरुदक्षिणा देनी ही चाहिये।' इसपर गुरुजीने कुछ खीझते हुए-से कहा—'अच्छा देना ही चाहते हो तो सीतारामजीको यहाँ ले आओ।'

सुतीक्ष्णजी गुरुके चरणोंमें प्रणाम कर चुपचाप चल दिये और कुछ दूर एक जंगलमें रहकर घोर तपस्या करने लगे। वे श्रीकौशलकिशोरकी वनवासी छविका

निरन्तर ध्यान करते थे। बहुत दिनोंके पश्चात् उन्होंने सुना राजीवलोचन भगवान् राम जगज्जननी सीताके साथ पधार रहे हैं और वे इधर इसी रास्तेसे आ रहे हैं। तब तो उनके हर्षका ठिकाना न रहा, वे प्रभुकी कृपालुताका बार-बार स्मरण करने लगे। क्या वे दीनबन्धु भक्तवत्सल मुझ-जैसे दम्भी अभक्तपर भी कृपा करेंगे? यह सोचते-सोचते सुतीक्ष्णजीकी विचित्र दशा हो गयी। वे प्रेमके महाभावोंके प्रकट होनेसे परमोन्मादीकी भाँति इधर-उधर फिरने लगे। कविने उनकी उन्मादी दशाका कैसा सजीव चित्रण किया है—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करै गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥

जब प्रेमी-प्रेमके उद्रेकमें अपने आपेको भूल जाता है, तब प्रभु दूर रह ही नहीं सकते, वे एकदम पास आ जाते हैं।

एक बानि करुना निधानकी। सो प्रिय जाकें गति न आनकी॥

जब भगवान्ने देखा कि अब नाचना-गाना छोड़कर भक्त एकदम स्थिर होकर गम्भीर हो गया है, तब प्रभु उनके समीप चले गये। किंतु वे ध्यानानन्दमें मस्त थे। जब जगानेपर भी वे न जगे तो उन्होंने उनके हृदयसे अपने धनुषधारी रूपको गायब कर चतुर्भुज विष्णुरूप दिखाया। इसपर सुतीक्ष्णने व्याकुल होकर झट आँखें खोल दीं। फिर वे देखते क्या हैं कि वे जिस रूपका ध्यान कर रहे थे, वे ही श्रीसीता-लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीराम बाहर खड़े हैं। बस, फिर क्या था! जिसकी आशा लगाये इतने दिनसे रास्ता रोके बैठे थे, वह तत्त्व प्राप्त हो गया। तपस्याका परम फल प्राप्त हुआ। वे लकुटकी तरह चरणोंमें गिर पड़े।

भगवान् प्रसन्न हुए। उन्हें सब सिद्धियाँ प्रदान कीं, अविरल भक्ति दी और सदा इसी रूपसे उनके हृदय-मन्दिरमें विराजे रहनेका वरदान दिया। सब प्रकार भक्तने उन्हें बाँध लिया, तब पूछा—'प्रभो! किधर जाना होगा?' भगवान् बोले—'हम महामुनि भगवान् अगस्त्यके दर्शनोंको जा रहे, हैं।' मुनि जल्दीसे बोल उठे—'वहाँ तो मुझे भी चलना है। वे मेरे गुरु हैं। बहुत दिनसे गया नहीं। अब मुझे जाना ही चाहिये। यही तो उनके चरणोंमें जानेका अवसर है। भगवान् हँसे और उन्हें साथ ले लिया। अगस्त्य मुनिके आश्रममें जाकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् तो महर्षिकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े रहे, किंतु सुतीक्ष्णको तो आज्ञा लेनी नहीं थी। वे झटसे जाकर बोले—'गुरुदेव! भगवान् प्रभु, आ गये, जिनकी आप प्रतीक्षा कर रहे थे, वे—'स्यामसरोजदामसम सुंदर' सरकार द्वारपर खड़े हैं। सुनते ही अगस्त्यजी दौड़ पड़े और प्रभुको ले आये।

धन्य हैं वे गुरु जिनके सुतीक्ष्ण-जैसे परमभक्त शिष्य हैं, जिन्होंने गुरुको साक्षात् अखिल ब्रह्माण्ड-नायक प्रभुको ही लाकर समर्पित कर दिया।

(वाल्मीकीयरामायणकी कथा इससे भिन्न है।)

[६]

महर्षि वासुदेव

वासुदेव महर्षि रैवतकके शिष्य थे। जब इनके हृदयमें तत्त्व जिज्ञासाकी तीव्र उत्कण्ठा जगी, तब ये घर, द्वार, कुटुम्बसे नाता तोड़कर सद्गुरुके अन्वेषणमें निकल पड़े। इनका अन्तःकरण शुद्ध था। इनके मनमें परमात्माके साक्षात्कारके लिये सच्ची लगन थी। भगवान् तो घट-घटवासी हैं ही, उन्होंने महर्षि रैवतकके अन्तस्तलमें प्रेरणा कर ही दी। महर्षि इनके सामने तुरंत प्रकट हुए। उन्होंने इन्हें मन्त्र-साधना और सिद्धिका उपदेशकर भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करा दिया। इन्हें निरन्तर बोध रहने लगा कि 'मैं ब्रह्मसे अभिन्न हूँ।' फिर ये उससे भी ऊपर उठ गये। और जगत्का ही अत्यन्ताभाव प्रतीत होने लगा। इन्हें क्रमशः जीवमुक्त और कैवल्य लाभ हुआ।

[७]

परम भागवत उद्धव

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥*
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५८)

श्रीउद्धवजी भगवान्‌के परम प्रिय सखा एवं भक्त थे । अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कंसको मारकर सब यादवोंको सुखी बना दिया तो एक दिन भगवान्‌ने उन्हें एकान्तमें बुलाकर कहा—'उद्धवजी ! व्रजकी गोपाङ्गनाएँ मेरे वियोगमें व्याकुल होंगी, उन्हें जाकर आप समझा आइये । उन्हें मेरा संदेश कह दें कि मैं तुम लोगोंसे अलग नहीं साथ ही हूँ ।' उद्धवजी नन्द-व्रजमें गये । वहाँ इन्हें व्रजवासियोंने घेर लिया और भाँति-भाँतिके प्रश्न करने लगे । उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया और सबको धैर्य बँधाया ।

उन्होंने एकान्तमें गोपियोंको श्रीकृष्णका दिया ज्ञान-संदेश सुनाया । उन्होंने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं । उनमें भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हें देखो ।'

गोपियोंने कहा—'उद्धवजी ! आप ठीक कहते हैं, किन्तु हम गँवार स्त्रियाँ इस गूढ़ भगवत्तत्त्वको भला कैसे समझें ? हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं । उनका वह हास्यसे युक्त मुखारविन्द, वह काली-काली घुँघराली अलकावली, वह वंशीकी मधुर ध्वनि हमें हठात् अपनी ओर खींच रही है । वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अङ्कित हैं । तिलभर भी जमीन खाली नहीं, जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो । हम इन यमुना-पुलिन, वन, पर्वत, वृक्ष और लताओंमें उन श्यामसुन्दरको देखती हैं । इन्हें देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है ।'

उनके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमें कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६३)

'मैं इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है ।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे अपनी सारी ज्ञान-गाथा भूल गये ।

भगवान्‌के द्वारका पधारनेपर ये उनके साथ ही रहे । यदुवंशियोंके मन्त्रि-मण्डलमें इनका प्रधान स्थान था । इनकी भगवान्‌में अनन्य भक्ति थी । जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोककी लीलाका संवरण करना चाहते हैं तब वे एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ६ । ४३)

'भगवन् ! हे नाथ ! मैं आपके चरणोंसे एक क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता । मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये ।' भगवान् बोले—'उद्धव ! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ । मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा ।

---

* उद्धवजी कहते हैं—'इस पृथ्वीमें जन्म लेना तो इन गोपाङ्गनाओंका ही सार्थक हुआ; क्योंकि इनकी विश्वात्मा भगवान् नन्दनन्दनमें प्रगाढ़ प्रीति है, जिसे पानेके लिये मुनिगण तथा हमलोग भी सदा इच्छुक बने रहते हैं । जिनको भगवान्‌की कथामें अनुराग हो गया, उन्हें ब्राह्मणकुलमें जन्म, उपनयन अथवा यज्ञ-दीक्षा आदिकी क्या आवश्यकता ?'

इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा। 'भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा है' यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किंतु उनका मन भगवान्‌की लीलाओंमें ही लगा रहा। वे द्वारकासे बदरीवनके लिये चल पड़े।

जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये, तो भगवान्‌की अन्तिम लीलाको देखने विदुरजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था, विदुरजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्‌के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थके नीचे विराजमान थे, विदुरजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्‌ने इस समस्त जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस दुर्लभ ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् उन्हें निर्देश देते गये।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्‌का वियोग भर रहा था, किसी सहृदयके सामने रोनेसे हृदय हल्का होता है। दैवयोगसे उन्हें विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशका कुशल कैसा है?' इसपर उद्धवजी रोकर कहने लगे—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥
(श्रीमद्भा० ३। २। ७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं, जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्‌को वैसे ही न पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमा (या जहाज)को नहीं पहचान पाते।' इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी बातें सुनायीं। उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्‌के अभिन्न विग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥
(श्रीमद्भा० ३। ४। ३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

[८]

महाराज पृथु

भक्तवर्य ध्रुवके वंशमें वेन नामका एक बड़ा दुराचारी एवं दुष्ट राजा हुआ। उसे मुनियोंने शापद्वारा दग्ध कर डाला। उसकी कोई संतान न होनेके कारण उन ऋषियोंने उसके शरीरका ही मन्थन किया। इससे एक स्त्री और एक पुरुषका युग्म (जोड़ा) उत्पन्न हुआ। ऋषियोंने कहा—'यह पुरुष भगवान् विष्णुके अवतार पृथु हैं और ये स्त्री लक्ष्मीका अवतार अर्चि हैं।' पृथुके प्राकट्यसे हर्षित होकर गन्धर्वगण गान करने लगे, सिद्धोंने पुष्पवृष्टि की और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवताओं, ऋषियों और पितरोंके समूह महाराज पृथुका दर्शन करनेके लिये उनकी नगरीमें आये। जगद्गुरु ब्रह्माजी भी इन्द्रादि लोकपालोंके साथ वहाँ आये और उन्होंने राजाके दाहिने हाथ तथा चरणोंमें गदा, कमलादिके चिह्न देखकर निश्चय किया कि ये श्रीहरिके ही अवतार हैं। ब्रह्मवादी ऋषियोंने उनके अभिषेककी तैयारी की तथा सबने अपनी-अपनी योग्यताके

अनुसार राजा पृथुको उपहार दिये। तदनन्तर सूत, मागध तथा बन्दियोंने राजाकी अनेक प्रकारसे स्तुति करना आरम्भ किया। इसपर राजाने उनसे कहा—'भाइयो! अबतक तो मैंने कोई ऐसे कर्म ही नहीं किये, जिनके कारण आपलोग मेरी स्तुति करें। अतः आपलोग अपनी वाणीको सार्थक करनेके लिये स्तुति करनेयोग्य भगवान् नारायणकी ही स्तुति करिये, जिनके गुण संसारमें विख्यात हैं।' तथापि सूतोंने उनका गुणगान किया और उन्होंने उन्हें उचित पुरस्कार देकर विदा किया।

राजा वेनके अत्याचारोंसे पृथ्वी अन्नरहित हो गयी थी। इससे प्रजा अत्यन्त दुःखी थी। अब पृथु-जैसे धर्मात्मा राजाको सिंहासनारूढ़ देखकर प्रजा उनके पास आयी और उनसे अपनी करुण कहानी सुनायी। राजा बहुत दुखी हुए और ध्यानसे देखा तो उन्हें पृथ्वीद्वारा ओषधियों और बीजोंको ग्रस्त करनेकी बात ज्ञात हुई। इससे उन्हें पृथ्वीपर क्रोध आया और उन्होंने धनुषपर बाण चढ़ाया। पहले तो पृथ्वी भयभीत होकर गौरूप धारणकर भागी, किंतु फिर कहने लगी—'राजन्! आप दोहनरूप उपायका अवलम्बन कीजिये। इससे ये ओषधियाँ पुनः उपलब्ध हो सकेंगी।'

पृथ्वीके इन वचनोंको सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मनुको वत्स बनाकर अपने हाथरूप पात्रमें व्रीहि, यव आदि सकल ओषधिरूप दूध दुहा और सकल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली पृथ्वीको वे पुत्रीरूपमें मानने लगे। तभीसे यह 'पृथ्वी' नामसे विख्यात हुई। इसके अनन्तर उन समर्थ राजाधिराजने अपने धनुषके अग्रभागसे पर्वतोंके शिखरोंको चूर्ण करके पृथ्वीको प्रायः समतल बना दिया और जहाँ-तहाँ लोगोंके रहनेके लिये यथोचित रीतिसे गाँव, पुर, नगर, नाना प्रकारके दुर्ग भीलोंके पल्लिग्राम, गौओंके योग्य स्थान, सेनाके ठहरनेके स्थान किसानोंके गाँव आदि बनवाये, जिससे सारी प्रजा निर्भय होकर सुखपूर्वक रहने लगी।

महाराज पृथु विष्णुके अवतार होकर भी बड़े श्रेष्ठ भक्त थे। उन्होंने ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें, जहाँ सरस्वती नदी पूर्वकी ओर बहती है, सौ अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये दीक्षा ग्रहण की। उनके इस प्रयत्नको देखकर इन्द्रको भय हुआ कि उनका यह उद्योग कहीं इन्द्रत्वकी प्राप्तिके लिये तो नहीं है! इस भयसे उसने यज्ञमें कई बार विघ्न डाला। जब राजा निन्यानवे यज्ञ समाप्त कर चुके और सौकी संख्या पूरी करनेको उद्यत हुए, उस समय इन्द्रने फिर विघ्न करना शुरू किया। इसपर ऋत्विजोंने मन्त्रोंके बलसे इन्द्रको बुलाकर होमनेका निश्चय किया, परंतु ब्रह्माजीने उन्हें इस कर्मसे रोका और पृथुको निन्यानवेकी संख्यासे ही संतोष कर लेनेको कहा। राजाने ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर यज्ञको आगे चलानेका आग्रह छोड़ दिया और इन्द्रसे संधि कर ली। जब राजा अवभृथ-स्नान करके उठे तो उस सयम उन्हें वरदान देनेके लिये अनेक देवताओंके साथ यज्ञाधिपति यज्ञभोक्ता साक्षात् भगवान् विष्णु वहाँ उपस्थित हुए और बोले—'हे राजन्! तुम्हारे शान्त स्वभाव एवं निर्मत्सरता आदि गुणोंको तथा तुम्हारे शील-सद्भावको देखकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समान बुद्धि रखनेवाले पुरुषको मैं जितनी सुलभतासे प्राप्त होता हूँ, उतना यज्ञ, तप और योगाभ्यासद्वारा भी नहीं होता।'

भगवान्के इन प्रेमभरे वचनोंको सुनकर राजा गद्गद हो गये। वे अश्रुप्रवाहको रोककर बोले—'प्रभो! आप ब्रह्मादि वरदाताओंको भी वर देनेवाले हैं, अतः आपसे कोई भी बुद्धिमान् पुरुष सांसारिक

भोगोंको वरदानके रूपमें नहीं माँगेगा । आपके चरणारविन्दमकरन्दसे रहित मोक्षपदको भी मैं नहीं चाहता । मुझे तो केवल यही वरदान दीजिये कि आपका यश सुननेके लिये मुझे दस हजार कान प्राप्त हो जायँ । इच्छारहित साधु पुरुष ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी आपकी भक्ति ही करते हैं । उन्हें निरन्तर आपके चरणोंका स्मरण करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रहता । आप जो मुझे 'वर माँगो' ऐसा कहते हैं, सो आपकी यह वाणी सारे जगत्‌को मोहित करनेवाली है । इतना ही क्यों, आपकी वेदरूप वाणी भी लोगोंको मोहित करके बाँध लेती है, नहीं तो यह मनुष्य बार-बार फलोंकी अभिलाषासे कर्म क्यों करता ? हे ईश्वर ! यह मूर्ख प्राणी स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है, इसीलिये आपकी मायाने इसे सत्यस्वरूप आपसे अलग कर रक्खा है । अतः मेरी तो यही प्रार्थना है कि मायाजालमें फँसे हुए इस जीवको आप और अधिक न फँसावें, किंतु जिस प्रकार पिता अपने पुत्रका हित करता है, उसी प्रकार आपको भी हमारा हित करना चाहिये ।'

राजाके इन वचनोंको सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए अपने धामको चले गये । राजा अपने नगरको लौटकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे । वे केवल अपने प्रारब्ध-कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए भोगोंको भोगते थे और भोगोंकी इच्छासे कोई नवीन कर्म नहीं करते थे । उनका भोग भोगना केवल पुण्यकर्मोंका क्षय करनेकी इच्छासे ही था, सुखपूर्वक आसक्तिसे नहीं । राजा पृथुने एक महासत्र करनेकी दीक्षा ग्रहण की । इसमें देवता, ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंका बड़ा भारी समाज एकत्रित हुआ । सबका यथायोग्य पूजन करके राजाने उपस्थित समाजको धर्मका उपदेश दिया, जिसे सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और राजाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । इतनेमें ही वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी सनकादि सिद्ध महर्षि आकाशमार्गसे आ पहुँचे । उन्हें दूरसे ही देखकर राजा अपने सेवकों और समाज-सहित उठ खड़ा हुआ और नम्रतासे सिर झुकाकर उनकी विधिवत् पूजा की और चरण धोकर चरणोदक सिरपर चढ़ाया । फिर राजाके प्रश्न करनेपर उन्होंने भगवत्तत्त्वका बड़ा मार्मिक विवेचन किया, जिसे सुनकर राजा अपनेको कृतार्थ मानने लगे । ऋषियोंके चले जानेके बाद वे लोकव्यवहारके निमित्त देश, काल, धन और बलकी योग्यताके अनुसार सकल कर्म यथोचित रीतिसे ब्रह्मार्पणबुद्धिसे करने लगे । अखण्ड भूमण्डलके चक्रवर्ती सम्राट् और गृहस्थ होते हुए भी वह इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होते थे, वे इन्द्रके समान अजेय, पृथ्वीके समान क्षमाशील, समुद्रके समान गम्भीर और मेरुके समान धैर्यवान् थे । निर्भयतामें वे सिंहके समान, प्रजावत्सलतामें मनुके समान और ब्रह्मका विचार करनेमें बृहस्पतिके समान थे ।

इस प्रकार राज्य करते बहुत समय व्यतीत हो गया, तब उन्होंने वनमें जाकर तप करनेका निश्चय किया । पृथ्वीके शासनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर वे स्त्रीसहित वनको चल पड़े । इससे प्रजाको बड़ा खेद हुआ । वहाँ जाकर उन्होंने भूख, प्यास आदि कष्टोंको सहकर, मौनव्रतको धारणकर, इन्द्रियोंका संयम कर, स्त्रीके पास रहते हुए भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर तथा प्राणवायुको जीतकर केवल परमेश्वरकी प्रीतिके लिये उत्तम तपका आचरण किया । उस तपके प्रभावसे प्राक्तन कर्म नष्ट हो जानेके कारण उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया और प्राणायामके द्वारा उन्होंने इन्द्रियों एवं मनको वशमें कर लिया तथा इस प्रकार वासनारूप बन्धनके टूट जानेपर उसने सनकादि महर्षियोंके द्वारा उपदिष्ट भक्तियोगका आचरण प्रारम्भ किया । भगवान्‌के सकल कर्म अर्पण करके शुद्ध

चित्त और विश्वासके साथ निरन्तर भगवान्‌की सेवा करनेवाले राजा पृथुके हृदयमें ब्रह्मरूप भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठ भक्ति उत्पन्न हुई और भक्तिके साथ-ही-साथ वैराग्यसहित ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। इससे उनके हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ अपने-आप कट गयीं। फिर उन्होंने उस ज्ञानका भी परित्याग कर दिया और अपने मनको परमात्मामें स्थिरकर पूर्ण ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जानेपर भगवान्‌में ही लीन हो गये।

[९]

ध्रुव

आदिराज श्रीस्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी सुनीति और सुरुचि नामकी दो रानियाँ थीं। ध्रुव बड़ी रानी सुनीतिके पुत्र थे। छोटी रानी सुरुचिके पुत्रका नाम उत्तम था। महाराज उत्तानपाद सुरुचिसे अधिक प्रेम करते थे। एक दिन महाराज उत्तानपाद उत्तमको गोदमें लेकर खेला रहे थे और सुरुचि वहीं बैठकर अपने पुत्रके प्रति इस लाड़-प्यारको देखकर अपने सौभाग्यपर फूली नहीं समा रही थी। खेलते-खेलते पाँच वर्षके बालक ध्रुव भी वहाँ आ पहुँचे और अपने छोटे भाईको पिताकी गोदमें देखकर इनके मनमें भी इच्छा हुई कि मैं भी पिताकी गोदमें बैठकर अपने भाईकी भाँति खेलूँ। यद्यपि पिताके हृदयमें वात्सल्य-स्नेहकी कमी नहीं थी तथापि सुरुचिके भयसे वे ध्रुवको गोदमें लेनेमें हिचकिचाये, सुरुचि भी बोल उठी—'बेटा! तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे नहीं है। तुम पहले भगवान्‌की आराधना करो और मेरे गर्भसे उत्पन्न हो तब राजाकी गोदमें चढ़नेकी अभिलाषा करो।' ध्रुवको इससे बड़ा क्लेश हुआ। वे रोने लगे और अपनी माँके पास जाकर सारी बातें कहीं। माता रोती हुई ध्रुवसे कहने लगीं—'बेटा! तुम्हारी विमाताने सत्य ही कहा है कि भगवान्‌की आराधना करनेसे ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। तुम भगवान्‌की आराधना करो, जिनकी आराधनासे ब्रह्माको परमेष्ठि-पद प्राप्त हुआ है, तुम्हारे पितामह चक्रवर्ती हुए हैं और बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी जिनके चरणोंकी धूलि ढूँढ़ा करते हैं, उन्हींके चरणोंकी पूजा करो, तुम्हारी लालसा पूर्ण होगी।'

अपनी माँकी बात सुनकर ध्रुवके हृदयमें उत्साहका संचार हो गया। वे अपने अन्तःकरणको नियन्त्रित कर घरसे निकल पड़े। उन पाँच वर्षके बालकको यह पता न था कि भगवान् कहाँ मिलेंगे और वे कैसे हैं। परंतु क्षत्रियोंका स्वाभाविक तेज उनके अंदर प्रस्फुटित हो उठा और उनके अन्तःकरणमें धर्मकी पूर्ण अभिव्यक्ति होते ही भगवान्‌ने उन्हें अपनी ओर खींच लिया।

भगवान्‌के भक्त ऐसे अवसरोंकी प्रतीक्षामें घूमा ही करते हैं। जहाँ सच्चा त्याग, सच्ची उत्सुकता देखी वहीं आकर प्रकट हो गये और भगवान्‌तक पहुँचनेका मार्ग बतला दिया। ध्रुवके घरसे निकलते ही देवर्षि नारद आ पहुँचे। अपने पापहारी करकमलोंसे ध्रुवके सिरका स्पर्श करके उन्हें अपने निश्चयपर और दृढ़ करनेके लिये भगवन्मार्गकी कठिनता बतलायी और कहा—'अभी तुम्हारी उम्र भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेकी नहीं है, चलो, मैं राजासे तुम्हें सर्वदाके लिये सम्मान देनेकी बात कह देता हूँ। तुम अभी बाघ, सिंह आदिसे भरे हुए जंगलमें मत जाओ।' परंतु ध्रुव अब इन बातोंमें भला कब आनेवाले थे! घरसे निकलते ही देवर्षि नारदके दर्शनसे उनका उत्साह और भी बढ़ गया और वे अपने निश्चयपर अटल रहे। तब देवर्षि नारदने ध्रुवकी अटल निष्ठा और जिज्ञासा देखकर उन्हें द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया, पूजाविधि बतायी और यमुनाके पवित्र तटपर मथुराके पास जाकर चतुर्भुज भगवान् विष्णुके ध्यानकी

ध्रुवको भगवान् श्रीहरिका दर्शन

पद्धति बतलायी और उनके मनमें यह विश्वास जमा दिया कि जो निष्कपटभावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं, उनपर भगवान् अवश्य कृपा करते हैं, इसमें संदेह नहीं ।

ध्रुवने नारदजीको प्रणाम करके मथुराके लिये प्रस्थान किया और देवर्षिने राजधानीमें जाकर उनके माता-पिताको समझा दिया । ध्रुवने मथुरा पहुँचकर भगवान्‌की आराधना प्रारम्भ की । एक महीनेतक वे तीन-तीन दिनोंके बाद जीवनरक्षाके लिये कैथ, बेर इत्यादि जंगली फलोंको खाकर अपना सारा समय भगवत्पूजन और ध्यानमें ही व्यतीत करने लगे । दूसरे महीनेमें हर छठे दिन सूखे तिनके और पत्तोंको खाकर, तीसरे महीनेमें हर नवें दिन पानी पीकर, चौथे महीनेमें हर बारहवें दिन हवा पीकर और पाँचवें महीनेमें श्वास रोककर एक पैरसे ठूँठकी भाँति खड़े होकर वे निरन्तर भगवच्चिन्तनमें ही लीन हो गये । उनके पैरके अँगूठेसे दबकर पृथ्वी काँपने लगी, श्वास बंद करनेसे त्रिलोकीका श्वास लेना बंद हो गया, क्योंकि अब उनका श्वास समष्टिके श्वाससे भिन्न न था । समस्त देवता घबड़ाकर भगवान्‌के पास गये । भगवान् श्रीहरि उन सबको आश्वासन देकर ध्रुवके सामने प्रकट हुए । उस समय ध्रुव ध्यानमें ऐसे लीन थे कि सम्मुख आये हुए भगवान्‌का भी उन्हें पता न चला । तब भगवान्‌ने उनके ध्यानमेंसे स्वयंको खींच लिया । अब ध्रुवने घबड़ाकर अपनी आँखें खोलीं तो क्या देखते हैं कि भगवान् श्रीहरि सामने खड़े हैं । देखते ही वे पृथ्वीपर भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े । वे भगवान्‌को इस तरह देख रहे थे, मानो नेत्रोंके द्वारा भगवान्‌को पी जायँगे । उनकी बाँहें इस तरह उठी हुई थीं मानो उन्हें आलिङ्गन करना चाहती हों और उनका मुख इस प्रकार उत्सुकतापूर्ण था, जैसे कोई नन्हा-सा बालक उन परमपिता भगवान्‌के वात्सल्यपूर्ण मधुर चुम्बनके लिये ललक रहा हो । उनकी इच्छा हुई कि वे भगवान्‌की स्तुति करें, पर वे निरुपाय-से केवल चुपचाप खड़े रहे । तब भक्तवत्सल भगवान्‌ने उनके कपोलसे अपना दिव्य शङ्ख छुआकर सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त शास्त्र उनके अन्तःकरणमें प्रस्फुरित कर दिये । अब वे गद्गदकण्ठसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे । ध्रुवकी स्तुतिसे संतुष्ट होकर भगवान्‌ने उन्हें अविचलपद दिया—वह ध्रुवलोक प्रदान किया, जिसे अबतक किसीने नहीं पाया था । भगवान्‌ने आज्ञा दी कि 'अपने पिताके पास जाकर इस जीवनमें ही चक्रवर्ती-पदका उपभोग करते हुए तुम मेरा भजन करो ।' तदनुसार भक्तराज ध्रुव अपने पिताके पास लौट आये । इनके राजधानीमें पहुँचनेपर बड़ा उत्सव मनाया गया और अन्तमें इन्हें राज्य देकर महाराज उत्तानपाद वनको चले गये ।

'हरिं शरणमाश्रयेत्'

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः । एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ (श्रीमद्भा० ४ । ८ । ४१)

(श्रीनारदजीने कहा—) 'जिस पुरुषको अपने लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थकी अभिलाषा हो उसके लिये उनकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीहरिके चरणोंका सेवन ही है ।' यही बात नारदपाञ्चरात्रमें भी कही गयी है—

प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः । श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥

'अकिंचन व्यक्ति भी यदि परमसिद्धि चाहता है तो उसे सर्वोत्तम श्रद्धासे श्रीहरिकी शरण ग्रहण करनी चाहिये ।'

भगवत्तत्त्व-चिंतक

[१]

महर्षि वेदव्यास

सर्वप्रथम तत्त्व-चिन्तन हमें वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदका नासदीयसूक्त भगवत्तत्त्वका चरमकोटिका चिन्तन है, उपनिषदोंमें खुलकर तत्त्व-चिन्तन किया गया है। किंतु इन बिखरे चिन्तनोंका सामञ्जस्यपूर्ण संग्रथन ब्रह्मसूत्रोंमें हुआ है। ब्रह्मसूत्रके प्रणेता भगवान् व्यास हैं, जिन्होंने वेदोंका व्यास—चतुर्धा-विभाजन—किया और इसीलिये 'वेदव्यास' नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हें पराशरपुत्र होनेके नाते पाराशर्य (पाराशरि), द्वीपमें उत्पन्न होने और कृष्णवर्णके होनेसे 'कृष्णद्वैपायन' एवं इसी प्रकार अन्यान्य कारणोंसे बादरायण, कानीन, सत्यभारत, सात्यवत, सत्यवतीसुत, सत्यरत आदि नामधेयोंसे भी कहा जाता है। इन्होंने अष्टादशपुराण, महाभारत और अध्यात्मरामायण-की भी रचना की है। कहा जाता है कि योगवासिष्ठ भी इन्हींका रचा हुआ है। ये विश्वके महान् ज्ञानी और ग्रन्थ-प्रणेता माने जाते हैं। ये विशाल बुद्धिके धनी मान्य-मनीषी थे। महाभारत-कालमें इनके वर्तमान रहनेकी बात अन्तःसाक्ष्यसे सिद्ध होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि इनका समय ईसासे प्रायः तीन हजार वर्ष पूर्व हो सकता है। महाभारतसे इनके जीवनकी कुछ बातें विदित होती हैं।

ये मत्स्यगन्धा या सत्यवती नामकी कन्यासे उत्पन्न हुए थे। पराशरमुनि इनके जनक थे। इनका जन्म यमुनागर्भस्थ एक द्वीपमें हुआ था और इनका रंग कृष्णवर्णका था, अतः कृष्णद्वैपायन कहलाये। यह शास्त्र-श्रुति है कि ये उत्पन्न होते ही माताकी आज्ञा लेकर तपस्याके लिये चले गये थे। जाते समय मातासे कह गये कि 'यदि तुम्हें कभी मेरी आवश्यकता पड़े तो मुझे स्मरण करना, मैं सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा।'

यथासमय सत्यवतीका विवाह चन्द्रवंशीय राजा शान्तनुसे हुआ, जिसे देवव्रत-(भीष्मपितामह-) ने महान् त्यागकर सम्पन्न कराया था। शान्तनुके पुत्र विचित्रवीर्य थे। विचित्रवीर्यके देहान्तके बाद कोई चन्द्रवंशीय राज्याधिकारी न रहा। इसी समय सत्यवतीने व्यासदेवको स्मरण किया। व्यासदेवके योगबलके प्रभावसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरका जन्म हुआ।

परमज्ञानी महामुनि शुकदेवजी भी इन्हीं व्यासदेवके पुत्र थे—जिन्होंने राजा परीक्षितको श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी थी।

व्यासदेवने धर्मका ह्रास होते देखकर वेदोंका ऋक्, यजु, साम, अथर्व-नामोंसे विभाजन किया और उन्हें अपने शिष्यों—सुमन्तु, जैमिनि और वैशम्पायनको तथा अपने आत्मज शुकदेवको पढ़ाया। इन्होंने महाभारतका उपदेश भी किया। पुराणोंकी रचनासे वेदार्थका उपबृंहण किया और आख्यायिका, आख्यान एवं उपाख्यानोंसे विषयवस्तुको स्पष्ट किया। जो श्रुतिगोचर नहीं थे, उन्हें वेदार्थकी अवगति करानेके लिये इन्होंने महान् प्रयास किया। इनकी-जैसी अलौकिक प्रतिभा और लेखन-क्षमतावाले आचार्य विश्वमें नहीं हुए। वेदान्तदर्शन अथवा 'ब्रह्मसूत्र'में इनका पाण्डित्य-प्रकर्ष अद्वितीयरूपमें दर्शनीय है। भगवत्तत्त्वका सुनिपुण चिन्तन इसमें जैसा है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। इसे वेदान्तदर्शन कहते हैं; क्योंकि वेदान्त—आरण्यक, ब्राह्मण-उपनिषद्के दार्शनिक विचारोंका सम्यक् समन्वय इसमें किया गया है। कर्मकाण्डका

सम्बन्ध जैमिनिकृत पूर्वमीमांसासे है और ब्रह्मविवेचनका उत्तरमीमांसासे; क्योंकि वेदके उत्तरभागकी श्रुतियोंमें इस ग्रन्थके ज्ञान-उपासनाके विषय आते हैं। इन दोनों उपासनाओंकी मीमांसा करनेके कारण वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्रको 'उत्तरमीमांसा' नाम दिया गया है। यह प्रस्थानत्रयीका मुख्य ग्रन्थ है। गीतामें **'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'** शब्दोंमें ब्रह्मसूत्रका नाम आता है। ब्रह्मसूत्रोंमें भी कुछ पूर्वाचार्योंके नाम आये हैं; यथा—बादरि औडुलोमि, जैमिनि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न और आत्रेय आदि। 'बादरायण' शब्द पुराणकालसे ही श्रीवेदव्यासजीके लिये व्यवहृत होता आया है। अतः ब्रह्मसूत्रके रचयिता निश्चितरूपसे बादरायण अर्थात् वेदव्यासजी ही हैं। ब्रह्मसूत्रको वेदान्तदर्शन कहते हैं।

ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। अतः कुल १६ पाद हैं। पहला समन्वयाध्याय है, जिसमें वेदान्तवाक्योंका परब्रह्म-प्रतिपादनमें समन्वय दिखलाया गया है। दूसरेका नाम अविरोधाध्याय है; क्योंकि इसमें विरोधोंका निराकरण किया गया है। तीसरा अध्याय 'साधनाध्याय' है। इसमें परब्रह्मकी प्राप्तिके साधनभूत ब्रह्मविद्या और अन्यान्य उपासनाओंके विषयमें निर्णय किया गया है। चौथा अन्तिम अध्याय 'फलाध्याय' है। इसमें ब्रह्मविद्या आदि-द्वारा साधकोंके अधिकारानुरूप प्राप्त होनेवाले फलके विषयमें निर्णय है। इस ग्रन्थपर आचार्योंके भाष्य, प्रौढ़ विद्वानोंकी टीकाएँ और आलोचनाएँ हुई हैं। वाचस्पति मिश्रकी भामती टीका अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रौढ़ है। भगवत्तत्त्व-चिन्तनका यह सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ विश्वप्रसिद्ध है। इसका पहला सूत्र है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (अब यहाँसे ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ किया जाता है।), दूसरा सूत्र है—**'जन्माद्यस्य यतः'** अर्थात्—इस जगत्के जन्मादि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। यह प्रस्थानत्रयीका मुख्य ग्रन्थ है। त्रयीमें उपनिषदों और गीताकी भी गणना की जाती है।

'व्यास' शब्दको यौगिक (योगरूढ नहीं,) मानकर कुछ लोग 'व्यास' को उपाधि मानते हैं। उनके मतसे व्यासके नामकी सभी कृतियाँ एक ही व्यासकी नहीं होकर विभिन्न व्यासोंकी हो सकती हैं। पर अपनी मान्यतामें व्यासदेव ही वेदोंके विभाजक, पुराणों और महाभारतके रचयिता एवं ब्रह्मसूत्रके प्रणेता हैं। 'व्यास' शब्द भले ही यौगिक भी हो, पर कृष्णद्वैपायन व्यास ही हमारे व्यासदेव हैं, जिनकी उपर्युक्त सभी रचनाएँ हैं। × × × ×

कूर्मपुराण, वायुपुराण, और विष्णुपुराणमें अट्ठाईस व्यासोंका उल्लेख मिलता है। उनके नाम ये हैं—(१) स्वयम्भू, (२) प्रजापति या मनु, (३) उशना, (४) बृहस्पति, (५) सविता, (६) मृत्यु या यम, (७) इन्द्र, (८) वसिष्ठ, (९) सारस्वत, (१०) त्रिधामा, (११) ऋषभ या त्रिवृषा, (१२) सुतेजा या भारद्वाज, (१३) अन्तरिक्ष या धर्म, (१४) वप्रवा या सुचक्षुः, (१५) त्र्यारुणि, (१६) धनञ्जय, (१७) कृतञ्जय, (१८) ऋतञ्जय, (१९) भरद्वाज, (२०) गौतम, (२१) उत्तम, (२२) वाचश्रवाः या वेणु या नारायण, (२३) सोमशुष्मायन या तृणविन्दु, (२४) ऋक्ष या वाल्मीकि, (२५) शक्ति, (२६) पराशर, (२७) जातुकर्ण और (२८) कृष्णद्वैपायन।

भारतीय वाङ्मय एवं हिन्दू-संस्कृतिपर व्यासजीका बहुत बड़ा ऋण है। व्यासजी श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त सनातन-धर्मके एक प्रधान व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनके उपकारसे हिंदू-जाति कदापि उऋण नहीं

हो सकती। जबतक हिंदू-जाति और भारतीय संस्कृति जीवित है, तबतक इतिहासमें व्यासजीका नाम अजर-अमर रहेगा। ये जगत्‌के एक महान् पथप्रदर्शक और उपदेशक कहे जा सकते हैं। इसीसे इन्हें जगद्गुरु कहलानेका गौरव प्राप्त है। गुरुपूर्णिमा-(आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा-) के दिन प्रत्येक आस्तिक हिंदू-गृहस्थ इनकी पूजा करता है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न भी संसारको व्यासजीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। इन्होंने ही भगवान्‌के उस अमर उपदेशको अपनी महाभारतसंहितामें ग्रथितकर उसे संसारके लिये सुलभ बना दिया। व्यासस्मृतिमें आचार-विचारोंका विधान कर आपने जनकल्याणका मार्ग प्रदर्शित किया है।

महर्षि वेदव्यास त्रिकालदर्शी एवं इच्छागति हैं। वे प्रत्येकके मनकी बात जान लेते हैं और इच्छा करते ही जहाँ जाना चाहें, वहीं पहुँच जाते हैं। इनकी प्रज्ञा कितनी प्रखर थी और ये कितने क्रान्तदर्शी थे, इसका पता इनके सम्बन्धकी कुछ कथाओं या घटनाओंसे चल जाता है। यहाँ उनसे सम्बद्ध ऐसी कथाएँ दी जा रही हैं।

जब पाण्डव विदुरजीकी बतायी हुई युक्तिका अनुसरण कर लाक्षाभवनसे निकल भागे और एकचक्रा नगरीमें जाकर रहने लगे, उन दिनों व्यासजी उनके पास उनसे मिलनेके लिये आये। प्रसङ्गवश उन्होंने उन्हें द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर यह बताया कि 'वह कन्या तुम्हीं लोगोंके लिये पहलेसे निश्चित है।' इस बातको सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता एवं उत्सुकता हुई और वे द्रुपदकुमारीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये पाञ्चालनगरकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर जब अर्जुनने स्वयंवरकी शर्त पूरी करके द्रौपदीको जीत लिया और माता कुन्तीकी आज्ञासे पाँचों भाइयोंने उससे विवाह करना चाहा, तब राजा द्रुपदने सामान्य सदाचारके नाते इसपर आपत्ति की। उसी समय व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रुपदको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर पाँचों भाइयोंके साथ उनकी कन्याका विवाह करनेके लिये राजी कर लिया।* पूर्वजन्मके वृत्तान्तने विशेष परिस्थितिमें विवाहका अनुमोदन करा दिया।

महाराज युधिष्ठिरने जब इन्द्रप्रस्थमें राजसूय यज्ञ किया, उस समय भी वेदव्यासजी यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये अपनी शिष्यमण्डलीके साथ पधारे थे। यज्ञ समाप्त होनेपर वे विदा होनेके लिये युधिष्ठिरके पास आये और बातों-ही-बातोंमें उन्होंने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'आजसे तेरह वर्ष बाद क्षत्रियोंका महासंहार होगा, जिसमें दुर्योधनके अपराधसे तुम्हीं निमित्त बनोगे।' यह अद्वितीय अदूर-

---

*- पूर्वजन्मके वृत्तान्तके सारांशका उपसंहार करते हुए व्यासजीने महाभारतके आदिपर्वके १९६ वें अध्यायमें कहा है कि—

एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवुर्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा॥
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात् समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात्।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं गन्धश्चाग्र्याः क्रोशमात्रात् प्रवाति॥ (३५-३६)

'राजन्! इस प्रकार ये पाण्डव प्रकट हुए हैं (जैसा कि इस अध्यायके पूर्व श्लोकोंमें वर्णित हुआ है,) जो पहले इन्द्र रह चुके हैं। यह दिव्यरूपा द्रौपदी वही स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पहलेसे ही इनकी पत्नी नियत हो चुकी है। महाराज! यदि इस कार्यमें देवताओंका सहयोग न होता तो तुम्हारे इस यज्ञकर्मद्वारा यज्ञवेदीकी भूमिसे ऐसी दिव्य नारी कैसे प्रकट हो सकती थी, जिसका रूप सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाश बिखेर रहा है और जिसकी सुगन्ध एक कोस-तक फैलती रहती है।'

इससे द्रुपदका समाधान हो गया। (विस्तारसे कथा जाननेके इच्छुक पाठक महाभारतका उक्त सदर्भ देखें।)

दर्शित इतिहासका तथ्य बनकर 'महाभारत'के रूपमें प्रसिद्ध हो गयी।

× × × ×

पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर तथा उन्हें बारह वर्षोंकी लम्बी अवधिके लिये वन भेजकर भी दुर्योधनको सन्तोष नहीं हुआ। वह पाण्डवोंको वनमें ही मार डालनेकी बात सोचने लगा। अपने मामा शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनसे सलाह करके उसने चुपचाप पाण्डवोंपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और सब लोग शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित रथोंपर सवार होकर वनकी ओर चल पड़े। व्यासजीको अपनी दिव्यदृष्टिसे उनकी इस दुरभिसन्धिका पता लग गया। ये तुरंत उनके पास आये और उन्हें इस घोर दुष्कर्मसे निवृत्त किया। इसके बाद इन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें समझाया कि तुमने जुएमें हराकर पाण्डवोंको वनमें भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया; इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तुम यदि अपना तथा अपने पुत्रोंका हित चाहते हो तो अब भी सँभल जाओ। भला, यह कैसी बात है कि दुरात्मा दुर्योधन राज्यके लोभसे पाण्डवोंको मार डालना चाहता है। मैं स्पष्टतः कह देता हूँ कि अपने इस लाड़ले बेटेको इस कामसे रोक दो। वह चुपचाप घर बैठा रहे। यदि उसने पाण्डवोंको मार डालनेकी चेष्टा की तो वह स्वयं अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा। यदि तुम अपने पुत्रकी द्वेष-बुद्धि मिटानेकी चेष्टा नहीं करोगे तो बड़ा अनर्थ होगा। मेरी सम्मति तो यह है कि दुर्योधन अकेला ही वनमें जाकर पाण्डवोंके पास रहे। सम्भव है कि पाण्डवोंके सत्सङ्गसे उसका द्वेषभाव दूर होकर प्रेमभाव जाग्रत् हो जाय। सत्संगति ही मनुष्योंमें सद्गुण ला सकती है। परंतु यह बात है बहुत कठिन; क्योंकि जन्मगत स्वभावका बदल जाना सहज नहीं है। यदि तुम कुरुवंशियोंकी रक्षा और उनका जीवन चाहते हो तो अपने पुत्रसे कहो कि वह पाण्डवोंके साथ मेल कर ले।' व्यासजीने धृतराष्ट्रसे यह भी कहा कि 'थोड़ी ही देरमें महर्षि मैत्रेयजी यहाँ आनेवाले हैं। वे तुम्हारे पुत्रको पाण्डवोंसे मेल कर लेनेका उपदेश देंगे। वे जैसा कहें, बिना सोचे-विचारे तुमलोगोंको वैसा ही करना चाहिये। यदि उनकी बात नहीं मानोगे तो वे क्रोधवश शाप देंगे।' परंतु दुष्ट दुर्योधनने उनकी बात नहीं मानी। फलतः उसे महर्षि मैत्रेयका कोपभाजन बनना पड़ा। व्यासदेवने सत्परामर्श देकर उसे न माननेपर आनेवाली आपत्तिको भी सूचित कर दिया। वे विश्वकल्याण-कामी थे; अतः सबकी भलाईकी बात ही करते थे।

व्यासजी त्रिकालदर्शी तो थे ही, उनकी सामर्थ्य भी अद्भुत थी। जिस समय पाण्डवलोग वनमें रहते थे, उस समय इन्होंने एक दिन उनके पास जाकर युधिष्ठिरके द्वारा अर्जुनको प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश दिया, जिससे उनमें देवदर्शनकी योग्यता आ गयी। इतना ही नहीं, इन्होंने सञ्जयको दिव्य दृष्टि दे दी, जिसके प्रभावसे उन्हें न केवल युद्धकी सारी बातोंका ही ज्ञान हुआ, बल्कि उनमें भगवान्‌के विश्वरूप एवं दिव्य चतुर्भुजरूपके देवदुर्लभ दर्शनकी योग्यता भी आ गयी और वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे भगवद्गीताके दिव्य उपदेशका भी श्रवण कर सके, जिसे अर्जुनके सिवा और कोई भी नहीं सुन पाया था। जिस दिव्य दृष्टिके प्रभावसे सञ्जयमें इतनी बड़ी योग्यता आ गयी, उस दिव्य दृष्टिके प्रदान करनेवाले महर्षि वेदव्यासमें कितनी सामर्थ्य होगी—हम लोग इसका ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। वे साक्षात् भगवान् नारायणकी कला ही जो ठहरे। यही कारण है कि उनके दिव्य ग्रन्थ त्रिकालसत्य एवं शाश्वत ज्ञानके आकर हैं।

× × ×

एक बार जब धृतराष्ट्र और गान्धारी वनमें रहते थे तथा महाराज युधिष्ठिर भी अपने परिवारके साथ उनसे

मिलनेके लिये गये हुए थे, व्यासजी वहाँ आये और यह देखकर कि धृतराष्ट्र तथा गान्धारीका पुत्रशोक अभीतक दूर नहीं हुआ है एवं कुन्ती भी अपने पुत्रोंके वियोगसे दुखी है, तब इन्होंने धृतराष्ट्रसे वर माँगनेको कहा। राजा धृतराष्ट्रने उनसे यह जानना चाहा कि महाभारत-युद्धमें उनके जिन कुटुम्बियों और मित्रोंका नाश हुआ है, उनकी क्या गति हुई होगी? साथ ही उन्होंने व्यासजीसे उन्हें एक बार दिखला देनेकी प्रार्थना की। व्यासजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए गान्धारीसे कहा कि 'आज रातको ही तुम सब लोग अपने मृत बन्धुओंको उसी प्रकार देखोगे, जैसे कोई सोकर उठे हुए मनुष्योंको देखे। सायंकालका नित्यकृत्य करके व्यासजीकी आज्ञासे सब लोग गङ्गातटपर एकत्र हुए। व्यासजीने गङ्गाजीके पवित्र जलमें घुसकर पाण्डव एवं कौरवपक्षके योद्धाओंको, जो युद्धमें मर गये थे, आवाज दी। उसी समय जलमें वैसा ही कोलाहल सुनायी दिया, जैसा कौरव एवं पाण्डवोंकी सेनाओंके एकत्र होनेपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें सुन पड़ा था। इसके बाद भीष्म और द्रोणको आगे करके वह सब राजा और राजकुमार, जिन्होंने युद्धमें वीरगति प्राप्त की थी, सहसा जलमेंसे बाहर निकल आये। युद्धके समय जिस वीरका जैसा वेष था, जैसी ध्वजा थी, जो वाहन थे, वे सब ज्यों-के-त्यों वहाँ दिखायी दिये। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाएँ धारण किये हुए थे; सबने चमकते हुए कुण्डल पहन रखे थे और सबके शरीर दिव्य प्रभासे चम-चम कर रहे थे। सब-के-सब निर्वैर, निरभिमान, क्रोधरहित और ईर्ष्यासे शून्य प्रतीत हुए। गन्धर्व उनका यश गा रहे थे और वन्दिजन स्तुति कर रहे थे। उस समय व्यासजीने धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र दे दिये जिनसे वे उन सारे योद्धाओंको अच्छी तरह देख सके। वह दृश्य अद्भुत, अचिन्त्य और रोमाञ्चकारी था। सब लोगोंने निर्निमेष नेत्रोंसे उस दृश्यको देखा। इसके बाद सब आये हुए योद्धा अपने-अपने सम्बन्धियोंसे क्रोध और वैर छोड़कर मिले। इस प्रकार रातभर प्रेमियोंका यह समागम जारी रहा। इसके बाद वे सब लोग जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार भागीरथीके जलमें प्रवेश करके अपने-अपने लोकोंमें चले गये। उस समय वेदव्यासजीने जिन स्त्रियोंके पति वीरगतिको प्राप्त हुए थे, उनको सम्बोधित करके कहा कि 'आपमेंसे जो कोई अपने पतिके लोकमें जाना चाहती हों, उन्हें गङ्गाजीके जलमें गोता लगाना चाहिये।' इनके इस वचनको सुनकर बहुत-सी स्त्रियाँ जलमें घुस गयीं और मनुष्य-देहको छोड़कर अपने-अपने पतिके लोकमें चली गयीं। उनके पति जिस प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आये थे, उसी प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंको धारणकर तथा विमानोंमें बैठकर वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंमें पहुँच गयीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् वेदव्यासजी अलौकिक शक्तिसम्पन्न थे।

इधर राजा जनमेजयने वैशम्पायनजीके मुखसे जब यह अद्भुत वृत्तान्त सुना तो उनके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने भी अपने स्वर्गवासी पिता महाराज परीक्षित्के दर्शन करने चाहे। व्यासजी वहाँ उपस्थित ही थे। उन्होंने राजाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय राजा परीक्षित्को वहाँ बुला दिया। जनमेजयने यज्ञान्त-स्नानके अवसरपर अपने साथ अपने पिताको भी स्नान कराया और इसके बाद परीक्षित् वहाँसे चले गये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यासजीने अपने अलौकिक सामर्थ्यका प्रकाश किया। महर्षि वेदव्यास वास्तवमें एक अद्भुत शक्तिशाली महापुरुष थे, जिन्होंने भगवत्तत्त्व-चिन्तनद्वारा अभूतपूर्व सामर्थ्य प्राप्त कर ली थी। भगवत्तत्त्व-चिन्तनका सुमनोहर फल व्यासदेवकी अलौकिक सिद्धियोंमें देखा जा सकता है। उसका वाङ्मयस्वरूप वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) है।

[२]

आचार्य शंकर

भारतीय तत्त्वचिन्तकोंमें——विशेषकर अद्वैततत्त्व प्रतिपादकोंमें——आचार्यशंकरका स्थान उच्चतम है। प्राच्यदर्शनके प्रसिद्ध व्याख्याता श्रीराधाकृष्णन्के शब्दोंमें——'वे एक निःसङ्ग तपस्वी और विचारक थे, जो गम्भीर ध्यानकी क्षमताके साथ क्रियात्मक जीवनमें भी गम्भीर थे।'

आचार्यका जन्म मालाबारकी नम्बूदरी ब्राह्मण जातिमें ईसापूर्व ५वीं शताब्दीमें हुआ था। इनकी जन्मतिथि वैशाख शुक्ल पञ्चमी और जन्म-स्थान केरल-प्रदेशके पूर्णा नदीका तटवर्ती कालदी गाँव है। इनके पिताका नाम शिवगुरु तथा माताका नाम सुभद्रा था। शिवगुरु बड़े विद्वान् एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। सुभद्रादेवी भी धर्मपरायणा विदुषी थीं। प्रौढ़ावस्थातक दम्पतिको कोई संतान न होनेपर दोनोंने भगवान् शंकरकी आराधना की। वरदानस्वरूप सुभद्रादेवीको पुत्र हुआ, उसका नाम भगवान् शंकरके नामपर शंकर रखा गया।

बालककी प्रतिभा अद्भुत थी। शंकर दो वर्षोंकी अवस्था होते-होते मातासे पौराणिक कथाएँ सुनकर याद करने लग गये। तीसरे वर्षमें इनका चूड़ाकर्म हुआ। पाँचवें वर्षमें इनका यज्ञोपवीत-संस्कार करके इन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया। आठ वर्षकी अवस्था पूरी होते-होते शंकरने वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका अध्ययन समाप्त कर लिया। इनकी इस असाधारण प्रतिभासे उनके गुरु दंग रह गये।

शंकर घर आकर संन्यास ले लेना चाहते थे, परंतु माताकी अनुमति न होनेके कारण वे उस समय संन्यासी न हो सके। एक दिन जब शंकर अपनी माताके साथ नदी स्नान करने गये थे तो उन्हें मगरने पकड़ लिया। माताको चिल्लाते देख शंकरने मातासे कहा कि मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा। माताने अनुमति दे दी और मगरने उन्हें छोड़ दिया! फिर क्या था, वे उसी समय घरसे निकल गये, पर माताकी इच्छाके अनुसार माताकी मृत्युपर घरपर उपस्थित रहना स्वीकार कर लिया। इन्होंने नर्मदा तटवासी स्वामी गोविन्दभगवत्पादसे दीक्षा ली और गुरूपदिष्ट-पद्धतिसे साधना कर थोड़े ही समयमें योगसिद्ध महात्मा होनेमें सफलता प्राप्त कर ली। फिर ये गुरुकी आज्ञासे काशी आ गये। यहाँ इनकी ख्याति और इनके शिष्योंकी संख्या बढ़ने लगी। प्रसिद्ध है कि इनके प्रथम शिष्य सनन्दन हुए जो पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। सत्रह दिन शास्त्रार्थ कर* इन्होंने मण्डन मिश्रको सुरेश्वराचार्य बनाया। वे काशीसे बदरिकाश्रम पहुँचे। आचार्य शंकर शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ग्रन्थ-रचना भी करते जाते थे। एक दिन शिष्योंको† ब्रह्मसूत्र पढ़ाते समय भाष्य लिख रहे थे, तब एक ब्राह्मणने उनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा और उस सूत्रपर इनके साथ आठ दिनोंतक अनवरत शास्त्रार्थ चलता रहा। बादमें पता चला कि ये ब्राह्मणवेषधारी स्वयं व्यासदेव ही हैं। श्रीव्यासदेवने इन्हें अद्वैतके प्रचार करनेकी आज्ञा दी और सोलह वर्षकी अल्पायुको बत्तीस वर्षोंकी आयुमें परिवर्तित कर दिया।

इसके बाद शंकराचार्य अद्वैतवादकी विजयवैजयन्ती फहराते हुए दिग्विजयके लिये निकल पड़े। उनके उपलब्ध ग्रन्थ काशी अथवा बदरिकाश्रम आदिमें लिखे

* न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम नैयमिककालमृते इति जल्पतोः सममनल्पधियोः दिवसाश्च सप्तदश चात्यगमन्। (शंकरदिग्विजय ९। ६५) † दिनाष्टकं वाकलहो विजृम्भे। (वही ७। ९)

गये। बारह वर्षसे सोलह वर्षतककी अवस्थामें ही उन्होंने सभी ग्रंथोंका निर्माण किया था।

शंकराचार्यने मगधपर विजय प्राप्तकर दक्षिणकी ओर प्रस्थान किया और महाराष्ट्रमें शैव एवं कापालिकोंसे शास्त्रार्थकर विजय प्राप्त की। फिर वहाँसे चलकर दक्षिणमें तुङ्गभद्राके तटपर उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें शारदादेवीकी स्थापना की। साथ ही एक मठकी भी स्थापना की जिसे शृङ्गेरी (या शृङ्गगिरि) मठ कहते हैं। इस मठके आचार्यपदपर सुरेश्वराचार्य नियुक्त हुए थे।

शंकराचार्य अपनी माताकी वृद्धावस्था जानकर अपने घर आये और अपने समुदायके विकट विरोधके बावजूद एवं संन्यास-विधिकी उपेक्षा कर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार माताकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।*

फिर शृङ्गेरी मठमें आये और वहाँसे पुरी आकर चोल और पाण्ड्यदेशके राजाओंकी सहायतासे दक्षिणमें फैले कतिपय सम्प्रदायोंके अनाचारको दूर कर पुनः उत्तरभारतकी ओर चल पड़े। फिर उज्जैन आये एवं अपने मतकी वैजयन्ती फहरायी। गुजरात पहुँचकर द्वारकामें एक मठ स्थापित किया और उसके आचार्य-पदपर अपने शिष्य हस्तामलकाचार्यको प्रतिष्ठित किया। फिर गाङ्गेय प्रदेशके पण्डितोंसे शास्त्रार्थमें विजय प्राप्तकर कश्मीरके शारदाक्षेत्रमें आये। वहाँ भी पण्डितोंको परास्त कर अपने मतकी स्थापना की। आसाममें कामरूप स्थानमें आकर भी शास्त्रार्थ किया। फिर बदरिकाश्रम आकर ज्योतिर्मठकी स्थापना की। वहाँ तोटकाचार्यको मठाधीश्वर बनाया। फिर केदारक्षेत्रमें आये और कुछ दिनों बाद अपनी बत्तीस वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मलीन हो गये। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तका प्रचण्ड मार्तण्ड अपनी प्रतिभाकी वह दिव्य ज्योति भारतवर्षकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक संस्कृतिको समुज्ज्वल बनाकर अस्त हो गया।

आचार्य शंकर प्रकाण्ड पण्डित, परम ज्ञानी, संत, आचार्य, त्यागी और प्रचण्ड धर्मप्रचारक थे। इनमें अनेक दिव्य गुणोंका विचित्र अपूर्व सामञ्जस्य था। वे युवावस्थामें प्रखर प्रतिभासे सम्पन्न और बौद्धिक महत्त्वाकाङ्क्षाके आवेशसे पूर्ण एक अदम्य और निर्भय शास्त्रार्थमहारथी थे। कुछ लोग उन्हें जनताको एकताकी भावना समझानेवाला गम्भीर राजनीतिक प्रतिभा-सम्पन्न भी बताते हैं। पर बहुत लोग उन्हें प्रगल्भ शान्त दार्शनिक बतलाते हैं, जिनका प्रयत्न जीवन और विचारके विरोधोंका, अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा, भेद खोल देनेके प्रति था। अन्य लोग उन्हें रहस्यवादी बतलाते हैं, जो यह प्रतिपादन करनेमें समर्थ हुए कि हम सब उससे कहीं अधिक महान् हैं, जितना हम अपनोंको जानते हैं। वस्तुतः हम उस अखण्ड, नित्य—, शाश्वत सत्ताके ही रूप हैं जो **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** से समझा जाना है।

आचार्य शंकरने देशके दार्शनिक बौद्धिक स्तरको उच्चतर रूपमें प्रतिष्ठापित किया और अपने क्रियात्मक प्रयासोंसे देशके चारों दिशाओंमें आचार्यपीठोंकी स्थापना कर धर्मकी रक्षाका दूरगामी प्रबन्ध भी कर दिया। इन पीठोंमें मुख्य पूर्वोक्त मैसूर प्रान्तमें स्थित शृङ्गेरीमठ है। अन्य तीन क्रमशः पूर्वमें पुरीस्थित गोवर्धनपीठ, पश्चिममें द्वारकास्थित शारदापीठ और उत्तरके हिमालय प्रदेशमें बदरीनाथस्थित ज्योतिर्मठ हैं। यह उधर 'जोशीमठ' नामसे भी अभिहित होता है।

---

* कहा जाता है कि कुछ लकड़ियोंको चुनकर एकत्र किया और इन्होंने अपनी माताकी दाहिनी भुजाका मन्थन कर स्वयं ही आग निकाली और उसीसे उनका दाह-संस्कार किया—

संचिन्त्य काष्ठानि सुशुष्कवन्ति गृहोपकण्ठे धृततोयपात्रः। सदक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं ददाह तां तेन च संयितात्मा॥

(माधवीय—शं० दि० १४। ४८)

आचार्य शंकरने ३२ वर्षोंकी अल्पायुमें कल्पनातीत कार्य किये। बौद्धिक क्षेत्रमें उनकी महान् उपलब्धि अद्वैतदर्शन है जो, आज भी विश्वके तत्त्वचिन्तकोंको विमुग्ध बनाये हुए है। आचार्यने प्राचीन वेदान्तसूत्रों और उपनिषदोंके भाष्यद्वारा अद्वैतदर्शनका परिनिष्ठित-स्वरूप विकसित किया। आचार्य शंकर एक साथ और एक ही समयमें कट्टर सनातनधर्मके उत्साही रक्षक एवं धार्मिक सुधारकके रूपमें प्रकट हुए। उन्होंने पुराणोंके उज्ज्वल विलासमय युगके स्थानमें उपनिषदोंके रहस्यमय सत्यके युगको फिरसे लौटा लानेका प्रयत्न किया। आत्माको उच्चतर जीवनकी ओर मोड़नेकी जो शक्ति धर्ममें है, उसे उसके बलको परखनेकी कसौटी माना।'

इनके लिखे कुल २७२ ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनमें प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—१-ब्रह्मसूत्रभाष्य, २-उपनिषदों (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंहपूर्वतापनीय, श्वेताश्वतर इत्यादि-)के भाष्य, उपदेशसाहस्री, विवेक-चूडामणि, प्रपञ्चसार, प्रबोधसुधाकर, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, सर्ववेदान्तसंग्रह, दशश्लोकी, सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसार-संग्रह, वाक्यसुधा, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसारतन्त्र, आत्मबोध, मनीषा-पञ्चक, आनन्दलहरी-स्तोत्र इत्यादि।

शंकर अद्वैत सिद्धान्तको ही वास्तविक सत्य और न्यायोचित मानते थे। उनके सभी ग्रन्थोंमें एक ही उद्देश्य झलकता है—ब्रह्मके साथ अपने एकत्वको पहचानना और इस प्रकार संसारसे मोक्ष-प्राप्तिका उपाय करना—**'संसारहेतुनिवृत्तिसाधनं ब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये।'**

अन्तमें हम उन्हें अमलानन्द सरस्वतीके शब्दोंमें प्रणाम करते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणाकरम्।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्॥

[३]

आचार्य रामानुज

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके भगवत्तत्त्वचिन्तक आचार्य रामानुजकी प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और सिद्धान्त-प्रतिपादनकी शैली-प्रौढ़ि अद्वैतसिद्धान्तके श्रेष्ठ आचार्य शंकरकी कोटिकी मानी जाती है। ये भारतके महान् तत्त्व-चिन्तक आचार्योंमें गिने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी चिन्तन बड़ी सूक्ष्मतासे किया है। ये भगवान् सङ्कर्षणके अवतार माने जाते हैं।

रामानुजाचार्यका जन्म भारतके भूतपुरी-(वर्तमान 'पेरुम्बुदुरम्') में सं० १०७४ विक्रमाब्दमें हुआ था। इनके पिताका नाम केशव सोमयाजी या केशवभट्ट तथा माताका नाम कान्तिमती था। इनके बचपनका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है, पर समझा जाता है कि ये बचपनमें ही पितृहीन हो गये थे[1]। ये अपनी सामान्य शिक्षा समाप्त होनेपर काँजीवरम्‌में विद्याध्ययनहेतु गये और वहाँ यादवप्रकाशसे वेदान्तका अध्ययन करने लगे। यतः ये तीव्र प्रतिभा-सम्पन्न थे, अतः गुरुकी व्याख्या यथावत् न मानकर तर्ककी कसौटीपर कसते रहते थे। अपनी तर्कसिद्ध व्याख्यासे ये विद्वानोंको चमत्कृत कर देते थे। इनकी ख्याति बढ़ने लगी। जहाँ इनकी प्रतिभाका प्रकर्ष यामुनाचार्य-(आलम्बदार-) जैसे आचार्यकी प्रसन्नताका कारण था, वहाँ दैवयोगसे गुरु यादवप्रकाश-की चिढ़का कारण बनता गया। यामुनाचार्य इन्हें गुप्तरूपसे देख गये थे और बहुत प्रसन्न हुए थे।

१—किसी-किसीका मत है कि इनके पिता इनकी सोलह वर्षकी अवस्थामें शादी करनेके बाद स्वर्गीय हुए थे।

इनकी विद्वत्ता और प्रतिपादन-क्षमतासे प्रभावित आलम्वदार अपने उत्तराधिकारीके रूपमें इन्हें श्रीरंगम्-पीठके मठाधीश बनाना चाहते थे। यामुनाचार्य-(आलम्वदार-) ने अपने अन्तिम समयमें रामानुजाचार्यको बुलानेके लिये अपने शिष्य महापूर्ण स्वामीको भेजा। रामानुजाचार्य उनके साथ जब श्रीरंगम् पहुँचे तो देखा कि यामुनाचार्यका देहावसान हो चुका है और अन्तिम संस्कारकी तैयारी हो रही है। आचार्य आलम्वदारके मृत शरीरके पास जब ये दर्शनार्थ पहुँचे तो देखा कि उनके दायें हाथकी पाँच अंगुलियोंमेंसे तीन एक साथ मुड़ी हुई हैं। उनके शिष्योंने इसका अर्थ यह निकाला कि आलम्वदार गुरुदेवकी तीन इच्छाएँ अपूर्ण रह गयी हैं, जिनमेंसे एक मुख्य इच्छा यह है कि ब्रह्मसूत्रपर सरल सुबोध भाष्य लिखा जाय।[2] कहा जाता है कि रामानुजाचार्यने तीनोंकी पूर्ति-हेतु वहीं प्रतिज्ञा की और तत्काल वे तीनों अंगुलियाँ सीधी हो गयीं। रामानुजाचार्यने यामुनाचार्यका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया और काँजीवरम् लौट गये।

श्रीरामानुजाचार्य काँजीवरम् लौट गये तथा वरदराज भगवान्‌की सेवामें लगे रहकर एवं ईश्वरके प्रति निष्ठावान् होकर समय विताने लगे। एक बार उन्होंने मन्दिरके पुजारीसे प्रश्न किया कि 'आप मेरे भविष्यके सम्बन्धमें इश्वरेच्छाका निर्णय कीजिये।' जनश्रुतिके अनुसार ईश्वर-इच्छा अभिव्यक्त हुई जिसका भावार्थ यह है कि 'मैं सर्वोपरि यथार्थ सत्ता हूँ। मेरा विचार परस्पर भेद-विषयक है। आत्मसमर्पण मुक्तिका अमोघ कारण है, वैयक्तिक प्रयत्न करना इतना आवश्यक नहीं, अन्तमें मोक्ष मिलेगा। पेरियनाम्बि सर्वोत्तम शिक्षक हैं[3]।'

देवराज मन्दिरके पुजारीकी आज्ञाको भगवान्‌का आदेश मानकर इन्होंने उसका पालन करना प्रारम्भ कर दिया। श्रीरंगम् जाते समय मार्गमें ये मधुरान्तकमें पेरियनाम्बि-(महापूर्ण स्वामी-)से मिले। उन्होंने रामानुजाचार्यको दीक्षा दी। वे श्रीरंगम् भी आये। फिर श्रीवरदराज भगवान्‌की सेवाके उद्देश्यसे महापूर्ण स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके साथ उनके घरपर रहने लगे। महापूर्ण स्वामीने रामानुजाचार्यको व्यासकृत वेदान्त सूत्रोंके अर्थके साथ-साथ तीन हजार गाथाओंका भी उपदेश दिया।

महान् चिन्तकों, बड़े विचारकों और महापुरुषोंको कदाचित् ही उनके विचार और सिद्धान्तकी समर्थिका पत्नी मिलती हो। आचार्य रामानुजको भी अपनी पत्नीसे वैचारिक सहायता न मिली। फलतः इन्हें भी गौतम बुद्ध, आचार्य शंकर, पश्चिमी दार्शनिक प्लेटो तथा पालकी भाँति यह अनुभव हुआ कि मानव-जीवनकी लक्ष्यसिद्धि—मानवताकी उच्च भूमि या जीवनकी चरम सिद्धि—ईश्वर-प्राप्ति करनेमें त्याग आवश्यक सीढ़ी है; क्योंकि **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'** अतः इन्होंने संसारका सर्वथा त्याग कर संन्यास ले लिया।[4] संन्यास लेनेके

२—दूसरी और तीसरी इच्छाएँ ये बतायी जाती हैं—दिल्लीके उस समयके बादशाहके यहाँसे श्रीविष्णुमूर्तिका उद्धार और दिग्विजयपूर्वक विशिष्टाद्वैतका प्रचार। किसी-किसीके मतमें तीन इच्छाएँ ये कही जाती हैं—(१) ब्रह्मसूत्रकी भाष्य-रचना, (२) द्राविडवेदका प्रचार और (३) दो मनुष्योंको पराशर और शठकोपकी उपाधि प्रदान करना।

३—श्रीमान् परं तत्त्वमहम्। मतं मे भेदः। प्रपत्तिर्निरपायहेतुः। नावश्यकी च स्मृतिः। अन्त्यकाले मोक्षो महापूर्ण इहार्यवर्यः।' (भारतीयदर्शनकी पाद-टिप्पणीमें उद्धृत)।

४—कहा जाता है कि पत्नीके साथ इनका मतभेद-सा बना रहता था। एक बार एक हीन जातिके भक्तके आतिथ्य-स्वीकार कर चले जानेपर इनकी पत्नीने उस स्थानको धो दिया। इन्हें दुःख हुआ। एक दिन एक

बाद इनकी साधना बढ़ी, प्रसिद्धि फैली । इनके प्रशंसकोंने इन्हें 'यतिराज' की उपाधिसे विभूषित किया । इनसे वेदान्तका अध्ययन करने बहुत-से विद्यार्थी भी जुटने लगे । यह भी कहा जाता है कि इनके गुरु यादवप्रकाशने भी इनसे दीक्षा ली और **'यतिधर्म-समुच्चय'** नामक ग्रन्थकी रचना की। उन्हीं दिनों यामुनाचार्यके पुत्र वरदरंग आदिकी प्रार्थनापर इन्होंने श्रीरङ्गम्‌में पीठाध्यक्षता स्वीकार कर ली ।

यतिराज रामानुजाचार्य श्रीरङ्गम्‌में रहने लगे । श्रीरामानुजाचार्यने श्रीरङ्गम्‌में पुनः गोष्ठीपूर्णसे दीक्षा ली । गोष्ठीपूर्णने इन्हें मन्त्ररहस्य बतलाकर आज्ञा दी कि वे दूसरोंको मन्त्र न दें । किंतु रामानुजाचार्य उस मन्त्रसे मुक्ति होनेकी सिद्धि जानकर गोष्ठीपूर्णके मन्दिरकी छतपर चढ़कर सैकड़ों नरनारियोंके सामने चिल्ला-चिल्लाकर मन्त्रोच्चारण करने लगे । गुरुके क्रोधको इनके इस उत्तरने शान्त कर दिया कि 'गुरुदेव ! यदि ये सभी मुक्त हो जायँगे और अकेला मैं नरकमें रह जाऊँ तो मेरे लिये यही उत्तम है !' गुरुने प्रसन्न होकर कहा कि आजसे विशिष्टाद्वैत-दर्शन रामानुजदर्शन नामसे प्रसिद्ध होगा । इन्होंने तिरुवायमयीका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया । अपने शिष्य कूत्तालवारकी सहायतासे, जिसे बोधायनवृत्ति कण्ठस्थ थी, रामानुजाचार्यने वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और वेदान्तदीपिका-नामक ग्रन्थोंकी रचना की । बोधायन-वृत्तिकी प्राप्तिके लिये इन्हें अपने शिष्यके साथ कश्मीरतक जाना पड़ा था और वह देखनेभरके लिये मिली थी, जिसे कूत्तालवारने कण्ठस्थ कर लिया था । आचार्यने ब्रह्मसूत्र और गीतापर अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं । वैष्णवधर्मावलम्बी विद्वानोंने रामानुजके वेदान्तभाष्यको मान्यता दी । 'श्रीभाष्य' वैष्णवोंका कण्ठहार बन गया । यह ग्रन्थ इनका मुख्य मान्य सिद्धान्त-ग्रन्थ है ।

आचार्य रामानुजने सारे दक्षिण भारतकी यात्रा की और स्थान-स्थानपर स्थित अनेक मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया । इसके सिवाय इन्होंने वैष्णवधर्मकी दीक्षा देकर वैष्णवधर्मावलम्बियोंकी संख्या बढ़ायी । विशिष्टा-द्वैतका स्फीत प्रतिपादन किया और भक्तियोगको सर्वसाधारण-सुलभ किया । इन्होंने भी आचार्य शंकरकी भाँति गीता तथा ब्रह्मसूत्रोंके रहस्यका अपने ढंगपर उद्‌घाटन कर लोकका महान् उपकार किया । फिर भी इन्होंने यह अभिनिवेश नहीं रखा कि मैं अपने स्वतन्त्र दर्शनका प्रचार कर रहा हूँ, बल्कि यह प्रकाशित किया कि प्रसिद्ध प्राचीन तत्त्वज्ञ पुरुषोंके ज्ञानका ही प्रचार कर रहा हूँ । यही कारण है कि ये अद्वैतसम्प्रदायके सर्वश्रेष्ठ आचार्य शंकरकी कोटिमें परिगणित एवं मान्य अर्च्य आचार्य हैं ।

यामुनाचार्यके शवके समक्ष की हुई अपनी प्रतिज्ञाओंकी ओर जब इन्होंने विशेष ध्यान दिया तब अपने शिष्य कुरेशके साथ बोधायनवृत्तिकी खोजमें निकल पड़े । कश्मीरके एक पुस्तकालयसे पढ़ने भरके लिये मिली और कुरेशको तत्कालीन कण्ठाग्रकृत उस बोधायनवृत्तिकी सहायतासे आचार्यने श्रीभाष्यकी रचना की । श्रीभाष्य तैयार होनेपर वे पुनः कश्मीर गये । सरस्वती-पीठमें इनके भाष्यका बड़ा आदर हुआ । वहाँके विद्वानोंने भाष्यका नाम श्रीभाष्य रखा और हयग्रीवकी एक मूर्ति भेंट की । आज भी मैसूरके परकालमठमें उस मूर्तिकी पूजा होती है । दिल्ली जाकर तत्कालीन बादशाहके महलसे एक विष्णुमूर्तिका उद्धार किया ।

भिक्षुकको भीख देनेकी इनकी आज्ञासे इन्कार कर दिया । श्रीरामानुजकी अनुपस्थितिमें इनकी पत्नीने गुरुपत्नीको कटूक्तियोंसे तिरस्कृत कर दिया जिससे वे रूठ गयीं । इसपर गुरुदेव श्रीरंगम् चले गये । श्रीरामानुजने पत्नीको उनके मैके भेज दिया और वीतराग होकर भगवान् वरदराजकी अनुमतिसे संन्यास ग्रहण कर लिया ।

कहते हैं कि यतिराजके बुलाते ही मूर्ति स्वयमेव उनके पास चली आयी। आचार्यने उसको सम्पत्कुमार कहकर गोदमें ले लिया। तदनन्तर सारे देशमें अपने मतका प्रचार किया। यामुनाचार्यकी अन्तिम तीनों इच्छाएँ पूर्ण हुईं।

कुछ लोग कहते हैं कि रामानुजके शिष्य कुरेशके बहुत दिनों बाद दो पुत्र हुए। आचार्यकी आज्ञासे एक पुत्रका नाम पराशर रखा। सयाने होनेपर पराशरने विष्णुसहस्रनामका भाष्य लिखा। इस प्रकार यामुनाचार्यकी पक्षान्तरवाली दूसरी इच्छा पूरी हुई। फिर दूसरे पुत्र पिलानने 'तिरुमयम्मली' के ऊपर एक भाष्य लिखा। इस प्रकार यामुनाचार्यकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं।

अन्तिम समयमें चोलदेशीय राजा कुलतुंगने या दूसरे राजेन्द्र चोलने जो संवत् ११२७ वि० में गद्दीपर बैठा था, आचार्यको षड्यन्त्रमें अभिभूत करनेके लिये अपने सम्प्रदायके कुछ लोगोंकी प्रेरणासे सभामें बुलाया था। दुरभिसन्धिकी आशंका होनेपर आचार्यके शिष्य कुरेश और महापूर्ण ही सभामें गये। राजाने उनकी आँखें निकलवा लीं। दु:खी आचार्य रामानुज श्रीरंगम्से मैसूर चले गये। वहाँके राजा वित्तिदेवने इन्हें सत्कृत किया और स्वयं वैष्णव हो गया। उसकी सहायतासे रामानुजाचार्यने वैष्णवमतका खूब प्रचार किया।

कुलतुंगकी मृत्यु जब सं० ११७५ में हुई तो रामानुजाचार्य श्रीरङ्गम् आये और प्राय: सभी आलंवारोंकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। अपने मामाकी मृत्यु होनेपर ये तीरुपति आये और समुद्रमें फेंकी हुई गोविन्दराजकी मूर्तिको निकलवाकर उसे पुन: स्थापित कराया। इसके बाद भ्रमण बन्द कर दिया। उत्तराधिकारीकी नियुक्तिकी एवं वैष्णवमतके प्रचारके लिये ७४ शिष्योंको विनियुक्त किया। इस प्रकार आचार्यने अपने सम्पूर्ण जीवनको स्वाध्याय, अध्यापन, साधन, भजन और धर्मप्रचारमें लगाकर एवं त्यागमयी १२० वर्षकी आयु पूरी कर सं० ११९४ विक्रमाब्दमें दिव्यलोकके लिये महाप्रस्थान कर लिया।

आचार्यके जीवनकी कुछ घटनाएँ—

यह जनश्रुति है कि एक बार गुरु यादवप्रकाश 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' की व्याख्या कर रहे थे। श्रीरामानुजाचार्य अपनी तर्कशैलीसे 'ननु नच' कर रहे थे। इन्हें उनकी व्याख्या सटीक नहीं जँचती थी। विवाद कुछ उग्र हो गया और गुरु रुष्ट हो गये। उन्होंने इन्हें पढ़ाना बन्द कर दिया। यही क्यों, प्रत्युत यादव प्रकाश इनके अनिष्ट करनेपर उतर आये। श्रीरामानुजाचार्य अपने मौसेरे भाईके साथ प्रयागकी यात्रामें बीचसे ही लौट जानेके लिये बाध्य हुए; क्योंकि मार्गमें घातक षड्यन्त्र होनेका पता लग गया। मार्ग बीहड़ था, अत: आचार्यने भगवान् वरदराजका स्मरण किया। भगवान् वरदराज लक्ष्मीजी-सहित भील-भीलनीका रूप धारण कर इन्हें कांची पहुँचाने गये। समीप पहुँचनेपर वे दोनों ही अन्तर्धान हो गये।

× × ×

आचार्य रामानुजकी विद्वता और अनूठी प्रतिपादनकी शैलीसे आकृष्ट हो दूर-दूरसे विद्वानोंके आने और इनसे सत्सङ्ग अथवा विचार-विमर्श करनेकी परिचर्चा चला करती थी। इन्हीं दिनों यज्ञमूर्तिनामक एक दिग्विजयी शास्त्रार्थीने श्रीरंगम्में आकर इन्हें शास्त्रार्थ करनेकी चुनौती दी। शास्त्रार्थ सोलह दिनोंतक चलता रहा, पर कोई विजयी अथवा विजित नहीं हुआ। अन्तत: आचार्य रामानुजने यामुनाचार्यके 'मायावाद-खण्डन'का सुनिपुण अध्ययन-मनन कर यज्ञमूर्तिको परास्त किया। यज्ञमूर्ति वैष्णव बन गये और तामिल भाषामें 'प्रमेयसार' तथा 'ज्ञानसागर' नामक दो ग्रन्थोंकी रचना की।

× × ×

एक यह भी घटना कही जाती है कि श्रीरंगनाथके पुजारीने इनके फैलते यशकी ईर्ष्यासे इन्हें विष दे देनेका षड्यन्त्र रच दिया था, पर उसीकी साध्वी स्त्रीने उसे विफल कर दिया। पुजारीने पश्चात्तापपूर्वक क्षमा माँगी और इनकी शरण ली। आचार्यने क्षमा दे दी और सान्त्वनासे आश्वस्त कर दिया—**'प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्।'**

× × ×

आचार्य रामानुजने अपने मतकी पुष्टि और प्रचारके लिये श्रीभाष्यके अतिरिक्त वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदान्ततत्त्वसार, गीताभाष्य, गद्यत्रय और भगवदाराधनक्रमकी भी रचना की। इसके अतिरिक्त अष्टादश रहस्य, कण्टकोद्धार, कूटसन्दोह, ईशावास्योपनिषद्-भाष्य, गुणरत्नकोष, चक्रोल्लास, दिव्यसूरिप्रभावदीपिका, देवतापारम्य, न्यायरत्नमाला, नारायणमन्त्रार्थ, नित्यपद्धति, नित्याराधनविधि, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, पञ्चपटल, पञ्चरात्ररक्षा, प्रश्नोपनिषद्व्याख्या, मणिदर्पण, मतिमानुष, मुण्डकोपनिषद्व्याख्या, योगसूत्रभाष्य, रत्नप्रदीप, रामपटल, रामपद्धति, रामपूजापद्धति, राममन्त्रपद्धति, रामरहस्य, रामायणव्याख्या, रामार्चापद्धति, वार्त्तामाला, विशिष्टाद्वैतभाष्य, विष्णुविग्रहशंसनस्तोत्र, विष्णुसहस्रनामभाष्य, वेदार्थसंग्रह, वैकुण्ठगद्य, शतदूषणी, शरणागतिगद्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्व्याख्या, सङ्कल्पसूर्योदय टीका, सच्चरितरक्षा, सर्वार्थसिद्धि इत्यादि ग्रन्थोंकी भी रचना की। परंतु यह नहीं पता लगता कि कौन-सा ग्रन्थ किस समयमें लिखा गया। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें शाङ्कर-मतका खूब जोरदार शब्दोंमें खण्डन करनेकी चेष्टा की है। पर तत्त्व-चिन्तनके लक्ष्य और शैली दोनोंकी प्रायः समान हैं। आचार्य शंकरका मत अद्वैतवाद है और इनका विशिष्टाद्वैत। वे संसारको मिथ्या मानते हैं और ये संसारको सत्य कहते हैं।

[४]

श्रीमध्वाचार्य

द्वैतवादी तत्त्वचिन्तक आचार्य मध्व गण्यमान्य आचार्योंमें अन्यतम हैं। इन्हें पूर्णप्रज्ञ एवं आनन्दतीर्थसे भी जाना जाता है।

मध्वाचार्यका जन्म तुळुव देशके कनारा जिलेमें उदीपिके समीप वेलिग्राममें एक वेद वेदाङ्ग-पारङ्गत ब्राह्मणके घर सं० १२५६ विक्रमाब्दमें आश्विन शुक्ला दशमी-(विजयादशमी-)को हुआ था। इनके पिताका नाम मध्विजी भट्ट और माताका नाम वेदवती था। दम्पतिने अपने पहलेके दो पुत्रोंके निधन हो जानेसे पुत्रकामनापरक श्रीनारायणकी उपासना की; फलतः एक होनहार बालकका जन्म हुआ। बालकका नाम वासुदेव रखा गया। यज्ञोपवीतके बाद ये ग्राम-पाठशालामें प्रारम्भिक शिक्षाहेतु भेजे गये। इनका मन पढ़नेमें नहीं लगता था। ये विविध खेलोंमें निपुणता प्राप्त करनेके कारण 'भीम' कहलाने लगे। प्रसिद्धि है कि भगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवता वासुदेवके रूपमें प्रकट हुए थे, अतएव भीम नाम भी सार्थक समझा जाता था।

यद्यपि इनका मन पढ़नेमें नहीं लगता था, पर ये थे विलक्षण प्रतिभाके बालक। प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर शीघ्र ही ये एक अच्छे विचक्षण हो गये। कुछ ही दिनों बाद अपनी ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने अद्वैतमतके संन्यासी आचार्य सनक-कुलोद्भव अच्युत प्रेक्षाचार्य या अच्युत पक्षाचार्य-(अपरनाम शुद्धानन्द-)से संन्यासकी दीक्षा ले ली। इनका दीक्षा-नाम पूर्णप्रज्ञ हो गया। ये अपने गुरुसे वेदान्त पढ़ने लगे। वेदान्तकी व्याख्यामें अपने गुरुसे ये प्रायः

असहमत होकर प्रतिवाद कर उठते थे। प्रखर प्रतिभासे जनित इनकी प्रज्ञा और विद्वत्ताकी ख्याति बढ़ने लगी। वेदान्तके पारगामी विद्वान् हो जानेपर इनके गुरुने इन्हें आनन्दतीर्थ नाम देकर मठाधीश बना दिया। अनेक वर्षोंतक प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय और समाधिमें लगे रहकर भी कभी-कभी पण्डितोंसे शास्त्रार्थ भी कर लिया करते थे। इन्हें आनन्दज्ञान, ज्ञानानन्द और आनन्दगिरि आदि नामोंसे भी जाना जाता था।

एक बार ये सं० १२८५ वि० में दक्षिण-विजयके लिये निकले। इनके गुरु अच्युतपक्ष भी कुछ अन्य साथियोंके साथ दक्षिण आये और मंगलौरसे २७ मील दक्षिण विष्णुमंगलम् स्थानमें ठहर गये। कहा जाता है कि यहाँ आचार्यने नाना प्रकारकी सिद्धियाँ दिखलायीं।

कुछ दिनों बाद ये वहाँसे त्रिवेन्द्रम् आये। वहाँ राजसभामें शृङ्गेरी मठके अध्यक्षके साथ शास्त्रार्थ किया। त्रिवेन्द्रम्से रामेश्वरम् और फिर वहाँसे श्रीरंगम् आकर ये फिर पला नदीके तटवर्ती उदीपिमें आ गये। यहींपर इन्होंने गीताभाष्य लिखा और उसमें अपने मतका सारांश निवेशित किया। इसके बाद उसीको आधार बनाकर इन्होंने वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखा। कहते हैं कि गीताभाष्यकी रचना कर वे बदरिकाश्रम गये और भगवान् वेदव्यासके प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर उन्हें गीताभष्य समर्पित कर दिया। व्यासजीने प्रसन्न होकर इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ दीं। इन्हीं तीन मूर्तियोंको आचार्यजीने सुब्रह्मण्य, उदीपि और मध्यतलमें प्रतिष्ठित किया। आपने एक कृष्णमूर्तिकी स्थापना भी उदीपिमें की थी। कहा जाता है कि किसी व्यापारीका एक जहाज द्वारकासे मलाबार जा रहा था। वह तुलुवके समीप डूब गया। उस जहाजमें गोपीचन्दनसे आवृत एक कृष्ण-विग्रह भी था, उसकी भी जल-समाधि हो गयी। मध्वाचार्यने भगवदादेशसे उसे जलसे निकलवा कर उदीपिमें स्थापित किया। तभीसे उदीपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थ हो गया।

भगवदादेशसे आप वैष्णव-सम्प्रदाय और भक्तिके प्रचारमें लग गये। प्रचारके सिलसिलेमें ही ये चालुक्य साम्राज्यकी राजधानी कल्याणमें पहुँचे। वहाँ इनके प्रधान शिष्य शोभन भट्टने इनसे दीक्षा ली। उनका नाम पद्मनाभ तीर्थ हुआ और वे अपने गुरुके बाद मठाधीश हुए।

आचार्य कल्याणसे उदीपि लौट आये, जहाँ कहते हैं कि इनके गुरु अच्युतपक्षाचार्यने भी वैष्णवमत स्वीकार कर लिया। जो हो, इन्होंने वैष्णवधर्म और भक्तिका विशेष प्रचार किया। उदीपिमें इन्होंने अपने शिष्योंकी सुविधाके लिये कृष्णमन्दिरके सिवाय और मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीराम-सीता, लक्ष्मण-सीता, द्विभुज कालिय-दमन, चतुर्भुज कालिय-दमन, विट्ठल—कुल आठ मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा की। ये मूर्तियाँ दर्शनीय हैं और आज भी इस सम्प्रदायवाले वहाँ जाकर उनका दर्शन भक्तिभावसे करते हैं।

पण्डित श्रीत्रिविक्रमको दीक्षा देकर आचार्यने उन्हें एक कृष्णमूर्ति उपहृत की जो आज कोचीन राज्यमें विद्यमान है। इन्हींके पुत्र नारायणने मध्वविजय और 'मणिमंजरी'की रचना की थी। इनसे इनके जीवनपर प्रकाश पड़ता है। आचार्यके जीवनचरित्रमेंसे चामत्कारिक एवं अप्राकृतिक घटनाओंको छाँट देनेपर उनके जीवन और उद्देश्यका खुलासा ऐतिहासिक तथ्य उभर आता है।

संभवतः इनके पिताका देहावसान सं० १३३२ वि० में हुआ। उसके बाद इनके भाईने भी संन्यास ले लिया, जिनका दीक्षानाम विष्णुतीर्थ प्रसिद्ध हुआ। अन्तिम समयमें मध्वाचार्य 'सरिदन्तर' नामक स्थानपर रहने लग गये थे। वहींपर द्वैतवादी तत्त्वचिन्तक

*

आचार्य मध्वने अपनी उनहत्तर वर्षकी पूर्णायु पूरी कर वैकुण्ठवास किया। इनके मतानुयायियोंका कहना है कि आचार्यने १९ वर्षोंतक धर्मप्रचारादि कार्योंमें बिताये। इस हिसाबसे इनका वैकुण्ठवास १३६० विक्रमाब्द होता है।

देहत्यागके समय आप अपने शिष्य श्रीपद्मनाभतीर्थको श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्राम शिला देकर कह गये कि तुम मेरे मतका प्रचार करना। गुरुके आदेशानुसार श्रीपद्मनाभतीर्थने चार मठोंकी स्थापना की।

मध्वाचार्यके सिद्धान्तके प्रतिपादक इनके रचे हुए ग्रन्थ ही हैं। इन्होंने भी ब्रह्मसूत्रपर भाष्यकी रचना की है। 'अनुव्याख्यान' नामक ग्रन्थमें इन्होंने अपने भाष्यकी युक्तियुक्तता प्रदर्शित की है। भगवद्गीता तथा उपनिषदोंपर भी भाष्य लिखा है। महाभारतका सार 'भारततात्पर्यनिर्णय' नामसे इनकी अन्य कृति है। भागवतपर भी इनकी टीका है। ये सभी ग्रन्थ इनके सिद्धान्तके अनुमोदक हैं। ऋग्वेदके प्रथम चालीस मन्त्रोंपर भी इन्होंने टीका लिखी है। अपने प्रकरणोंमें अनेक दार्शनिक एवं अन्य विषयोंपर भी समीक्षा की है। प्रस्थानत्रयीकी अपेक्षा इन्होंने पुराणोंका अधिक अभिप्राय ग्रहण किया है—ऐसा आधुनिक प्रसिद्ध दार्शनिक मानते हैं। इनके सूत्रभाष्य एवं अनुव्याख्यानके ऊपर जयतीर्थका न्यायसुधानामक भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और जयतीर्थके इस भाष्यपर व्यासरायका भाष्य है। उसका नाम चन्द्रिका है। पूर्णानन्दकी तत्त्वमुक्तावादमें अद्वैतवादकी समालोचना की गयी है।

श्रीमध्वाचार्यने अपने जीवनके प्रायः ३० वर्ष ग्रन्थ-लेखनमें व्यतीत किये। इस बीच उन्होंने गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, अनुभाष्य, अनुव्याख्यान, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, प्रपञ्चमिथ्यात्व-वादखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वविवेक, तत्त्वद्योत, कर्मनिर्णय, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, ऋग्भाष्य, दशोपनिषद्-(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक)—भाष्य, गीता-तात्पर्यनिर्णय, न्यायविवरण, यमकभारत, द्वादशस्तोत्र, कृष्णामृतमहार्णव, तन्त्रसारसंग्रह, सदाचारस्मृति, भागवततात्पर्यनिर्णय और महाभारततात्पर्यनिर्णय, जयन्ती-कल्प, संन्यासपद्धति, उपदेशसाहस्रीटीका, उपनिषत्प्रस्थान आदि अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की।

श्रीमध्वाचार्यके मतसे ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणुपरिमाण है। जीव भगवान्‌का दास है। वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। प्रपञ्च सत्य है। जीवको पाञ्चरात्रशास्त्रका आश्रय लेना चाहिये। यहाँतक आचार्य रामानुजसे पूर्णतः संगति है, पर पदार्थ-निर्णय या तत्त्व-निर्णयमें दोनोंमें मतैक्य नहीं है।

[५]

श्रीनिम्बार्काचार्य

आचार्य निम्बार्क रामानुजाचार्यके पश्चात् और मध्वाचार्यसे पहले हुए थे। ये वैष्णव-धर्मावलम्बी एक तेलगु ब्राह्मण थे। इनकी स्थिति ग्यारहवीं शताब्दीमें मानी जाती है।[1] इनका दूसरा नाम नियमानन्द था। इनका नाम पहले भास्कराचार्य था—यह भी कहा जाता है। इनके सम्बन्धमें माना जाता है कि ये दक्षिणमें गोदावरीके तटपर वैदुर्यपत्तनके पास अरुणाश्रममें श्रीअरुणमुनिकी पत्नी श्रीजयन्तीदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए

१—निम्बार्कसम्प्रदायकी मान्यता है कि आचार्य पाँचवीं शताब्दीमें हुए थे। भक्तोंका विश्वास है कि आपका प्राकट्य द्वापरयुगमें हुआ था। आधुनिक अन्वेषक इन्हें ग्यारहवीं शताब्दीमें मानते हैं।

थे। कुछ लोग इनके पिताका नाम जगन्नाथ बतलाते हैं। कहा जाता है कि इनके उपनयन-संस्कारके समय स्वयं देवर्षि नारदजीने इन्हें गोपालमन्त्रकी दीक्षा और श्रीभू-लीलासहित श्रीकृष्णोपासनाका उपदेश दिया था।

निम्बार्काचार्यने ब्रह्मसूत्र- (वेदान्तदर्शन-)के ऊपर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामका एक छोटा-सा भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्यमें आपने ब्रह्मके परिणामवादके सिद्धान्तका परिष्कार किया है। यह संक्षिप्त होनेपर भी सारगर्भित है। इस ग्रन्थको विशद करनेका श्रेय निम्बार्काचार्यके शिष्य श्रीनिवासाचार्यको दिया जाता है। इनके ग्रन्थका नाम 'वेदान्तकौस्तुभ' है। इस ग्रन्थका आधार लेकर श्रीकेशवाचार्यने एक अच्छी टीका लिखी, जो प्रचलित है। श्रीकेशवाचार्य निम्बार्क-सम्प्रदायके सिद्ध आचार्य माने जाते हैं। वे श्रीमन्महाप्रभुके समकालीन माने जाते हैं। निम्बार्काचार्यके श्रीमद्भगवद्गीतापर लिखे भाष्यकी तत्त्वप्रकाशिका टीका केशव काश्मीरीकी है। इन्होंने निम्बार्काचार्यके मतकी पुष्टि की है।

निम्बार्काचार्यकी दूसरी पुस्तक 'दशश्लोकी' है। इस छोटी-सी पुस्तकमें आपने जीव, जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी अपने विचार या मत अभिव्यक्त किये हैं। आपका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' कहा जाता है जो भेदाभेदवाद-जैसा है। इसके अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी सत्य है। वेदान्तसूत्रकी इसी प्रकारकी व्याख्या दसवीं शताब्दीके भास्कराचार्यने भेदाभेद नामसे की है। किन्तु भेदाभेद-परक व्याख्या ब्रह्मपरक है, शिव या विष्णुपरक नहीं। निम्बार्काचार्यकी व्याख्या विष्णुपरक है। निम्बार्क-सम्प्रदाय वैष्णवोंके प्रमुख चार सम्प्रदायोंमें अन्यतम है। इसे सनकादि-सम्प्रदाय भी कहते हैं। ब्रह्माके मानसपुत्र इसके आद्य आचार्य माने जाते हैं— सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। निम्बार्क-सम्प्रदायको चतुःसनसम्प्रदाय भी कहते हैं। इसे ऋषि-सम्प्रदाय नामसे भी जाना जाता है। छान्दोग्योपनिषद्में सनत्कुमार-नारद-आख्यायिकामें कहा गया है कि नारदने सनत्कुमारसे ब्रह्म विद्या सीखी थी। नारदजीने ही निम्बार्कको उपदेश दिया है। निम्बार्काचार्यने अपने भाष्यमें सनत्कुमार और नारदके नामोंका उल्लेख किया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय प्राचीन है[२]—यद्यपि उसका विशद परिष्कार निम्बार्काचार्यने ही किया। इस सम्प्रदायकी एक विशेषता यह है कि इसके आचार्य दूसरे मतोंका खण्डन नहीं करते।[३] निम्बार्क-सम्प्रदायकी गद्दी मथुराके पास यमुनाके तटवर्ती ध्रुवक्षेत्रमें है। वैष्णवोंका यह पवित्र तीर्थ माना जाता है। इस सम्प्रदायके लोग विशेषतः पश्चिमी भारतमें हैं; पर बंगालमें भी कुछ लोग मिलते हैं।

निम्बादित्य-सम्प्रदायकी दो श्रेणियाँ हैं—(१) विरक्त-सम्प्रदाय और (२) गृहस्थ-सम्प्रदाय। आचार्यके दो शिष्यों—केशवभट्ट और हरिव्यासके अनुसार ये दोनों भेद प्रचलित हुए। इस सम्प्रदायमें राधाकृष्ण-की पूजा होती है और पूजक-साधक गोपीचन्दनका तिलक लगाते हैं। व्रजधाम इस सम्प्रदायका केन्द्र है। रामानुजी साधुओंकी अपेक्षा इनकी संख्या न्यून है। श्रीमद्भागवत इस सम्प्रदायका मुख्य ग्रन्थ है।

साम्प्रदायिक जनश्रुतियाँ

निम्बार्काचार्य या निम्बादित्य सूर्यके अवतार थे। वे पाखण्डरूप अन्धकारका नाश करनेके लिये भूमण्डलपर अवतरित थे। कुछ लोग इन्हें विष्णुके आयुध

२—ब्रह्मसूत्रमें भी द्वैताद्वैतवाद और उसके आचार्यका नामोल्लेख मिलता है।

३—केवल देवाचार्यके ग्रन्थोंमें शांकरमतकी आलोचना देखनेको मिलती है।

श्रीसुदर्शनचक्रका अवतार कहते हैं। इस सम्बन्धकी एक घटना प्रसिद्ध है।

भास्कराचार्य वृन्दावनके पास रहते थे। एक बार एक दण्डी (किसीके मतसे एक जैन उदासीन) इनके आश्रमपर आये। दोनोंमें सन्ध्याकालतक तात्त्विक विचार-विमर्श चलता रहा। भास्कराचार्य अतिथिको भोजन कराना चाहते थे, पर सूर्यास्त हो जानेसे अतिथिने सत्कार स्वीकार नहीं किया। फिर भास्कराचार्यने अपनी योगसिद्धिसे सूर्यकी गति रोक दी। सूर्य समीपके एक नीम वृक्षपर स्थित हो गये। अतिथिको सूर्यके अस्त न होनेकी बात बतलायी गयी। अतिथिने सत्कार स्वीकार कर लिया। जब उन्होंने भोजन किया, तब सूर्य अस्त हो गये। कहा जाता है कि तभीसे भास्कराचार्य निम्बादित्य या निम्बार्काचार्य हो गये।[४] वे एक महान् योगी थे। नामसे लगता है कि वे संन्यासी थे।

वेदान्तसूत्रके भाष्यभूत आपके 'वेदान्तपारिजातसौरभ'-के सिवा कृष्णस्तवराज, गुरुपरम्परा, वेदान्ततत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप, स्वधर्माध्वबोध, ऐतिह्यतत्त्वसिद्धान्त आदि कई ग्रन्थ माने जाते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यकृत भाष्य वृन्दावनवासी साधु श्रीकिशोरीदास बाबाके उद्योगसे मुद्रित होनेपर भी विक्रयमें न होनेसे सर्वसाधारण-सुलभ नहीं है। श्रीनिम्बार्कके मतानुयायी श्रीनिवासाचार्यका ग्रन्थ 'वेदान्तकौस्तुभ' उसी भाष्यके आधारपर रचित है।

सिद्धान्तका सार

निम्बार्कके सिद्धान्तमें पुरुषोत्तमकी स्वतन्त्र यथार्थता और जीव तथा प्रकृतिकी परतन्त्र यथार्थताओंमें भेद बतलाया गया है। ईश्वर एवं जीव दोनों ही आत्मचेतन हैं; भेद इतना ही है कि जीव परिमित शक्तिका और ईश्वर अपरिमित शक्तिवाला है। जीव भोक्ता है, संसार भोग्य है और ईश्वर सर्वोच्च नियन्ता है।

दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः 'ब्रह्म' हैं, किन्तु उसकी सत्ता जगत् और जीवतक ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इन दोनोंको अतिक्रान्त कर उसकी सत्ता है; यही अतीतस्वरूप—अतिव्याप्त सत्ता—जगत्का उपादान कारण है और जगत् तथा जीव ब्रह्मके अंशमात्र हैं (द्रष्टव्य वे० द० २। ३। ४२, ३। २। २२ सूत्रका भाष्य)। अंशके साथ अंशीका जैसा भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है, जगत् और जीवके साथ ब्रह्मका भी वैसा ही सम्बन्ध है। अंश सम्पूर्ण अवयवोंसे अंशीका अङ्गीभूत है, अतएव अभिन्न है; परंतु अंशीको अतिक्रमण करके भी है, अंशमात्रमें अंशीकी सत्ता पर्याप्त नहीं है, अतएव अंशी अंशसे भिन्न भी है। अतः दोनों सम्बन्ध भेदाभेद है, अंशांशि-सम्बन्ध अथवा द्वैताद्वैत-सम्बन्ध दोनों एक ही तात्पर्यवाले हैं।

ब्रह्म चिदानन्दरूप अद्वैत सत्पदार्थ है। अपने चिदंशके द्वारा निज स्वरूपगत आनन्दका वह अनुभव (भोग) करता है। चिदंश ही दर्शनशक्ति, ईक्षणशक्ति, ज्ञानशक्ति और अनुभवशक्ति है। उसका स्वरूपगत आनन्द भूमा (अनन्त) है। इस आनन्दमें अनन्तरूपसे युक्त (दृश्य, ज्ञात) होनेकी योग्यता है एवं तत्स्वरूपगत चित्शक्तिमें भी अनन्तभावसे प्रसारित होकर इस आनन्द-का अनन्तरूपसे अनुभव करनेकी योग्यता है (द्रष्टव्य वे० द० १। १। ५—२० सूत्रका भाष्य)।

४—यह पक्षान्तरमें प्रसिद्ध है कि आचार्यने निम्बवृक्षपर चढ़कर सुदर्शनचक्रका आह्वान किया। सुदर्शनचक्रके सूर्यके समान प्रतिभात होनेसे उन आये हुए यतियोंने भोजन ग्रहण कर लिया। भोजनोत्तर सुदर्शनके चले जानेपर यतियोंने अनुभव किया कि रात्रिका चतुर्थांश बीत चुका है। (इस पक्षमें आश्रमपर बहुतसे यति पहुँचे थे।)

[६]

आचार्य वल्लभ

वल्लभाचार्य तेलगू ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुए थे । इनका समय सं० १४५८ विक्रमाब्द माना गया है । इन्होंने तेरहवीं शतीके विष्णुस्वामीके मतका परिष्कार किया और उत्तर भारतमें उसे प्रचारित किया । ये न केवल उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्रोंको ही प्रामाणिक मानते थे, अपितु श्रीमद्भागवत पुराणको भी प्रामाणिक मानते थे। इन्होंने श्रीमद्भागवतको समाधिभाषाका आप्त ग्रन्थ माना है । इन्होंने अपने ग्रन्थों—वेदान्तसूत्रोंके भाष्य (अणुभाष्य), सिद्धान्तरहस्य और श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनी टीकामें शंकराचार्य और रामानुजाचार्यकी व्याख्याओंसे भिन्न ईश्वर-ज्ञानविषयक व्याख्या की है । इनका मत शुद्धाद्वैत (अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवाद) कहा जाता है । इस मतके अनुसार समस्त जगत् यथार्थ है और वह सूक्ष्मरूपमें ब्रह्म है—जगत्का सूक्ष्मरूप भगवत्तत्त्व है और स्थूलरूप विश्वप्रपञ्च है । जीवात्माएँ और जडजगत् तात्त्विकरूपमें ब्रह्म ही हैं । इनके सिद्धान्तमें जीव, काल, प्रकृति अथवा माया—सब नित्य वस्तुएँ हैं, वे ब्रह्मके ही तत्त्वसे सम्बद्ध हैं । ब्रह्मके अतिरिक्त उनकी पृथक् सत्ता नहीं है । इनका कथन है कि मायावी शक्तिको जगत्का कारण माननेपर शुद्ध अद्वैतवादिता नहीं रह जाती; क्योंकि एक ओर मायाकी सत्ता भी माननी पड़ती है । ब्रह्म स्वतः सुतराम् जगत्-सृष्टिमें समर्थ है । इसके लिये मायाकी सत्ता माननेकी आवश्यकता नहीं । आचार्य वल्लभ शास्त्रको परम प्रमाण मानते हैं और यह मानते हैं कि शास्त्रके विरुद्ध हमारा तर्क अप्रामाणिक है, अमान्य है । भगवत्तत्त्व या ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है और प्रशस्त विश्व-कल्याणकारी गुणोंसे युक्त है । 'निर्गुण' का तात्पर्य प्राकृतिक गुणोंके अभावसे है, लोकोत्तर लोक-कल्याणकारी गुणोंके अभावसे नहीं । ईश्वर देहधारी श्रीकृष्ण हैं । उनमें ज्ञान और क्रियाका आधान है । वे जगत्-स्रष्टा हैं । वे अपनी इच्छाशक्तिसे सारे विश्वकी रचना करते हैं । वे कर्ता तो हैं ही, भोक्ता भी हैं । यद्यपि उन्हें शरीर धारण करनेकी स्वयंके लिये आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी वे भक्तोंके भाववश्य होकर अपनेको विविधरूपोंमें प्रकाशित करते हैं । उनका सर्वश्रेष्ठरूप यज्ञ है, जो कर्ममय है । कर्मसे ही उनकी पूजा होती है, यही बात ब्राह्मणग्रन्थोंमें कही गयी है । जब वे ज्ञानसे सम्बद्ध होते हैं तो ब्रह्म हैं और उन्हें ज्ञानसे ही प्राप्त किया जा सकता है ।

उनकी पूजा-अर्चा गीता और भागवतके नियमोंके अनुसार होनी चाहिये । यही आचार्य वल्लभके भगवत्तत्त्व-चिन्तनका निष्कर्ष है ।

[७]

मण्डन मिश्र अथवा सुरेश्वराचार्य

मण्डन मिश्र प्रकाण्ड पण्डित एवं लोकोत्तर प्रतिभाशाली एवं अपने समयके मूर्धन्य विद्वान् और प्रौढ़ तत्त्व-चिन्तक थे । ये अद्वैतसे भिन्न मतवालोंके प्रबल पक्षपाती तथा नेता थे । इनकी प्रतिभा अप्रतिम थी । इनकी पत्नी भारती भी अत्यन्त विदुषी थीं । भारतीका व्यक्तिगत नाम अम्बा या उम्बा था । शास्त्रमें अप्रतिहत गतिके कारण इन्हें भारती अथवा उभयभारती कहा जाता था । ये शोणनदके तटवासी विष्णुमित्रकी कन्या थीं और सरस्वतीका अवतार मानी जाती थीं । इनका एक नाम शारदा भी था । आचार्य शंकरके साथ इन दोनोंका शास्त्रार्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

मण्डनका व्यक्तिगत नाम विश्वरूप था। माधवके शंकरदिग्विजय- (३ । ५७) के अनुसार इनके पिताका नाम हिमर्मिश्र था। माधवने अपने शंकर-दिग्विजयमें इन्हें माहिष्मतीका निवासी बताया है। वहाँके जलाशय पर स्नानार्थ आये स्त्री-समूहमेंसे मण्डन मिश्रकी एक दासीने ही आचार्यको मण्डन मिश्रके घरका पता निम्नाङ्कित श्लोकोंमें बताया था—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

(शं० दि० ८ । ६८)

अर्थात्—'वेद स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण, कर्म आप ही फल देता है या ईश्वर कर्मका फल देता है, जगत् नित्य है या अनित्य? इस प्रकार जिनके द्वारके आगे पिंजरेमें बैठी मैना बोलती है, वही मण्डन मिश्रका घर है।'

शंकराचार्यने मण्डन मिश्रके घर पहुँचकर शास्त्रार्थ किया। मध्यस्थ थीं मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती। भारतीने निष्पक्ष निर्णय दिया। मण्डन मिश्र विजित हुए और शंकराचार्य विजयी।

शंकराचार्यने शास्त्रार्थके उपक्रममें अपनी प्रतिज्ञा इस प्रकार घोषित की—'इस जगत्में ब्रह्म एक, सत्, चित्, निर्मल तथा यथार्थ वस्तु है। वह स्वयं इस जगत्के रूपसे उसी प्रकार भासित होता है, जिस प्रकार शुक्ति (सीप) चाँदीका रूप धारण कर भासित होती है। शुक्तिमें चाँदीके समान ही यह जगत् नितान्त मिथ्या है। उस ब्रह्मके ज्ञानसे ही इस प्रपञ्चका नाश होता है और जीव बाहरी पदार्थोंसे हटकर अपने विशुद्ध रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। उस समय वह जन्म-मरणसे रहित होकर मुक्त हो जाता है। यही हमारा सिद्धान्त है और इसमें स्वयं उपनिषद् ही प्रमाण हैं। यदि मैं इस शास्त्रार्थमें पराजित हो जाऊँगा तो संन्यासीके कषाय वस्त्रको फेंककर गृहस्थका सफेद वस्त्र धारण कर लूँगा। इस विवादमें जय-पराजयका निर्णय स्वयं भारती करें।'*

मीमांसक मण्डन मिश्रकी प्रतिज्ञा इस प्रकार थी—'वेदका कर्मकाण्ड भाग ही प्रमाण है। उपनिषद्को मैं प्रमाण कोटिमें नहीं मानता; क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप ब्रह्मका प्रतिपादन कर सिद्ध वस्तुका वर्णन करता है। वेदका तात्पर्य है—विधिका प्रतिपादन करना, परंतु उपनिषदें विधिका वर्णन न कर ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करती हैं। अतः वे प्रमाण-कोटिमें कथमपि नहीं आ सकतीं। शब्दोंकी शक्ति कार्य-मात्रके प्रकट करनेमें है। दुःखोंसे मुक्ति कर्मके द्वारा ही होती है और इस कर्मका अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवन-भर करते रहना चाहिये। मीमांसक होनेके नाते यही मेरी प्रतिज्ञा है। यदि इस शास्त्रार्थमें मेरी पराजय होगी

---

* ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते।
तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम्॥
बाढं जये यदि पराजयभागहं स्यां संन्यासमङ्ग परिहृत्य कषायचैलम्।
शुक्लं वसीयवसनं द्वयभारतीयं वादे जयाजयफलप्रतिदीपिकास्तु॥
(माधव-शं० दि० ८ । ६१-६२)

तो मैं गृहस्थ धर्मको छोड़कर संन्यासी बन जाऊँगा।'*

शास्त्रार्थ कई दिनोंतक सौहार्दके वातावरणमें बड़ी प्रगल्भताके साथ चलता रहा। अन्तमें **'तत्त्वमसि'** महावाक्यको लेकर निर्णायक शास्त्रार्थ हुआ।

× × ×

शारदाने दोनों पण्डितोंको माला पहनाकर घोषित कर दिया था कि जिसकी माला मलिन पड़ जायगी, वह परास्त समझा जायगा। शास्त्रार्थके अन्तिम क्षणोंमें मण्डनकी माला मलिन हो गयी और शारदाने निर्णय घोषित कर दिया। आचार्य शंकर विजयी हो गये।

मण्डन मिश्र शास्त्रार्थकी शर्तके अनुसार शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहणकर संन्यासी हो गये और सुरेश्वराचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। आचार्य सुरेश्वर संन्यास लेकर गुरु शंकराचार्यके साथ लोकसंग्रहार्थ देशका भ्रमण करते रहे और जब शंकराचार्यने शृङ्गेरी मठकी स्थापना की तब ये वहाँके पीठाधीश्वर बने। शृङ्गेरी मठके प्राचीन लेखोंसे इनके दीर्घतम जीवनकी आश्चर्यप्रद बात कही जाती है, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, अतः प्रमाण कोटिमें नहीं आती।

सुरेश्वराचार्य पाण्डित्यके अगाध सागर थे। उनके ग्रन्थोंमें विचारकी प्रौढ़ता एवं सुसंगत शृङ्खला पायी जाती है। उनके वाक्योंको चित्सुख, विद्यारण्य, सदानन्द, गोविन्दानन्द, अप्पय्यदीक्षित प्रभृति प्रायः सभी परवर्त्ती आचार्योंने प्रमाणके रूपमें उपन्यस्त किया है। शांकरमतके आचार्योंमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा सुरेश्वराचार्यको ही प्राप्त हुई।

सुरेश्वराचार्य होनेके पहले मण्डन मिश्रने आपस्तम्बीयमण्डनकारिका, भावनाविवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी। संन्यास लेनेके बाद इन्होंने तैत्तिरीयश्रुतिवार्त्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्यसिद्धि, पञ्चीकरणवार्त्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्र भाष्यवार्त्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास या दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, वार्त्तिक, लघुवार्तिक, वार्त्तिकसार और वार्त्तिकसारसंग्रह इत्यादि ग्रन्थ लिखे। सुरेश्वराचार्यने संन्यास लेनेके बाद शाङ्करमतका ही प्रचार किया और अपने ग्रन्थोंमें प्रायः उसी मतका समर्थन किया। भगवत्तत्त्व चिन्तकोंमें इनका अन्यतम उच्च स्थान है।

[८]

अन्यतम भगवत्तत्त्व-चिन्तक एवं भावुक भक्त मधुसूदन सरस्वती

भगवत्तत्त्व-चिन्तक अर्वाचीन आचार्योंमें मधुसूदन सरस्वतीका उच्च स्थान है। ये अद्वैत सिद्धान्तके प्रौढ़ प्रतिपादक होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। ये महात्मा तुलसीदासके समकालीन थे। इन्होंने तुलसीदासजीके सम्बन्धमें लिखा था—

आनन्द कानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

* वेदान्तो न प्रमाणं चिति वपुषि पदे तत्र सङ्गत्ययोगात् पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामायुषः स्यात् समाप्तेः॥
(शं० दि० ८। ६४)

ये बंगालप्रान्तके फरीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटाल-पाड़ा ग्रामके निवासी प्रमोदन पुरन्दरके तृतीय पुत्र थे। इनका पितृदत्त नाम कमलनयन था। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधर भट्टके साथ नवद्वीपके हरिनाम तर्कवागीशसे न्यायका अध्ययन किया था। वहाँसे काशीमें आकर प्रसिद्ध पण्डितोंसे शास्त्रार्थ किया और सुकीर्ति अर्जित की। इसी समय दण्डिस्वामी श्री-विश्वेश्वराश्रम सरस्वती[1]से इन्होंने वेदान्तका श्रवण किया और ब्रह्मचर्याश्रमसे ही सीधे संन्यास ग्रहण कर लिया। फिर तो इन्होंने अद्वैत-सिद्धान्तके अनेक ग्रन्थ बनाये, जिनके कारण दार्शनिक समाज इनका चिरऋणी रहेगा।

ये अद्वैतवेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित एवं तत्त्वज्ञ तो थे ही, पर श्रीकृष्णके परम भक्त भी थे। इनकी गीताकी टीका, भक्तिरसायन (एवं भागवतकी अप्राप्य टीका) इसके साक्षात् प्रमाण हैं। इन ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर भक्तिका निरूपण और विवेचन मिलता है। भक्तिरसायन तो भक्तिका ही ग्रन्थ है।

इनके समयका अभी ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाया है; परन्तु कुछ आधारोंपर कहा जा सकता है कि इनका जन्म ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके चतुर्थ चरणमें हुआ था और सन् १६५० तक ये विद्यमान थे।

जब ये काशीमें रहते थे तब पहले इन्हें शास्त्रार्थकी बड़ी धुन थी। जो कोई आता उसीको ये अपने तर्क, युक्ति एवं शास्त्रके बलपर परास्त कर देते थे। इस प्रकार सैकड़ों विद्वान् इनसे अपमानित होकर दुःखी हुए। एक दिन एक नंगे परमहंस इनके पास आये। इनका स्वागत-सत्कार स्वीकार करनेके पश्चात् उन्होंने पूछा—'स्वामीजी! आप असङ्ग तो बनते हैं, परन्तु हृदयपर हाथ रखकर बताइये तो सही कि पण्डितोंको जीतनेका घमण्ड आपको होता है या नहीं? यदि होता है तो उन्हें दुःखी करनेका पाप भी आपको लगेगा ही।' ऐसा यदि कोई दूसरा कहता तो सम्भव है, श्रीमधुसूदनजी हँसकर उसे फटकार देते। परन्तु उन परमहंसका तेज कुछ ऐसा था कि उनके वाक्योंसे ये प्रभावित हो गये और इनका मुँह मलिन हो गया। उस समय परमहंसजीने इन्हें समझाया कि 'भैया! यह पुस्तकोंका पाण्डित्य और युक्तियोंका प्राबल्य बहुत बड़ा विक्षेप है—लक्ष्य प्राप्तिमें बाधक है। उपासना करके इसे नष्ट न करोगे तो वास्तविक रसकी अनुभूति न होगी।' फिर तो मधुसूदनजीने उनके चरण पकड़ लिये और उनसे मन्त्रदीक्षाके लिये बड़ी प्रार्थना की। उन दयालु संतने इन्हें श्रीकृष्णमन्त्र बताकर ध्यान और उपासनाकी पद्धति बतायी एवं कह दिया कि श्रद्धा-विश्वासके साथ उपासना करोगे तो तीन महीनेमें तुम्हें भगवान् श्री-कृष्णके दर्शन हो जायँगे। इन्होंने परमहंसजीकी आज्ञा मानकर तीन महीनेतक उपासना की, परन्तु सफलता न हुई। इसपर इन्हें बड़ा उद्वेग हुआ और ये काशी छोड़कर निकल पड़े।

१–किंतु निम्नाङ्कित श्लोकसे सिद्ध होता है कि मधुसूदन सरस्वतीके विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती थे। अद्वैतसिद्धिकी समाप्ति करते हुए वे लिखते हैं—

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः। वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

इससे सिद्ध होता है कि उनके विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती थे और दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती थे।

कपिलधाराके पास पहुँचनेपर इन्हें एक नीच जातिका साधारण-सा मनुष्य मिला। उसने कहा—'स्वामीजी! लोग भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मतक उग्र तपस्या करते हैं, फिर भी उनके दर्शन बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं और आप तीन महीनोंमें ही घबरा गये!' यह सुनकर स्वामीजी आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने सोचा कि यह नीची जातिका देहाती आदमी मेरी उपासनाकी बात कैसे जान गया! फिर तो उनके हृदयमें स्फुरणा हुई और वे उसके चरणोंपर गिर पड़े। उठनेपर देखते हैं कि इस रूपमें तो वही परमहंसजी हैं। उन्होंने कहा—'इस बार तीन महीनों तक और प्रेमसे जप, ध्यान, पूजा एवं पाठ करो। अवश्य दर्शन होगा।' स्वामीजीने लौटकर वैसा ही किया और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए; भगवान्‌की ही आज्ञासे उन्होंने गीतापर टीका लिखी, जिसमें कर्म, भक्ति एवं ज्ञानका सुन्दर वर्णन करके समस्त साधनाओं, धर्मों एवं मार्गोंका शरणागतिमें उपसंहार किया गया है। उसके बादका इनका जीवन भक्तिमय ही रहा। भक्तिरसाप्लुत हृदयसे निकले श्रीकृष्णभक्तिकी अनन्यताका बोधक और उनके रूपका मार्मिक चित्रण करनेवाला यह उद्गार कितना भाव-भरित है कि—

वंशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अर्थात्—'वंशीसे सुशोभित हाथवाले, नये मेघकी कान्तिवाले, पीताम्बर धारण किये हुए, लाल विम्बाफलके समान अधरवाले, पूर्णचन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले एवं कमलके समान नेत्रवाले श्रीकृष्णसे परे भी कोई तत्त्व है—ऐसा मैं नहीं जानता।'

मधुसूदन सरस्वती बड़े भारी योगी थे। वीरसिंह नामक एक राजाको संतान नहीं थी। उसने एक रातको स्वप्नमें देखा कि मधुसूदन नामक एक यति है, उसकी सेवासे पुत्र अवश्य होगा। तदनुसार राजाने मधुसूदनका पता लगाना शुरू किया। कहते हैं कि उस समय मधुसूदनजी एक नदीके किनारे जमीनके अंदर समाधिस्थ थे। राजा खोजते-खोजते वहाँ पहुँचा। वहाँकी मिट्टी खोदनेपर अंदर एक तेजःपुञ्ज महात्मा समाधिस्थ दिखायी दिये। राजाने स्वप्नके स्वरूपसे मिलाकर निश्चित किया कि ये ही मधुसूदन यति हैं। राजाने वहाँ एक मन्दिर बनवा दिया। कहा जाता है कि इस घटनाके तीन वर्षोंके बाद मधुसूदनजीकी समाधि टूटी थी। इसीसे उनकी योगसिद्धिका पता लगता है। परंतु वे इतने विरक्त थे कि समाधि खुलनेपर उस स्थान, राजप्रदत्त भोग तथा मन्दिरको छोड़कर तीर्थाटनको चल दिये।

मधुसूदन सरस्वती अद्वैत सिद्धान्तके महारथी थे। प्रबल युक्तियोंसे अद्वैतसिद्धान्तका प्रौढ समर्थन इनके प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ अद्वैतसिद्धिमें है। इनके पूर्वके आचार्योंमें उक्तियाँ—शास्त्रप्रमाणकी ही प्रधानता थी, किंतु इन्होंने युक्तियाँ एवं अनुमानप्रमाणका अधिक उपयोगकर शास्त्र और तर्क—दोनोंसे अपने सिद्धान्तकी पुष्टि की। इनका युक्तिकौशल सचमुच अभूतपूर्व है।

अद्वैतसिद्धान्तके इतने बड़े आचार्य होकर भी इन्होंने सगुण भक्तिका महत्त्व स्वीकार किया और ये अपने लोचनोंकी चमत्कृतिके लिये कालिन्दीके कूलपर दौड़नेवाले अनिर्वचनीय नीले तेजका ही ध्यान करते रहे। इन्होंने गीताकी अपनी गूढार्थदीपिकामें स्पष्ट लिखा कि 'ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगिजन

यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय किसी परमज्योतिको देखते हैं तो देखा करें, किंतु हमारे नेत्रोंको तो कालिन्दीकूल-विहारीका नीला तेज ही चिरकालतक चमत्कृत करता रहे।'[2]

गीताकी गूढ़ार्थदीपिकामें ही सर्वप्रथम गीताके तीन अध्याय-षट्कोंको क्रमशः कर्म, उपासना और ज्ञान-काण्डोंमें विभाजितकर साधनत्रयका सामञ्जस्य दिखलाया गया है।[3]

गूढार्थदीपिकाके लिखनेका उद्देश्य यद्यपि शाङ्कर-भाष्यको विशद करना बताया गया है[4], पर इन्होंने शरणागति-सिद्धान्तभूत **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** की व्याख्या सर्वथा अपने ढंगसे की है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वतीका विश्वास था कि 'प्रमाणोंसे भी निर्णीत किये हुए श्रीकृष्णके अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ सह नहीं सकेंगे, वे नरकगामी होंगे'—

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयंगताः॥

इनके 'भक्तिरसायन' ग्रन्थसे इनकी असाधारण भगवद्रसज्ञता और भावुकताका अद्भुत परिचय मिलता है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध महिम्नःस्तोत्रकी शिव एवं विष्णु—उभयपरक व्याख्या कर इन्होंने हरि और हरका सैद्धान्तिक अभेद-प्रतिपादन स्फुट कर दिया है। वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती जैसे भगवत्तत्त्व-चिन्तक थे वैसे ही तत्त्वनिष्ठ भगवद्भक्त और उच्चकोटिके आचार्य थे। ऐसे ही महापुरुषोंकी वाणी कल्याणकारिणी होती है।

आपके लिखे हुए सिद्धान्तविन्दु या सिद्धान्ततत्त्वविन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरकव्याख्या, अद्वैतसिद्धि, गूढार्थदीपिका (गीताव्याख्या), अद्वैतरत्नरक्षण, प्रस्थानभेद, महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या, भक्तिरसायन और भागवतव्याख्या नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।—रा० व० त्रिपाठी
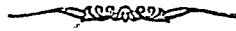
२—ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं, ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलमहो धावति॥
(गीता-गूढ़ार्थदीपिकाके तेरहवें अध्यायके आरम्भमें उद्धृत)

३—गूढार्थदीपिकाके उपोद्घातके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें उक्त संदर्भ सुस्पष्ट हैं—

सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम्। यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः॥३॥
कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात्। तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका॥४॥
एकमेकेन षट्केन काण्डत्रयोपलक्षयेत्। कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः॥५॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः। भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिताः॥६॥

तात्पर्य यह कि विष्णुका परमपद सच्चिदानन्दरूप है। उसकी प्राप्तिके लिये त्रिकाण्डात्मक वेदोंका आविर्भाव हुआ। कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं। उन्हींके रूपमें अठारह अध्यायोंवाली गीता भी तीन काण्डोंवाली है। प्रत्येक छः अध्यायोंसे कर्मनिष्ठा, उपासना या भक्ति-निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा बतलायी गयी है। यतः कर्म और ज्ञानका अति-विरोध होनेसे कर्म ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता, अतः भगवान्की भक्तिनिष्ठाको मध्यमें मध्यषट्क (७ वें अध्यायसे १२ वें तकमें) निरूपित किया गया है।

४—भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्यातिप्रयत्नतः। प्रायः प्रत्यक्षरं सर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम्॥१॥
(गी० त० दी० का उपोद्घात)

[९]

श्रीगौड़पादाचार्य

गौड़पादाचार्यजीके जीवनके विषयमें कोई विशेष बात नहीं मिलती। आचार्य शङ्करके शिष्य सुरेश्वराचार्यजीके नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थसे केवल इतना पता लगता है कि वे गौड़देशके रहनेवाले थे। इससे प्रतीत होता है कि उनका जन्म बंगाल-प्रान्तके किसी स्थानमें हुआ होगा। श्रीशङ्करके जीवनचरितसे इतना मालूम होता है कि गौड़पादाचार्यके साथ उनकी भेंट हुई थी। परंतु इसके अन्य प्रमाण नहीं मिलते।

आचार्य गौड़पादके ग्रन्थोंमें बौद्धमतका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता, केवल आभासमात्र मिलता है। इससे मालूम होता है, उन्होंने जब ग्रन्थ लिखा था, उस समय देशमें बौद्धधर्मका कोई प्राधान्य नहीं था।

श्रीगौड़पादाचार्यका सबसे प्रधान ग्रन्थ है माण्डूक्योपनिषत्कारिका, इसका श्रीशङ्कराचार्यने भाष्य लिखा है। इस कारिकाकी मिताक्षरा नामकी एक टीका भी मिलती है। परवर्त्ती आचार्योंने इस कारिकाको प्रमाणरूपसे स्वीकार किया है। गौड़पादाचार्यप्रणीत सांख्यकारिकाका भाष्य भी मिलता है। परंतु इसमें संदेह है कि यह भाष्य उनका है या दूसरेका। उनका तीसरा ग्रन्थ मिलता है—उत्तरगीताभाष्य। उत्तरगीता महाभारतका ही एक अंश है। परंतु यह अंश सब महाभारतोंमें नहीं मिलता।

आचार्य गौड़पाद अद्वैतसिद्धान्तके प्रधान आचार्य थे। उन्होंने अपनी कारिकामें जिस सिद्धान्तको बीजरूपसे प्रकट किया, उसीको श्रीशङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें और भी विस्तृतरूपसे समझाकर संसारके सामने रक्खा है। कारिकाओंमें उन्होंने जिस मतका प्रतिपादन किया है, उसे अजातवाद कहते हैं। सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंके भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई कालसे सृष्टि मानते हैं, कोई प्रकृतिको प्रपञ्चका कारण मानते हैं, कोई परमाणुओंसे ही जगत्की उत्पत्ति मानते हैं और कोई भगवान्के सङ्कल्पसे इसकी रचना मानते हैं। इस प्रकार कोई परिणामवादी हैं और कोई आरम्भवादी हैं। किन्तु श्रीगौड़पादाचार्यके सिद्धान्तानुसार जगत्की उत्पत्ति ही नहीं हुई। केवल एक अखण्ड चिद्घनसत्ता ही मोहवश प्रपञ्चवत् भास रही है। यही बात आचार्य इन शब्दोंमें कहते हैं—

मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
मनसा ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

अर्थात्—'यह जगत् द्वैत है जो मनका ही दृश्य है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है; क्योंकि मनके मन-शून्य हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती।' आचार्यने अपनी कारिकाओंमें अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे यही सिद्ध किया है कि सत्, असत् अथवा सदसत् किसी भी प्रकारसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। अतः परमार्थतः न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

बस, जो समस्त विरुद्ध कल्पनाओंका अधिष्ठान, सर्वगत, असङ्ग, अप्रमेय और अविकारी आत्मतत्त्व है, एकमात्र वही सद्वस्तु है। मायाकी महिमासे रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत और सुवर्णमें आभूषणादिके समान उस सर्वसङ्गशून्य निर्विशेष चित्तत्त्वमें ही समस्त पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है।

[१०]

श्रीहर्ष मिश्र

श्रीशङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्यके बाद प्रायः बारहवीं शताब्दीतक अद्वैतमतके जितने आचार्य हुए, उन्होंने प्रायः व्याख्या या वृत्ति ही लिखी। किसीने कोई प्रमेयबहुल प्रकरण ग्रन्थ नहीं लिखा। बारहवीं शताब्दीमें श्रीहर्ष मिश्र हुए, जिन्होंने अन्यमतोंका खण्डन करनेके लिये एक प्रकरण ग्रन्थ लिखा और इस प्रकार अद्वैतजगत्‌में नवयुग उपस्थित कर दिया। इनकी देखा-देखी इनके समसामयिक आनन्दबोध भट्टाचार्य तथा बादके चित्सुखाचार्य आदिने भी प्रकरण-ग्रन्थोंकी रचना की। श्रीहर्ष दार्शनिक और कवि दोनों थे।

सुना जाता है कि इनके पिताका नाम श्रीहरिपण्डित तथा माताका नाम मामल्लदेवी था। इनके पिता भी कवि थे। परंतु उनका कोई ग्रन्थ या वर्णन नहीं मिलता। कहते हैं कि श्रीहर्षके पिता श्रीहरिपण्डितको राजसभामें किसी पण्डितने शास्त्रार्थमें हरा दिया। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे भगवतीकी उपासना करने लगे। भगवतीने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें एक दिग्विजयी पुत्र प्राप्त होगा। उसीके कुछ दिन बाद श्रीहर्षका जन्म हुआ। श्रीहरिपण्डितके मनमें हारका दुःख जन्मभर बना रहा, शान्त नहीं हुआ। जब वे मृत्यु-शय्यापर पड़ गये, तब उन्होंने श्रीहर्षको बुलाकर अपने पराभवका वृत्तान्त सुनाया और पराजित करनेवाले पण्डितका परिचय देकर कहा कि यदि तुम उस पण्डितको हरा दोगे तो परलोकमें मुझे शान्ति मिलेगी। पुत्रने पिताके अन्तिम वाक्यको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा की।

पिताकी मृत्युके बाद उनका श्राद्ध आदि करके श्रीहर्ष विभिन्न स्थानोंमें घूम-घूमकर विद्याध्ययन करने लगे। इन्होंने पिताकी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करना अपने जीवनका मुख्य व्रत बना लिया। इससे इनके अनन्य पितृभक्त और दृढप्रतिज्ञ होनेका परिचय मिलता है। जब इन्होंने सर्वत्र घूमकर पूर्णरूपसे अध्ययन कर लिया, तब एक सुयोग्य साधकसे दीक्षा ली और उनसे चिन्तामणि मन्त्र लेकर ये किसी नदी-तटपर एक पुराने मन्दिरमें भगवतीकी आराधना करने लगे। भगवतीने इनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर यह वर प्रदान किया कि तुम समस्त विद्याओंमें पारङ्गत हो जाओगे तथा तुम्हें असाधारण वाक्‌चातुरी प्राप्त होगी। इस प्रकार देवीकी कृपा पा करके ये कान्यकुब्जके राजाकी सभामें आये। वहाँ इन्होंने अपने पिताको पराजित करनेवाले पण्डितको शास्त्रार्थमें हराया। राजाने इनके प्रकाण्ड पाण्डित्यसे सन्तुष्ट होकर इनका खूब सम्मान किया। तबसे ये प्रायः राजाके ही आश्रित रहे। राजाका नाम जयचन्द्र, जयन्तचन्द्र था। इन्होंने अपने एक ग्रन्थमें राजाका कुछ परिचय भी दिया है।

मतवाद

श्रीहर्ष जिस समय हुए थे, उस समय देशमें न्याय-दर्शनका कुछ विशेष प्रचार हो रहा था। दूसरी ओर वैष्णव लोगोंका मत बढ़ रहा था, दक्षिण और उत्तर भारतमें श्रीरामानुज और श्रीनिम्बार्कके मतका प्रचार हो रहा था। ऐसे समयमें श्रीहर्षने अपनी अपूर्व प्रतिभासे अद्वैतमतका समर्थन और अन्य मतोंका खूब जोरदार खण्डन करके अद्वैतमतकी रक्षा की। न्यायमतपर इनका इतना कठोर प्रहार हुआ जितना शायद ही किसी दूसरेने किया हो। इनका 'खण्डनखण्डखाद्य' अपने ढङ्गका एक ही ग्रन्थ है। इनका दूसरा काव्यग्रन्थ 'नैषधचरित' है। इसमें उनकी अपूर्व कवित्वछटा और पाण्डित्य प्रस्फुटित हुआ है। इनके सिवा अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसाङ्कचम्पू, छन्दःप्रशस्ति,

विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, ईश्वराभिसन्धि और स्थैर्यविचारण-प्रकरण, ये सब उनके अन्यान्य ग्रन्थ हैं। श्रीहर्षने अपने ग्रन्थोंमें अद्वैतका प्रतिपादन किया है और विशेषत: उदयनाचार्यके न्यायमतका खण्डन किया है। आचार्य श्रीहर्षके 'खण्डनखण्डखाद्य'का दूसरा नाम 'अनिर्वचनीयसर्वस्व' है। वास्तवमें यह नाम सार्थक है। भगवान् शङ्करका मायावाद अनिर्वचनीय ख्यातिके ऊपर ही अवलम्बित है। इनके सिद्धान्तानुसार कार्य और कारण भिन्न-अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न भी नहीं हैं, अपितु अनिर्वचनीय ही हैं। इस अनिर्वचनीयताके कारणसे ही कारण सत् है और कार्य मायामात्र है। श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्यमें सब प्रकारके विपक्षोंका बड़े रोबके साथ खण्डन किया है तथा उनके सिद्धान्तका ही नहीं, बल्कि जिनके द्वारा वे सिद्ध होते हैं, उन प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणोंका भी खण्डन कर एक अप्रमेय अद्वितीय एवं अखण्ड वस्तुकी ही स्थापना की है।

[११]

श्रीमाधवाचार्य या विद्यारण्यमुनि

श्रीमन्माधवाचार्य प्राय: चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। इनके जीवनचरितके विषयमें भी बड़ा मतभेद है। कुछ लोगोंका कहना है कि इनका जन्म संवत् १३२४ विक्रमीमें तुङ्गभद्रा नदीके तटवर्ती हाम्पी नगरके पास एक गाँवमें हुआ था। इन्होंने 'पराशरमाधव' नामक अपने ग्रन्थमें अपना जो परिचय दिया है, उससे मालुम होता है कि इनके पिताका नाम मायाण, माताका नाम श्रीमती तथा दो भाइयोंका नाम सायण और भोगनाथ था। सूत्र बोधायन, गोत्र भारद्वाज और यजुर्वेदी ब्राह्मण-कुलमें इनका जन्म हुआ था। इन्हींके ग्रन्थोंसे माळूम होता है कि इनका कुलनाम भी सायण ही था और इनके भाई वेदभाष्यकार सायण अपने कुलनामसे ही प्रसिद्ध हुए थे। श्रीमाधवाचार्यके गुरुके विषयमें पहले वर्णन आ चुका है। उन्होंने गुरुरूपसे विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और शङ्करानन्दको नमस्कार किया है। सायणाचार्यने भी वेदभाष्यके आरम्भमें विद्यातीर्थकी ही वन्दना की है। उधर भारतीतीर्थने भी विद्यातीर्थको ही अपना गुरु लिखा है। इससे माळूम होता है कि माधवाचार्य, सायण और भारतीतीर्थ—तीनोंने विद्यातीर्थसे ही शिक्षा प्राप्त की थी। विद्यातीर्थके अवसानके बाद माधवने सम्भवत: भारतीतीर्थ और शङ्करानन्दसे भी शिक्षा प्राप्त की। इस तरह तीनोंको उन्होंने गुरु माना है।

श्रीमाधवाचार्य विजयनगर राज्यके संस्थापक थे। संवत् १३९२ विक्रमीके लगभग विजयनगरके राजसिंहासनपर महाराज वीर बुक्कको अभिषिक्त कर ये उनके प्रधान मन्त्री बने। ये उच्चकोटिके राजनीतिज्ञ और प्रबन्धपटु थे। इन्होंने कितने ही यवन-राज्योंको स्वायत्तकर विजयनगर राज्यकी सीमावृद्धि की थी। सुप्रसिद्ध विशिष्टाद्वैताचार्य श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य इनके समकालीन और बालसखा थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इनके समान विभिन्न गुण-सम्पन्न व्यक्ति बहुत दुर्लभ हैं; इन्होंने जिस कामको हाथमें लिया, उसीमें अपूर्व सफलता प्राप्त की। अब हम इनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयत्न करते हैं—

१—माधवीय धातुवृत्ति—यह व्याकरण-ग्रन्थ है। २—जैमिनीय न्यायमाला और उसकी टीका 'विवरण'—यह पूर्वमीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थ है। ३—पराशरमाधव—यह पराशरसंहिताके ऊपर एक निबन्ध है। स्मृतिशास्त्रका ऐसा उपयोगी ग्रन्थ सम्भवत: दूसरा नहीं है। पराशर-संहितामें जिन विषयोंपर प्रकाश नहीं डाला गया, वह सब अंश दूसरी स्मृतियोंसे लेकर उसे श्लोकबद्धकर 'पराशरमाधव'में जोड़ दिया गया है। ४—सर्वदर्शनसंग्रह—इसमें समस्त दर्शनोंका सार संगृहीत किया गया है। ५—विवरणप्रमेयसंग्रह—यह श्रीपद्म-

पादाचार्यकृत पञ्चपादिका-विवरणके ऊपर एक प्रमेयप्रधान निबन्ध है। ६—सूतसंहिताकी टीका—सूतसंहिता स्कन्दपुराणके अन्तर्गत है। उसमें अद्वैत वेदान्तका निरूपण है। उसके ऊपर माधवाचार्यने विशद टीका लिखी है। ७—पञ्चदशी—यह अद्वैत वेदान्तका एक प्रधान प्रकरण-ग्रन्थ है। इसमें पन्द्रह प्रकरण और प्रायः पन्द्रह सौ श्लोक हैं। ८—अनुभूतिप्रकाश—इसमें उपनिषदों की आख्यायिकाएँ श्लोकबद्ध करके संग्रह की गयी हैं। ९—अपरोक्षानुभूतिकी टीका—'अपरोक्षानुभूति' भगवान् शङ्कराचार्यकी रचना है। उसपर विद्यारण्य स्वामीने बहुत सुन्दर टीका की है। १०—जीवन-मुक्तिविवेक—इस ग्रन्थमें संन्यासियोंके समस्त धर्मोका निरूपण किया गया है। ११—ऐतरेयोपनिषद्दीपिका—यह ऐतरेयोपनिषद्की शाङ्करभाष्यानुसारी टीका है। १२—तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका—यह तैत्तिरीयोपनिषद्की शाङ्करभाष्यानुसारी-टीका है। १३—छान्दोग्योपनिषद्दीपिका—यह छान्दोग्योपनिषद्की शाङ्करभाष्यानुसारी टीका है। १४—बृहदारण्यक वार्त्तिकसार—आचार्य शङ्करके बृहदारण्यक भाष्यपर जो श्रीसुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक है; यह उनका श्लोकबद्ध एवं संक्षिप्त सार है। १५—शङ्करदिग्विजय—यह भगवान् शङ्कराचार्यका जीवनचरित है और एक उत्कृष्ट कोटिका काव्य है। १६—कालमाधव—यह एक स्मृतिशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीविद्यारण्य स्वामीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। ये एक साथ ही कवि और दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और तत्त्वनिष्ठ तथा महान् संग्रही और पूर्ण त्यागी थे। जिस प्रकार ये सफल राजसंस्थापक थे, वैसे ही संन्यासियोंमें भी अग्रगण्य थे। संन्यास ग्रहणके पीछे ये श्रृङ्गेश्वरीमठके शङ्कराचार्यकी गद्दीपर आसीन हुए थे। इस प्रकार सौ वर्षसे भी अधिक आयु लाभकर उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की।

मतवाद

चतुर्विध चेतन—श्रीविद्यारण्य स्वामी भगवान् शङ्कराचार्यके ही अनुयायी हैं। इनकी गणना अद्वैत-सम्प्रदायके प्रधान आचार्योंमें है। अद्वैतवादमें जीव और ईश्वरके स्वरूपके विषयमें अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि कई मत प्रचलित हैं। इनमेंसे विद्यारण्य स्वामी प्रतिबिम्बवादके समर्थक हैं। इनके मतमें चेतनके चार भेद हैं। ××× पञ्चदशीके चित्रदीपमें वे लिखते हैं—

कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं च चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥

अर्थात्—'घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाशके समान कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर-भेदसे चेतन चार प्रकारका है। व्यापक आकाशका नाम महाकाश है। 'घटावच्छिन्न' आकाशको घटाकाश कहते हैं और मेघके जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले आकाशका नाम 'मेघाकाश' है। इन्हींके समान जो अखण्ड और व्यापक शुद्ध चेतन है, उसका नाम 'ब्रह्म' है। देहरूप उपाधिसे परिच्छिन्न चेतनको 'कूटस्थ' कहते हैं, देहान्तर्गत अविद्यामें प्रतिबिम्बित चेतनका नाम 'जीव' है और मायामें प्रतिबिम्बित चेतनको 'ईश्वर' कहते हैं।' माया और अविद्या; ये दो प्रकारकी प्रकृति हैं, इसलिये उसके आश्रित जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है तथा माया रज-तमसे रहित शुद्ध सत्त्वमयी है, इसलिये तदुपाधिक ईश्वर सर्वज्ञ है। किंतु माया और अविद्या इन दोनोंसे रहित जो शुद्ध चेतन है, वह सर्वथा प्रपञ्चलेश-शून्य है। देहरूप दृश्यमान उपाधिके कारण ही उसमें ब्रह्म और कूटस्थरूप भेदकी कल्पना की गयी है। किंतु उपाधि तो अविद्याजनित है, इसलिये वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है। उसीसे ब्रह्म और कूटस्थका मुख्य समानाधिकरण माना गया है और ईश्वर तथा जीवका बाध-समानाधिकरण।

साक्षी तत्त्व—कर्तृत्व-भोक्तृत्व जीवके ही धर्म हैं, कूटस्थ केवल साक्षिमात्र है। पञ्चदशीके नाटकदीपमें इसका वर्णन करते हुए विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि जिस प्रकार नृत्यशालास्थ-दीपकमाला सूत्रधार, पात्र, दर्शक और रङ्गमञ्च सभीको प्रकाशित करती है और उन सबके न रहनेपर भी उनके अभावको प्रकाशित करती रहती है, उसी प्रकार साक्षी भी अहंप्रत्यय सिद्धि-कर्त्ता, इन्द्रियवृत्ति, बुद्धिवृत्ति एवं विषय—इन सभीको प्रकाशित करता रहता है तथा उनके अभावमें स्वयं देदीप्यमान रहता है।

अविद्याधिष्ठान—अद्वैतसिद्धान्तानुसार प्रपञ्चकी जननी अविद्या है। अविद्याके कारण ही सम्पूर्ण प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वह अविद्या किसके आश्रित है? इस सम्बन्धमें दो मत हैं। कोई उसे अन्तःकरणके आश्रित मानते हैं और कोई शुद्ध चेतनके। विद्यारण्यस्वामी उसे चेतनके आश्रित स्वीकार करते हैं। स्वप्नप्रपञ्चके अधिष्ठानके विषयमें भी इसी प्रकार मतभेद है। कोई अहङ्कारोपहित चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानते हैं और कोई अनवच्छिन्न चेतनको। इस विषयमें भी विद्यारण्यस्वामीको द्वितीय मत ही स्वीकार है। ये कहते हैं कि अहङ्कारोपहित चेतन देहसे बाहर स्वप्न-प्रपञ्चका अधिष्ठान नहीं हो सकता। अतः जिस प्रकार जाग्रदवस्थामें वृत्तिका सम्प्रयोग होनेपर शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यमें स्थित अविद्या रौप्यप्रतीतिका स्फुरण करती है, उसी प्रकार निद्रादिदोषोपहित अन्तःकरण-वृत्तिका संयोग होनेपर अनवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्या स्वप्न-प्रपञ्चके आकारमें विवर्तित हो जाती है।

साधनविचार—विद्यारण्याचार्यके मतमें ज्ञानका मुख्य साधन सांख्यरूप या विचार है, जो क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहा जाता है। इससे पूर्व चित्तशुद्धिके लिये निष्कामकर्म और उपासनाकी भी आवश्यकता है। उपासनाओंमें यों तो सभी प्रकारकी उपासनाएँ चित्तशुद्धिमें सहायक हैं, किंतु उनमें निर्गुणोपासना प्रधान है। निर्गुणोपासनाको इन्होंने संवादी भ्रम कहा है तथा अन्य उपासनाओंका विसंवादी भ्रम। जो भ्रम भ्रम होनेपर भी परिणाममें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाला होता है, उसे संवादी भ्रम कहते हैं। ब्रह्म अनुपास्य है, अतः यद्यपि वह उपासनाका विषय नहीं हो सकता, तो भी जो लोग मनः-समाधानपूर्वक उसकी उपासनामें तत्पर होते हैं, उन्हें उसकी प्राप्ति हो जाती है। यह क्रम मन्द और मध्यम अधिकारियोंके लिये है। उत्तम अधिकारियोंके लिये तो श्रवणादि ही मुख्य साधन हैं।

[१२]

अप्पय्य दीक्षित

भगवान् शङ्कराचार्यद्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैतसम्प्रदाय-परम्परामें जो सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुए हैं, उन्हींमेंसे एक अप्पय्य दीक्षित भी हैं। विद्वत्ताकी दृष्टिसे इन्हें वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वतीके समकक्ष कहा जा सकता है। ये एक साथ ही आलङ्कारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे। इन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। केवल भारतीय साहित्य ही नहीं, इन्हें विश्वसाहित्याकाशका एक देदीप्यमान नक्षत्र कह सकते हैं। मुगलसम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल भारतीय साहित्यका सुवर्णयुग कहा जा सकता है। इस समयमें अलङ्कार, नाटक, काव्य एवं दर्शन, सभी प्रकारके ग्रन्थोंका बहुत विस्तार हुआ था। सम्भव है, इस समयकी राजनीतिक सुव्यवस्था ही इसमें कारण हो। अप्पय्य दीक्षित अकबर और जहाँगीरके शासनकालमें हुए थे। इनका जन्म संवत् १६०८ में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्षकी आयुमें

संवत् १६८० में। इनके जीवनमें जिस साहित्यिक प्रतिभाका विकास हुआ, उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि इनके पितामह आचार्य दीक्षित और पिता रङ्गराजाध्वरि थे। ऐसे प्रकाण्ड पण्डितोंके वंशधर होनेके कारण इनमें अद्भुत प्रतिभाका विकास होना स्वाभाविक था। ये दो भाई थे। इनके छोटे भाईका नाम अचान दीक्षित था। अप्पय्य दीक्षितने अपने पितासे ही विद्या प्राप्त की थी। पिता और पितामहके संस्कारानुसार उन्हें भी अद्वैतमतकी ही शिक्षा मिली थी, तथापि वे परम शिवभक्त थे। इनका हृदय भगवान् शङ्करके प्रेमसे भरा हुआ था। अतः शैवसिद्धान्तकी स्थापनाके लिये ये ग्रन्थ-रचना करने लगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इन्होंने शिवतत्त्व-विवेक आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। इसी समय इनके समीप नर्मदातीर-निवासी श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उपस्थित हुए। उन्होंने इन्हें सचेत करते हुए अपने पिताके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहित किया, तब उन्हींकी प्रेरणासे इन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थोंकी रचना की।

अप्पय्य दीक्षितके पितामह विजयनगर राज्याधीश्वर कृष्णदेवके आश्रित थे, किंतु सं० १६२१ में तालीकोट-युद्धके पश्चात् उस राजवंशका अन्त हो गया था। इस समय दीक्षितकी आयु केवल १५ वर्षकी थी। इस राजवंशका अन्त होनेपर एक नवीन वंशका उदय हुआ, जो तृतीय वंशके नामसे विख्यात है। उस वंशके राजाओंका निर्देश अप्पय्य दीक्षितने किया है। अप्पय्य दीक्षितका विजयनगर-राज्यमें बहुत सम्मान था।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षितने अपने गुरुरूपसे इनका वर्णन किया है। कुछ कालतक इन दोनों विद्वानोंने काशीमें निवास किया था। अप्पय्य दीक्षित शिवभक्त थे और भट्टोजि दीक्षित वैष्णव थे, तो भी इन दोनोंका सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। ये दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अतः इनकी दृष्टिमें वस्तुतः शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं था।

कुछ काल काशीमें रहकर दीक्षित दक्षिणमें लौट गये। वहाँ अपना मृत्युकाल समीप जानकर इन्होंने चिदम्बरम् जानेकी इच्छा की। उस समय इनके हृदयमें जो भाव जाग्रत् हुए, उन्हें इन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

चिदम्बरमिदं पुरं प्रथितमेव पुण्यस्थलं
सुताश्च विनयोज्ज्वलाःसुकृतयश्च काश्चित् कृताः।
वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा
न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्॥
आभाति हाटकसभानटपादपद्मो
ज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोऽयम्।

इस प्रकार दूसरा श्लोक समाप्त नहीं हो पाया था कि इन्होंने श्रीमहादेवजीके दर्शन करते-करते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। यह उनकी जीवनव्यापिनी साधनाका ही फल था। मृत्युके समय उनके ग्यारह पुत्र और छोटे भाईके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित पास ही थे। उस समय उन्होंने सबसे अधिक प्रेम नीलकण्ठपर ही प्रकट किया। उनका जो श्लोक अधूरा रह गया था, उसकी उनके पुत्रोंने इस प्रकार पूर्ति की—

नूनं जरामरणघोरपिशाचकीर्णा
संसारमोहरजनी विरतिं प्रयाता॥

मतवाद

दार्शनिक दृष्टिसे अप्पय्य दीक्षित अद्वैतवादी या निर्गुण ब्रह्मवादी थे। सगुणोपासनाको वे निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धिके साधनरूपसे स्वीकार करते हैं। वे यद्यपि शिवभक्त थे तथापि उनकी रचनाओंसे उनकी विष्णुभक्तिका भी प्रमाण मिलता है। कई स्थानोंपर उन्होंने भक्तिभावसे विष्णुकी ही वन्दना की है। तो भी उनका अधिक

आकर्षण भगवान् चन्द्रमौलिकी ही ओर देखा जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है—**'तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।'**

उनके ग्रन्थोंसे उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभाका परिचय मिलता है। मीमांसाके तो वे धुरन्धर पण्डित थे। उनकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी पुस्तकमें उनका मीमांसा, न्याय, व्याकरण और अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी प्रगाढ़ पाण्डित्य पाया जाता है। शाङ्करसिद्धान्तमें वाचस्पति मिश्रने, रामानुजमतमें सुदर्शनने और मध्वमतमें जयतीर्थने जो काम किया है, वही काम दीक्षितने शिवार्कमणि-दीपिका-नामक पुस्तक रचकर श्रीकण्ठ-सम्प्रदायमें किया। कहीं-कहीं तो दीपिकामें उनकी अपेक्षा भी अधिक मौलिकता है। इस निबन्धनको टीका न कहकर यदि मौलिक ग्रन्थ कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने अद्वैतवादी होकर भी द्वैतवादकी स्थापनामें जैसी उदारताका परिचय दिया है, वह वस्तुतः बहुत ही प्रशंसनीय है। जिस प्रकार वाचस्पति मिश्रने छहों दर्शनोंकी टीका करके प्रत्येक दर्शनके सिद्धान्तकी पूर्णतया रक्षा करके अपनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रताका परिचय दिया वैसी ही स्थिति अप्पय्य दीक्षितकी है। उन्होंने जिस प्रकार शिवार्कमणिदीपिकादिमें विशिष्टाद्वैतके पक्षका पूर्णतया समर्थन किया, उसी प्रकार परिमल एवं सिद्धान्तलेशादिमें अद्वैतसिद्धान्तकी पूर्णतया रक्षा की है।

सिद्धान्तलेशमें उन्होंने अद्वैतवादी आचार्योंके मतभेदोंका दिग्दर्शन कराया है। अद्वैतवादी आचार्योंका एक जीववाद, नाना जीववाद, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं साहित्य आदि विषयोंमें बहुत मतभेद है। उन सबका स्पष्टतया अनुभव कर आचार्य अप्पय्य दीक्षितने उनपर अपना विचार प्रकट किया है। सिद्धान्तलेशमें ब्रह्मसूत्रकी तरह चार अध्याय हैं—समन्वय, अविरोध, साधन और फल। इसे शाङ्कर-सम्प्रदायका कोश कहा जा सकता है। इसमें ऐसे बहुत-से ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका विवरण है, जिनका इस समय कोई पता नहीं चलता। किंतु उनकी स्थिति-कालके विषयमें कोई उल्लेख न होनेके कारण यह ऐतिहासिक उपयोगकी सामग्री नहीं है।

सिद्धान्तलेशमें सब आचार्योंके मतोंका केवल उल्लेख मात्र है, उनकी समालोचना करके अपना कोई मत निश्चित नहीं किया गया है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि स्वयं अप्पय्य दीक्षितको कौन मत इष्ट था। तो भी अधिकांशमें उन्हें एक जीववादी या बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी कह सकते हैं।

ग्रन्थ-विवरण—अप्पय्य दीक्षितके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयोंपर १०४ ग्रन्थ लिखे थे। वे सब इस समय प्राप्य नहीं हैं। उनमेंसे जो प्राप्य हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

अलङ्कार

१–कुवलयानन्द—यह 'चन्द्रालोक' नाम अलङ्कार ग्रन्थकी विस्तृत व्याख्या है। **२–चित्रमीमांसा**—इस ग्रन्थमें अर्थचित्रका विचार किया गया है। इसका खण्डन करनेके लिये ही पण्डितराज जगन्नाथने 'चित्र-मीमांसा-खण्डन' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। **३–वृत्तिवार्त्तिक**—इस ग्रन्थमें केवल अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्तियोंका विचार किया गया है। **४–नामसंग्रहमाला**—यह ग्रन्थ कोशके सदृश है। इसमें अनुराग, स्नेह आदि परस्पर पर्यायवाची प्रतीत होनेवाले शब्दोंके तात्पर्यका भेद प्रदर्शित किया गया है।

व्याकरण

५–नक्षत्रवादावली अथवा पाणिनितन्त्रवादनक्षत्र-वादमाला—यह ग्रन्थ क्रोडपत्रके समान है। इसमें सत्ताईस सन्दिग्ध विषयोंपर विचार किया गया है। **६–प्राकृतचन्द्रिका**—इस ग्रन्थमें प्राकृत शब्दानुशासनकी आलोचना की गयी है।

*

मीमांसा

७–चित्रपुट—यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

८–विधि-रसायन—इसमें विधित्रयका विचार है।

९–सुखोपयोजनी—यह विधिरसायनकी व्याख्या है।

१०–उपक्रमपराक्रम—उपक्रम एवं उपसंहारादि षड्विध लिङ्गसे शास्त्रका निर्णय किया जाता है। इस ग्रन्थमें यह दिखलाया गया है कि उनमें उपक्रम ही सबसे अधिक प्रबल है।

११–वादनक्षत्रमाला—इसमें पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाके सत्ताईस विषयोंकी आलोचना है।

वेदान्त

१२–परिमल—ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यकी व्याख्या 'भामती' है, भामतीकी टीका 'कल्पतरु' है और कल्पतरुकी व्याख्या 'परिमल' है।

१३–न्यायरक्षामणि—इसमें अद्वैतसम्प्रदायके आचार्योंके भिन्न-भिन्न मतोंका निरूपण है।

१४–मतसारार्थसंग्रह—इसमें श्रीकण्ठ, शङ्कर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्योंके मतोंका संक्षिप्त परिचय है।

१५–सिद्धान्तलेश—इसमें अद्वैतसम्प्रदायके आचार्योंके भिन्न-भिन्न मतोंका निरूपण है।

शाङ्करसिद्धान्त

१६–न्यायमञ्जरी—यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

मध्वमत

१७–न्यायमुक्तावली—इसपर अप्पय्य दीक्षितने स्वयं ही टीका भी लिखी है।

रामानुजमत

१८–नियमयूथमालिका—इसमें रामानुजमतका दिग्दर्शन है।

श्रीकण्ठमत

१९–शिवार्कमणिदीपिका—यह ब्रह्मसूत्रके श्रीकण्ठ-कृत भाष्यकी व्याख्या है।

२०–रत्नत्रयपरीक्षा—इसमें हरि, हर और शक्तिकी उपासनाका विषय दिखलाया गया है।

२१–मणिमालिका—यह शिवविशिष्टाद्वैतपर हरदत्त-प्रभृति आचार्योंके सिद्धान्तका अनुसरण करनेवाला निबन्ध है।

२२–शिखरिणीमाला—इसमें ६४ शिखरिणी छन्दोंमें भगवान् शङ्करके सगुण स्वरूपका गुणगान है।

२३–शिवतत्त्वविवेक—यह उपर्युक्त शिखरिणी-मालाका व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें भगवान् शिवकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है।

२४–शिवतर्कस्तव—इसमें भी श्रुति, स्मृति एवं पुराणादिके द्वारा शिवका प्राधान्य निश्चय किया गया है।

२५–ब्रह्मतर्कस्तव—यह ग्रन्थ वसन्ततिलकावृत्तमें लिखा गया है। इसमें भी शिवजीकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है।

२६–शिवार्चनचन्द्रिका—इस निबन्धमें शिवपूजनकी विधिका विचार है। इसके ऊपर दीक्षितने स्वयं ही बालचन्द्रिका नामकी टीका लिखी है।

२७–शिवध्यानपद्धति—इसमें पुराणादिसे वाक्य उद्धृत कर शिवजीके ध्यानकी विधिका विचार किया गया है।

२८–आदित्यस्तवरत्न—यह सूर्यके मिषसे अन्तर्यामी शिवका ही स्तव है।

२९–मध्वतन्त्रमुखमर्दन—इस ग्रन्थमें मध्व-सिद्धान्तका खण्डन है।

३०–यादवाभ्युदयका भाष्य—श्रीवेदान्तदेशिका-चार्यने 'यादवाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की थी। यह उसीका भाष्य है।

इसके सिवा शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारत-तात्पर्यसंग्रह, शिवद्वैतविनिर्णय, पञ्चरात्रस्तव और उसकी

व्याख्या, शिवानन्दलहरी, दुर्गाचन्द्रकलास्तुति और उसकी व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति और उसकी व्याख्या तथा आत्मार्पण आदि निबन्ध भी उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। सभी कृतियोंमें उनकी विद्वत्ता झलकती है।

[१३]

श्रीचित्सुखाचार्य

आचार्य चित्सुखका आविर्भाव प्रायः तेरहवीं शताब्दीमें हुआ था। इन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक ग्रन्थमें न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्यके मतका खण्डन किया है, जो बारहवीं शताब्दीमें हुए थे। उस खण्डनमें इन्होंने श्रीहर्षके मतका उद्धरण दिया है, जो उस शताब्दीके अन्तमें हुए थे। उधर चौदहवीं शताब्दीके विद्यारण्य स्वामीने इनका अपने ग्रन्थमें उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे तेरहवीं शताब्दीमें ही हुए थे। इनके जन्म-स्थान आदिके विषयमें कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका' के मङ्गलाचरणमें अपने गुरुका नाम ज्ञानोत्तम लिखा है।

जिन दिनों चित्सुखाचार्यका आविर्भाव हुआ था, उन दिनों पुनः न्यायमतका जोर बढ़ रहा था। द्वादश शताब्दीमें श्रीहर्षने न्यायमतका खण्डन किया था। अब तेरहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्द्धमानने हर्षके मतको काटकर न्यायमतका प्रचार किया। दूसरी ओर द्वैतवादी वैष्णव आचार्य भी अद्वैतमतका खण्डन कर रहे थे। ऐसे समयमें चित्सुखाचार्यने अद्वैतमतका समर्थन और न्याय आदि मतोंका खण्डन कर शाङ्कर-मतकी रक्षा की। इन्होंने इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये 'तत्त्वप्रदीपिका', 'न्यायमकरन्द'की टीका और 'खण्डनखण्डखाद्य' की टीका लिखी। तत्त्वप्रदीपिकाका दूसरा नाम चित्सुखी भी है। अपनी प्रतिभाके कारण चित्सुखाचार्यने थोड़े ही समयमें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। चित्सुख भी अद्वैतवादके स्तम्भ माने जाते हैं। परवर्त्ती आचार्योंने उनके वाक्योंको भी प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया है।

[१४]

भट्टोजि दीक्षित

आचार्य भट्टोजि दीक्षित सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनकी रची हुई वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी और प्रौढमनोरमा इनकी दिगन्तव्यापिनी अक्षुण्ण कीर्तिकौमुदीका विस्तार करनेवाली हैं। वेदान्तशास्त्रमें ये आचार्य अप्पय्य दीक्षितके शिष्य थे तथा इनके व्याकरणके गुरु प्रक्रियाप्रकाशकार श्रीकृष्ण दीक्षित थे। भट्टोजि दीक्षितकी प्रतिभा असाधारण थी। इन्होंने मनोरमामें अपने गुरुके मतका खण्डन किया है। एक बार शास्त्रार्थ होते समय इन्होंने पण्डितराज जगन्नाथको म्लेच्छ कह दिया था। इससे पण्डितराजका इनके प्रति स्थायी वैमनस्य हो गया और उन्होंने मनोरमाका खण्डन करनेके लिये मनोरमाकुचमर्दन नामक ग्रन्थकी रचना की। पण्डितराज उनके गुरु कृष्ण दीक्षितके पुत्र वीरेश्वर दीक्षितके शिष्य थे।

भट्टोजि दीक्षितके रचे हुए ग्रन्थोंमें सिद्धान्तकौमुदी और प्रौढ़मनोरमा जगत्प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय व्याकरणसूत्रोंकी वृत्ति है और मनोरमा सिद्धान्तकौमुदीकी व्याख्या है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'शब्दकौस्तुभ' है। इसमें इन्होंने पातञ्जल महाभाष्यके विषयका युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। चौथा ग्रन्थ वैयाकरणभूषण है। इसका प्रतिपाद्य विषय भी व्याकरण ही है। इन व्याकरण-ग्रन्थोंके अतिरिक्त इन्होंने तत्त्वकौस्तुभ और वेदान्ततत्त्वविवेकटीकाविवरण नामक दो वेदान्तग्रन्थ भी रचे थे। इनमें केवल तत्त्वकौस्तुभ प्रकाशित हुआ है। इसमें द्वैतवादका खण्डन किया गया है।

भगवत्तत्त्व-दर्शनके आधुनिक साधक और व्याख्याता

भगवत्तत्त्व एक दुर्बोध तत्त्व है। इसकी सम्यक् अनुभूतिके लिये अनवरत साधनाकी सतत आत्मान्वेषण एवं निदिध्यासनकी आवश्यकता होती है। हम आस्तिकजनोंका दृढ़ विश्वास है कि हमारे वेद ही इस तत्त्वके आदि उद्गाता अथ च प्रधान 'आकर'-ज्ञानराशि हैं। वेद 'अपौरुषेय' हैं; क्योंकि 'शब्द' नित्य है। जो भारतीय दर्शन वेदोंको अपौरुषेय नहीं मानते और शब्दकी नित्यताको भी स्वीकार नहीं करते, वे भी वेदोंको ईश्वरकृत मानकर उनके 'अभ्यर्हिततत्त्व' (प्रमाण-विषयक प्राथमिकता)में सन्देह नहीं करते। अस्तु !

हमारे प्राचीन ऋषियोंने भगवत्तत्त्वकी जिज्ञासामें आजीवन तपश्चरण करके उन नित्य श्रुतिमन्त्रोंका साक्षात्कार किया और उन्हींके अर्थ-विस्तार-हेतु, जन-सामान्य एवं संसारासक्त मनुष्योंपर कृपा करके उपबृंहण-स्वरूप, स्मृति-पुराण आदि व्याख्या-विधायक ग्रन्थोंकी रचना की। इस 'व्याख्यासाहित्य'की मूल प्रवृत्ति भी हमारे यहाँ अनादि ही मानी जाती है। जैसे हमें यह ज्ञात नहीं कि इस परिदृश्यमान संसार-चक्रका चङ्क्रमण (घूमना) कब आरम्भ हुआ, उसी प्रकार तत्त्वजिज्ञासारूप ज्ञानकी उद्भूति कब हुई, इसे भी हम तिथिनिर्देश-पूर्वक बतलानेमें अक्षम हैं। यही कारण है कि ज्ञानक्षेत्रमें आर्ष विचारधाराने तात्त्विकताकी तुलनामें ऐतिहासिक दृष्टिको उतना महत्त्व नहीं दिया।

समयके साथ आस्था और विचारोंमें भी परिवर्तन होता है। भारतीयोंने सनातनधर्म और भगवत्तत्त्वकी सूक्ष्म बातोंको जब मात्र रूढ़िके रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया और तत्त्वविषयक सूक्ष्मेक्षिका (बारीकीसे देखने)से पृथक् लड़ने-झगड़नेकी ही परम्परा आरम्भ कर दी, तब इसी देशमें वेदविरोधी अनेक शाखाओंका उदय हुआ। आधुनिक कालमें विदेशियोंकी चिरकालिक पराधीनतामें पड़कर हमने संस्कृति, धर्म और दर्शनकी बची-खुची विरासत भी खो दी। हमपर शासन करनेवाले पाश्चात्योंने हमारी इस दुर्बलताका लाभ उठाया और हमारे वेदों, पुराणों, स्मृतियों आदिके स्वाभीप्सित संस्करण और व्याख्याग्रन्थोंका प्रकाशन आरम्भ कर दिया। 'आर्य अभियान,' 'विकासवाद'-जैसे कल्पनाश्रित सिद्धान्तों तथा नयी सभ्यताकी चकाचौंध उत्पन्न कर ये हम भारतीयोंको अपने वेदों और तज्जन्य संस्कृतिके विषयमें संशयापन्न किं वा व्यामुग्ध करने लगे। उनके ही पदचिह्नोंपर चलनेवाले आधुनिक भारतीयोंने उन्हींके स्वरमें स्वर मिलाना आरम्भ कर दिया। फलतः चिरकालसे संचित भारतीय भावना और सच्ची राष्ट्रियता—जिनको शिक्षाके द्वारा संवर्धित होना चाहिये था, क्रमशः उसीके माध्यमसे भारतीय मस्तिष्कमें ही सिद्ध होने लग गयी।

ऐसी विषम स्थितिमें तत्कालीन भारतके जिन मनीषियोंने धर्म-दर्शनके भटकते अश्वकी लगाम थामकर उसे 'संस्कृति-स्पन्दन'से जोड़नेका कार्य किया, उनके पवित्र चरितका चिन्तन-मनन हमारे जीवनको कुछ दिशा दे सकता है—यह सोचकर उनमेंसे कुछके संक्षिप्त जीवन-चरित यहाँ दिये जाते हैं—]

(१)

योगिराज अरविन्द

श्रीअरविन्दका जन्म पंद्रह अगस्त सन् १९०२ ई०में कलकत्ताके प्रतिष्ठित चिकित्साधिकारी श्रीकृष्णधन घोषके यहाँ हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दीके परतन्त्र भारतके महत्त्वाकाङ्क्षी पिताने 'कहीं पुत्रको इस असभ्य-अविकसित देशकी हवा न लग जाय'—यह सोचकर सात वर्षकी अवस्थामें ही इन्हें पढ़नेके लिये इङ्गलैंड भेज दिया। कुशाग्रबुद्धि अरविन्दने वहाँ आरम्भसे लेकर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयकी उपाधि 'ट्रिपास' तक शिक्षा प्राप्त की।

किशोरावस्थामें ही इन्हें अंग्रेजीके साथ-साथ यूरोपकी अन्य भाषाओंका भी ज्ञान हो गया और उन भाषाओंमें काव्य-रचना करके इन्होंने कई पुरस्कार भी प्राप्त किये। उच्चतम शिक्षा प्राप्तकर ये 'आई० सी० एस्०' (इण्डियन सिविल सर्विस)की परीक्षामें सम्मिलित हुए, किंतु तबतक इस सभ्यता और संस्कृतिसे ऊब जानेके कारण इन्होंने जान-बूझकर घुड़सवारीकी परीक्षा नहीं दी और उस समय सम्मुख प्रस्तुत उच्चतम पदकी उपेक्षा कर दी। उस समय बड़ौदाके नरेशने इनकी प्रतिभासे प्रभावित होकर अपने राज्यके एक उच्च पदपर आमन्त्रित किया। ये भारत आ गये और बड़ौदा कालेजमें फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्यके प्रवक्ता बनकर काम करने लगे।

भारत आते ही इनका स्वदेशके प्रति सुप्त अनुराग जाग पड़ा। अंग्रेजी संस्कृतिमें पले अरविन्द घोषको वह संस्कृति काटने-सी लग गयी और तब इन्होंने अत्यन्त अध्यवसाय-पूर्वक भारतीय धर्मदर्शन, संस्कृति, साहित्य तथा इतिहास आदिका गहन अध्ययन किया। इसी समय धीरे-धीरे योगाभ्यासका क्रम भी आरम्भ हो गया। अब इनकी चेतनामें 'विश्वगुरु भारत'की कल्पना जगने लगी; किंतु इसके लिये आवश्यक था कि भारत पहले पराधीनतासे मुक्त हो। इसलिये प्रोफेसर अरविन्द घोषने देशकी स्वतन्त्रताके लिये राज-नीतिक मञ्चका सूत्रधार बनना आरम्भ किया। अब उनका प्रमुख कार्य हो गया राष्ट्रकी स्वतन्त्रता-हेतु भारतीय चेतनाका वैचारिक उद्‌बोधन, जिसे इन्होंने 'वन्दे मातरम्' और 'कर्मयोगिन्' नामक दो पत्रिकाओंके माध्यमसे सम्पन्न किया; किंतु अरविन्दकी समस्त राजनीति और राष्ट्रियताके मूलमें इनकी एक गहन आध्यात्मिक अनुभूति ही कार्य कर रही थी। इनके हृदयमें प्रतिपल यह बोध जाग्रत् हो रहा था कि 'भारतमाता एक भूखण्ड-मात्र नहीं, वह एक शक्ति है, और वह शक्ति भागवती शक्ति है।' उस शक्तिकी उपासनाके रूपमें इनकी गतिविधियाँ क्रान्तिका सन्देश फैलाने लगीं। अंग्रेजोंको इस 'शाक्त उपासक'के वर्चस्वसे भय होने लगा; अतः सन् १९०८में मिथ्या अभियोग लगाकर उन्हें बंदी बना लिया गया। अलीपुर जेलमें विभिन्न यातनाओंके साथ इन्हें एक वर्षतक कालकोठरीमें रक्खा गया और इस कारावासने उन्हें कंसकी कारामें पैदा हुए कृष्णके अत्यन्त निकट लाकर इन्हें मानो सखा बना दिया।

उस कठिन कारागारमें अरविन्दने भगवद्गीताका सूत्र पकड़कर **'वासुदेवः सर्वम्'**की चैतन्य अनुभूतिका प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। अब इनके लिये 'वासुदेव-ही-वासुदेव' बच गया। विश्वकी विविधता इसी एकतत्त्वमें अन्तर्हित होने लग गयी। इनके अपने शब्द हैं— 'मैंने कारागारकी ओर दृष्टि डाली....देखा, अब मैं उसकी ऊँची दीवारोंके अंदर बंद नहीं—मुझे घेरे हुए थे 'वासुदेव'। मैं अपनी कालकोठरीके सामने पेड़की शाखाओंके नीचे टहल रहा था, किंतु वहाँ पेड़ न था मुझे प्रतीत हुआ कि वे वासुदेव हैं....और मेरे ऊपर अपनी छाया किये हुए हैं।....स्वयं नारायण संतरी बनकर पहरा दे रहे हैं। जब मैं उन मोटे कम्बलोंमें लेटा, जो कि मुझे पलंगकी जगह मिले थे, तो यह अनुभव किया कि मेरे सखा और प्रेमी श्रीकृष्ण मुझे अपनी बाहुओंमें कसे हुए हैं।'

भगवत्कृपा हुई। अभियोग प्रमाणित न हो सका और कारागारसे मुक्ति मिली। जनसमूहने इनका स्वागत किया और अरविन्दने प्रत्युत्तरमें संदेश दिया कि एकमात्र भगवान्‌के हाथोंमें समर्पित कर देनेपर ही भारतका कल्याण होगा।

सन् १९१० में अरविन्द पाण्डिचेरी पधारे और एकान्त-वास करते हुए योगसाधनामें संलग्न हो गये। इसी साधनाके सुवासित पुष्पोंके रूपमें इनकी लेखनीने धर्म

और दर्शनके अभूतपूर्व कतिपय ग्रन्थरत्न उद्भावित किये ।*

अरविन्दको योगकी अत्युच्च सिद्धि २४ नवम्बर, १९२६को प्राप्त हुई । तबसे सन् १९५० तक अनवरत विश्वात्मयोगकी साधनामें इनका जीवन-दीप एक ही कक्षमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्‌में ज्योति बिखेरता रहा और ५ दिसम्बर, १९५० को निर्वाणकी मुद्रामें उस परमज्योतिसे मिल गया, जिसके प्राप्ति-हेतु उन्होंने अबतक इतनी साधना की थी ।

योगिराज अरविन्दके जीवनवृत्तकी इन घटनाओंसे परिचय प्राप्त करना 'भगवत्तत्त्व'की साधनाका एक सोपान प्राप्त कर लेना है । अतएव साधनापथके पथिकोंके लिये उसका अनुस्मरण एक मंजुल पाथेयकी भाँति आज भी हृद्य तथा स्पृहणीय है । भगवत्तत्त्वदर्शी योगिराज अरविन्दकी ज्योतिमें भगवत्तत्त्वका अन्वेषण किया जा सकता है ।

(२)

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थका जन्म पंजाबके मुरलीवाला नामक गाँवमें एक उत्तम गोस्वामी ब्राह्मणके घर सन् १८७३की दीपावलीको हुआ था । दैवका विधान, जन्मके कुछ ही दिनों बाद आपकी माताका स्वर्गवास हो गया और आपके पालन-पोषणका भार आपकी बुआपर आ पड़ा । बुआ बड़ी ही साध्वी तथा भक्तिमती महिला थीं; वे बालक 'तीर्थराम'को लेकर कथाकीर्तन तथा मन्दिरों आदिमें जातीं और बालकको भगवान्‌के श्रीविग्रहों, पूज्य संत-महात्माओंके दर्शन करातीं । तीर्थरामके ये संस्कार क्रमशः दृढ़-दृढ़तर होते चले गये ।

गाँवकी पढ़ाई समाप्तकर ये 'गुजराँवाला' आये और वहाँ भक्त धन्नारामकी देख-रेखमें आगेकी शिक्षा आरम्भ हुई । घरकी आर्थिक स्थिति शोचनीय थी । समयपर अत्यन्त आवश्यक भोजन भी नहीं मिलता था । फिर भी तीर्थरामके अध्ययनक्रममें कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ । भूखसे व्याकुल प्राणेन्द्रियोंसे पृथक् परिपूर्ण आत्मदर्शनसे छके, आत्मतत्त्वकी ज्योतिसे यहीं इनका प्रथम साक्षात्कार हुआ । तीर्थराम गणितके विद्यार्थी थे, गणितके नियमोंकी ध्रुवसत्यता एवं नियमितताने इन्हें किसी ध्रुव सत्ताके प्रति उन्मुख होनेको बाध्य कर दिया । इनका निश्चय भी गणितके उत्तरकी ही तरह अटल होने लगा । दुबले-पतले विद्यार्थीमें आत्मबलकी ऊर्जा पूर्ण होने लगी ।

इन्हीं दिनोंकी एक घटना है । गणितके प्रश्नोंको हल करते हुए रात्रिमें इन्होंने संकल्प किया कि—'जब-तक प्रश्न हल नहीं हो जायेगा, तबतक शयन-विश्राम कुछ भी नहीं करना है ।' ये प्रयत्नपूर्वक ज्यों-ज्यों हल खोजते, त्यों-त्यों प्रश्नका सही उत्तर दूर भागता जा रहा था । अन्तमें इन्होंने महासंकल्प किया कि 'यदि प्रातः ब्राह्ममुहूर्ततक मैं प्रश्नका हल नहीं खोज पाऊँगा तो अपने इस मस्तकको धड़से पृथक् कर दूँगा ।' इनका यह निश्चय अनुकरणीय तो नहीं है, पर इससे इनका अदम्य आत्म-विश्वास द्योतित हुए बिना नहीं रहता । आखिर, प्रश्नका हल नहीं निकला; उधर प्राचीमें परिहासकी मुद्रामें ही मानो ऊषा मुस्कराने लगी । अटल निश्चयी 'राम' ने अपने पणपर आँच नहीं आने दी । तुरंत एक तीक्ष्ण अस्त्र (जिसे इन्होंने पहले ही अपने पास रख लिया था) उठाया और अपना संकल्पित कार्य करने-हेतु छतपर आ पहुँचे । बिना किसी शैथिल्यके अपनी ही गर्दनपर अपना ही सशस्त्र हाथ उठा····और आश्चर्य ! नेत्रोंके सामने प्रश्नका सही

* The Life of Divine, Synthesis of Yoga, Essays on the Gita, The Hnman Cycle, The Ideal of Humanity, On the Ved, Foundations of Indian Culture और 'सावित्री' महाकाव्य इत्यादि ।

ज्योतिर्मयी लिपिमें चमक गया। प्राचीमें ऊषाकी अरुणिमा अभी तरुण नहीं हो पायी थी—अवधिके रूपमें स्वीकृत प्रभात अभी भी कुछ पग दूर था। 'तीर्थराम' यहीं परमात्मतत्त्वसे अभिभूत हुए। अब इनका 'मैं' 'तू' है,—'तू ही है' इस रूपमें बदल गया। साधनाके सोपान क्रमशः व्यतीत होने लगे। तीर्थरामने गणितमें एम्०ए० किया और उसी कालेजमें प्रोफेसर हो गये। इनमें श्रीकृष्ण-प्रेमका नशा छाने लगा। 'रावी' नदीके तटपर घंटों एकान्तमें बैठकर भगवत्प्रेममें छके रहते; जब होशमें आते तब 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!!' कहकर रोने-तड़पने लगते। छुट्टियोंमें वृन्दावन पहुँचकर प्राणसखाके प्रणयकी पुण्यतोयामें निर्भर अवगाहन करते हुए अब तीर्थराम विश्वको पावन कर देनेवाले **'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि'**के उत्कृष्ट निदर्शनके रूपमें स्वयं एक भावतीर्थ बन चुके थे। आगे चलकर इनका यह तीर्थत्व भी 'केवल' राममें अन्तर्लीन हो गया। अब ये राम ही राम थे—राम बादशाह! इनके लिये अपने स्वरूप 'रामत्व'के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं था।

उपनिषद् और वेदान्तके अन्यान्य ग्रन्थोंके अनुशीलनके साथ-साथ उत्तराखण्डमें एकान्त-सेवनका चस्का बढ़ा। सन् १९०० ई०में 'तीर्थराम' नौकरी आदि छोड़-छाड़कर संन्यासी—'स्वामी रामतीर्थ'—हो गये। गङ्गामें यमुनाका अद्भुत मिलन—'मैं सूर्य हूँ—मैं ज्योति हूँ, मैं अव्याहत-अनाहत ओंकार हूँ'—यह अनुभूति प्रतिपल अपनी अलौकिक विभा विखेरने लगी।

लोगोंके विशेष आग्रहपर 'विश्वधर्म परिषद्'में सम्मिलित होने स्वामीजी जापान और अमेरिका भी गये। इनकी मस्ती मुग्धकारिणी थी। सारे जापान और अमेरिकामें आप एक भगवज्ज्योतिके रूपमें समादृत हुए। अमेरिकी पत्रोंने आपको 'वर्तमान ईसा' की संज्ञासे अभिहित किया। ढाई वर्ष विदेशोंमें बिताकर आप पुनः उत्तराखण्ड लौट आये। सन् १९०६ की दीपावलीके ही दिन गङ्गाकी प्रखरधारामें बहता हुआ स्वामीजीका दिव्य जीवन-दीप, अखण्ड ओंकार-ज्योतिसे समीकृत हो गया। स्वामीजी पार्थिव शरीरको त्यागकर दिव्य ज्योतिके देशमें प्रविष्ट हो गये। अब हमारे लिये उनकी पवित्र जीवनकथा और उनके महत्त्वशाली उपदेश उनकी स्मृतिके प्रधान उपकरण हैं। उनकी बीसों पुस्तकें ब्रह्मज्योति और भगवत्तत्त्वकी अनुभूतिकी छलकती वाणीमें उर्दू शैलीमें पठनीय हैं।

(३)

महामना पूज्य पं० मदनमोहनजी मालवीय

हिन्दूधर्मके अर्वाचीन ऋषि, हिन्दूविश्वविद्यालयके पुण्यसंस्थापक महामनीषी, परमभागवत महामना पूज्यपाद पण्डित मदनमोहन मालवीयकी पुण्यकीर्तिसे कौन परिचित न होगा? जीवनभर विश्वरूप भगवान्की सेवा-उपासनाद्वारा जिन्होंने भगवत्तत्त्वका सामान्यजन-सुलभ स्वरूप विवृत किया, जो संघर्षकी भीषण परिस्थितियोंमें डूबती भारतीय संस्कृति नौकाके कर्णधार बने और भगवान्के 'भूमा' स्वरूप जगत्को जिन्होंने अनवरत अपनी उपासनाका अर्चा-विग्रह स्वीकार किया, उन लोकोत्तर मनीषीके दिगन्तव्यापी धवल यशको आज भी कौन-सा सच्चा भारतीय होगा जो विस्मृत कर दे।

आपका जन्म प्रयागमें वर्तमान भारतीभवनके पास एक प्रसिद्ध भागवतमर्मज्ञ नैष्ठिक ब्राह्मणकुलमें सं० १९१८ की पौष कृ० ८, बुधवार अर्थात् २५ दिसम्बर १८६१ ई० को हुआ था। (अट्ठारह सौ इकसठ वर्ष पहले 'बैथलहम'में ठीक इसी दिन महात्मा ईसाका भी जन्म हुआ था।) इनके पिता पं० श्रीव्रजनाथ भी प्रसिद्ध भागवत-कथावाचक और भगवद्भक्त थे। राधाकृष्णकी ललित उपासना और श्रीमद्भागवतके पारायणमें ही उनका अधिकांश समय बीतता था। जीविकाका साधन भी अयाचित वृत्तिजन्य कथावाचनका पारिश्रमिक ही

||; निःस्पृही ब्राह्मण-परिवारने भगवद्विश्वासके बलपर कभी संग्रह-वृत्तिको महत्त्व नहीं दिया। अस्तु !

मदनमोहन इनके सात पुत्र-पुत्रियोंमेंसे पाँचवें थे। प्रारम्भिक शिक्षा घरपर ही इनके पिताजीद्वारा सम्पन्न हुई। फिर 'धर्मज्ञानोपदेशपाठशाला' तथा 'विद्याधर्मप्रवर्धिनी' आदि संस्कृत पाठशालाओंमें अध्ययन किया। विद्याधर्मप्रवर्धिनी पाठशालाके इनके गुरु पं० देवकीनन्दनजी, इन्हें सात वर्षकी अवस्थामें ही धर्मविषयक व्याख्यान देना सिखाने लगे थे। सात वर्षका बालक सारे राष्ट्रकी नौका खेनेका पहला पाठ त्रिवेणी-संगमपर सीखने लगा। नव वर्षमें उपनयन सम्पन्न हुआ और युवक न होते-होते विवाह भी कर दिया गया।

घरकी आर्थिक स्थिति कमजोर होनेपर भी महत्त्वाकाङ्क्षी मदनमोहनने गवर्नमेन्ट हाईस्कूलसे १८ वर्षकी अवस्थामें 'एन्ट्रेन्स' परीक्षा पास कर ली। अब इनका मन कालेजमें पढ़नेको हुआ; किंतु दरिद्रता मुँह बाये खड़ी थी। आखिर, पिताने हिम्मत न हारी और मदनमोहनका नाम 'म्योर सेन्ट्रल कालेज'में लिखा दिया। इस प्रकार क्रमशः बी० ए० और एल्० एल्० बी० हुए। कुछ दिन स्कूलमें अध्यापक रहे और कुछ दिन वकालत भी की। सरकारी नौकरी करते हुए ही वे कांग्रेसमें सम्मिलित हुए थे। सन् १८८५ में 'भारतीय राष्ट्रिय महासभा'की स्थापना हुई, जिसमें मालवीयजी अपने निर्भीक गुरु पं० आदित्यराम भट्टाचार्यके साथ सन् १८८६ ई० में कांग्रेसकी बैठकमें पहुँचे। वहींसे मालवीयजीका जीवन बदला। अपनी अहर्निशकी लोकयात्रा पूरी करते हुए वे राष्ट्रकी प्रगतिके साथ जुड़ गये। कुछ दिन 'कालाकांकर'के महाराजके अनुरोधपर 'हिन्दुस्तान' पत्रका तथा बादमें 'अभ्युदय'का सम्पादन भी किया।

भारतकी भारती हिंदीकी एक सेवा-शृङ्खलाके रूपमें बहुत दिनोंतक नागरी-प्रचारका कार्य भी करते रहे। बादमें 'हिंदी-साहित्य सम्मेलन'का सभापतित्व भी किया और भारतकी सर्वाङ्गीण आराधनामें जुट गये। इनकी देशसेवाका प्रधान स्वर धर्ममूलक था। भारतीय संस्कृति और हिंदूधर्मको ये हमेशा एक दूसरेका पर्याय ही मानते रहे। सन् १९०६ ई०में प्रयागके कुम्भके अवसरपर मालवीयजीने सनातनधर्मका विराट् अधिवेशन कराया और यहीं हिंदूविश्वविद्यालयकी स्थापनाका निश्चय भी हुआ। उसके बाद अनवरत लगन और निष्ठासे विभिन्न राजा-महाराजाओं, मनीषियों आदिकी सहायतासे अखिल विश्वमें हिंदूधर्म और दर्शनके प्रचार-प्रसार-हेतु ४ फरवरी सन् १९१६को काशीमें गङ्गाके पावन कूलके अत्यन्त संनिकट 'हिंदूविश्वविद्यालय'का शिलान्यास सम्राट्के प्रतिनिधि और भारतके गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिङ्गद्वारा सम्पन्न हुआ।

आज यह विश्वविद्यालय अपनी अनन्तानन्त शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें सम्पूर्ण संसारमें एक बोधिवृक्षके रूपमें समादृत है। किंतु इसके मूलमें महामनाकी वह छोटी-सी आस्था ही अनुप्राणित है, जिसे भगवत्तत्त्व बोधकी संज्ञा दी जाती है। ये भगवत्तत्त्वके साधनको धर्म मानते थे और धर्म इनका विश्वजनीन सनातन था, जिसके तात्त्विक विवेचन भगवत्तत्त्वपर ही आश्रित हैं।

महामना परम भागवत थे। गीता, महाभारत और श्रीमद्भागवत इनके जीवनके आधारभूत, नित्य सहचर थे। आजीवन एक सरल, निःस्पृह, सनातनी ब्राह्मणका जीवन जीते हुए भी मालवीयजीने, तत्कालीन राजनीति और समाज-सेवाके क्षेत्रमें वे कार्य कर दिखाये, जिन्हें बहुत कम लोग कर पाते हैं। इनका जीवन करुणाकी एक अजस्र स्रोतस्विनी था। मानवमात्र किंवा प्राणिमात्रके प्रति इनकी 'घट-घट व्यापक राम'की भागवती दृष्टि, सतत सेवाहेतु जाग्रत् थी। ये विश्वकल्याणकारी शिव थे, शिवकी ही अनवरत उपासना करते हुए १२ नवम्बर सन् १९४६ ई० में ये 'शिव-तत्त्व'में ही लीन हो गये।

...की कीर्तियाँ आज भी जीवित हैं; और ...स जीवति'के अनुसार वे भी अमर हैं।

उनके-जैसा वीतस्पृह, कर्मयोगी और भगवत्तत्त्वदर्शी गृहस्थ सन्त होना नितान्त दुर्लभ है। आज उनकी स्मृति, उनके विचार एवं उनका यशोविग्रह ही हम-सबका मार्गदर्शक-सम्बल है।—'विनय' एम्० ए०

(४)

ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअच्युतमुनिजी महाराज

[क]

स्वामी श्रीअच्युतमुनिजीका पूर्वाश्रमका नाम पं० श्री-दौलतराम शास्त्री था। इनका अध्ययन विशेषरूपसे काशीमें ही हुआ था। ये संस्कृत-व्याकरणके प्रकाण्ड विद्वान् थे। लाहौरमें डी० ए० वी० कालेजमें संस्कृताध्यापक थे। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी वे परम एकान्तसेवी एवं महान् चिन्तक थे। अपने कार्यसे निवृत्त होकर जब इन्हें समय मिलता तब ये सीधे रावी नदीके तटपर पहुँच जाते; वहीं घंटों भगवच्चिन्तन करते थे।

सेवानिवृत्तिके अनन्तर गृहस्थाश्रमका त्यागकर गढ़मुक्तेश्वरसे लेकर फतेहगढ़तक पैदल ही विचरण करते थे। भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह होता था। भिक्षा-प्राप्तिके लिये दूर-दूरतक जाना पड़ता था। भिक्षा कभी नहीं भी मिलती थी। फिर विद्यार्थिगण अध्ययनके लिये इनके निकट आने लगे तो भिक्षा ले आनेका कार्य उन्होंने सँभाल लिया।

एक बार बहुत अधिक बीमार पड़े तो आतुर-संन्यास ले लिया। नाम अच्युत पड़ा। भगवा, लंबा चोंगा पहनते थे। दण्डग्रहण नहीं किया।

गङ्गाजीके तटपर कई जमींदारों, ताल्लुकेदारोंने तत्-तत् स्थानोंमें कई कुटियोंका निर्माण करा दिया था। कुछ दिन रहनेके बाद उनका परित्याग कर दिया करते थे—कहते थे जब हम इनपर मोह करेंगे तो हममें और गृहस्थोंमें अन्तर ही क्या होगा। उनमें कुछ कुटियाँ अब भी विद्यमान होंगी।

कुछ समयके बाद खुर्जाके ख्यातनामा सेठ गौरीशंकर गोयनकासे, जिनका अनूपशहरसे भी सम्बन्ध था, अनूपशहरमें ही श्रीस्वामीजी महाराजकी भेंट हुई। सेठजी अध्ययनाश्रमी, संस्कृतसेवी तथा साधु-सन्त महापुरुषोंके सेवक थे। वे स्वामीजी महाराजसे अध्ययनरत हुए। इसी अवसरपर बम्बईके प्रसिद्ध सेठ जमनालाल बजाजका श्रीस्वामीजीके निकट अध्ययनार्थ आगमन हुआ। अनूपशहरके ही श्रीसेठ गौरीशंकरजीके मित्र पं० रामशंकर मेहता तथा पं० गङ्गाप्रसाद मेहता (तत्कालीन काशी हिन्दूविश्वविद्यालयके रजिस्ट्रार) भी अध्ययनमें सम्मिलित हुए। वेदान्तमें पञ्चदशी, दृग्दृश्यविवेक, रत्नप्रभा, भामतीसहित ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य एवं भागवत आदिका पाठ चलता था।

सेठ गौरीशंकर गोयनकाने श्रीस्वामीजीके गङ्गामें निवासके लिये दो नावें बनवा दी थीं। भोजनकी सुव्यवस्थाके लिये एक पाचक तथा एक कारिन्दा नियुक्त कर दिया था।

अनूपशहर, रामघाट, नरवर, कर्णवास, राजघाट इत्यादि स्थानोंमें गङ्गाजीके ही सुरम्य सैकतमय मध्यमें उनका निवास होता था। अध्ययनाध्यापनकालके अतिरिक्त वे बालूमें एकान्तमें बैठकर ब्रह्मचिन्तन करते थे।

स्वामीजीके शिष्योंमें एक बिजनौर-निवासी श्रीरामावतार शर्मा भी थे। उन्होंने स्वामीजीसे अध्ययन कर कई ग्रन्थोंका अनुवाद एवं विरचना की थी। उनमें गीतापर भी उनका उत्कृष्ट लेख विद्यमान है।

ये प्रायः कहा करते थे—वैषयिक सुख तो कूकर-शूकर सभी योनियोंमें भी प्राप्त होता है; किंतु ब्रह्मज्ञान केवल

मानवमें ही सम्भव है। वे उपदेशार्थ भागवत-(११। ९। २८) का यह श्लोक सुनाया करते थे—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

'भगवान्‌ने अपनी सर्वोत्कृष्ट अजया शक्तिसे विविध [illegible] बनाये। बहुविध वृक्ष, साँप, मृगादि पशु, भाँति-[illegible]के पक्षी, डाँस, मक्खी, मच्छर आदि तथा मत्स्य, मकर आदि जलजीव बनाये; पर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। मनुष्यकी रचना कर उन्हें महान् आनन्द हुआ; क्योंकि उसमें ब्रह्मज्ञानकी बुद्धि है।' इसीलिये मनुष्यजीवनकी सार्थकता ब्रह्मज्ञानमें ही है।

अन्तसमयमें ये काशी आ गये। शहरसे बारह-तेरह मील दूर सेठ गौरीशंकर गोयनकाजीने बहुत बड़ी गोचरभूमि गोचारणके लिये खरीद रखी थी; उसीके एक टीलेपर कुटिया एवं एक सुन्दर पक्का कुआँ बनवाकर वहीं निवास किया। सेठ गौरीशंकरजीकी ओरसे इनके खान-पान, भृत्य और कारिन्दाका जो व्यय बँधा था, वह बराबर चलता रहा। काशी आकर नावें उन्होंने श्रीगौरीशङ्करजीको सौंप दीं।

काशी आनेपर काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयके कतिपय विद्वानों एवं छात्रोंका भी उनके साथ सम्पर्क हो गया। वे उन्हें कई बार काशीहिन्दूविश्वविद्यालय ले गये एवं उनके व्याख्यान कराये। काशी शहरमें भी उनके कई व्याख्यान हुए।

कलकत्तेके सम्मानित उद्योगपति सर हरीराम गोयनकाजीने, जो काशीवास करते थे, काशीमें इनके सत्सङ्गका लाभ उठाया। सम्भवतः श्रीहरीराम गोयनकाजीके आग्रहसे ये कलकत्ता भी गये। वहाँ इनका खूब स्वागत-सम्मान हुआ; इनके दो पुत्र जो कलकत्तामें इंजीनियर थे, इन्हें अपने घर ले गये। सुनते हैं, वहाँ इन्होंने अपनी पत्नीको देखकर कहा था कि क्या यह अभी जीवित है!

ये बड़े आस्तिक थे। देवी-देवताओंके दर्शन ये बड़ी कठिनाई सहकर भी अवश्य करते थे। सारे जीवनमें इन्होंने अध्यापन कर बहुत-से छात्र तैयार किये थे। संन्यास-जीवनमें इन्होंने बहुत-से छात्रोंको वेदान्त-सुधाका आस्वाद कराया था और बहुत-से ग्रन्थ रचकर अज्ञानान्धकारका निरसन किया था।

इनका अन्तिम समय वाराणसी ज्ञानवापी कोठीमें श्रीविश्वनाथजीके सान्निध्यमें गौरीशङ्करजी प्रभृति शिष्य-मण्डलीके मध्य हुआ। मणिकर्णिका घाटपर पत्थरका सन्दूक बनवाकर खूब विधि-विधानसे उनका पार्थिव शरीर गङ्गाजीमें विसर्जित किया गया। वे वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित और व्याख्याता तो थे ही, उच्चकोटिके संन्यासी और ब्रह्मज्ञानी भी थे। उनका तत्त्वविवेचन इतना प्रभावक होता था कि उच्चकोटिके विद्वान् भी उनकी संनिधिका लाभ उठानेमें गौरवका अनुभव करते थे। वस्तुतः वे आधुनिक युगके महान् भगवत्तत्त्व-चिन्तक थे। वे ब्रह्मनिष्ठ माने जाते थे।

—श्रीराधेश्यामजी खेमका, एम्० ए०, साहित्यरत्न

[ख]

अच्युत मुनिजीकी ब्रह्मनिष्ठताकी कथा

आधुनिक ब्रह्मचिन्तकोंमें भी अच्युत मुनिजीका उत्कृष्ट स्थान रहा। वे वेदान्तके पारदर्शी विद्वान् तो थे ही, उनकी ज्ञाननिष्ठाने उन्हें नैष्ठिक ज्ञानियोंकी श्रेणीमें ला दिया था। मुनिजीका शरीर पंजाबी था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे। कहा जाता है कि आप पहले लाहौरमें अध्यापनकार्य करते थे। विभिन्न शास्त्रोंका आपने अत्यन्त सूक्ष्मरीतिसे गहन अध्ययन किया था। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र तो आपको कण्ठगत ही हो गये थे। आप वेदान्तके मर्मज्ञ आचार्य थे।

आपका सारा जीवन सहज वैराग्य और अखण्ड लीनताका प्रत्यक्ष निदर्शन था। आप एकान्तमें रात्री-तटपर घण्टों बैठकर आत्मचिन्तन करते तथा श्रुतिप्रोक्त सिद्धान्तोंका स्वयं अनुभव किया करते थे। 'ब्रह्मात्म्यैक-साधना'के साथ-ही-साथ भगवान्‌की लीला, स्वरूप आदिका चिन्तन भी आपकी साधनाका अविभाज्य अङ्ग था। भगवन्नाम-जपपर तो आपकी अलोक-सामान्यनिष्ठा थी। फलतः उन्हीं दिनों 'हरे कृष्ण' मन्त्रके ५ करोड़ जप पूरे करके इन्होंने नाम-ब्रह्मकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर ली और जब मन प्रपंचसे हटने लगा तो सब कुछ त्यागकर सच्चे संन्यासी बन गये। यहींसे ब्रह्मनिष्ठताका श्रीगणेश हुआ जो परिनिष्ठित होकर इनकी चरमसिद्धि बन गयी।

बहुत दिनोंतक अनूपशहरके पास भृगुक्षेत्रमें भी इनका निवास रहा, वहाँ आप गङ्गाजीके बीच एक 'नाव'में रहा करते थे। बादमें आप काशी आ गये। इनकी प्रकृति सरल तथा स्वभाव बालकों-जैसा निश्छल था, फिर भी वैदुष्य ऐसा कि तत्कालीन अच्छे-अच्छे पण्डित भी इनसे शास्त्राभ्यास और सत्सङ्ग-हेतु उत्सुक रहते थे। इनका मधुर भाषण एवं तेजोमय व्यक्तित्व प्रथम दृष्टिमें ही सबको आवर्जित कर लेता था। वेदान्तके आप पारदृश्वा थे और भक्तिके गूढ़ चातकव्रती। काशीके उच्चकोटिके विद्वान् भी आपसे वेदान्तकी गूढ़ गुत्थियोंको सुलझाने-हेतु सत्सङ्ग करते थे।

अन्तिम समयमें आप कुछ दिन काशीके समीप रामेश्वरनामक स्थानमें रहने लगे थे। वहाँ समय-समयपर भगवत्तत्त्वके उपदेशोंद्वारा लोकमङ्गल करते रहे। १२ दिसम्बर १९३५ को काशीधाममें आनन्द-काननके दिव्य अधिष्ठाता भगवान् श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशङ्कर गोयनकाके मकानमें आपने योगियोंकी भाँति इहलोक लीलाका संवरण किया। अच्युतग्रन्थमालाके नामसे प्रकाशित शास्त्रोंका भण्डार मुनिजीके पूत जीवनवृत्तका मूक साक्ष्य देता हुआ प्रतीत होता है। भगवान् और भगवत्तत्त्व ऐसे ही पवित्रचेता मनीषियोंके हृदय-देशमें आविर्भूत हुआ करते हैं।

(५)

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीका जन्म राजस्थानके जयपुर नगरमें प्रसिद्ध राज-पण्डित-परिवारमें पौष शुक्ला १० विक्रम संवत [illegible] में हुआ था। इनके पिता श्रीगोकुलचन्द्रजी जयपुर राज्यके ही हिण्डोन नामक नगरके निवासी थे और अपने मातुल जीवनलालजीके दत्तकपुत्रके रूपमें जयपुरमें ही बस गये थे। इनके सात पुत्रोंके बाल्यावस्थामें ही नष्ट हो जानेके कारण मेवाड़ देशस्थ श्रीरूपचतुर्भुजजीके मन्दिरमें संतानहेतु प्रार्थना की गयी, फलतः आठवें पुत्र श्री-गिरिधरजीका जन्म हुआ। ये महान् पण्डित, भगवत्तत्त्वके विशिष्ट व्याख्याता और लेखक थे।

गिरिधर शर्मा प्रारम्भसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। इनकी आरम्भिक शिक्षा जयपुरकी पाठशालाओंमें ही सम्पन्न हुई। आगे इन्होंने व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि शास्त्रोंका अध्ययन भी तत्कालीन गुरु-परम्परासे सविधि सम्पन्न किया।

अत्यन्त अल्प वयमें ही चतुर्वेदीजीका साधक-जीवन आरम्भ हो गया था। इनके परम्परागत दीक्षागुरु एवं साहित्य-वेदान्त आदिके शिक्षक पं० जीवनाथजी ओझाने इन्हें भगवती आद्याके कुलमें दक्षिणाम्नायसे शाक्त दीक्षा प्रदान की। तभीसे इनमें अनवरत उपासना एवं तत्त्व-जिज्ञासाका क्रम मुखरित होने लगा। तत्कालीन प्रथाके अनुसार इनका प्रथम विवाह बचपनमें ही हो गया था। कालान्तरमें जयपुर संस्कृत कालेजमें अध्ययन करते समय श्रीलक्ष्मीनाथ शास्त्री तथा विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन ओझा-जैसे गुरुओंके सांनिध्यमें इनकी

जर्मनदार्शनिक कॉन्ट और उनके तत्त्व-चिन्तनका संक्षिप्त परिचय

(लेखक—श्रीकौशलकिशोरजी पाण्डेय, एम्० ए० (द्वय)

आचार्य शंकरके अद्वैतवादसे मिलते-जुलते सिद्धान्त-वाले एक युगप्रवर्त्तक महान् जर्मन दार्शनिक हुए हैं, जिन्हें कॉन्ट कहा जाता है। इनका पूरा नाम इमैन्युअलकॉन्ट था। इनका जन्म २२ अप्रैल सन् १७२४ को शनिवारके दिन प्रातः ५ बजे प्रशिया प्रान्तके कोसिंग्सवर्ग नगरमें हुआ था, जो आज सोवियत संघके शासनमें है और कालिनिग्राड कहा जाता है। इनके पिताका नाम जोहानजार्ज कॉन्ट और माताका अन्नाटेगिना था। ये अपने माता-पिताकी चौथी संतान थे। इनके पिता और माता—दोनों मोचीका काम करते थे। पिता चारजामा बनाते थे और माता जूता। इनके पितामह पेशेसे मोची ही थे, पर जातिसे स्काट थे और स्काटलैण्डसे आकर प्रशियामें बस गये थे। कॉन्टकी तेरह वर्षकी अवस्थामें इनकी माँका और बाईस वर्षकी अवस्थामें पिताका देहान्त हो गया। इन्हें उत्तराधिकारमें कोई सम्पत्ति नहीं मिली; क्योंकि इनके पिता निर्धन थे—इतने निधन कि उनका अन्तिम संस्कार सरकारी खर्चसे किया गया था।

कॉन्टकी शिक्षा धर्मशास्त्रके प्रो० शुल्जकी देख-रेखमें हुई। प्रो० शुल्ज कॉन्टके पिताके मित्र थे। प्रारम्भिक शिक्षा लातीनी भाषामें हुई। इसके बाद ये कोसिंग्सवर्ग विश्वविद्यालयमें भर्ती हुए। १७५५ में इन्हें डॉक्टरेटकी उपाधि मिली और उसके बाद १५ वर्षोंतक ये प्राध्यापक रहे। १७७० ई०में ये तर्कशास्त्र एवं दर्शनशास्त्रके प्रोफेसर नियुक्त हुए। उत्कर्ष क्रममें ये १७८६ में रेक्टर (उपकुलपति) हुए। सन् १७९७ में कॉन्टने विश्वविद्यालयकी सेवासे अवकाश ग्रहण किया। सन् १८०४ में २५ फरवरी-को इन्होंने सदाके लिये आँखे बन्द कर लीं। २८ फरवरी १८०४ को इनका पार्थिव शरीर प्रोफेसरोंके कब्रिस्तानमें दफनाया गया।

कॉन्ट आजीवन अविवाहित रहे। इनके चिन्तनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियोंके नाम 'आलोचना'से सम्बद्ध हैं—(१) शुद्ध-बुद्धिकी आलोचना (२) व्यावहारिक बुद्धिकी आलोचना और (३) निर्णयकी आलोचना।

कॉन्ट ईश्वरके अस्तित्वके विश्वासी थे। कॉन्ट ईश्वरके सम्बन्धमें अजेयवाद और ईश्वरवाद—दोनोंको मानते थे। वे अपने विश्वासमें और नीति-शास्त्रके ग्रन्थोंमें ईश्वरवादी और शुद्ध बुद्धिकी आलोचनामें अजेयवादी थे। वे ईश्वरमें चार प्रकारके गुण मानते थे—

(१) दृष्टान्तमूलक गुण; (यथा—ईश्वर समस्त मनुष्योंसे वैसे ही प्रेम करता है और उन्हें पालता है जैसे कोई पिता अपनी सन्तानसे प्रेम करता है तथा उसे पालित करता है।)

(२) औपचारिक गुण (जैसे सर्वज्ञता);

(३) निषेधात्मक गुण (जैसे कालातीततत्त्व) अ[illegible]

(४) नैतिक गुण (जैसे—सत्यनिष्ठत्व, न्यायनि[illegible] पूर्णत्व, शुभत्व इत्यादि)। ईश्वर उल्ले[illegible] नैतिक गुणोंके कारण मर्यादापुरुषोत्तम है।

कॉन्ट मानते हैं कि आत्मा जीवात्माके रूप[illegible] ही ज्ञेय है। जीवात्मा प्रपञ्च या आभास है। विषयोंके ज्ञानमें कल्पनाके संश्लेषणकी भाँति जीवात्माके ज्ञान[illegible] भी कल्पनाका संश्लेषण निहित है। इसका ज्ञा[illegible] अन्तःकरणद्वारा होता है। अन्तःकरणका आकार